॥श्री हरिः॥

श्रीमद्भागवत महापुराण की महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य
विरचित संस्कृत टीका (हिंदी अनुवाद सहित)

श्री सुबोधिनी

सप्तम पुष्प

दशम स्कन्ध - पूर्वार्ध

अध्याय : ४३ - ४९

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

सप्तम् पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण (पूर्वार्द्ध) एवं श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

श्रीमद्भागवतानुसार अध्याय—४३ से ४६
श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय—४० से ४६
राजस - प्रमेय - अवान्तर - प्रकरण अध्याय—१ से ७

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायणः ।
साकार ब्रह्म वादैक स्थापको वेद पारगः ॥–(श्रीमद्वल्लभाचार्य)
श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण

सहायक ग्रन्थ—

टिप्पणी—श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण
लेख—नि.ली.गो. श्री वल्लभजी महाराज
प्रकाश—नि.ली.गो. श्री पुरुषोत्तमजी महाराज
योजना—गो.वा.प.भ. श्री लालुभट्टजी
कारिकार्थ—गो.वा.प.भ. श्री निर्भयरामजी भट्ट

हिन्दी अनुवादक :
गो.वा. प.भ. श्री फतहचन्दजी वासु शास्त्री
जोधपुर (राज०)

प्रथम आवृत्ति — १०००
विठ्ठल जयंती पोष कृष्ण नवमी
दिनाङ्क २८ दिसम्बर'१९७२

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,
जोधपुर (राजस्थान)

न्योछावर
सादर भेंट
संस्था
सदस्यों को

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल

जोधपुर (राजस्थान)

के

उद्देश्य :

जगद् गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों का राष्ट्र भाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद कराकर जन साधारण निमित्त प्रकाशन कराना।

सदस्यता :

विशिष्ट आजीवन सदस्य—रु. १०००'०० व इससे अधिक चल व अचल सम्पत्ति भेंट करके बन सकते हैं।

आजीवन सदस्य—रु. १२५)०० से ९९९)०० तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंट करके बन सकते हैं।

संस्था के प्रकाशन :

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित संस्कृत टीका सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद सहित सदस्यों को भेंट।

सम्पूर्ण दशम स्कन्ध के ९० अध्यायों की सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद तैयार है; जिसमें से प्रथम ४९ अध्यायों का राष्ट्र भाषा हिन्दी में सरल सुबोध अनुवाद सात पुष्पों में छप गया है; जिसमें से सप्तम् पुष्प प्रस्तुत ग्रन्थ है, आगे का खण्ड छप रहा है। सब ही पुष्प सचित्र एवं अष्ट छाप के पदों से सुशोभित एवं मनमोहक हैं।

मुद्रक : हिमालय प्रिन्टर्स—खाण्डाफलसा, कुम्हारियर कुआ, जोधपुर.

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला का सप्तम् पुष्प

राजस - प्रमेय - अवान्तर - प्रकरण

• सामग्री •

दो शब्द	— गो० श्री व्रजभूषणलालजी महाराज–संस्थाध्यक्ष	—	१
विनम्र निवेदन	— श्री नन्ददास (रामचन्द्र वर्मा)–प्रधान मन्त्री	...	२
श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका में से चुनी हुई कुछ सौरभपूर्ण कलियाँ		—	७
श्री भागवतार्थ प्रकरण (तत्त्वार्थ-दीप-निबन्ध) श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित		—	९
श्री राजस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण की भूमिका	— प.भ. श्री फतहचन्द्रजी वासु शास्त्री	—	१८

श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय	श्रीमद्भागवतानुसार अध्याय	विषय	पृष्ठ
४०	४३	.... कुबलियापीड़ का उद्धार एवं रङ्ग मंडप में प्रवेश....	१
४१	४४	.... चाणूर, मुष्टिक आदि पहलवानों का तथा कंस का उद्धार	४३
४२	४५	.... श्रीकृष्ण-बलराम का यज्ञोपवीत और गुरुकुल प्रवेश	९३
४३	४६	.... उद्धवजी की व्रजयात्रा	१४९
४४	४७	.... उद्धवजी तथा गोपियों की बातचीत (भ्रमर गीत)	२०५
४५	४८	.... भगवान् का कुब्जा और अक्रूरजी के घर जाना	३४३
४६	४९	.... अक्रूरजी का हस्तिनापुर जाना	३९५

अनुक्रमणिका	— — — — —	४२५
शुद्धि - पत्र	— .... — —	४२९

चित्र सूची

१–	श्री वृन्दावनेश्वर	मुख पृष्ठ
२–	श्रीमद्वल्लभाचार्य — — — —	१
३–	कंस उद्धार	७८
४–	अक्रूरजी को हस्तिनापुर भेजना — — — —	३८१

मुख्य संरक्षक

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज, नाथद्वारा (राज०)
गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी महाराज, सूरत (गुज०)
" " दीक्षितजी महाराज, बम्बई (महाराष्ट्र)
" " पुरुषोत्तमलालजी महाराज, कोटा (राज०)
" " गोविन्दरायजी महाराज, पोरबन्दर (गुज०)
" " रणछोड़ाचार्यजी महाराज, जतीपुरा (उ०प्र०)
" " व्रजरायजी महाराज, राजनगर (अहमदाबाद-गुज०)
" " घनश्यामलालजी महाराज, कामवन (कामा-राज०)
" " व्रजभूषणलालजी महाराज, चौपासनी (जोधपुर-राज०) जामनगर (गुज०)

सम्मानित सदस्य

श्रीमान् मोहनलालजी सुखाड़िया, भूतपूर्व मुख्य मन्त्री, राजस्थान
" डॉ. सेठ गोविन्ददासजी पद्मभूषण, लोकसभा सदस्य, नई दिल्ली
श्रीमती सुमति बेन मोरारजी, पामवन, गाँधी ग्राम, जुहु बम्बई
" चन्द्रकान्ता बेन भट्ट एम.ए., विले पारले (पश्चिम) बम्बई

विशिष्ट आजीवन सदस्यों की ओर से सादर भगवत्स्मरण

प.भ.गो.वा. श्री नन्दलालजी मानधना रु. ५०००)
" " श्रीमती सौभाग्यवतीजी मानधना रु. ५०००)
श्री हरिलाल हरिवल्लभदास धर्मादा ट्रस्ट रु. ५०००)
प.भ.गो.वा. जमुनादास

प.भ.गो.वा. श्री जमुनादासजी मून्धड़ा, बीकानेर द्वारा उनके सुपुत्र श्री जीवनदासजी आदि रु. ३५००)
प.भ. श्री गिरधरदासजी मून्धड़ा एवं उनके सुपुत्र गोविन्ददासजी आदि रु. ३५००)

प्रत्येक महानुभाव से रु. १००१) की आर्थिक सेवा प्राप्त हुई, वे निम्न हैं

प.भ. श्री भगवानदासजी अग्रवाल, कलकत्ता
" गो.वा. श्री ईश्वरलालजी चिमनलालजी, बड़ौदा
" श्रीवल्लभदासजी राठी, अमरावती
" श्री व्रजमोहनदासजी विजय, शुजालपुर मण्डी
" श्रीमती बेला बेन चत्रभुजदासजी, बम्बई
" " काशीबाई, बम्बई
" " रम्भाबाई विठ्ठलदासजी मोहता, बीकानेर
" " रामीबाई अग्रवाल, लश्कर (ग्वालियर)
" श्री रामनारायणजी द्वारा उनके सुपुत्र नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) प्रभृति, जोधपुर

प.भ. श्री दादुभाई अमीन, बड़ौदा
" श्रीमती गंगाबेन मजीठिया, बम्बई
" " प्रेमाबाई किशनचन्दजी भाटिया, कानपुर
" श्री विठ्ठलदासजी रुक्मणी बेन, बम्बई
" " व्रजदासजी विजिया बेन
" गो.वा. श्री हरगोविन्ददासजी उगरचन्दजी भगत वसाई-डावलावालों की स्मृति में द्वारा उनके प्रन्यास प.भ. चुन्नीबेन

✖ श्री सुबोधिनी ✖

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य

प्रकाशक—श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर ।

॥ श्री हरिः ॥

* दो शब्द *

श्री मद्भागवत के दशम स्कन्ध के ४३ से ४६ अध्यायों की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी संस्कृत टीका का राजस-प्रमेय (अवान्तर प्रकरण) हिन्दी अनुवाद सहित श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला का ७वाँ पुष्प प्रस्तुत ग्रन्थ है। इसके साथ इस दशम स्कन्ध का पूर्वार्ध समाप्त हो रहा है और आगामी पुस्तक में उत्तरार्ध की कथाओं का वर्णन होगा।

राजस प्रकरण में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द ने अपने राजस भक्तों का निरोध किया है। इस राजस--प्रमेय अवान्तर प्रकरण में, उन भगवल्लीलाओं का वर्णन है जिनमें, राजस भक्तों के बिना किसी प्रकार साधन किये, प्रभु ने अपने प्रमेय बल से उन पर कृपा कर, उनके सब प्रकार के दुःखों का निवारण कर उनके मनोरथ सिद्ध किये।

श्रीमद्भागवत १८ पुराणों में मूर्धन्य है विस्तार की दृष्टि से ही महान् नहीं है, उसकी सामग्री भी प्रशस्त है इसमें केवल दशम स्कन्ध, सम्पूर्ण भागवत का चतुर्थांश है। इस स्कन्ध में दो प्रसंगों में सम्पूर्ण ग्रन्थ का निष्कर्ष विद्यमान है। १ प्रसंग-रास जिसमें व्रज सीमन्तियों का चिरकाल चिन्तित मनोरथ पूर्ण होकर संयोग रस का सर्वोत्तम फल प्राप्त होता है। २-प्रसंग है-भ्रमर गीत, जिसमें विरह-वेदना की पराकाष्ठा है। स्नेह-भक्ति में दो दल मुख्य हैं—पूर्व दल--(संयोगरस) उत्तर दल (विप्रयोगरस)। इन दोनों की सर्वोत्कृष्ट स्थिति के क्रमशः इन दोनों प्रसंगों में दर्शन होते हैं जिनके अध्ययन, मनन एवं धारण से जीव सहज में अगम भव सागर से पार हो जाता है।

संयोग रस का प्रादुर्भाव एवं सिद्धि तामस-फल उप प्रकरण में है और विरह (विप्रयोग) की दशा प्रभु के व्रज प्रस्थान से प्रारम्भ होकर भ्रमर गीत में सर्वोच्च स्थान ग्रहण करती है जबकि प्राण-प्रेष्ठ श्री गोपीजन वल्लभ की विरहानल-संतप्त व्रज सीमन्तनियों को उनके प्रियतम का भेजा हुवा ज्ञान-सन्देश उद्धवजी सुनाते हैं। कितना विलक्षण प्रसंग है कि उद्धवजी जैसे ज्ञानी भक्त श्रीकृष्ण के अन्तरंग सखा का उत्तमोत्तम ज्ञान भण्डार उन परम भगवदीय व्रजांगनाओं के प्रभु--विरह की आहों में भस्म हो जाता है। उद्धवजी शुद्ध हृदय भक्त थे उनको भक्ति का महत्व समझ में आ गया और उनने इन व्रज भक्तों का मुक्त कंठ से अभिनन्दन करते हुए अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट की—

"आसामहोचरणरेणु जुषामहंस्यां
वृन्दावने किमपि गुल्म लतौषधिनाम्"

अर्थात् मेरे लिये उत्तम यही होगा कि मैं इस वृन्दावन धाम में कोई झाड़ी, लता अथवा औषधि-जड़ी, बूंटी-ही बन जाऊं जिससे इन व्रजांगनाओं की चरण रज में स्नान करता रहूँ।" भक्ति की तुलना में ज्ञान की दौड़ एवं पहुँच कहां तक है इसका निर्णय, भ्रमर गीत पढकर सहृदय पाठक स्वयं लेवें।

इस संस्था के कतिपय कार्यकर्त्ता बहुत लगन से कार्य कर रहे हैं वे धन्यवाद के पात्र हैं। श्री महाप्रभुजी की कृपा से उनकी सेवा-भावना उत्तरोत्तर वृद्धि प्राप्त करें, इत्यलं सुज्ञे।

दशहरा, वि० सं० २०२६

गो० व्रजभूषणलाल
अध्यक्ष

॥ श्री हरि: ॥

विनम्र निवेदन

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला के इस सातवें पुष्प में श्री मद्भागवतानुसार दशम स्कन्ध के ४३ से ४९ अध्याय हैं। श्री सुबोधिनी के अनुसार राजस प्रकरण के दो अवान्तर प्रकरण यहां पूर्ण होते हैं। इस स्कन्ध का पूर्वार्ध यहां तक है। ५० वें अध्याय से प्रारम्भ होकर ९० अध्याय तक उत्तरार्ध है। पाठकों के हृदय में सहसा यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि पूर्वार्ध तो ४५ अध्यायों तक ही होना चाहिये था ४९ अध्यायों तक क्यों है। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण दशम स्कन्ध के चरित्रों को त्रिविध लीलाओं के अनुसार निम्न ५ प्रकरणों में श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने विभाजित किया है:—

	प्रकरण		अवान्तर प्रकरण	अध्याय	
जन्म	१	पूर्वार्ध	१	४	४९
तामस	१		४	२८+३=३१	
राजस	१/२		२	१४	
राजस	१/२	उत्तरार्ध	२	१४	४१
सात्विक	१		३	२१	
गुण	१		१	६	
				८७+३=	९०

पूर्वार्ध में जन्म प्रकरण तामस प्रकरण तथा राजस प्रकरण के ४ अवान्तर प्रकरण में से २ अवान्तर प्रकरण अर्थात् आधे प्रकरण की लीलाओं या समावेश होने से ढाई प्रकरण होते हैं, अत: पूर्वार्ध यहां तक हैं। शेष ढाई प्रकरण (राजस प्रकरण आधे सात्विक प्रकरण और गुण प्रकरण को लीलाएँ उत्तरार्ध में हैं। पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध अध्यायों की संख्या के अनुसार न होकर प्रकरणों की संख्या के हिसाब से है।

पूर्वार्ध में निकुञ्जनायक रसेश भगवान् श्रीकृष्ण की अलौकिक लीलाओं का वर्णन है। श्रीमद्भागवत शास्त्र भगवद्भक्ति का सर्वोच्च ग्रन्थ है जिसमें भी दशम स्कन्ध मुख्य है और पूर्वार्ध महत्वपूर्ण है। इसमें रसिक भगवद्भक्तों के हृदय को रसदान देने वाले चार गीत—वेणु गीत गोपी गीत, युगल गीत एवं भ्रमर गीत विद्यमान हैं जो सहृदय पाठकों को आनन्द विभोर कर देते हैं। भगवद्भक्ति के—प्रेम, आसक्ति और व्यसन प्रशस्त अंग हैं जिनका फल विरह-(विप्रयोग)-है। इन चारों की प्राप्ति चार गीतों द्वारा होती है। सुबोधिनी ग्रन्थ माला के चतुर्थ पुष्प में वेणुगीत, पञ्चम पुष्प में गोपीगीत एवं युगलगीत और इस ग्रंथ में भ्रमरगीत है। इस अन्तिम गीत में व्रजसीमन्तनियों एवं श्रेष्ठ ज्ञानी भक्त भगवान् श्रीकृष्ण के सखा श्री उद्धवजी का परम मनोहर अनुपम संवाद है जिसमें ज्ञान की तुलना में भक्ति की महत्ता का प्रदर्शन है। उपरोक्त प्रथम दो गीतों को यदि भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना की साधनावस्था मानी जाए तो युगल-गीत (संयोग रस) एवं भ्रमर-गीत (विप्रयोग रस) फल रूप है। श्रृंगार रस के दो दल होते हैं। पूर्व दल संयोग और उत्तर दल विप्रयोग अर्थात् विरह है। विप्रयोग का अनुभव वही कर सकता है. जिसे संयोग रस की

प्राप्ति हुई हो। संयोग रस की पराकाष्ठा रास में हुई जिसके पश्चात् युगल गीत जिसमें संयोग रस का अनुभव है तथा विप्रयोग का उत्तमोत्तम वृतान्त भ्रमर-गीत में है। इस गीत को भ्रमर-गीत इसलिए कहते हैं कि अन्योक्ति अलंकार के आधार पर भ्रमर के मिस भगवान् श्रीकृष्ण के सखा उद्धवजी को वृजभक्त सब उपालम्भ देती हैं। रसिक भक्तों को इस सरस प्रसंग के बार २ पठन से हर समय एक विलक्षण रस की अनुभूति होती है। आशा है पाठकगण इसका लाभ अवश्य लेंगे।

गत वर्ष परम भवदीय श्रीमदाचार्य चरण के कृपा पात्र श्री नन्दलालजी मानधना के अचानक इस नश्वर देह त्यागने के पश्चात हृदय को असहनीय दुःख हुआ कि जिसने रु० १०,०००) की धन राशि इस महान् कार्य के लिये देकर श्रीसुबोधिनी के हिन्दी अनुवाद प्रकाशन कराने को महान् अलौकिक सेवा की, उनने सम्पूर्ण ग्रंथों का अध्ययन तो दूर रहा, दर्शन भी न किये और गोलोक को चले गये। इससे इन ग्रन्थों का प्रकाशन शीघ्र कराया जाए। इस शुभ भावना को लेकर मथुरा के 'अग्रवाल प्रेस' से सम्पर्क साधा गया तथा व्यवस्थापक महोदय के आश्वासन देने पर कि वे आठवें पुष्प को ३ मास में पूर्ण कर देंगे। उसका प्रकाशन उन्हें जनवरी मास में सौंपा गया। उनके आदेशानुसार उनको रु० ३०००) भेजने पर भी ११ मास में वह ग्रन्थ प्राप्त न हो रहा है, यद्यपि सहायक मन्त्रीजी श्रीनाथजी पुरोहित को दो मास तक उनकी रुग्णावस्था में भी मथुरा में रहना पड़ा।

हमारी इस लाचारी पर हमें खेद है कि हमारा सत्प्रयास भी निष्फल हुवा। चार मास से अग्रवाल प्रेस ने काम देना ही बन्द कर रखा है जबकि केवल १०० पृष्ठ का प्रकाशन ही शेष रहा है। इस विलम्ब का क्या रहस्य है सो तो प्रभु ही जाने।

संस्था का निर्णय था कि दशम स्कन्ध के १३ खण्ड प्रकाशित किये जावें परन्तु आधुनिक महंगाइ ने हमें भी प्रभावित कर दिया है अतः मुद्रण सामग्री समय पर उपलब्ध न होने के कारण ऊंचे भाव में क्रय करनी पड़ती है। इसलिये विचार है कि १३ के स्थान पर ११ पुष्पों में ही समस्त सामग्री को प्रकाशन करा दिया जावे जिससे सदस्यों से प्राप्त रकम में कार्य शीघ्र पूर्ण हो सके।

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण ने श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध. द्वितीय स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध, दशमस्कन्ध एवं ग्यारहवें स्कन्ध के प्रथम चार अध्याय की श्री सुबोधिनी टीका की रचना की है। पांचवें अध्याय के पांचवें श्लोक की टीका पूर्ण होने पर आप श्री को तृतीय भगवदाज्ञा स्वधाम पधारने की हुई तब आप श्री ने सन्यासाश्रम ग्रहण कर काशीजी के लिये प्रस्थान किया।

इन स्कन्धों में दशम स्कन्ध को भक्तजनों का कण्ठाभरण जान कर मनोरथी महोदय ने हिन्दी अनुवाद उस ही स्कन्ध का प्रारम्भ करवाया। प्रथम स्कन्ध की सुबोधिनीजी का हिन्दी अनुवाद पूज्यपाद गोस्वामी तिलकायत श्री गोविन्दलालजी महाराज श्री को आज्ञानुसार प० भ० पं० श्री आनन्दीलालजी शास्त्री व्याकरणाचार्य विद्याविभागाध्यक्ष, नाथद्वारा ने किया है परन्तु कुछ श्लोकों का अनुवाद करना शेष है सो वे उसे पूर्ण करने में प्रयत्नशील हैं। द्वितीय स्कन्ध के प्रथम चार अध्यायों की सुबोधिनीजी का हिन्दी अनुवाद गो० वा० प० श्री रमानाथजी शास्त्री ने किया था जिसकी प्रकाशित प्रतियां विद्याविभाग नाथद्वारा में हैं। उनही के द्वारा शेष छ अध्यायों के हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि प० भ० पो० कण्ठमणिजी शास्त्री कांकरोली के पास में है जिसके मुद्रण की

पूज्य पाद गो० तिलकायत महाराज श्री ने सहर्ष आज्ञा प्रदान की है। तृतीय स्कन्ध की सुबोधिनीजी का हिन्दी अनुवाद इस संस्था की ओर मे वयोवृद्ध विद्वान प० भ० श्री फतहचन्दजी शास्त्री ने प्रथम २४ अध्यायों का किया है, शेष ६ अध्यायों का अनुवाद उनके अस्वस्थ होने के कारण हो नहीं सका है परन्तु वे उनका अनुवाद करने का भी प्रयत्न कर रहे हैं। ग्यारहवें स्कन्ध को सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद हमारे पास तैयार है। इस प्रकार श्री सुबोधिनीजी के समस्त १५६ अध्यायों के हिन्दी अनुवाद की जानकारी सदस्य महानुभावों के समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। इस संस्था का निर्णय दशम स्कन्ध के ९० अध्यायों का हिन्दी अनुवाद सदस्यों को सादर भेंट करने का है सो भी उनकी भावी आर्थिक सेवा पर निर्भर है क्योंकि आधुनिक महंगाई ने हमको पूर्ण सामग्री देने में असमर्थ कर दिया है। हम चाहते हैं कि प्राप्त आर्थिक सेवा में ही कार्य को पूर्ण करें फिर भी यदि आवश्यकता पड़ी तो सहायता के लिए निवेदन किया जाएगा।

श्रीमद्वल्लाभाचार्य चरण की अहेतुकी कृपा का प्रताप बल स्पष्ट है कि इस संस्था की वैधानिक कार्य-शैली का अवलोकन कर शासकोय आय-कर विभाग ने संस्था को आय-कर से भी मुक्त कर दिया है। इससे संस्था की विशिष्ट आजीवन सदस्यता प्राप्त करने के साथ २ सेवा भावी महानुभाव शासन को आय-कर प्रदान करने में भी लाभ उठा रहे हैं। प्रत्येक वैष्णव का कर्त्तव्य है कि स्वमार्गीय इस सर्वोच्च साहित्य प्रकाशन में सहयोग देकर सर्व-जन, आत्म-कल्याण का श्रेय प्राप्त करें।

विशिष्ट आजीवन सदस्यों एवं आजीवन सदस्यों ने आर्थिक सेवा कर संस्था के कार्य संचालन में जो सहयोग दिया है उसके लिए निस्संदेह वे धन्यवाद के पात्र हैं। परन्तु उन्हें इतने से ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि संस्था का उद्देश्य तो यह है कि सदस्य जन इस साहित्य का अध्ययन एवं मनन कर उसमें दिये गये उपदेशों का अपने नित्य के जोवन में पालन करें यदि लौकिक कार्यों को ही वे सर्व प्रथम स्थान देकर इन पुस्तकों से केवल अपने पुस्तकालय की शोभा ही बढा रहे हैं तो वे इस संस्था के साथ घोर अन्याय कर रहे है. क्योंकि संस्था का उद्देश्य धनोपार्जन कदापि नहीं है। उनकी इस प्रकार की नीति से वास्तव में जो इन ग्रन्थों के अध्ययन करने के इच्छुक होंगे। उनको यह साहित्य प्राप्त नहीं होगा और सदस्यों के घरों में यह बिना उपयोग पड़ा रहेगा। अतः उनसे कर बद्ध प्रार्थना है कि वे अथवा घर का कोई भी व्यक्ति इसका उपयोग करे यदि यह भी वे न कर सकें तो वे इन ग्रन्थों को हमें वापिस लौटा देवें और अपने अग्रिम प्रकाशन मूल्य रु० १००। को डाक खर्च काट कर सहर्ष हमसे प्राप्त कर लेवें, जिससे अन्य इच्छुक महानुभावों को यह साहित्य पधराया जा सके जो इनका सदुपयोग कर सकें। आशा है इस कटु सत्य के लिये वे क्षमा करेंगे।

संस्था को आर्थिक संकट से बचाने के हेतु कुछ आजीवन सदस्यों को प्रार्थना की गई कि वे विशिष्ठ आजीवन सदस्य बन जावें, उनमें से प० भ० प्रेमाबाई, किशनचन्दजी भाटिया, कानपुर, विट्ठलदासजी रुक्मणी बहन करानी, बम्बई, प० भ० व्रजदासजी विजिया बहन एवं प० भ० श्री नटवरलालजी शाह, बम्बई ने यह सेवा कर हमारे को प्रोत्साहित करने की उदारता प्रकट की जिसके लिये संस्था आप लोगों को धन्यवाद देते हुए आभार स्वीकार करती है।

निष्काम सेवाभावी श्री नारायणजी शास्त्री, नाथद्वारावाले, ग्रन्थों का अवलोकन कर मुद्रण अशुद्धियों का शुद्धि पत्र तैयार कर, तनुजा सेवा कर रहे हैं सो अभिनन्दनीय है।

अस्वस्थ होने के कारण गत वर्ष श्रीनाथजी पुरोहित ने संस्था से अवकाश प्राप्त कर लिया था, उनकी अनुपस्थिति में कार्य सम्पादन सन्तोषजनक न होते देख मैंने निवेदन किया कि दशम स्कन्ध के महत्वपूर्ण भाग का तो प्रकाशन श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण की अनुकम्पा से समाप्त हो गया है परन्तु शेष कार्य को पूर्ण करने में उनका सहयोग अपेक्षित है. क्योंकि मुझे इस संस्था के सदस्य बनाकर आर्थिक सेवा प्राप्त करने तथा अखिल भारतीय पुष्टि मार्गीय वैष्णव परिषद् के पूर्ण कार्य-भार के लिये निरन्तर जोधपुर से बाहर रहना पड़ता है जिससे मेरे स्वास्थ्य में भी भारी क्षति उपस्थित हो रही है। उनने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर सहायक मन्त्री के उत्तरदायित्व को समझ कर पुनः कार्य सम्हालने की उदारता प्रकट की है उसके लिये मैं आभार स्वीकार करते हुए उनको धन्यवाद निवेदन करता हूँ।

संयुक्त मन्त्री महोदया श्रीमती शकुन्तलाजी मानधना, गो० वा० प० भ० श्री नन्दलालजी मानधना की धर्म-पत्नी, को निवेदन किया कि जो कार्यालय को स्थान अब तक निःशुल्क दिया गया है उसका शुल्क देने में अब संस्था समर्थ है अतः वे पत्र पुष्प रूप में स्वीकार करें। उनने सजल नेत्रों से उत्तर दिया कि जो कुछ श्रीमानजी द्वारा इस कार्य में सेवा सम्पादन हो रहो है उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होगा, इतना ही नहीं, कार्यालय में स्थान संकोच देखकर कार्यालय के लिये एक विस्तृत कक्ष का निर्माण करवा कर निज हृदय विशालता का प्रदर्शन किया है, उनकी इस उदारता पूर्ण सहानुभूति को आभार मानते हुए संस्था उनका अभिनन्दन करती है।

जगत्-गुरु, चक्रचूड़ामणि श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण वंशावतंस गोस्वामि श्रीमद् व्रजभूषण-लालजी महाराज, चौपासनी (जोधपुर) संस्थाध्यक्ष महोदय की हार्दिक आशीर्वाद एवं कृपा से कार्य संचालन हो रहा है जिसके लिए धन्यवाद देने को तो कोई शब्द है ही नहीं, सिवाय इसके कि आप श्री के चरण कमलों में साष्टाङ्ग दण्डवत प्रणाम ही निवेदन किया जाए।

शुभ सूचना

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण के गो० वा० श्री नन्दलालजी मानधना कितने कृपा पात्र हैं, वह इस विलक्षण घटना से दृष्टिगोचर हो रहा है कि उनकी धर्मपत्नी शकुन्तलाजी ने श्रीमद्भागवत सप्ताह से निज स्थान को पवित्र कराने की इच्छा प्रकट की, इस पर महाप्रभुजी की कृपा से अकस्मात् सम्प्रदाय के उदीयमान कथावाचक प० भ० चतुर्वेदी श्री मनोहरलालजी शास्त्री, वल्लभ वेदान्ताचार्य पुष्टिमार्गीय साहित्य के मर्मज्ञ रसिक विद्वान् ने मथुरा से पधार कर व्यास गद्दी को सुशोभित किया। कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा के शुभ दिन श्रीमद्भागवत सप्ताह का श्रीमद् गोस्वामी श्री व्रजभूषणलालजी महाराज, श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल के अध्यक्ष महोदय ने पधार कर शुभारम्भ किया। इससे पूर्व यहां पुष्टिमार्गीय मँदिरों में तोन दिन पण्डितजी के प्रवचन सुनकर वैष्णव जनता मुग्ध हो गई, जिससे सप्ताह आयोजन में आशातीत श्रोताओं की संख्या रही। श्रीमद्भागवत की कथा श्री सुबोधिनीजो एवं पुष्टिमार्गीय प्रचलित साहित्य, यथा षोडश ग्रन्थ, नव-विज्ञप्ति, शिक्षा पत्र, ८४ व २५२ वैष्णवों की वार्ता, निज एव घरु वार्ता और अष्ट छाप के पदों के आधार पर सुनने का अनेक श्रोताओं को प्रथम बार ही सौभाग्य प्राप्त हुवा। पण्डितजी ने जिस तन्मयता से, आनन्द विभोर होकर कथामृत का पान कराया वह अनिर्वचनीय है। रसेश गोपीजन

वल्लभ के चरितामृत का स्वयं रसानुभव करते हुए रोचक दृष्टांतों द्वारा श्यामसुन्दर के भक्ति-रस को सरल सुबोध भाषा में प्रगट कर श्रोताओं के कर्णरंध्र द्वारा हृदयंगम कराने की इन आयुष्मान विद्वान की एक अनूठी शैली है।

मुख्य श्रोता श्रीमती शकुन्तलादेवीजी ने श्रीमान् पण्डितजी को प्रार्थना की कि एक मास तक केवल दशम स्कन्ध की कथा का यहां पर आयोजन रखा जावे जिससे अदेय-दान दक्ष श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा जीव मात्र पर की गई कृपा का हम अनुभव कर सकें। इस पर पण्डितजी ने दैन्य पूर्वक सजल नेत्रों से उत्तर दिया कि मुझे आप सब लोग आशीर्वाद देवो कि मुझे अपनी वाणी पवित्र करने का वह सौभाग्य शीघ्र प्राप्त हो, क्योंकि मेरा दृढ विश्वास है "एक भरोसो हरि-भक्तन को दूजो नन्दकिशोर को"। पूज्य महाराज श्री ने सपरिवार कई बार पधार कर आयोजन को समलकृत करते हुए सफल बनाया जिस कृपा के लिये हम आभारी हैं।

श्रीमद्वल्लभाचार्य महाप्रभुजी की कृपा से जिस परम भवदीय ने श्री सुबोधिनीजी के सर्व-प्रथम हिन्दी अनुवाद कराने की सेवा अपने जीवन काल में की, उनही के निज स्थान में सर्व प्रथम श्री सुबोधिनीजी की कथा अपने नश्वर देह छोड़ने के पश्चात् हुई जिससे उनने जोधपुर के वैष्णव समाज पर परम उपकार किया है जो चिर स्मरणीय रहेगा।

संस्थाध्यक्ष महोदय ने गो० वा० श्री नन्दलालजी मानधना सुबोधिनी-अनुवाद के सर्व-प्रथम मनोरथी की ओर से अब तक प्रकाशित खण्ड चि० गो० श्री विट्ठलेशरायजी महोदय द्वारा भेंट करवा कर श्रीमान् पण्डितजी महाराज को सम्मानित किया तथा आज्ञा प्रदान की, कि भावी प्रकाशित खण्ड भी इनको भेंट किये जावें।

महत्पुरुषों का कथन है कि विद्वान की परीक्षा श्रीमद्भागवत महा पुराण के अर्थ लगाने में होती है तो फिर श्री सुबोधिनीजी की कतिपय पंक्तियों का अर्थ लगाने में कितनी विद्वत्ता एवं भगवदीयता चाहिए सो कल्पनातीत है। अत: इस ग्रन्थों के अनुवाद, मुद्रण एवं कार्य-संचालन में जो त्रुटियां रह गई हों उनके लिए क्षमा मांगते हुए विनम्र प्रार्थना है कि उनकी सूचना यहां भेजकर हमें उपकृत करें जिससे भविष्य में हम सावधान होकर उस ही प्रकार की त्रुटियों से बच सकें। आशा है पाठक वृन्द नीर-क्षीर न्याय से सामग्री ग्रहण कर हमें कृतकृत्य करेंगे।

भवदीय चरण रजाकांक्षी
नंददास (रामचंद्र)

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी पुष्प-वाटिका में से चुनी हुई कुछ सौरभपूर्ण कलियाँ

कारिका—यस्य भावो यथा लोके तस्यानुसरणे कृते। निरोधो जायते सम्यक् अन्यथा बन्धनं भवेत् ॥ १०-४०-१७

लोक में जिसका जैसा भाव हो, उसके अनुसार भाव स्वरूप से दर्शन देने से निरोध भली-भाँति हो जाता है, नहीं तो वह भाव लौकिक हो जाने से प्रतिबन्धक होता है।

सुबो.—भक्त द्रोहे वधः स्मृत इति भगवत्प्रतिज्ञा। १०-४१-३१

भगवान् की प्रतिज्ञा है कि जो भक्त का द्रोह करे, उसका वध होना चाहिए।

सुबो.—जनानेव मोहयति, न तु भगवदीयान्। जनेषु च मोहयति, न तु भगवति ॥ १०-४२-१

(ईश्वर माया) साधारण मनुष्यों में मोह करायेगी, भगवदीयों में मोह न करायेगी। जिससे भगवदीय भगवान् में वैसे ही निरुद्ध रहेंगे।

सुबो.—न हि मदीयानामन्यत्र मन भवति, मत्संबंधस्यैव तथा सामर्थ्यात्। १०-४३-६

(भगवान् कहते हैं कि मेरा होने से) उनका मन दूसरे में कभी नहीं जाता है। कारण कि मेरे सम्बन्ध को यह ही सामर्थ्य है।

सुबो.—भगवत्सेवके भगवद्बुद्धिः कर्तव्या ॥ १०-४३-१४

भगवान् के सेवक में भगवद्बुद्धि करनी चाहिए।

सुबो.—यथा भगवान् तथैव तत्कथापि, ततोप्यधिकापि ॥ १०-४४-१८

जैसे भगवान् हैं, वैसी ही भगवान् की कथा है, किन्तु उससे भी वह (कथा) बढ़कर है।

सुबो.—प्रपत्तिबाधका एते पुत्रादयः पुत्रादीनामासक्तिजनकत्वात्, अनासक्तो हि प्रपद्यते, स्त्रीणां सुतरामेवैते प्रतिबन्धकाः ॥ १०-४४-२६

ये पुत्रादिक अनन्यता में बाधा करने वाले हैं; क्योंकि ये संसार में आसक्ति कराने वाले हैं। भगवान् की शरण वह जा सकता है, जो पुत्रादि में आसक्त नहीं है अर्थात् जो संसारी नहीं है। ये पुत्रादि, स्त्रियों को तो भगवान् में प्रपत्ति करने में अतिशय बाधक हैं।

सुबो.—भगवतश्चायं स्वभावः यत् स्त्रीषु कृपावान्, अतः केनाप्यंशेन ता न परित्यजति ॥ १०-४४-२९

भगवान् का स्वभाव ही ऐसा है कि वे स्त्रियों पर कृपा ही करते हैं, अतः किसी भी अंश से उनका त्याग नहीं करते हैं।

सुबो.—आशा हि सर्वेषां दुःखहेतुः, सा त्यक्त्वा साधनम्, सौख्यमिति.....आशाया अन्तो नास्ति ॥ १०-४४-४८

सबके दुःख का कारण आशा ही है। जिसको त्यागना ही सुख का साधन है। ....आशा का अन्त ही नहीं है।

सुबो.—**लौकिकाः कथामात्र एवासक्ता भवन्ति सर्वे, लीलायां कथायां मुक्ताः, भक्ताश्च कृष्ण-कथायाम् ॥ १०-४४-५५**

लौकिक सब कथा मात्र में ही आसक्त होते हैं। मुक्त भगवान् की लीला में और कथा में आसक्त होते हैं और भक्त श्रीकृष्ण की कथा में आसक्त होते हैं।

सुबो.—**तत्र (भक्तिमार्गे) च भगवदतिरिक्तभजनस्य दोषहेतुत्वमेवेति सिद्धान्तः ॥ १०-४४-६०**

भक्तिमार्ग में तो भगवान् से अतिरिक्त का भजन दोष जनक है, ऐसा सिद्धान्त है।

सुबो.—**अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः॥ १०-४४-६२**

यदि कोई पुरुष अपनी योग्यता से विशेष कोई कार्य करता है, तो वह निश्चय गिरता ही है।

सुबो.—**यो यस्य चरणरजो वाञ्छति स तद्रूपवति तदीयो वा भवति ॥ १०-४४-६२**

जो जिसकी चरण रज चाहता है, वह उसका रूप हो जाता है अथवा उसका हो जाता है।

सुबो.—**वृन्दावनं हि परमोत्कर्षापादकं भक्तिजनकं च ॥ १०-४४-६२**

वृन्दावन परम उत्कर्ष उत्पन्न करने वाला तथा भक्तिदाता है।

सुबो.—**तत् प्रसिद्धं (भगवच्चरणारविन्दं) स्वतन्त्र-फलदातृ स्वतः भक्तिमार्ग प्रवर्तकम् ॥ १०-४४-६३**

यह प्रसिद्ध है कि (श्रीकृष्ण के चरणारविन्द) स्वतन्त्र फलदाता एवं स्वतः भक्ति मार्ग के प्रवर्तक हैं।

सुबो.—**भगवन्तं प्राप्य स्वयं न किञ्चित्प्रार्थनीयम् भगवानेन यत् करिष्यति तत् करोतु, अन्यथा स कुमनीष्येव भवति ॥ १०-४५-११**

भगवान् को प्राप्त कर स्वयं को कुछ प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। भगवान् को जो करना हो भले ही करें; क्योंकि (प्रार्थना करे तो) वह दुष्ट बुद्धि वाला होता है।

सुबो.—**प्राणिनां कर्त्तव्या प्रपत्तिरेवा कर्त्तव्या कर्त्तव्य विवेकवान् हि पण्डितः ॥ १०-४५-२६**

प्राणियों को प्रपत्ति (भगवत्-शरणागति) ही लेनी चाहिए। क्या करना है या क्या नही करना है? इस विवेक वाला ही पण्डित होता है।

सुबो.—**देवभजनापेक्षयाऽपि साधुभजनमेवोत्तमम्। १०-४५-३०**

(देवता स्वार्थी है, स्वार्थ जानकर ही हित करते हैं। साधु यों नहीं करते हैं, साधु अपना स्वार्थ जानकर हित नहीं करते हैं, वे बिना स्वार्थ ही हित करते हैं) अतः देवों से भी साधुओं की सेवा करनी उत्तम है।

॥ श्री हरिः ॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित

तत्त्वार्थ-दीप निबन्ध-भागवतार्थ प्रकरण

दशम स्कन्ध राजस – प्रमेय – उप-प्रकरण प्रारम्भ

अध्याय ४० से ४६ तक

राजस प्रमाण प्रकरण के अनन्तर राजस प्रमेय प्रकरण का ३३½ कारिकाओं से विचार करते हैं--इस प्रकरण का 'प्रमेय' नाम क्यों है ? जिसका बीज (प्रमेय बल) कारिकाओं से कहते हैं । इस प्रकरण में 'सात अध्याय' क्यों हैं ? जिसका बीज (प्रमेय) सप्त कारिका से कहा है।

श्लोक—प्रमेय बलमासाद्य ततः सप्तभिरुच्यते ॥१५६॥

आसक्तिर्यादवानां च दुष्टानां च वधस्तथा ।
प्रमेये सप्त भक्ता हि तावन्तश्चापि विद्विषः ॥१५७॥

श्लोकार्थ—प्रमेय बल को प्रकट करके जो लीलाएँ की हैं, वे सात अध्यायों से कही जाती हैं । इन लीलाओं से यादवों को अपने में आसक्ति तथा वैसे ही दुष्टों का वध किया है । प्रमेय प्रकरण में सात भक्त और उतने ही शत्रु भी हैं ।

व्याख्या - इस प्रकरण की लीलाएँ प्रमेय लीलाएँ हैं, कारण कि ये लीलाएँ भगवान् ने प्रमेय बल प्रकट करके की हैं । 'प्रमेय' अर्थात् भगवान् ने साधन पर ध्यान न देकर अपने ही बल से ये लीलाएँ की हैं, इसलिए यह 'प्रमेय' प्रकरण कहा जाता है । इस प्रकरण में जिनके साथ लीलाएँ की हैं. वे सात मित्र और सात शत्रु थे । इसलिए इसमें सात अध्याय हैं ॥१५६-१५७॥

श्लोक— देवकी वसुदेवश्च सर्व एव च यादवाः ।
आध्यात्मिकप्रकारेण द्वावेतौ परिकीर्तितौ ॥१५८॥

श्लोकार्थ—देवकी और वसुदेव तथा जो सब यादव थे, इन दोनों के वर्णन आध्यात्मिक प्रकार से किए हैं ॥१५८॥

व्याख्या—अध्याय ४१ व ४२ में देवकी और वसुदेव की अपने में आसक्ति कराने की लीला की है । ४२वें अध्याय के १५ से १६ श्लोकों तक के चार श्लोकों में यादवों की आसक्ति है. इसी तरह लीला द्वारा दोनों के मन में सन्तोष उत्पन्न कर उनकी अपने में जो आसक्ति कराई है, उसका वर्णन है ॥१५८॥

श्लोक—अधिदेवो गुरु प्रोक्त पुत्रदानात्स मोचितः।
नन्दः पत्नीयुतश्चैव गोपिका कुब्जया युताः ॥१५९॥

अक्रूरः पाण्डवाश्चैव सप्तैते निःप्रपञ्चिताः ॥

श्लोकार्थ—गुरु अधिष्ठाता देव हैं, उनको पुत्र लाके दिया, वे जिससे मुक्त हो गए। पत्नी सहित नन्द, कुब्जा सहित गोपिकाएँ, अक्रूर तथा पांडव ये सात निष्प्रय किए अर्थात् इनका प्रयास छुड़ा दिया॥१५९॥

व्याख्या—अधिष्ठाता देव गुरु को पुत्र लाकर दिया, जिसके मिलने से उसकी पुं नाम नरक से मुक्ति हुई, इसी प्रकार गुरु का प्रपञ्च सदा के लिए नष्ट कर दिया। नन्द, यशोदा, गोपीजन, कुब्जा, अक्रूर, पाण्डव तथा गुरु इन सातों का भगवान् ने इस प्रकरण में की हुई लीलाओं द्वारा प्रपञ्च छुड़ा दिया अर्थात् प्रमेय बल से उनका उद्धार किया है ॥१५९॥

श्लोक—गजः पञ्च तथा मल्लाः सप्तमः कंस उच्यते ॥१६०॥

भ्रातरस्तत्प्रसङ्गेन हताः सप्तैव दोषतः।

श्लोकार्थ—हाथी, पाँच मल्ल और कंस ये सात तथा उस (कंस) के प्रसङ्ग से उसके भाई मारे गए। ये सातों अपने दोष से ही मरे हैं॥१६०॥

व्याख्या—कुवलयापीड हस्ती, चाणूर, मुष्टिक, कूट, पाल तथा तोशल ये पाँच मल्ल एवं सातवाँ कंस ये सात भगवद्द्वेषी थे, अतः इस दोष से मरे, कंस के आठ भाई कंस के बैर का बदला लेने आए, तब मारे गए, इसलिए सात ही दोष के कारण मारे गए और ये आठ वध के प्रसङ्ग में आए, इसलिए मरे हैं, अतः वध की अधिकता नहीं है ॥१६०½॥

श्लोक—एतावानेन रूपे हि स्नेह द्वेष विनिर्णयः ॥१६१॥

जीवन्तो मुक्तिमायान्ति भक्ता द्विष्टा हता पुनः।

श्लोकार्थ—स्वरूप में (भगवान् से) जो स्नेह रखते हैं, उनकी मुक्ति जीते हुए ही होती है और जो द्वेष करते हैं, उनकी मुक्ति मरने के बाद में होती है। यह ही स्नेह और द्वेष का निर्णय है अर्थात् स्नेह और द्वेष करने के फल प्राप्ति में भेद है।

व्याख्या—भगवान् के साथ किसी प्रकार भी सम्बन्ध जोड़ने से मुक्ति होती है। किन्तु उसमें भेद है, उस भेद का इस कारिका में निर्णय किया है कि जो भगवान् से प्रेम द्वारा सम्बन्ध करते हैं, वे भक्त जीते हुए ही मुक्त हो जाते हैं और जो अभक्त, शत्रु भाव से सम्बन्ध जोड़ते हैं, वे मरने के अनन्तर मुक्ति पाते है। १६१½॥

श्लोक—रूपं सर्वविमोक्षायं स्नेहासक्तिनिवारकम् ॥१६२॥

भयं यस्मात्तस्य वधः कारणं तत्पुरोदितम् ।
अध्यायद्वितयेनैव बहिरन्तर्व्यवस्थया ।।१६३।।

श्लोकार्थ—भगवत्स्वरूप सबके मोक्ष के लिए प्रकट हुआ है, उस (स्वरूप) में होने वाले स्नेह तथा आसक्ति को रोकने वाला भय है, डरे हुए का तद्रूप होने में वह भय ही कारण है, वह पहले कह दिया है । इन दो अध्यायों में बाहर और भीतर की व्यवस्था करने से कही है ।

व्याख्या—भगवत्स्वरूप का प्राकट्य सर्व प्रकार से सम्बन्ध करने वाले एवं निःसाधनों के उद्धार (मोक्ष) के लिए हुआ है । इस प्राकट्य से ही भगवान् ने अपने प्रमेय बल को सूचित किया है, यदि यों है तो यहाँ ही क्यों कहा ? कहीं अन्यत्र कहना था ? और साधना भाव में मोक्ष भी कैसे होगा ? इस शङ्का निवारणार्थ कहते हैं कि स्नेह एवं आसक्ति, स्वरूप में ही होती है, वह किसी भी प्रकार से हो तो मुक्ति प्राप्त होती है । जो पहले अर्थात् 'गोप्यकामात्भयात्' कंस का इस पद्य द्वारा सप्तम में कहा है । यहाँ स्नेह वृद्धि होने के लिए कहा है, किन्तु भय के कारण स्नेह एवं आसक्ति नहीं होती है तो भी भय से ही असुरों का मरते हुए भगवान् में लय हुआ है । जैसे भ्रमरिका (भँवरी) भय से तद्रूप हो जाती है । ४१वें अध्याय में मल्लों को तथा भयभीत कंस को वध कर, उनको मुक्त करते हैं । यह बाहर की अर्थात् शत्रुओं की व्यवस्था हुई है, इसी तरह भगवान् माता-पिता यादव आदि को अपने में आसक्ति कराते है, वह व्यवस्था भीतर की है, इसी तरह दो अध्यायों से व्यवस्था की गई है ।।१६३।।

श्लोक—ततः कालस्य सर्वेषां भयहेतोर्निवारणम् ।
तेनैव सिद्धं माहात्म्यमासक्तः स्याद्भयादपि ।।१६४।।

एवं त्रिभिरिहाध्यायैरासक्तौ साधनं जगौ ।

श्लोकार्थ—सबों के भय का कारण जो काल हैं, उस काल का भगवान् निवारण करते हैं, जिससे भगवान् का माहात्म्य सिद्ध होता है । भय से भी जीव भगवान् में आसक्त होता है, इसी तरह यहाँ तीन अध्यायों से आसक्ति के साधन का वर्णन किया है ।।१६४½।।

व्याख्या—यहाँ अध्याय ४२, श्लोक १९ में "तत्र प्रवय सोप्यास युवानै" अर्थात् वृद्ध भी जवान हो गए हैं, यों निरूपण करने का प्रयोजन है ? इस पर ततः' कारिका से बताते हैं कि जब तक भगवान् के महात्म्य का ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक स्नेह, भक्ति रूप नहीं बनता है, इसलिए महात्म्य के ज्ञान कराने के लिए इसके वर्णन का प्रयोजन है, इसी कारण से भगवान् काल का निवारण करते हैं, यद्यपि भय की निवृत्ति स्नेह का अङ्ग है तो भी भय उसका विरोधी है, इसलिए उसका यहाँ निरूपण न कर अन्यत्र करना उचित था? इस पर कहते हैं कि "आसक्तः स्याद्भयादपि" भय से भी आसक्ति सिद्ध होती है, इसलिए यहाँ कहा है—आसक्ति का तात्पर्य एकतानता हैं, वह एकतानता ही यहाँ मोक्ष के प्रति व्यापार (कारण) है, वह आसक्ति जैसे स्नेह से होती हैं, वैसे ही भय से भी होती है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण मकड़ी है । यहाँ इस स्कन्ध में वह (आसक्ति) ही प्रतिपादित है, अतः भय, स्नेह के विरोधी होते हुए भी यहाँ उसका वर्णन करना अनुचित नहीं है । ४० से ४२ अध्याय तक भगवान् में आसक्ति करने के साधन कहे हैं ।।१६४।।

श्लोक—स्निग्धानां सान्त्वनाभावे प्रतिबन्धो भवेदिह ॥१६५॥

अतश्चतुर्भिभूतानां त्रिविधानां च सान्त्वनम् ।
कालजं सान्त्वने व्यर्थमतः सद्भिर्निवारितम् ॥१६६॥

अज्ञानं सान्त्वनं युक्तं तेन द्वाभ्यां व्रजे जगौ ।
यशोदा वाऽथ नन्दो वा गोपिका वा यदा यदा ॥१६७॥

कृष्णासक्तैकहृदयास्तदाऽऽविर्भावमेति हि ।
बहिर्मुखदशायां तु न पश्यन्तीति दुःखिताः ॥१६८॥

अतः प्रबोध एवात्र कर्तव्यो न ततोऽधिकः ।
लोकवत्तु व्यवस्थानां लोकधर्मविनाशनः ॥१६९॥

नन्दादीनां न कर्तव्यः पिष्टपेषो न युज्यते ।
प्रपञ्चपातने सक्तास्ते कृष्णस्य न सर्वथा ॥१७०॥

अन्तर्मुखे त्वाविरासीत्ततो बोधनमुत्तमम् ।

श्लोकार्थ—स्नेहीजनों को यदि सान्त्वना न दी जावे तो इस विषय में रुकावट हो जाए, इसलिए ४ अध्यायों (४३ से ४६ तक) से तीन तरह के जीवों को सान्त्वना दो।

सान्त्वन करने पर भी यदि काल से दुःख प्राप्त होता रहे तो सान्त्वना व्यर्थ है, इसलिए सान्त्वन की व्यर्थता न हो, जिसके लिए उत्तम पुरुषों के द्वारा काल से उत्पन्न दुःख को रोक दिया है ॥१६५। अज्ञान होने पर सान्त्वन देना उचित है, इसलिए दो अध्यायों से व्रज में सान्त्वना दी है। यशोदा अथवा नन्द एवं गोपियों का हृदय जब-जब केवल श्रीकृष्ण में ही आसक्ति वाला होता हैं, तब-तब श्री कृष्ण का प्राकट्य निश्चय से हुआ है, उनका चित्त जिस समय बहिर्मुख होता है, उस समय वे दर्शन नहीं कर सकते हैं, जिससे दुःखी होते हैं।

अतः इस विषय में उनको जागृत ही करना चाहिये, इससे अधिक नहीं। निर्णय तो लौकिक नीति से ही करना चाहिये। पीसे हुए अन्न को फिर पीसना उचित नहीं है, जो प्रपंच में पड़े रहते हैं, तब उनकी, श्रीकृष्ण में सर्वथा आसक्ति नहीं रही है ॥१७०॥

व्याख्या—स्नेहीजनों की आसक्ति में विघ्न न पड़े इसलिए सान्त्वना की आवश्यकता है अतः ४३ से ४६ तक के चार अध्यायों में तामस, राजस और सात्विक गुणों वाले मनुष्यों का सान्त्वनत्व किया है।

महात्म्य ज्ञान कराने के लिये काल का जो निवारण जहां किया है वह क्यों? यह तो भयाध्याय है इसी अपेक्षा पर करते हैं कि सान्त्वन देने पर भी यदि काल से उत्पन्न, दुःख होता

रहे, तो सान्तवना व्यर्थ हो जाय, इस पर कहा है कि "सद्भिर्निवारितम्" उस कालज दुःख को उद्धव आदि महान् पुरुषों से दिये हुए ज्ञान द्वारा मिटा दिया है।

आसक्ति में प्रतिबन्ध (रुकावट न हो यह ही सान्त्वना देने का प्रयोजन है वह आसक्ति यदि पूर्ण रीति से हो गई हो (जिसको मिटाया न जावे) तो फिर सान्त्वना का क्या प्रयोजन ? जसे व्रजवासियों की भगवान् में पूर्ण (दृढ़) आसक्ति हो गई थी, जो मिटाने जैसी न रही थी तब वहाँ सान्त्वना की कौन सी आवश्यकता थी, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं 'अज्ञाने सान्त्वनं युक्तं'........ भगवान् सर्व व्याप्त हैं, इस प्रकार ज्ञान न होने पर सान्त्वना देना उचित है, इसलिए ४३-४४ इन दो अध्यायों में व्रज में नन्द यशोदा और गोपीजनों को सान्त्वन दिया है कारण कि इनको भगवान् सर्वत्र है, ऐसा ज्ञान स्थिर नहीं था वस्तुतः भगवान् सर्वत्र होने से हो जब-जब उनका मन प्रभु में आसक्त होता, तब दर्शन पीयूष के पान की अभिलाषा बढ़ती तब प्रभु उसी समय वहाँ ही प्रकट होकर उनको दर्शन दे देते और जब उनका चंचल चित्त भटकता (बहिर्मुख होता) आसक्ति हीन होता है तब उनको भगवान् के दर्शन नहीं होते जिससे उस समय वे दुःखी हो जाते, इसलिये सान्त्वन की विशेष आवश्यकता थी।

नन्द आदि को भगवान् सर्वव्यापी होने से सर्वत्र हैं ऐसा ज्ञान न होने से, उनको इसी प्रकार का ही केवल ज्ञान देना चाहिए था, विशेष नहीं। ऐसी दशा में, भगवान् को बाहर प्रकट होने की आवश्यकता नहीं इस विषय में लोक की भाँति ही निर्णय करना चाहिये। नन्दादि के लोक धर्म का नाश न करना अर्थात् बाहर जो स्वानुभव हो रहा है जिसको मिटाना नहीं। पीसे हुए को पीसना नहीं, अयुक्तपन का प्रतिपादन करते हैं कि प्रपंच में आसक्ति होने तक अनुभव वा दर्शन नहीं होता है तब प्रपंच की विस्मृति होकर भगवद् सम्बन्धी आसक्ति हो जायेगी तब अनुभवादि होगा ॥१७०॥

श्लोक—**चौर्यादिकं यथापूर्वं प्रपञ्च स्मृतिशान्तये ॥१७१॥**

तथा बहिर्मुखत्वेऽपि दुःखं यस्छत्यबोधतः ॥

श्लोकार्थ—अन्तर्मुख अर्थात् भगवत्संबन्धी दृष्टि होने पर तो भगवान् प्रकट होते हैं, इस कारण से, बोध देना उत्तम है जैसे पहले प्रपंच की स्मृति मिट जाय, इसलिए चोरी आदि लीलाएँ की, अब अज्ञान से हुई बहिर्मुखता मिटाने के लिए दुःख देने की लीलाएँ करते हैं ॥१७१½॥

व्याख्या—पहले जब इन व्रजवासियों का चित्त प्रपंच में आसक्त होने लगता तब प्रभु चोरी आदि मन आकर्षक लीलाएँ कर उनके चित्त को प्रपंच से निकाल, अपने में आसक्त करते थे जब अज्ञान से भगवदासक्ति छूट, बहिर्मुखता होने लगती है, लीलाओं में दोष दृष्टि हो जाती है तब दुःख देकर उनकी बहिर्मुखता छुड़ाते है। भगवान् की किसी भी लीला में लेश-मात्र भी दोष नहीं है अतः भगवान् की किसी प्रकार की भी लीला अनुचित नहीं है। १७१½॥

श्लोक—**मथुरास्था नाऽधुनाऽपि निष्प्रपंचा न सर्वथा ॥१७२॥**

अतः प्रपंचधर्माणां सङ्ग्रहस्तां विचार्य हि ॥

श्लोकार्थ—मथुरा के रहने वाले अभी तक सर्व प्रकार के प्रपंच से छूटे नहीं थे, इस कारण से, उस अपूर्णता का विचार कर भगवान् ने उनके प्रपंच धर्मों को स्वीकार किया है ।।१७२।।

व्याख्या—जबकि भगवान् ने गोकुलवासियों के प्रपंच मिटाने का बहुत प्रयत्न कर, उनकी अपने में आसक्ति कराइ अर्थात् निरोध किया तब मथुरावासियों के लिये क्यों प्रयत्न नहीं किये ? जबकि इनका भी निरोध कराना समान था । इस पर कहा है कि मथुरावासी अब तक प्रपंच रहित नहीं हुए थे, अर्थात् प्रपंच में मग्न थे इसलिये अब तक उनको निरोध का अधिकारी न समझ, उनका प्रपंच धर्म(पुत्रादि)बढ़ाया है अपने में आसक्ति निरोध)भगवान् ही निश्चय पूर्वक कराते हैं ।।१७२½।।

श्लोक—जीवाः स्वभावतो दुष्टा दोषभावं नयन्ति हि ।।१७३।।

सर्वमेव स्वसम्बन्धात्तथा कृष्णोऽपि संगताः ।।

श्लोकार्थ—जीव स्वभाव से दुष्ट हैं, अतः अपने जैसे दूसरों को भी दोषयुक्त समझते हैं न केवल दूसरों को ही, किन्तु श्रीकृष्ण में भी दोष देखते हैं।

व्याख्या—जीव स्वभाव से दुष्ट हैं जिससे वे सर्व में दोष ही देखते हैं। जैसे बभ्रुवाहन और उग्रसेन आदि राजाओं के गुणों के प्रसंग में हुआ था इसलिये इस समय उनके प्रपंच का नाश उचित न समझा. इसलिये तदर्थ प्रयत्न न कर केवल गोकुलवासियों के प्रपंच नाश का प्रयत्न करना उचित समझा ।।१७३¾।।

व्याख्या—'जीवाः स्वमावतो दुष्टाः"—जीव स्वभाव से दुष्ट होने के कारण, स्वार्थी होते हैं। उनका स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर जिनने उनका उपकार किया है उनका भी वे त्याग कर देते हैं। जिनने उनके दुःख का अनुभव कर उनके दुःख को दूर किया है उनके उपकार को भी वे भूल जाते हैं। इतना ही नहीं, उन (उपकारी) के दोष भी देखते हैं यह ही जीव का स्वाभाविक दोष है। जैसे श्रीकृष्ण से संलग्न गोपीजनों ने भगवान् में दोष न होते हुए भी दोषारोपण किया। जिस प्रकार ज्वर-पीड़ित जन की रसना (जिह्वा) मीठे पदार्थ को भी कड़वा समझती है। इस प्रकार के दोषाभाव के लिये ही भगवान् ने पहले संयोग लीला से गोपीजनों के प्रपंच की विस्मृति की।

श्लोक—प्रपंच विस्मृतिः पूर्वं दोषभावाय कारिता ।।१७४।।

कृष्ण विस्मरणं तत्र न युक्तमिति बोधनम् ।।

अर्थ—गोकलवासियों में दोष न रहे इसलिये भगवान् ने पहले तो उनकी प्रपंच बिस्मृति कराई और आगे चल कर वे लोग भगवान् को भूल जावें, यह उचित नहीं, इसलिए उनको ज्ञान कराया।

व्याख्या—ब्रजवासियों को भगवान् की आसक्ति और प्रपंच की विस्मृति पहले ही हो चुके थे फिर ज्ञान कराने का क्या प्रयोजन था।

श्लोक—प्रबोधे दोष हानिः स्यादात्मत्वे सुतरामपि ।।१७५।।

तदुद्धवेन गुरुणा बोधयामास केशवः ।

अर्थ– ज्ञान होने पर दोष नष्ट हो जाते हैं, भगवान् ही सर्व के आत्मा है इस प्रकार का ज्ञान होने पर तो दोष पूर्णतया नष्ट हो जाते है इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव को गुरु बनाकर गोकुलवासियो को ज्ञान कराया ।

व्याख्या—ज्ञान हो जाने पर दोष की हानि हो जाती है। भगवान् ही सब की आत्मा है ऐसा ज्ञान होने पर दोष सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान बिना गुरु के होता नहीं है अतः भगवान् के गुरु बन कर जाने से संयोग हो जाता। अतः विप्रयोग में ज्ञान कराने के लिये उद्धव को गुरु बना कर भेजा।

श्लोक—**य एव स्यादुपायोऽत्र स कर्तव्यो न चेतर.**
अतो बोधनमत्रोक्तं न तु साक्षात्स्वयं गतः ।।१७६।।

श्लोकार्थ—इस विषय में जो उपाय उचित हो, वही करना चाहिये, न कि दूसरा, इस कारण से ही, यहाँ ज्ञान दिलाना ही युक्त समझ, गोपियों को वह (ज्ञान) दिलाया, न कि आप स्वयं प्रकट रूप से पधारे ।।१७६½।।

व्याख्या—भगवान् ने उद्धवजी से ज्ञान दिलाया आप नहीं पधारे यदि आप स्वयं पधारते तो भी यह कार्य हो सकता था किन्तु अपना प्रकट पधारना उचित न समझा, जिस उचितता को निम्न कारिका में स्पष्ट करते हैं।।१७६½।

श्लोक—**आगतः सर्वदैवास्ते तदा चायाति सत्यवाक् ।**
इदं च बोधनात्सिद्धे दोषोऽपि विनिवर्तते ।।१७७।।

श्लोकार्थ—गोकुल में आये हुए भगवान् वहाँ सदैव विराजते हैं, सत्यवक्ता प्रभु उस समय भी पधारे हुए ही हैं, उद्धवजो के दिये हुए ज्ञान से गोपियों में जो दोष रहा हुआ था वह निवृत हो जाता है ।।१७७½।।

व्याख्या—मथुरा पधारते समय भगवान् ने व्रज सीमन्तनियों को कहा था कि मैं आऊँगा, नन्दजी को भी यों ही कहा, जो भगवान गोकुल में न पधारे तो असत्य वक्ता बन जाय, इस शंका को मिटाने के लिए भगवान् नन्दजी के पास पधारे यों अ० ४३ श्लोक ३४-३८ में कहा गया है तथा भगवान् स्वयं तो सदैव गोकुल में विराजते ही हैं, केवल गोपीजनों के दोषों को दूर करने के लिए उद्धव से ज्ञान दिलाने की लीला की है ।।१७७½।।

श्लोक—**दोषश्चतुर्धा टीकानां विस्तरेण प्रपंचितः ।**
तत्क्षान्तिश्चापि बोधेन तेन नात्रोच्यते स्फुटः ।।१७८।।

श्लोकार्थ—दोष चार प्रकार के हैं उनका विस्तार से वर्णन टीका में किया है, वहाँ ज्ञान द्वारा उन दोषों से छूटना होगा, यों भी कहा है, इसलिए यहाँ स्पष्ट रीति से नहीं कहा गया है ।।१७८½।।

व्याख्या—गोपियों ने चार प्रकार के दोष किये[1] थे वे श्री सुबोधिनीजी में (अध्याय ४४ के श्लोक३ से१६ तक) विस्तार से वर्णन किये हैं और वहाँ उद्धव के दिये हुए ज्ञान से गोपियाँ दोष मुक्त होगी, यों भी कहा है इसलिये यहाँ (निबन्ध में) स्पष्ट नहीं कहा है कि गोपियों के ये चार दोष है।

श्लोक—कुब्जा तु राजसी नारी तथाऽक्रूरश्च यादव: ।
उपलक्षणभावेन द्वावेतौ विनिरूपितौ ।।१७६।।

श्लोकार्थ—कुब्जा राजसी नारी है, वैसे ही अक्रूर भी यादव होने से राजस हैं इन दोनों का उपलक्षण (दृष्टान्त) भाव से (अर्थात दृष्टान्त वा चिन्ह रूप से) निरूपण किया है ।।१७६½।।

व्याख्या–इसी तरह १२½ श्लोकों से तामस भक्तों को सान्त्वना देने का समर्थन किया, अब राजस भक्तों के सान्त्वन को इस कारिका से प्रारम्भ करते हैं—इन राजस भक्तों का सान्त्वन एक ही अध्याय ४५ में किया है, कुब्जा का सान्त्वन इस अध्याय के १ से लेकर १० श्लोक तक किया है एवं अक्रूर का ११ से ३६ श्लोक तक किया है—इन दोनों राजस स्त्री पुरुषों का सान्त्वन दृष्टान्त के रूप से किया है ।।१७६½।।

श्लोक—कुन्ती च पाण्डवाश्चैव सात्त्विकौ पूर्वसन्मतौ ।
धृतराष्ट्रकृते दुःखे तस्यापि स्यात्तु बोधनम् ।।१८०।।

स तु सात्त्विकवर्यो हि पुत्रस्नेहात्तथाऽकरोत् ।
अतः प्रबोध उचितस्तस्यापि स्यान्न संशयः ।।१८१।।

श्लोकार्थ—कुन्ती और पाण्डव पूर्व विचारानुसार से सात्विक थे धृतराष्ट्र ने उनको दुःख दिये अतः इनका सान्त्वन करना भी युक्त है, यद्यपि धृतराष्ट्र स्वयं श्रेष्ठ सात्विक था किन्तु पुत्र स्नेह के कारण इनको दुःख दिये इसलिये इस धृतराष्ट्र) को भी ज्ञान देना उचित था, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है ।।१८०-१८१।।

व्याख्या--इनका भी निरोध करना है इसलिए ये भी सान्त्वन योग्य हैं—धृतराष्ट्र पुत्र स्नेह से राजस भाव के कारण इनको दुःख न दे, इसलिए धृतराष्ट्र को भी ज्ञान देना आवश्यक था, जिससे उसका राजस भाव निवृत्त हो जाये इसलिए ४६वें अध्याय में कुन्ती, पाण्डव तथा धृतराष्ट्र को अक्रूर द्वारा ज्ञान दिया, धृतराष्ट्र श्रेष्ठ सात्विक है यह अक्रूर को उसके दिये हुए उत्तर से प्रमाणित होता है। इस कारण से वह मुक्त भी हुआ है। जिसका वर्णन प्रथम स्कन्ध में किया गया है ।।१८०-१८१।।

१—गोपियों ने ये चार दोष किये थे:— १–मान २–भगवान् हम (गोपियों) को भूल गये हैं, ३–भगवान् से समाधान करने का भी निषेध करना, ४–भगवान् ने हमसे वचना की है।

श्लोक—एवं चतुर्भिरध्यायैः सान्त्वनं विनिरूपितम् ।।१८२।।

श्लोकार्थ—इसी तरह चार अध्यायों से सान्त्वन का निरूपण किया है ।।१८२।।

व्याख्या— ४३से४६ अध्याय तक सान्त्वन वर्णन किया ।।१८२।।

श्लोक—प्रमाणेऽपि प्रमेयेऽपि भगवान् सप्तरूपधृक् ।
क्रमेणैवात्र संयोज्यस्तेन नोक्तो विशेषत. ।।१८३।।

श्लोकार्थ—प्रमाण तथा प्रमेय में भी भगवान् सप्त रूप धारी हैं जिसका सम्बन्ध क्रमानुसार किया जाता है अतः उसका विशेष वर्णन नहीं किया है ।।१८३।।

व्याख्या—प्रकरण के अर्थ का निर्णय कर 'एवं चतुर्भि' कारिका में इस प्रकरण का उप-संहार किया है यहाँ अध्याय का अर्थ विशेष प्रकार से क्यों नहीं कहा, जिसके लिये यह कारिका कही है, राजस-प्रमाण प्रकरण में तथा राजस-प्रमेय प्रकरण में भी भगवान् के ऐश्वर्य आदि गुण तथा धर्मी स्वरूप क्रमशः सात अध्यायों में वर्णित है अतः यहां विशेष प्रकार से वर्णन नहीं है ।।१८३ ।

श्लोक—अलौकिकेन भावेन यावद्धि भगवत्कृतः ।
स पूर्वार्धो हरेः स्वस्य धर्मस्तादृश उच्यते ।।१८४ ।

श्लोकार्थ—जहां भगवान् ने अलौकिक भाव दिखाया तथा लीलाएँ की है, वह पूर्वार्ध है, भगवान् का अपना धर्म वैसा ही कहा जाता है ।

व्याख्या—भागवत में यहां पूर्वार्ध समाप्त होता है. यहाँ तक पूर्वार्ध क्यों ? उसका बीज (कारण) इस कारिका से बताया है कि भगवान् ने अलौकिक प्रकार से जो जो लीलाएँ कर अपना गुण प्रकट किया वे लीलाएँ जिस भाग में है वह भाग पूर्वार्ध कहा गया है, इस भाग में की हुई भगवान् की लीलाएँ स्वेच्छा से नहीं, किन्तु अन्यों के (भक्त आदि के) इच्छानुसार की हुई है, उत्तरार्द्ध की लीलाएँ स्वेच्छानुसार की हैं, यों आचार्य श्री ने सुबोधिनीजो में स्पष्ट किया है ।।१८४।

श्लोक—लोकधर्मं पुरस्कृत्य यच्चकार यदूद्वहः ।
अस्वभावादुत्तरार्धं कार्यं तत्तु प्रकीर्तितम् ।।१८५।।
प्रमेयं च तथा चार्द्धं राजसप्रक्रियार्द्धतः ।
एवं प्रमेयबलतः कृष्णासक्ताऽभवन्मुदा ।।१८६।।

श्लोकार्थ—यादव-श्रेष्ठ भगवान् ने, लोक धर्म को सामने रख कर, अपने स्वभाव से विपरीत होते हुए भी, जो लीलाएं जिस भाग में की उस भाग को उत्तरार्ध कहा है, यहां आधे भाग में राजस प्रक्रिया है और आधे भाग में प्रमेय बल से की हुई लीलाएँ हैं, इसी तरह प्रमेय बल से की हुई लीलाओं द्वारा राजस भक्तों की भगवान् में प्रेमपूर्वक आसक्ति हो गई ।।१८५-१८६।।

व्याख्या—लौकिक धर्म का आदर कर, लौकिक की तरह, भगवान् ने जो लीलाएँ की वे लीलाएँ उत्तरार्ध में कही गई हैं, ३०½ कारिकाओं से राजस प्रमेय प्रकरण का विचार किया है। यहाँ दशम स्कन्ध का पूर्वार्ध समाप्त हुआ है ।।१८५-१८६।।

"राजस प्रमेय अवान्तर प्रकरण सम्पूर्ण"

राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण

भूमिका

वेद कल्पतरु के रसमय फल भगवद् स्वरूप श्रीमद्भागवत के लिये श्रीमदाचार्य चरण आज्ञा करते हैं कि मेरे हृदय में वे (स्वरूप) पांच प्रकरण से विराजते हैं जिसमें भक्त निरोधार्थ को हुई भगवान् की दश विध लीलाओं का सरहस्य वर्णन है। जिस रहस्य को आचार्य श्री ने श्री सुबोधिनी टीका में अद्भुत प्रकार से उद्घाटन किया है। श्री सुबोधिनी टीका संस्कृत में है अतः संस्कृत भाषा अनभिज्ञों के हितार्थ हिन्दी भाषा में यह सरल अनुवाद किया गया है।

आचार्य श्री,श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के तीन अध्याय-१२वां,१३ वां और १४ वां अध्याय-प्रक्षिप्त मानते है, इसलिए श्री सुबोधिनी टीका के अनुसार राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण का प्रारम्भिक अध्याय ४० वां है तथा श्रीमद्भागवत के दशम-स्कन्धानुसार ४३ वें अध्याय से यह अवान्तर प्रकरण प्रारम्भ होता है।

तामस तथा राजस प्रकरण के उप-प्रकरणों में सात सात अध्याय हैं, कारण कि, भगवान् ने छ अध्यायों में अपने ऐश्वर्य आदि गुणों द्वारा लीला की है और सातवें अध्याय में धर्मी स्वरूप से लीला की है यथा—**१-ऐश्वर्य लीला**—४० वें अध्याय में भगवान् ने कुबलियापीड़ हस्ती को मारकर अपना ऐश्वर्य गुण प्रकट दिखाया है। **२-वीर्य**—४१ वें अध्याय में भगवान् ने वीर्य द्वारा मल्लों को और कंस को मारकर अपना 'वीर्य' (पराक्रम) प्रकट किया है। **३-यश**—४२ वें अध्याय में यश के दो कार्य किये हैं, एक माता पिता को कैद से छुड़ाया और दूसरा उग्रसेन को राज्य दिया। ४-**'श्री' गुण**—४३ वें अध्याय में भगवद्विरह में व्याकुल गोकुलवासी भक्तों के प्राण रक्षार्थ, उद्धवजी को भेजा,यह कार्य कर 'श्री' गुण प्रकट किया है। **५-ज्ञान गुण**—४४ वें अध्याय में व्रज सीमन्तनियों को उद्धवजी द्वारा 'भवतीनां वियोगो नहि सर्वथा'। इस प्रकार के सन्देश से ज्ञानोपदेश देकर ज्ञान गुण प्रकट किया। **६-वैराग्य गुण**—४५ वें अध्याय में भगवान् भक्तवर अक्रूरजी के तथा भक्तोत्तरा कुब्जा के घर पधारने की कथा है, जिसमे भक्तोत्तरों में वैराग्य प्रदर्शित किया है। **७-धर्मी कार्य**—४६ वें अध्याय में यद्यपि अक्रूरजी ने हस्तिनापुर जाकर धृतराष्ट्र को समझाया कि आपको अपने पुत्रों के समान ही पाण्डवों से प्रेम पूर्वक बर्ताव करना चाहिये किन्तु यद्यपि धृतराष्ट्र सात्विक थे तो भी पुत्र मोह के कारण, उनके उन विचारों में परिवर्तन नहीं हुआ क्योंकि भगवान् को इनको निमित्त बनाकर भूभार उतारना था अतः यह धर्मी कार्य है।

इस प्रकरण का प्रमेय प्रकरण नाम इसीलिए है कि इस प्रकरण में भगवान् ने अपने स्वरूप बल से ही सर्व कार्य किए हैं एवं लीला द्वारा अपना माहात्म्य भी प्रकट किया है, जैसे कि इस प्रकरण में भगवान् ने यादवों की अपने में आसक्ति कराई है और दुष्टों का वध भी किया है। भगवान् समदृष्टि वाले हैं तथा सर्व की मुक्ति के लिये ही, स्वरूप से प्रकट हुए हैं, अतः अपने सात

प्रकार के भक्त[1] तथा सात प्रकार के शत्रु[2] दोनों की मुक्ति की है। भक्तों को जीवित अवस्था में ही प्रपंच विस्मृति कराकर मुक्ति की है और शत्रुओं की देह त्याग के पश्चात् मुक्ति हुई है

भगवान् इस अवतार में, सर्व मुक्त्यर्थ प्रकट हुए हैं अतः आप में किसी भी प्रकार से, जो आसक्त होता है, वह मुक्त हो जाता है जैसा कि कहा 'गोप्यः कामात्' तात्पर्य यह है कि स्नेह, भय आदि किसी भी प्रकार की क्रिया से भगवान् में आसक्ति हो सकती है, अतः भक्त तथा द्वेषी भी जो अपनी योग्यतानुसार भगवान् में मन लगाता है तो वह कृतार्थ हो जाता है।

आसक्ति में प्रतिबन्ध व दुःख हैं, उस दुःख की शान्ति न हो, तो आसक्ति नहीं हो सकती है, अतः चार अध्यायों में त्रिविध भूत का सान्त्वन किया गया है भक्तों का यह दुःख काल कृत नहीं है, किन्तु अज्ञान के कारण है अतः उद्धवजी एवं अक्रूरजी द्वारा ज्ञानोपदेश दिला कर उस दुःख को हटा दिया जिससे सान्त्वन सफल हुआ है।

व्रज में एक प्रकार के भक्त नहीं थे, अतः प्रत्येक की योग्यतानुसार ही भगवान् ने अपने निजी भक्त उद्धवजी द्वारा उस प्रकार के सन्देश भेजे थे, उद्धवजी सन्देश लेकर प्रथम नन्दरायजी के यहां गये, पहुँचने के समय सायंकाल हो गई थी।

भक्त का मन जब बहिर्मुख होता है अर्थात् सांसारिक पदार्थों में मन लग जाता है तब भगवान् उन भक्तों की बहिर्मुखता निवारण करने के लिये प्रकट होकर प्रयत्न करते हैं, जैसे तामस प्रकरण में भक्तों का मन लौकिक पदार्थ नवनीत (मक्खन) आदि में लगा रहता था उस मन को अपनी विविध लीलाओं द्वारा वहां से हटा कर उनके सब प्रपंच भुला के, अपने में आसक्त किया है। उसी प्रकार राजस भक्तों की अपने में आसक्ति कराने के लिये आप उनके अन्तःकरण में विराजमान हो गये जिससे उन राजस भक्तों ने समझा, कि भगवान् हमारा त्याग कर गये हैं, इससे उनको विकलता उत्पन्न हो गई जिस विकलता से वे राजस भक्त सांसारिक प्रपंचों को भूल गये और उनको भगवान् के दर्शन न होने से दुःख हुआ और समझने लगे कि यह दुःख हमको भगवान् ने दिया है, किन्तु यह दुःख वास्तव में बहिर्मुखता के कारण अज्ञान से हुआ है, जिससे अपने दुष्ट स्वभाव के कारण, अपने दोष का भगवान् पर आरोपण करने लगे।

जब भगवान् में पूर्णासक्ति होती है, तब भगवान् भक्तों के प्रपंच को दूर करने के लिये, उनको ज्ञानोपदेश देकर उनके दोषों को नष्ट करते हैं वह ज्ञान यह है कि "मैं आत्मा हूँ" अतः "सब में सर्वदा मैं हूँ" इस प्रकार ज्ञान हो, तब दोष दूर होते हैं। यह उपदेश भगवान् ने उद्धवजी के मुख द्वारा व्रज भक्तों को दिलाकर उद्धवजी का गुरुत्व बताया है, उपदेश-दाता गुरु, स्वयं भगवान् ही मुख्य गुरु है, जिस कार्य करने का जो उपाय होता है वह जब किया जाता है तब वह कार्य सिद्ध होता है, इस प्रकार उपदेश मिलने से उनके चारों प्रकार के दोष दूर हुए और सान्त्वना भी हो गई जिससे भगवान् प्रत्यक्ष पधारे नही।

इस प्रकार ४३वां ४४ वां अध्याय भ्रमर गीत नाम से प्रसिद्ध है,इन दो अध्यायों में से प्रथम अध्याय में नन्द यशोदा तथा गोपों की कथा है, व्यासजी ने ब्रह्म मीमांसा में कहा है कि 'लोकवत्तु

१—यादव (सहित वसुदेव, देवकी) सांदिपिनि गुरु, नन्द-यशोदा, गोपीजन, कुब्जा, अक्रूर और पाण्डव इनका प्रपंच नाश किया जिससे वे जीवन मुक्त कहे जाते हैं।

२—कुवलियापीड़ हस्ती, पांच मल्ल और कंस इनको भगवान् ने मारा जिससे देह छोड़ने के अनन्तर इनकी मुक्ति हुई।

लीला कैवल्यम्' भगवान् की अलौकिक लीलाएँ भी लोक के समान दीखती है।

भ्रमर गीत के दूसरे अध्याय में गोपियों की फलात्मक विप्रयोग में जब उग्र विरहावस्था होती थी तब उनके प्राण रहने का भी सशय हो जाता था अतः उसका समाधान करना अत्यन्त आवश्यक था। दस श्लोक जो लिख कर दिए वे उनको पढ कर सुनाए। इतने में वहां एक भ्रमर दृष्टि गोचर हुआ, जिसको देखकर वे उसको लक्ष्य कर अपने हृद्गत भावों को कहने लगी, जिसको वाक्पति आचार्य श्री ने ही व्यक्त किया है, जिसका स्वारस्य उनके कृपा-पात्र ही समझ सकते हैं।

भगवान् का जो भेजा हुआ यह ज्ञान सन्देश गोपियों की व्यथा दूर करने में ही क्षीण हो गया, जिससे उनका वियोग भाव कम न हुआ, इस प्रकरण में नव सगुण और एक निर्गुण गोपीजनों ने दस श्लोकों में अपना अपना एक एक भाव प्रकट किया है अतः कितने ही इन दस श्लोकों को ही भ्रमर गीत कहते है।

उद्धवजी ने ज्ञान देते हुए गोपियों की भक्ति का दर्शन कर लिया जिससे उद्धवजी के ऊपर गोपियों के प्रेम का प्रभाव पड़ा, अतएव उद्धवजी ने गोपियों के चरण रज की प्राप्ति के लिए वृन्दावन में लता आदि के रूप में जन्म लेने की प्रार्थना की है। उद्धवजी के गाये हुए 'एताः परं तनुभृतो' से 'वन्दे नन्द व्रजस्त्रीणां' तक के छः श्लोक अत्यन्त ही शिक्षाप्रद होने से मननीय तथा आचरणीय हैं। इस ४४वें अध्याय की समाप्ति के साथ राजस-तामस की कथा भी पूर्ण होती है।

४५वें अध्याय में राजस-राजस भक्तों की कथा है. कुब्जा एवं अक्रूर राजस-राजस भक्त हैं। भगवान् ने उद्धवजी के साथ कुब्जा के घर पधारकर उसका मनोरथ पूर्ण कर उसको सान्त्वना दी हैं, जिससे अन्य भक्तों को भी सान्त्वना दी, यह समझ लेना चाहिए। कुब्जा के घर से पधारकर मार्ग में बलदेवजी को साथ लेकर अक्रूरजी के घर पधारे, अक्रूरजी के किए स्वागत को स्वीकार किया अनन्तर अक्रूरजी द्वारा की हुई स्तुति से भगवान् ने जान लिया कि यह ज्ञानाभिमानी भक्त है। अतः यह प्रेमी भक्त के समान अनुग्रह के योग्य नहीं है, इसलिए भगवान् मन्द हास्य से मोहित करते हुए कहने लगे कि आप तो मेरे चाचे हो, हम तो आपके पोष्य हैं अतः आपको हम पर सर्वथा कृपा ही करनी चाहिए, यों कहकर फिर अक्रूर को कहने लगे कि धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को माता के साथ अपने पास बुला लिया है,किन्तु उनके साथ बर्ताव श्रेष्ठ नहीं होता हैं अतः आप वहाँ जाकर धृतराष्ट्र को समझाओ और वहाँ का सत्य समाचार ले आओ इस प्रकार समझाया तब अक्रूरजी भगवदाज्ञानुसार दूसरे दिन हस्तिनापुर गए।

४६वें अध्याय में अक्रूर हस्तिनापुर पाण्डव एवं कौरवों से मिले, तथा उनके बर्ताव को जान लिया, यद्यपि भगवान् ने अक्रूर को धृतराष्ट्र से साम रीति से बर्ताव का कहा था तो भी अक्रूर ने उससे विशेष भी कहकर धृतराष्ट्र को समझाते समय उसकी भर्त्सना भी की है। अतः आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि 'मोहितस्यायं गुणो यदधिकमपि करिष्यति अतएव धृतराष्ट्रोऽपि भर्त्सित.' जो मोहित होता है वह विशेष भी करता हैं, इसलिए ही अक्रूर ने धृतराष्ट्र की भर्त्सना की है।

अक्रूर का उपदेश धृतराष्ट्र को अच्छा लगा; क्योंकि राजस-सात्विक है, जिससे कहने लगा कि आपका कहना श्रेष्ठ है, किन्तु पुत्र स्नेह से मैं उस उपदेश का पालन करने में असमर्थ हूँ, न जाने भगवान् की क्या इच्छा है? इत्यादि सर्व वृत्तान्त जानकर अक्रूर मथुरा लौट आए, वहाँ भगवान् को सर्व समाचार सुनाए।

यहाँ भगवान् की स्वतन्त्र लीला के साथ दशम स्कंध का पूर्वार्ध समाप्त होता है तथा राजस-प्रमेय उप प्रकरण भी पूर्ण हुआ है। इस भूमिका में राजस-प्रमेय उप-प्रकरण को समझाने के लिए भागवतार्थ निबन्ध तथा श्री सुबोधिनीजी का सारांश ही दिया है।

⁙ श्री सुबोधिनी ⁙

प० भ० श्रीमाधवभट्टजी काश्मीरी

प० भ० श्रीकृष्णदासजी मेघन

प० भ० श्रीदामोदर - दासजी हरसानी

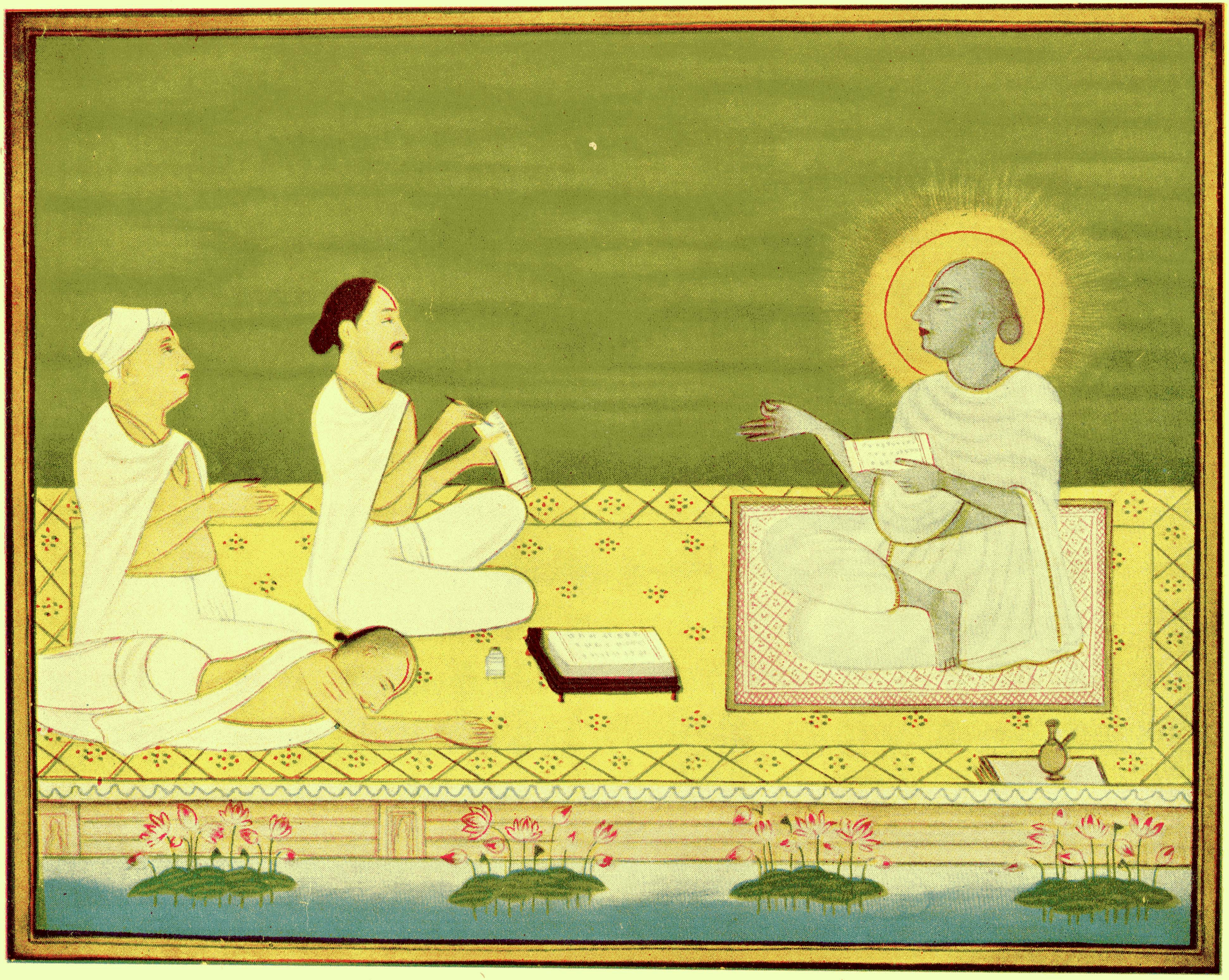

अखण्ड भूमण्डलचार्य चक्र चूडामणी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण (श्री महाप्रभुजी)

श्री मद्वल्लभाचार्य चरण (महाप्रभुजी) प. भ श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४३वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४०वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

'प्रथम अध्याय'

कुवलयापीड का उद्धार एवं रङ्ग मण्डप में प्रवेश

कारिका—**शब्दस्य हि बलं पूर्णं सप्तभिर्विनिरूपितम् ।**

अर्थस्यापि बलं रोधे तावद्भिर्विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—जिस प्रकरण में शब्द का पूर्ण बल है, वह प्रमाण प्रकरण है; जिसका वर्णन सात अध्यायों में इसलिए किया है कि शब्द, ब्रह्म रूप हैं और ब्रह्म, षड् धर्म और सातवाँ धर्मी होने से सात प्रकार के हैं । अत: एक एक अध्याय में एक एक का वर्णन हुआ है । अर्थ, अर्थात् प्रमेय रूप का वर्णन भी उस प्रकार निरोधार्थ सात अध्यायों में किया जाता है ॥१॥

कारिका—**प्रपञ्चो विस्मृतः सर्वैरुत्सवाद्यैरनेकधा ।**

माहात्म्यस्य परिज्ञानात्तदासक्तिर्निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—सर्व प्रकार के उत्सवादिकों से प्रपञ्च की विस्मृति हो गई और भगवान् के महात्म्य के अनेक विध पूर्ण ज्ञान होने से उनको आसक्ति भी सिद्ध हुई। उस आसक्ति का भी निरूपण किया जाता हैं ॥२॥

कारिका—**द्रष्टृणां च तथा पित्रोः सर्वेषामेव चैव हि ।
पूर्वोक्तानां तथान्येषां द्वाभ्यां द्वाभ्यामुदीर्यते ॥३॥**

कारिकार्थ—देखने वालों की, माता तथा पिता की एवं सबों की आसक्ति तो एक एक अध्याय से कही जाती है तथा प्रथम कही हुई तामस गोपियों की और दूसरों की आसक्ति का दो दो अध्यायों से वर्णन किया जाता है ॥३॥

कारिका—**एवमासक्तिसिद्धौ हि तदेकपरता पुनः ।
वक्तव्येति ततो हेतोः फलं चापि निरूप्यते ॥४॥**

कारिकार्थ—इस प्रकार प्रमेय प्रकरण में आसक्ति का वर्णन करने के अनन्तर फिर (साधन प्रकरण में)व्यसन की सिद्धि का वर्णन किया जाता है। व्यसन सिद्धि के पश्चात् फल प्रकरण में फल का निरूपण होता है।

कारिका—**चत्वारिंशत्तमेऽध्याये कृष्णासक्तिर्निरूप्यते ।
दृष्ट्वा सामर्थ्यमतुलं विस्मितानामनेकधा ॥५॥**

कारिकार्थ—अब इस ४० वें अध्याय में श्री कृष्ण ने अपने में राजसों की जो आसक्ति कराई है, उसका वर्णन है। राजस भक्त भगवान् का अनेक प्रकार से अतुल सामर्थ्य देखकर विस्मित होने से भगवान् में आसक्त हो गए हैं ॥५॥

आभास—पूर्वाध्याये भगवतो दोषाभावाय विशेषचेष्टाफलं साधारणचेष्टारूपस्य कालस्य च दुर्निमित्तप्रदर्शनलक्षणं निरूपितम्, तथाप्यनिवृत्तौ भक्तोपेक्षादोषो भगवतोपि भविष्यतीति अनाहूतयोरपि रामकृष्णयोर्दर्शनार्थं प्रवृत्तिर्निरूप्यते। तत्र प्रथमं रङ्गदर्शनार्थं प्रवृत्तावित्याह **अथ कृष्णश्च रामश्चेति** ।

आभासार्थ—पूर्व के ३९ वें अध्याय में भगवान् निर्दोष हैं, उसको प्रमाणित करने के लिए अलौकिक तथा लौकिक माहात्म्य का ज्ञान करवाया तथा साधारण चेष्टा रूप काल ने जो बुरे शकुन दिखाए, उनका भी वर्णन हुआ, तो भी कंस अपने दुष्कर्म करने से रुका नहीं। इस अध्याय में भगवान् ने विचारा कि, यदि मैं मथुरा देखते हुए रङ्गमण्डप में इसलिए नहीं जाऊँ कि मुझे किसी

ने बुलाया नहीं और मैंने भक्तों की उपेक्षा की है, यह दोष मुझे लगेगा यह विचार कर, इस भ्रम को मिटाने के लिए भगवान् राम कृष्ण दोनों दर्शन में प्रवृत्त हुए । जिसमें प्रथम रङ्ग-मण्डप देखने के लिए पधारे । जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'अथ कृष्णश्च' श्लोक में करते हैं—

श्रीशुक उवाच —

श्लोक—**अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परंतप ।**
मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेयतुः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा हे परन्तप ! उसके अनन्तर जिन्होंने अपनी शुद्धि पहले दिन ही करली है वैसे श्रीराम और श्रीकृष्ण, दुन्दुभि की तथा मल्लों की की ध्वनि सुन कर समझ गए कि अब कार्य प्रारम्भ हुआ है । अतः देखने के लिए वहाँ उसके पास आये ॥१॥

सुबोधिनी—चकारद्वयं तदीयानां समुच्चयार्थम्, ससाधनं फलं च तत्र गच्छतीति निरोध न कोऽपि सन्देह इति भावः । **अथे**ति प्रक्रियान्तरम्, प्रमेय-बलमारभ्यत इति । **कृतशौचौ** कृतावश्यकार्विति केचित् । पूर्वदिन एव कृतं शौचं स्वशुद्धता याभ्याम् । **परंतपे**ति संबोधनं गूढार्थपरिज्ञनाय । ब्रह्मधर्मा ह्येते तपसा ज्ञातव्या इति । तदा मल्लानां दुन्दुभीनां च नितरां घोषं श्रुत्वा सर्वसामग्री सिद्धेति स्वयमपि **द्रष्टुमुपेयतुः** निकटे गतौ ॥१॥

व्याख्यार्थ - श्लोक में 'च' शब्द दो बार आया है; जिसका भावार्थ यह है कि जो तदीय हैं उनके संग्रह के लिए दिए हैं । अर्थात् सब का निरोध होगा, कारण कि साधन[1] सहित फल[2] पधार रहे हैं, अतः निरोध होने में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं है । 'अथ' शब्द कहने का कारण यह है कि अब अन्य विषय का प्रारम्भ होता है। अर्थात् प्रमाण-बल,पूर्व प्रकरण में दिखाया । अब प्रमेय-बल दिखाते हैं । 'कृतशौचौ' पद का अर्थ कोई तो करते हैं कि राम कृष्ण ने अपने आवश्यक[3] कृत्य कर लिये थे, किन्तु आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि उन्होंने गत दिन ही अपनी शुद्धता करली थी । इस लिए 'कृत युगे च' पद है । राजा के लिए 'परन्तप' विशेषण देकर राजा को सूचित किया है कि आप गूढ अर्थ (तात्पर्य) को समझते हैं । कारण कि ये ब्रह्म,धर्मा,तपस्या से ही जाने जाते हैं । मल्लों की तथा नगाड़ों की ध्वनि सुनकर समझा कि सब सामग्री सिद्ध हो गई है । अर्थात् अब कार्य प्रारम्भ होने वाला है, अतः आप भी देखने के लिए वहीं समीप पधारे ॥१॥

आभास—प्रमेयनिरोधे दृष्टं माहात्म्यं प्रयोजकमिति वक्तुं प्रथमं कुवलयापीडवधो निरूप्यते **रङ्गद्वार**मिति **त्रयोदशभिः** ।

आभासार्थ - प्रमेय में निरोध कराने वाला प्रत्यक्ष देखा हुआ माहात्म्य कारण है, यह बताने के लिए प्रथम 'कुवलयापीड़ के वध का' निरूपण 'रङ्गद्वारं' श्लोक से १३ श्लोकों में करते हैं ।

१-बलराम, २-श्रीकृष्ण, ३-दन्त धावन आदि

श्लोक—**रङ्गद्वारं समासाद्य तस्मिन् गजमवस्थितम् ।
अपश्यत्कुवलयापीडं कृष्णोऽम्बष्ठप्रचोदितम् ॥२॥**

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने रङ्ग के द्वार पर आकर देखा कि महावत से प्रचालित कुवलयापीड हस्ती वहाँ खड़ा है ॥२॥

सुबोधिनी—कालजयो हि पौरुषमिति स त्रयोदशात्मा संवत्सरो निरूपितः । **कुवलयं** भूमण्डलं तस्यापीडं मुकुटस्थानीयम् । आसमन्तात् पीडा वा यस्मात् । द्विपश्रेष्ठं हन्तुमुद्यत इत्याह **रङ्गद्वारमिति** । रङ्ग उत्सवस्थानम्, तस्यापि शोभार्थं द्वारादिनिर्माणम् । तावत्पर्यन्तं सम्यगेव गत्वा **तस्मिन्** द्वारमध्ये **गजमवस्थितमपश्यत्** । तदैव ह्युत्सवः संपद्यते, यदि कालो निवृत्तो भवति तदोत्सवदर्शनमिति । **मृत्युर्हि गजरूपः पञ्चमे निरूपितः । अवस्थितम**चलं दृष्ट्यैव हननार्थमपश्यत् । सर्वथा हनने हेतुः **कुवलयापीड**मिति । सर्वेषामेव दुःखदम् । तत्रापि **अम्बष्ठेन** संकरोद्भवेन जातिहीनेन प्रकर्षेण प्रेरितं स्वसंमुखमागच्छन्तम् । अनेन भगवतोऽक्लिष्टकर्मत्वं निरूपितम् । कदाचित् साधारणोऽयं भवेत्, अतस्तच्छङ्कापरिहारार्थं कृष्णः ॥२॥

व्याख्यार्थ—काल को जीतना ही पराक्रम है । वह काल त्रयोदश (१३) मासरूप आत्मा वाला है, जिसको संवत्सर नाम से निरूपण किया गया है । काल को जीतना है, अतः इसका १३ श्लोकों में वर्णन करते हैं । यहाँ यह हस्ती काल रूप है, इसलिए उसके नाम के अक्षरों के दो अर्थ होते हैं । एक 'कुवलयस्य आपीडं' पृथ्वी मण्डल का मुकुट, और दूसरा अर्थ होता है पृथ्वी मण्डल को जिससे सर्व प्रकार से पीड़ा होती है । वैसे हस्ति श्रेष्ठ को मारने के लिए भगवान् तैयार हुए, अतः आप वहां पधारे । उत्सव स्थान को सुशोभित करने के लिए द्वार आदि का विशेष प्रकार से निर्माण किया गया था । द्वार तक आप पहुँच गए, वहाँ द्वार के मध्य में गज को खड़ा हुआ देखा । भगवान् ने सोचा कि उत्सव तो तब होगा, जब कि पृथ्वी मण्डल को दुःख देने वाला काल नष्ट होगा । इसको नाशकर पश्चात् उत्सव देखेंगे । मृत्यु का ही रूप गज है, यह पञ्चम स्कन्ध में कहा गया है । द्वार में स्थिर उस मृत्युरूप गज को मारने के लिए दृष्टि से देखने लगे, एक तो गज स्वयं मृत्यु रूप होने से सब को दुःखदायी है ही और फिर उसका प्रेरक नीच जाति का है, जिससे मेरे सामने आ रहा है । इससे इसको मारने में भगवान् को किसी प्रकार का परिश्रम नहीं है । इसी कारण से भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं, यों निरूपण किया है । यदि कोई कहे कि, यह कोई साधारण हस्ती होगा, तो इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि यह भी कालात्मा कृष्ण हैं ॥२॥

आभास—कालात्मानं दृष्ट्वापि तेन बलक्षये जातेऽपि पुनः प्रबोधं कृतवानित्याह **बद्ध्वेति** ।

आभासार्थ—भगवान् के देखने से ही उसका बल तो क्षय हो गया, तो भी भगवान् ने उसको प्रबुद्ध करने के लिए ललकारा, जिसका वर्णन 'बद्ध्वा परिकरं' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**बद्ध्वा परिकरं शौरिः समुह्य कुटिलालकान् ।
उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगम्भीरया ॥३॥**

श्लोकार्थ—भगवान् कमर कसकर और टेढ़े बिखरे हुए केशों को इकट्ठाकर चोटी बनाके मेघ के नाद जैसे गम्भीर नाद से महावत को कहने लगे ॥३॥

सुबोधिनी - **परिकर**मुत्तरीयं वस्त्रं कटिसंबद्धं कृत्वा, कुटिलालकांश्च हस्तद्वयेन चूडाकारेण बद्ध्वा, कालमुभयतो निरुध्य,भ्रमनिवृत्त्यर्थं वाचा निर्भर्त्सनं कृतवानित्याह **उवाचेति** । हस्ती चेत् दुष्टः, हस्तिपेन वारणीयः । हस्तिपश्चेत्, स एव मारणीयः, अन्यथा उभावपि मारणीयाविति । तदधीनो हस्तीति तस्य निर्भर्त्सने यथा भयमुत्पद्यते, तथा सिंहसमानस्य मेघस्येव नादं कृतवानित्याह **मेघनादगम्भीरया वाचेति** । मेघनादापेक्षयापि गम्भीराः । अनेनान्तःस्थितानां तप्तानां वसुदेवादीनां तापोऽपि निवारितः ॥३॥

व्याख्यार्थ—उत्तरीय वस्त्र को कमर से बाँधा और कुटिल केशों को दोनों हाथ से चोटी कर ली, यों करने से काल को दोनों प्रकार से रोक लिया, इस प्रकार की लीला से काल को रोक लिया, यह सत्य नहीं है, तो इस भ्रम का निवारण करने के लिये वाणी से उसका तिरस्कार करते हुए कहने लगे। हस्ती यदि दुष्ट है तो महावत का धर्म है उसको रोकना, यदि वह दुष्ट है, उसको नही रोकता है तो उस (महावत) को ही मारना चाहिए । यों न हो सके, तो दोनों को मारना चाहिए। हाथी तो महावत के आधीन है, अतः उसका तिरस्कार करते हुए जैसे भय पैदा होवे वैसी सिंह की गर्जना जैसी मेघ से भी गंभीर वाणी से कहने लगे, जिसको सुन कर वसुदेवादिकों के तप्त अन्तःकरण भी शान्त हो गए ॥३॥

आभास—निर्भर्त्सनमाह **अम्बष्ठाम्बष्ठेति** ।

आभासार्थ—भगवान् ने महावत का जिस प्रकार तिरस्कार किया, वह प्रकार 'अम्बष्ठाम्बष्ठ' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नो देह्यपक्रम मा चिरम् ।**
नोचेत्सकुञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम् ॥४॥

श्लोकार्थ—हे अम्बष्ठ ! हे अम्बष्ठ ! हमको भीतर जाने के लिए रास्ता दे, यहाँ से जल्दी हट जा, देरी मत कर; जो तूँ न हटेगा तो अभी तुझे हस्ती समेत यम के घर पहुँचा दूँगा ॥४॥

सुबोधिनी—निन्दायां वीप्सा । प्रतिलोमजोऽम्बष्ठ इति तस्य सहजदोषकीर्तनेनैव तिरस्कारो भवति। अनवहितस्य श्रवणार्थं वा द्विरुक्तिः। **नो मार्गं देहीति** । अयमस्माकमेव मार्गः,उत्सवोस्मदर्थमेव कृत इति । अस्मभ्यं मार्गं देहीति च । कथं देयमिति चेत्, तत्राह **अपक्रमेति** । इतोऽन्यत्र गच्छ चिरं मा। अन्यथाज्ञोल्लङ्घने मदीयः कालोऽधिकारी मारयिष्यतीति । किञ्च । यदि केनापि प्रकारेण मार्गं न दास्यसि, तत उभयोर्दोषे कुञ्जरसहितं त्वामद्यैव यमसादनं **नयामि** प्रापयिष्यामि । मध्ये न त्यक्ष्यामीति । मृत्युरेव यमगृहम् । अन्यथा 'मल्लेभकसयवना'

इति गणना विरुध्येत। कदाचिद्धस्ती मम युद्ध-साधनमिति न मन्तव्यमित्यभिप्रायेणाह **सकुञ्जर**-मिति। **अद्यैवेति**। तव मारणेऽपि विलम्बो न भविष्यतीत्यर्थः। **अद्येति** वर्तमानकालवाचकम्, न तु दिनवाचकम् ।।४।।

व्याख्यार्थ—महावत का तिरस्कार करने के लिये 'अंबष्ठ' शब्द दो बार कहा है, कारण कि अंबष्ठ प्रति लोमज वर्ण संकर होता है। अतः जिसमें जो सहज दोष हो उसको प्रकट करने से उसका तिरस्कार होता है और दो बार इस लिए भी कहा है कि यदि एक बार कहने से ध्यान न दे तो दूसरी बार तो ध्यान देगा ही। हमें उत्सव में जाने के लिए मार्ग दो यह हम लोगों का ही मार्ग है, कारण कि हमारे लिए ही उत्सव किया गया है। जब प्रश्न हुआ कि किस प्रकार मार्ग दूं ? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि यहाँ से हट जाओ, देरी मत करो। यदि हटने में देरी करोगे और हटोगे नहीं तो मेरा अधिकारी काल अभी ही तुम्हें मार डालेगा और फिर विशेष में कहते हैं कि यदि किसी प्रकार भी मार्ग नहीं दोगे तो दोनों का दोष समझ कर दोनों को अभी यम के घर पहुँचा दूंगा, बीच में नहीं छोड़ूंगा, यम के गृह कहने का तात्पर्य मृत्यु है। यदि मृत्यु यम का गृह न हो तो 'मल्लेभकंसयवना' यह कहना असत्य हो जाएगा। यों भी न समझना कि हस्ती तेरे युद्ध का साधन है, इसलिए इसको छोड़ दूंगा सो नहीं, तेरे साथ उसको भी मारूंगा। तुम पूछो कि कब ? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि मारने में देरी भी न करूँगा अभी मारूँगा। यहाँ 'अद्य' शब्द वर्तमान काल बताता है, न कि आज का दिन बताता है ।।४।।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **एवं निर्भर्त्सित** इति।

आभासार्थ—भगवान् का इस प्रकार अम्बष्ठ के तिरस्कार करने के बाद जो कुछ हुआ, उसका वर्णन 'एवं निर्भर्त्सितो' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं गजम्।**
नोदयामास कृष्णाय कालान्तकयमोपमम् ।।५।।

श्लोकार्थ— इस प्रकार अपमानित अम्बष्ठ को क्रोध हुआ। उसने गज को भी कुपित किया। वह गज काल, अन्तक तथा यम के समान था, ऐसे गज को कृष्ण के पास भेजा।।५।।

सुबोधिनी—**एवमित्यसह्यं** निर्भर्त्सनम्। नितरां भर्त्सितः अम्बष्ठो हीनः, अत एव हितवाक्येऽपि कुपितः हस्ती पूर्वमेव तेन कोपितः कृतोऽस्ति, अतस्तत्कर्मनिपुणः मूर्खः **कृष्णाय** सदानन्दाय कालाय वा प्रेरयामास। ननूपद्रवार्थं प्रेरणम्, उपद्रवे हि कालो निमित्तम्, अन्यथा साधनानि विपरीतानि भवेयुः। **अन्तको** मृत्युः। स चेत् कुतश्चिज्जायेत, ततोऽनिष्टं भवेत्। अधिकारी यमो वा यद्याज्ञां दद्यात्। एवमङ्गं श्रुतिपुराणशास्त्रभेदेन। तेष्वसङ्गतेषु प्रयोजनाभावात् किं प्रेरणयेत्याशङ्क्याह **कालान्तकयमोपम**मिति। त्रितयप्रतिरूपोऽयम्। यत्रैतदभावः, तत्र तेषामपेक्षा, न त्वस्मिन् विद्यमाने ।।५।।

व्याख्यार्थ—भगवान् ने महावत का जन्म से ही नीचपना प्रकट किया, जिससे उसने अपनी प्रतिष्ठा को धक्का लगा और मेरी इज्जत गई तथा अपमान हुआ, यों समझा। अतः वह गुस्से में आ गया और उसने हस्ती को तो पहले ही कुपित कर छोड़ा था। अतः इस कर्म में निपुण मूर्ख महावत ने हस्ती को सदानन्द रूप अथवा कालात्मा कृष्ण के पास जाने के लिए प्रेरणा दी।

महावत ने हस्ती को उपद्रव के लिए प्रेरणा दी है और उपद्रव होने में कारण काल ही है। यदि काल कारण न हो तो साधन विपरीत बन जावे। 'अन्तक' मृत्यु है। यदि वह कहीं से भी हो तो अनिष्ट हो जाए। आज्ञा करने वाला अधिकारी 'यम' है। वह जब आज्ञा दे तब वह कार्य (मृत्यु) हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार ज्योतिष् शास्त्र, श्रुति, पुराण शास्त्रों में पृथक् पृथक् निमित्त कहे हैं। यदि वे नहीं मिले हुए हों, तो कोई प्रयोजन कार्य सिद्ध नहीं होता है। उसी की प्रेरणा से क्या लाभ ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि यह हस्ती काल, अन्तक और यम इन तीनों का प्रतिनिधि है। अर्थात् वे तीन ही इसमें हैं। अतः उनकी यहाँ आवश्यकता नहीं, जहां ये न हो, वहाँ उनकी अपेक्षा है ॥५॥

आभास—यद्यम्बष्ठप्रेरितः हस्ती विशेषतो नापकुर्यात्, तदा न मारयेदिति तस्य विशेषापकारमाह **करीन्द्रस्तमभिद्रुत्येति**।

आभासार्थ—महावत से प्रचालित हस्ती यदि विशेष अपकार न करे तो भगवान् उसको मारे नहीं, इसलिए 'करीन्द्र' श्लोक से विशेष अपकार का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाग्रहीत्।**
कराद्विगलितः सोऽमुं निहत्याङ्घ्रिष्वलीयत ॥६॥

श्लोकार्थ—महावत से सञ्चालित उस कुपित करीन्द्र ने भगवान् के पास आकर शीघ्र ही उनको सूण्ड से पकड़ लिया। श्रीकृष्ण सूक्ष्म रूप से सूण्ड से निकल के उस हाथी को मार कर उसके पैरों में छुप गए ॥६॥

सुबोधिनी—ननु भगवत्समीपागमने देवैः कथं न निरुद्ध इत्याशङ्क्याह **इन्द्र** इति। क्रियाशक्तिप्रधानः करी। क्रियायामधिपतिश्चेन्द्रः। अतो निष्प्रत्यूहं तं भगवन्तमभिप्रेत्य **तरसा** शीघ्रमेव **करेण** शुण्डादण्डेन भगवन्तमग्रहीत्। क्रिययापि भगवान् व्याप्तो भविष्यतीति बुद्धया तथा कृतवान्; भगवांस्तु भक्त्यैव वश्य इति कराद्विगलितो जात इत्याह। विशेषेण गलितः। करो हि धर्तुमेवाशक्तो जातः। स्थूलबुद्धया धृतः सूक्ष्मो जातः। यतः **स** प्रसिद्धः सर्वशक्तिः। ततः अमुं हस्तिनं निहत्य तस्याज्ञानार्थं **अङ्घ्रिष्वलीयत**, तस्यैव पादचतुष्टयमध्ये गुप्तो जातः। अनेन दैवाद्विमोकः पलायनं च व्यावर्तितम्। तस्यान्तर्दृष्ट्यर्थं च जिज्ञासायामेव प्राप्यत इति ज्ञापनार्थम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—'इन्द्र' क्रिया का अधिपति है; जिससे देवों ने उसको रोका नहीं। अतः बिना रुकावट के उन भगवान् के पास पहुँचकर शीघ्र ही सूंड में भगवान् को पकड़ कर उससे लपेट लिया

भगवान् क्रिया से व्याप्त हो जाएँगे। अर्थात् बन्धन में आ जाएँगे, इस बुद्धि से यों किया था, किन्तु उसको यह ज्ञान नहीं था कि भगवान् तो भक्ति से वश में आकर अपना बन्धन भी करते हैं, अन्यथा उनको कोई साधन वश में वा बन्धन में नहीं ला सकता है।

अतः सूंड से भगवान् निकल गए। सूंड उनको पकड़ रखने में असमर्थ हो गई। हस्ती ने भगवान् को स्थूल देख बाँधा था, किन्तु वे सर्वशक्तिमान् होने से 'सूक्ष्म' हो के उससे निकल गए। निकलने के पीछे इस हस्ती को मार कर इसके चारों पैरों के बीच में, उदर के नीचे छिप गए, जिससे वह जान न सके। भगवान् प्रारब्ध से छूटे और भाग गए, इस प्रकार समझना अज्ञान है। भगवान् तो सर्वशक्तिमान् होने के कारण सूक्ष्म बनकर स्वयं बन्धन से निकल गए और छिपे, यह जताने के लिए कि मैं उसको मिलता हूँ; जिसको मेरे से मिलने की चाह है और अन्तर्दृष्टि होने पर मिलता हूँ ॥६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह **संक्रुद्ध** इति।

आभासार्थ—हस्ती के पैरों के मध्यमें छिप जाने के पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'संक्रुद्ध' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**संक्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिः स केशवम्।**
परामृशत्पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः ॥७॥

श्लोकार्थ—सूँघने से ही जो वस्तु को देख सकता है, वैसा क्रोध से भरा हुआ वह हाथी भगवान् को न देखकर विचार करने लगा। अर्थात् भगवान् को ढूँढ़ने लगा कि इतने में कहाँ गए ? फिर सूँघते सूँघते भगवान् का पता लगाकर उनको सूण्ड से पकड़ लिया, किन्तु वे बलपूर्वक सूण्ड से निकल गए ॥७॥

सुबोधिनी—ताडनेन सुतरां क्रुद्धः। दृष्ट्वा हि प्रयत्नः कर्तव्य इति दर्शनार्थं यतमानोऽपि नापश्यदित्याह **तमचक्षाण** इति। भगवन्तमपश्यत् पशुत्वात् घ्राणदृष्टिर्जातः। घ्राणेन हि ते जानन्ति। यतः **स** प्रसिद्धः युद्धादौ समर्थः केशवं परामृशत्। स हि ब्रह्मादीनां सुखार्थमवतीर्ण इति तेनापि धृतो जातः। तत्रापि पुष्करेण धृतः। पुष्करं हस्तमुखम्। तदा भगवान् स्थूलो भूत्वा प्रसह्य बलात् पुष्कराद्विनिर्गतो जातः। न हि पुष्करनाभः पुष्करेण ग्रहीतुं शक्यः ॥७॥

व्याख्यार्थ—पीटे जाने से हाथी को बहुत ही क्रोध आया देख कर, बदला लेने का प्रयत्न करूँ, किन्तु यहाँ वहाँ दृष्टि फिराते हुए भी भगवान् को नहीं देखा, तब पशु[1]-दृष्टि से ढूंढ़ने लगा, जिससे उसने भगवान् को देखा कि वे युद्ध आदि करने में शक्तिमान् हैं। अतः भगवान् ब्रह्मा आदि को भी सुख देने के लिए प्रकट हुए है तो मैं भी क्यों न वह सुख प्राप्त करूं, इस इच्छा से भी भगवान्

१-सूंघ कर वस्तु का पता लगाना या उसको देखना यह पशु-दृष्टि है।

को पकड़ा। हस्ती ने भगवान् को पुष्कर से पकड़ा। पकड़े जाने पर सकल विद्यानिपुण भगवान् अपने शरीर को बढ़ाकर बल पूर्वक सूँड से निकल गए। जिसके नाभी में पुष्कर (कमल) है, वह पुष्कर से कैसे पकड़ा जासकेगा ? ॥७॥

आभास—ततो भगवान् विशेषाकारेण कोपमुत्पादयितुं पश्चाद्गत्वा पुच्छं गृहीतवानित्याह **पुच्छे प्रगृह्ये**ति।

आभासार्थ—उसके बाद भगवान् ने हस्ती को विशेष कुपित करने के लिए पीछे से जाकर उसकी पूँछ पकड़ली, जिसका वर्णन 'पुच्छे' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**पुच्छे प्रगृह्यातिबलं धनुषः पञ्चविंशतिम्।**
विचकर्ष यथा नागं सुपर्ण इव लीलया ॥८॥

श्लोकार्थ—भगवान् हस्ती की पूँछ को दोनों हाथों से मजबूत पकड़कर बिना श्रम मानो खेलते हुए २५ धनुष जितनी दूरी पर घसीट कर ले गए। जैसे गरुड़ महान् सर्प को घसीट ले जाता हैं ॥८॥

सुबोधिनी—प्रकर्षेण हस्तद्वयेन गृहीत्वा धनुषो मानेन चतुर्हस्तेन पञ्चविंशतिसङ्ख्या यावता भवति, तावद्दूरं विचकर्ष। धनुषः पञ्चविंशतिर्यत्रेत्यलुक् समासः। ननु महान् सः, सूक्ष्मश्च भगवान्, कथमाकर्षणं कृतवान् इत्याशङ्क्याह **यथा नागमिति**। सुपर्णो हि महान्तमपि नागमाकर्षति। भक्ष्यो हि निःसत्त्वः कर्तव्यः। अन्यथा भक्षणे प्रतिबन्धको भवेत्। तथा भगवानपि मारणार्थं तस्य बलनाशं करोति। पञ्चविंशति तत्त्वानि हि तस्मिन् सन्ति तेषामनुरोधात्। धनुश्च रक्षकमिति तेन मिता भूमिः तदर्थमाकृष्टा। तावता मार्गो भवति। 'शतहस्ते तु करिण'मिति तावत् दूरे गते मार्गस्थानां नापकाराय भवतीति। धनुर्हस्तचतुष्टयम्। एतदपि लीलया। अनेन तस्य स्वबलमपि ज्ञापितवान् ॥८॥

व्याख्यार्थ—दोनों हाथों से दृढ़ पकड़कर २५ धनुष जितनी दूरी पर(एक धनुष ४ हाथ का होता है) घसीट कर ले गए, भगवान् छोटे और हस्ती इतना बड़ा उसको कैसे खींच कर इतनी दूर ले गए होंगे ? इस शङ्का को दृष्टान्त देकर मिटाते हैं कि जैसे गरुड़ महान् सर्प को खींच कर दूर ले जाता है, खींचकर दूर ले जाने का कारण बताते हैं, जिसको मारना है और जो भक्ष्य है उसको प्रथम कमजोर बनाना चाहिए, इसलिए ही दूर ले जाना आवश्यक था और हस्ती के लिए तो यों शास्त्रों में लिखा है कि हस्ती से २०० हाथ दूर रहना चाहिए इसलिए भी भगवान् इसको इतनी दूर ले गए। यदि भक्ष्य अथवा जिसको मारना है उसको निर्बल न किया जावे तो यह भक्ष्य में रुकावटवाला हो जाए और वह शीघ्र मरे नहीं। इस हस्ती में पचीस तत्व मौजूद हैं, इसलिए इसको २५ धनुष जितनी भूमि से घसीट कर ले गए, जिससे उतना मार्ग हो जाएगा। हस्ती २०० हाथ दूर होगा तो पथिकों का रास्ते में किसी प्रकार अपकार न कर सकेगा, यह सब भगवान् ने लीला (बिना श्रम) से किया, जिससे उसको अपने बल का ज्ञान करवाया ॥८॥

आभास—ततः स मोचयितुं समर्थः स्थिरीभवितुं च परावृत्त्या भगवान् धर्तव्य इति यत्नं कृतवानित्याह **स पर्यावर्तमानेनेति** ।

आभासार्थ—हस्ती भगवान् से छुड़ाने तथा स्थिर हो जाने के लिए अपने को समर्थ समझ कर, दायें, बायें, फिरते हुए भगवान् को पकड़ने का प्रयत्न करने लगा, जिसका वर्णन 'स पर्या-वर्तमानेन' श्लोक से करते हैं–

श्लोक—**स पर्यावर्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः ।**
बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोपुच्छेनेव बालकः ।।९।।

श्लोकार्थ—वह (हस्ती) बायें दायें ज्यों ज्यों भ्रमण करने लगा, त्यों त्यों भगवान् भी, जैसे बालक गौ के बछड़े की पूँछ को पकड़ कर चक्कर काटता है, वैसे उससे उलटा घूमने लगे ।।९।।

सुबोधिनी—**सव्यदक्षिणतः** वामेन दक्षिणेन च भागेन परिवर्तमानेन कृत्वा **स** प्रसिद्धो येनाकृष्टः । भयाभावायाह **अच्युत** इति । श्रोतुः शङ्कानिवृत्त्यर्थं सर्वत्रैव तथोक्तवान् । स्वयमपि भगवान् बभ्राम । स हि भगवदर्थं प्रयत्नं करोतीति । किञ्च । भगवतैव स भ्राम्यमाणो जातः । अतो भ्रामयन् स्वयं बभ्राम । ननु भगवान् सर्वसमर्थः किमिति बभ्राम, तत्राह **गोपुच्छेनेव बालक** इति । बालको हि लीलया परिभ्रमति, तथा लीलाप्रदर्शनार्थं तथा कृतवान् ।।९।।

व्याख्यार्थ—वह हाथी कभी बायें कभी दायें क्रमशः फिरता हुआ भगवान् को खींचने लगा, जिससे भगवान् डरे नहीं,कारण कि आप 'अच्युत' हैं । आप में किसी प्रकार की भी कभी नहीं होती है । सदैव सर्वशक्ति पूर्ण होने से निर्भय रहते हैं, इसलिए किसी भी भगवान् के चरित्र सुनने वाले को शङ्का न हो, तदर्थ भगवान् को अच्युत कहा गया है । निडर होने से भगवान् भी इस प्रकार चक्कर काटने लगे;जैसे वह भगवान् को पकड़ न सका । हस्ती तो भगवान् को पकड़ने के लिए प्रयत्न करता था, किन्तु भगवान् ने उसको भ्रमित कराने के लिए स्वयं भी घूमने लगे । यदि किसी को शङ्का होवे कि भगवान् सर्व समर्थ हैं, फिर वे कैसे फिरने या चक्कर काटने लगे, तो इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि जैसे बालक खेल करता हुआ गोवत्स की पूँछ को पकड़ कर उसके पीछे घूमता है वैसे ही भगवान् भी इस प्रकार खेल करने लगे ।।९।।

आभास—लीलार्थमेव तथा करणमिति पश्चाल्लीलां त्यक्त्वा प्रौढलीलाप्रदर्शनार्थं संमुखमागत्य युद्धं कृतवानित्याह **तत** इति ।

आभासार्थ—यों घूमना घुमाना तो भगवान् ने खेल के लिए किया, इस प्रकार बालक्रीड़ा दिखाकर अब प्रौढ़ लीला को प्रदर्शित करने के लिए हस्ती के सम्मुख आकर युद्ध करने लगे, जिसका वर्णन 'ततोऽभिमुखमभ्येत्य' इस श्लोक से करते हैं—

श्लोक—ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाहत्य वारणम् ।
प्राद्रवत्पातयामास स्पृश्यमानः पदे पदे ॥१०॥

श्लोकार्थ—अनन्तर भगवान् ने हाथी के सामने आकर, उसके थप्पड़ मार कर दौड़ गए। जब हस्ती भगवान् को पकड़ने के लिए दौड़ा, तब दौड़ते दौड़ते पग पग पर गिरने लगा ॥१०॥

सुबोधिनी—पुच्छं विसृज्य अभिमुखमभ्येत्य हस्तिसंमुखे गत्वा सजातीयबालकसंमुखमिव पौरुषख्यापनार्थं पाणिना मुखे आहत्य प्राद्रवत्। स हि हस्ती वारणः सर्वानेव निवारयितुं शक्नोति। तादृशोऽप्यप्रयोजको जात इति वक्तुं तथोक्तवान्। किञ्च। तथैव प्राद्रवत्, यथा पदे पदे स्पृश्यमानो भवति। तथाभवनस्य प्रयोजनमाह **पातयामासे**ति। सूक्ष्मो भगवान् स महानुच्चैः स्पृष्टा धर्तव्य इति नीचो भवन् पतति। एवमनुलोमप्रतिलोमाभ्यां क्रीडां कृतवान् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् पूँछ को छोड़ कर हस्ती के सन्मुख आए और जैसे अपने जाति वाले बालक के सामने कोई बालक जाकर अपनी बहादुरी दिखाने के लिए उसको थप्पड़ मार कर भाग जाता है, वैसे ही भगवान् भी उस हस्ती को थप्पड़ मार कर भाग गए, वह हाथी सबको रोकने में समर्थ है, तो भी यहाँ उसका प्रयत्न तथा बल निरर्थक हो गया, कैसे व्यर्थ हुआ ? उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि भगवान् ऐसे तरीके से दौड़े जैसे हाथी पग पग पर गिरने लगा। कारण कि हस्ती बड़ा था और भगवान् सूक्ष्म थे। इसलिए उसको पकड़ने के लिए झुककर पैर रखना पड़े तो नमते ही गिर पड़े, इस प्रकार भगवान् ने अपना स्वरूप अनुलोम, प्रतिलोम कर अर्थात् बड़ा तथा छोटा कर उसको बार बार गिराने की क्रीड़ा की ॥१०॥

आभास—ततो वञ्चनेन दैत्यांशः स इति, सोऽपि प्रकारो ज्ञायत इति ज्ञापयितुं लीलां कृतवानित्याह **स धावन्निति**।

आभासार्थ—भुलावे में डालने से यह निश्चय हो गया कि यह दैत्यांश है, भगवान् ने (यह दैत्यांश) है इस को मैं जानता हूँ, यह बताने के लिए जो क्रीड़ा की उसका वर्णन 'स धावन्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स धावन्क्रीडया भूमौ पतित्वा सहसोत्थितः ।
तं मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत् भुवम् ॥११॥

श्लोकार्थ—वह भगवान् खेलते हुए, दौड़ते दौड़ते पृथ्वी पर गिर पड़ते और झटपट उठ जाते, किन्तु कुपित हस्ती उनको पृथ्वी पर पड़ा हुआ समझ, दाँतों से उनको मारने लगा। वे तो वहाँ थे नहीं, इसलिए उसके दाँत पृथ्वी में लगने से उसमें गड़ जाते, जिससे हस्ती को ही पीड़ा होती ॥११॥

सुबोधिनी—क्रीडया धावन् अनवहित इव भूमौ पतितः। पतनपर्यन्तमेव स दृष्टवान्। भगवांस्तु पतित्वा सहसैवोत्थितः। ततस्तस्य भ्रमकार्यमाह **तं मत्वेति**। भगवन्तं तथा मत्वा पूर्वमपकृतः क्रुद्धः सन् **भुवं** दन्ताभ्यां पतितस्थानमहनत्। ततोतिव्यथां प्राप्तवान्। साधनत्रयमपि तस्यैवं पराहतं जातम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् क्रीड़ा करते हुए की तरह दौड़ते हुए असावधान के समान गिर पड़े, हाथी ने भगवान् को गिरते ही देखा किन्तु भगवान् झटपट उठ गए उसको वह न जान सका। पश्चात् उसने जो भ्रम से कार्य किया उसका वर्णन करते हैं। भगवान् को वहां ही पड़ा हुआ समझ भगवान् से अपकृत होने से कुपित हस्ती दोनों दाँतों से उस पृथ्वी को मारने लगा, जिससे आप ही पीड़ा को भोगने लगा। हस्ती ने इस प्रकार तीन बार किया, किन्तु तीनों साधन इस प्रकार व्यर्थ ही हुए॥११॥

आभास—ततः क्रुद्धो यत्कृतवांस्तदाह **स्वविक्रम** इति।

आभासार्थ—पश्चात् क्रोध में आकर जो कुछ उसने किया, वह स्वविक्रमे श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स्वविक्रमे प्रतिहते कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षणः।**
नोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा ॥१२॥

श्लोकार्थ—करीन्द्र अपने पराक्रम को असफल हुआ देख बहुत कुपित हो गया और फिर महावत ने प्रेरणा दी, जिससे क्रोध में आकर लड़ने के लिए श्रीकृष्ण पर चढ़ आया ॥१२॥

सुबोधिनी—स हि साधनबले क्षीणे संपूर्णेनैव शरीरेण तदुपरि पतिष्यामीति बुद्धया प्रवृत्तः। यतः कुञ्जरेन्द्रः स्वरूपतो महान्। अतः साधने क्षीणेऽपि न निवृत्तः, किन्तु साधनक्षयः रोषहेतुरेव जात इत्याह **अत्यमर्षण** इति। अधिकममर्षणं क्रोधो यस्य तादृशो जातः तत्रापि महामात्रैः उपरि पृष्ठतः परितश्च नोद्यमानः **कृष्णं** सर्वमारकं सुतरां सांप्रतं दैत्यपक्षस्य। शुद्धभावेन चेद्गच्छेत्, कृतार्थो वा भवेत्, किन्तु रुषा अभ्यद्रवत् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—हस्ती ने जब देखा कि मेरे किए हुए सब साधन व्यर्थ हुए, तब सारे शरीर से इसके उपर पड़े तो अच्छा, इस बुद्धि से प्रवृत्त हुआ, क्योंकि यह कुञ्जरेन्द्र है, जिससे ही इसका शरीर सबसे महान् है। अतः साधन क्षीण हो जाने पर भी रुका नहीं, बल्कि साधन की क्षीणता से उसमें विशेष क्रोध प्रकट हुआ और फिर महावत ने सर्व प्रकार से लड़ने के लिए प्रेरणा दी कि कृष्ण के पास जाओ, यदि कृष्ण के पास शुद्ध भाव से जाता तो कृतार्थ हो जाता, किन्तु क्रोध से गया, जिससे कृष्ण, जो सर्व मारक काल भी है, अब तो विशेष तया दैत्यपक्ष को नाश करने के लिए उद्यत है, अतः इसका भी नाश हुआ ॥१२॥

आभास—तदा भगवान् सर्वात्मना समायातीति मारितवानित्याह **तमापतन्तमिति**।

आसाभार्थ—भगवान् ने जान लिया कि यह सर्व प्रकार से मरना ही चाहता है, तब उसको मारा, जिसका वर्णन तमापतन्त श्लोक में करते है।

श्लोक—तमापतन्तमासाद्य भगवान्मधुसूदनः ।
निगृह्य पाणिना हस्तं पातयामास भूतले ॥१३॥

श्लोकार्थ—मधुसूदन भगवान् ने उसको सामने आता हुआ देख कर हाथ से सूण्ड को पकड़ कर पृथ्वी पर गिरा दिया ॥१३॥

सुबोधिनी—उपरि पतन्तं तं आसाद्य स्वयमग्रे गत्वा । मारणप्रकारानभिज्ञः भगवान् शङ्का वा अमारणं वा न संभावितमिति ज्ञापयितुमाह **मधुसूदन** इति । यो हि मधुकैटभौ मारितवान्, तस्याल्पसत्त्वस्यास्य हनने कः प्रयास इति । किन्तु स्वपाणिना तस्य हस्तं प्रसार्यमाणं **निगृह्य** नितरां लकुटवत् गृहीत्वा शाखामिव भूतले पातयामास ॥१३॥

व्याख्यार्थ--ऊपर पड़ने के लिए आते हुए हाथी के पास स्वयं भगवान् ने जा कर उसकी लम्बी की हुई सूंड को हाथ से पकड़ लिया, भगवान् मारना जानते हैं वा नहीं अथवा मार सकेंगे या नहीं वैसी शङ्का नहीं करनी, क्योंकि जो मधु - कैटभ जैसे बलवान दैत्यों को मारने से 'मधुसूदन' कहलाए हैं, उनको इस अल्प बलवाले पशु को मारने में कौनसा प्रयत्न करना पड़ेगा ? कुछ भी नहीं, अतः जैसे कोई बालक लकड़ी से वृक्ष की डाल को पकड़कर भूमि पर गिरा देता है वैसे ही आपने भी उसकी सूंडको हाथ से पकड़ कर उसको पृथ्वी पर पटक दिया ॥१३॥

आभास—स्थूलशरीरस्य पातनेनैव मूर्च्छा सम्पन्ना, ततो यत्कृतवांस्तदाह **पतितं तं पदाक्रम्येति ।**

आभासार्थ—हस्ती का शरीर भारी होने से गिरते ही उसको मूर्छा आ गई । इसके बाद भगवान् ने जो कुछ किया जिसका वर्णन 'पतित' श्लोक में करते हैं--

श्लोक—पतितं तं पदाक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया ।
दन्तमुत्पाट्य तेनैव हस्तिपांश्चाहनद्धरिः ॥१४॥

श्लोकार्थ-गिरे हुए हस्ती के ऊपर पैर धरकर, जैसे सिंह हस्ती के दांत को निकालता है, वैसे आपने भी निकाल लिया; किन्तु सिंह को उसमें प्रयत्न करना पड़ता है, भगवान् ने लीला से बिना परिश्रम (खेल की तरह) निकाल दिया और उसी दांत से उसको तथा महावत को मार डाला ॥१४॥

सुबोधिनी—प्रथमव्यापारेणैव पतितः । तादृशं मस्तके पादं दत्त्वा दन्तमुत्पाट्य **तेनैव** दन्तेनाहनत् । उत्पाटने प्रकारमाह **मृगेन्द्र इति** । स हि कुम्भस्थलं विदार्य तत्र दन्तमूलं बन्धनेभ्यः पृथक्कृत्य पश्चाद्दन्तमेवोत्पाटयति । परं महता प्रयासेन । भगवांस्तु लीलयेति विशेषः । ततस्तेनैव दन्तेन सर्वानेव महामात्रान् यैर्यैः प्रेरितः तानहनत् । चकारात् हस्तिनम् । ननु गजः किमिति हतः,

अर्द्धमृत एव त्यक्तुमुचित इति चेत्, तत्राह हरिरिति । सिंहो हि मारयत्येव । शाश्वतिको विरोध इति । भगवांश्च हरिः सर्वदुःखहर्ता, अर्द्धमृतस्य जीवने महान् क्लेश इति । वसुदेवादीनामपि दुःखं दूरीकर्तव्यमिति ।।१४।।

व्याख्यार्थ-भगवान् की पहली कृति से ही गिर पड़ा । वैसे ही गिरे हुए के मस्तक पर पैर रख कर दाँत को उखेड़ कर उसी ही दाँत से उन सब को मारा । दाँत को उखेड़ने का प्रकार बताते हैं कि जैसे पशुओं का राजा सिंह हस्ती के दाँत को उखाड़ता है । सिंह प्रथम हस्ती के गंडस्थल को चीर कर दाँत की जड़ को मांसादि से अलग कर पश्चात् उखेड़ के निकालता है,यों करने में सिंह को परिश्रम करना पड़ता है; किन्तु भगवान् ने बिना परिश्रम खेल की भाँति निकाल लिया । उस दाँत से उन सब महावतों को जिनने हस्ती को प्रेरणा दी थी मारा और हाथी को भी मारडाला । श्लोक में 'च' का आशय यह है कि यदि कोई शङ्का करे कि हाथी गिरने से अधमरा हो गया फिर उसको वहाँ ही छोड़ देना चाहिए था,उसको पुनः पूर्ण रीति से मारने की क्या आवश्यकता थी? इस शङ्का के निवारण के लिए भगवान् का नाम 'हरि' दिया है, जिसका भावार्थ है कि हरि अर्थात् सिंह और हाथी का सहज स्वभाव से विरोध है, इसलिए सिंह हस्ती को पूर्णतया मारकर छोड़ता है , अधमरा नहीं छोड़ता है । दूसरा 'हरि' शब्द का अर्थ है सर्व दुःख हर्ता, अतः यदि अधमरा छोड़ते तो हस्ती को क्लेश भोगते हुए जीवन काटना पड़ता, इसलिए वह इस प्रकार दुःख न भोगे,यह विचार कर उसको भी मार दिया । इसके सिवाय इसको मारने से वसुदेवादिकों की भी चिन्ता दूर करनी थी ।।१४।।

आभास—एवं हस्तिनं हत्वा प्रतिबन्धकापगमे तन्निवृत्तिं सूचयन् अन्तःप्रविष्ट इत्याह **मृतकमिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार हस्ती को मार कर रूकावट हटजाने से उसके नाश की सूचना देते हुए अन्दर रङ्ग मण्डप में प्रविष्ट हुए जिसका वर्णन 'मृतकं' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत् ।**
अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मदबिन्दुभिरङ्कितः ।।
विरूढस्वेदकणिकावदनाम्बुरुहो बभौ ।।१५ ।।

श्लोकार्थ—हाथी का दाँत जिसके हाथ में है, वैसे भगवान् मरे हुए हस्ती को वहाँ ही छोड़ आप जब रङ्ग मण्डप में पधारे, तब उस दाँत को कन्धे पर धारण कर लिया । उस समय भगवान् का मुखकमल हस्ती के रक्त के बिन्दु तथा पसीने के कणों से सुशोभित हो रहा था ।।१५।।

सुबोधिनी—स हि पूर्वमेवासमर्थः अप्रयोजको जीवः यतः पानेप्सुभयसापेक्षः अतस्तं विसृज्य दन्तपाणिर्भूत्वा सम्यगेवाव्यग्र आविशत् । तदा प्रविष्टस्य भगवतः स्वरूपं वर्णयति **अंसन्यस्तविषा-**

ण इति। लोकानां प्रतीत्यर्थं दन्तोऽयं महाभार इति अंसे स्थापितवान् । साप्येका लीला। ततः असृङ्मदयोः बिन्दुभिरङ्कितो जातः। सर्वाङ्ग समाकर्षणेन दन्तस्य तत्र स्थितः मदः रुधिरं च कणशो भगवति संबद्धः। यथा पूर्वदिवसे मालया चन्दनैश्च शुशुभे, एवमिदानीमपि दन्तेन मदबिन्दुभिश्च शुशुभे। विषाणमिति। कदाचिद्वाद्यविषाण गोपालाः स्कन्धेऽपि बिभ्रति, नापूर्वमिति ख्यापयितुं कुवलयापीडं च बलीवर्दतुल्यं ज्ञापयितुम्। किञ्च। विरूढेति। विशेषेण रूढा याः स्वेदकणिकाः ता वदनाम्बुरुहे यस्य। भक्तार्थं भगवानेवं प्रयासं करोतीति ज्ञापयितुं कणिकोद्भेदः। एतादृशोऽपि **बभौ**। सर्वोत्कृष्टकान्तियुक्तो जात इत्यर्थः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—वह प्रथम ही निकम्मा व असमर्थ जीव था जिससे पाने में भी वह दो की अपेक्षा वाला था, इसलिए उसको वहाँ ही छोड़ हाथ में दाँत लेकर निडर हो भीतर पधारे, भीतर पधारने के समय का भगवान् का शरीर कैसा था, जिसका वर्णन करते हैं। लोकों की प्रतीति के लिए वह दाँत विशेष बोझ वाला है इसलिये उसको कन्धे पर धर लिया था। वास्तव में भगवान् को तो वह पत्ते जैसा लगता था, भगवान् को यह भी एक प्रकार की क्रीड़ा है। भगवान् रक्त तथा मद के बिन्दुओं से सुशोभित हो रहे थे। हस्ती के दाँत को उखाड़ने से हस्ती के अङ्ग में रहा हुआ रुधिर तथा मद कणों के रूप में भगवान् के मुखारविन्दपर आके पड़ा, जिससे जैसे पहले दिन माला तथा चन्दनों से सुशोभित थे, वैसे आज दाँत और मद कणों से सुभोभित हुए थे। कभी ग्वाले सींग के बाद्य के लिए कंधे पर धरते है, अतः यह कोई नवीन कार्य नहीं है, यह कुवलयापीड़ हस्ती बैल जैसा है, यों बताने के लिए भी दाँत को सींग के वाद्यसमान कन्धे पर धरा था, भगवान् के मुख कमल पर जो पसीने के कण दीख रहे थे जिनसे भगवान् बताते हैं कि मैं अपने भक्तों के हितार्थ इतना परिश्रम करता हूँ, जिससे मेरे मुख पर पसीना आ जाता है, वह पसीना मेरी शोभा में वृद्धि करता है, यह शोभा भगवान् को विशेष कान्तिवान् करती है ॥१५॥

आभास—एवं भगवन्तं वर्णयित्वा सर्वेषां सुखेन रङ्गप्रवेशमाह **वृताविति**।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन कर अब 'वृतौ गोपैः' श्लोक से वर्णन करते हैं, कि भगवान् ने सर्व सुख देने के लिए रङ्ग मण्डप में प्रवेश किया—

श्लोक—**वृतौ गोपैः कतिपयैर्बलदेवजनार्दनौ ।**
रङ्गं विविशतु राजन्गजदन्तवरायुधौ ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! हस्ती के दाँत रूप श्रेष्ठ आयुधवाले कितने ही गोपों से घिरे हुए बलराम और श्रीकृष्ण ने रङ्ग मण्डप में प्रवेश किया ॥१६॥

सुबोधिनी—केचन गोपाला इतस्ततः पलायिताः, केचानान्तःप्रविष्टाः, केचनैव च स्थिताः। अतः कतिपयैरेव गोपैर्वृतौ । बलभद्रेणापि द्वितीयो दन्तो गृहीतः। हस्तिनः सर्वस्वं तदिति, शत्रोर्द्धनं ग्राह्यमिति, अग्रे साधनस्याप्यपेक्षितत्वात्, तत्र प्रवेशे दैत्यवधार्थं सामर्थ्यं सहजद्वेषं सूचयितुं बलदेव इत्युक्तवान्। जनार्दनः अविद्यामपि मारयतीति किं तस्य तद्गृहीतमारणे प्रयास इति ज्ञापयति। **रङ्ग**मिति। तादृशौ **रङ्गं** रङ्गप्रदेशम्, गजदन्तावेव **वरे** उत्कृष्टे आयुधे ययोः तादृशौ इदानीमेव मारयिष्याव इति बोधयन्ताविव विविशतुः। निःशङ्कतया प्रविष्टौ ॥१६॥

व्याख्यार्थ—कितने ही गोप यहाँ वहाँ भाग गए, कितने ही प्रथम ही अन्दर चले गए, शेष जो बचे थे उन थोड़े से गोपों से भगवान् घिरे हुए थे, दूसरा दाँत, बलभद्र न ले लिया। दाँत ही हस्ती का सर्वस्व धन है, भगवान् और बलरामजी के लिए वह शत्रु का धन था, शास्त्र आज्ञा देता है कि शत्रु का धन ले लेना चाहिए, छोड़ना नहीं, अत: एक भगवान् ने तो पहले ही ले लिया था। अब दूसरा बलरामजी ने ले लिया; क्योंकि आगे के लिए भी लड़ाई का साधन चाहिए। राम को 'बलदेव' कहने का भावार्थ स्पष्ट करते हैं कि दैत्य वध का सामर्थ्य आप में है और राक्षसों से आपका सहज द्वेष है, इन दोनों भावों को बताने के लिए 'बलदेव' नाम कहा है। भगवान् का नाम 'जनार्दन' दिया है; जिसके देने का भावार्थ प्रकट करते हैं कि जो अविद्या को भी नष्ट कर देते हैं, उनको इस हस्ती के पकड़ने तथा मारने में क्या परिश्रम होगा ? कुछ नहीं, इसलिए यहाँ 'जनार्दन' नाम कहा है। दोनों भाई श्रेष्ठ गज दाँत को आयुध रूप में ले के रङ्ग मण्डप में अब ही मार देंगे; यह प्रकट करते हुए निर्भीक हो के पधारे ॥१६॥

आभास—तादृशवेषेण प्रवेशस्य प्रयोजनं वदन् भगवतः स्वरूपः बलभद्रसहितं सर्वैर्दृष्ट यथाधिकारं नानाभावान् जनयतीत्याह **मल्लानामशनिरिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार के वेष धारण करने का प्रयोजन वर्णन करते हुए कहते हैं कि बलदेव के साथ भगवान् का स्वरूप भी सब ने देखा। वह स्वरूप अधिकार अनुसार सब को पृथक्-पृथक रस प्रकट करते हुए भाव स्वरूप का दर्शन दे रहे थे, जिसका वर्णन 'मल्लानाम्' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,**
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥१७॥

श्लोकार्थ—रंग मण्डप में बड़े भ्राता के साथ पधारे हुए भगवान् के दर्शन देखने वालों को जिस प्रकार पृथक् भाव में हुए, उसको कहते हैं कि भगवान् ने मल्लों को वज्र रूप से, साधारण मनुष्यों को मनुष्यों में श्रेष्ठ अर्थात् राजा के रूप से, स्त्रियों को स्वरूपधारी काम रूप से, गोपों को स्वजन(बाँधव)रूप से, दुष्ट राजाओं को दण्डदाता शासक रूप से, माता-पिता को बाल रूप से, कंस को काल रूप से, मूर्खों को विराट् रूप से, योगियों को परम तत्त्व रूप से, यादवों को अपने देवता रूप से दर्शन दिए ॥१७॥

कारिका—**प्रमेयेण निरोधोऽत्र कर्तव्यो हरिणा भृशम्।**
लोकाश्च दशधा भिन्नास्ततो दशविधोऽभवत् ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकरण में भगवान् को स्वरूप बल से ही भक्तों का निरोध करना है, अतः भगवान् यहाँ दस प्रकार के स्वरूप वाले होकर दर्शन देने लगे हैं, कारण कि लोक दस[1] प्रकार के भिन्न-भिन्न भाव वाले होने से पृथक्-पृथक् अधिकारी हैं ॥१॥

कारिका—**यस्य भावो यथा लोके तस्यानुसरणे कृते ।**
निरोधो जायते सम्यक् अन्यथा बन्धनं भवेत् ॥२॥

कारिकार्थ—लोक में जिसका जैसा भाव हो, उसके अनुसार भाव स्वरूप से दर्शन देने से निरोध भली-भाँति हो जाता है, नहीं तो वह भाव लौकिक हो जाने से प्रतिबन्धक[2] होता है ॥२॥

कारिका—**गुणा नवविधाः प्रोक्तास्तदभावस्तथा परः ।**
शृङ्गारादिरसाश्चैव तेषामेव निरूपकाः ॥३॥

कारिकार्थ—गुणों के नव भेद हैं और एक भेद निर्गुण का है, यों मिल कर दस भेद होते हैं, शृँगार आदि दस रस भी उनका ही निरूपण करने वाले हैं ॥३॥

कारिका—**राजसास्त्रिविधाः पूर्वं सात्त्विकाश्च ततः पराः ।**
आध्यात्मिकास्तथा पूर्वं दैविकास्तु ततः परम् ॥४॥

कारिकार्थ—प्रथम तीन प्रकार के राजस कहे हैं,आध्यात्मिक सात्त्विकों से प्रथम, आधिभौतिक तामस कहे हैं, उसके पश्चात् आध्यात्मिक सात्त्विक कहे हैं, अनन्तर आधिदैविक कहे हैं ॥४॥

कारिका—**रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हासो वीरो दया तथा ।**
भयानकोऽपि बीभत्सः शान्तो भक्तिरसस्तथा ॥५॥

कारिकार्थ—रौद्र, अद्भुत, शृँगार, हास, वीर, दया, भयानक; बीभत्स, शान्त और भक्ति रस इस प्रकार रस भी दस कहे हैं ॥५॥

१-गुणों के भेद से नव प्रकार के और एक निर्गुण,

२-निरोध से रुकावट करने वाला होता है।

कारिका—**एतान् दर्शयितुं भावान् हरिरेवं बभौ महान् ।**
अतस्तस्मिन् गुणा एव सर्वे भावा न चान्यथा ॥६॥

कारिकार्थ—इन भावों (रसों) को दिखाने के लिए ही हरि इस प्रकार महान् सुशोभित हुए, अतः गुण ही स्वभाव रूप है, अन्य कुछ भी नहीं हैं ॥६॥

सुबोधिनी—आदौ मल्लाः प्रतियोगिनमन्वेषमाणाः, भगवान् न प्रतियोगी, किन्तु विसदृश इति, सोऽपि सर्वथा मारक एवेति ज्ञातवन्त इत्याह **मल्लानामशनिरिति विदितः साग्रजो बलभद्रसहितः रङ्गं गत** इति । यत्र हि विद्युत्पतति, वृष्टिश्च, तत्र न समीचीनमिति ज्ञात्वा विद्युतोऽतिवेगात् पलायनेऽप्यशक्ता जाता इत्यर्थः । तेन मल्लस्वभावा निरुद्धाः, ये रौद्रप्रकृतयः । ततोऽन्ये साधारणाः राजसाः भगवन्तमद्भुतं ज्ञातवन्त इत्याह **नृणां नरवर** इति । अद्भुतो नरः नरश्रेष्ठ इति भगवन्तं दृष्ट्वा **अद्भुतदर्शनमिति अद्भुतरस** एवोत्पन्नः । साधारणास्त्वद्भुतरसेनैव वशे भवन्ति इति । सर्वत्र 'इति विदितो रङ्गं गत' इति संबध्यते । तादृशावस्थायामपि स्त्रीणां राजससात्त्विकानाम् भगवान् स्वफलस्वरूप एव प्रतिभाति इत्याह **स्त्रीणामिति** द्रष्टुमागतानाम् । ताः कामपृतनाः कदापि स्वस्वामिनं न दृष्टवत्यः । **स्मरो** हि स्मर्तव्यात्मा । स इदानीं **मूर्तिमान्** चेज्जातः, तदा सनाथा जाताः । अतःपरं सर्वैरेवेन्द्रियैः शरीरेणान्तःकरणेन च सेव्यो जात इति । एवमेकविधास्त्रयो निरूपिताः । सर्वाधमा मल्लाः, उत्तमाः स्त्रिय इति पुष्टिमार्गे क्रम उक्तः । आधिभौतिकाभिमानिनामेषा रीतिरिति । एवं सामर्थ्यप्रकटनेऽपि **गोपानां** राजसतामसानां **स्वजनः** अस्मदीय एवायं बन्धुः, परमुत्कर्षापन्नः । अतो भगवता यो वेशः कृतो विलक्षणः, स हास्यरसजनको जातः । यथा स्वकीये वेशे कृते आध्यात्मिके । एते देहस्वरूपाः, इन्द्रियरूपास्त्वग्रिमाः, आत्मरूपास्तत इति । दम्यत्वेन इन्द्रियतुल्यता राज्ञाम् । भगवन्तं दृष्ट्वा तेषां वीररस उत्पन्न इत्याह **असतां क्षितिभुजां शास्तेति** । सन्तो ये ते वृष्णित्वेन वक्तव्याः भक्त्यधिकारिणः । ये च लौकिकाः असन्तस्ते पामरा एव बीभत्सरसे वक्तव्याः । ये पुनः राजसराजसाः ते राजसभावसिद्ध्यर्थं क्षितिभुज उच्यन्ते । वीररसस्तेषामेव । भगवन्तं दृष्ट्वा युद्धार्थं बुद्धिस्तेषामुत्पन्ना । परमयं **शास्तेति** तेषां न प्रवृत्तिः । वीररसस्तूत्पद्यत एवेति रसोत्तमत्वार्थमेवमुक्तम् । यथा हीनस्यापि पुरुषस्य महाराजावरोधे दृष्टे शृङ्गाररस उत्पद्यत एव, परं तासां नोत्पद्यते, अधमबुद्धेर्बाधकत्वात् । स्वस्मात्तत्रोत्कर्षबुद्धिः सर्वत्र रसपोषिका । अतिवीराणा**मसतां** विचाररहितानां दृप्तानां शास्तृत्वप्रतीतावपि वीररसो युक्त एव । यथा स्त्रीणां स्नेहो भगवति, तथैव ततोऽप्यधिको वसुदेवदेवक्योः स्नेहः, परं तमः अज्ञानात्मकमिति कामस्तत्र प्रयोजकः । अत्र तु मोह इति । मोहांशे राजसत्वम् । स्नेहांशस्तु सर्वत्र सात्त्विक एव । लौकिकत्वाद्राजसत्वं निषिद्धत्वात्तामसत्वं विहितत्वात् सात्त्विकत्वं चेति स्नेहे त्रयो भेदाः । तत्तदधिकारिणां तथैव निरोध उक्तः । **स्वपित्रोर्वसुदेवदेवक्योः शिशुर्बालक एव** । करुणापरपर्यायो दयारस उत्पन्नः । स हि स्नेहस्यान्तरङ्गं भवति । सा दया करुणारूपा । स्नेहधर्मा बालक एवेति तेषां **शिशुरेवेति** प्रतिभातः । सात्त्विकान् गणयति । ये हि मुक्त्यधिकारिणः अलौकिकाः, ते भयबीभत्सशान्तरसेष्वधिक्रियन्ते । तत्रानुपदमेव मुक्तिर्भविष्यतीति दुष्टकर्मकर्तेति कंसः तामससात्त्विकः देहाधिष्ठात्रो देवतेव प्राज्ञ इव निरूप्यते **मृत्युर्भोजपतेरि**ति । मृत्युर्भयात्मकः । न हि ततोऽधिकं भयमस्ति । लोकन्यायेन नरकापेक्षयापि मृत्युरेव महान् । भोजानां पतिरिति महत्त्वं सात्त्विकत्वार्थमुक्तम् । **विराडविदुषामिति** । ये हि भगवत्स्वरूपनिष्ठा भक्ताः राजससात्त्विकाः,

तेषां स्नेहवशात् रुधिरमदबिन्दुभि: कृत्वा बीभत्सरस उत्पद्यते। यथा स्वपुत्रादौ असद्द्रव्यसंबन्धे विचिकित्सा भवति। अन्यथा तद्दूरीकरणार्थं प्रवृत्तिर्न स्यात्। निन्दा तु भगवल्लीलापरिज्ञानात्। 'उत्कृत्योत्कृत्यकृत्ति'मित्यादिकमपि महतामेव बीभत्सरसजनकम्, न तु प्राकृतानाम्, अन्यथा निरोधे ते न वक्तव्या: स्यु:। नह्यतिप्राकृता: 'त्यक्तव्य एव भगवा'निति बुद्धियुक्ता: निरोधाधिकारिणो भवन्ति। **विराट्**शब्द: शोभाभाववाचक: विगतराजनरूप:, न तु प्रसिद्ध:। अदृष्टत्वादसमतत्वाच्च। न हि तत्स्वरूपज्ञा अविदुषो भवन्ति। परं योगिनो हि सात्त्विकसात्त्विका: प्रवृत्तिस्वभावत्वान्न गुणातीता:। तेषां स्वेष्टसिद्ध्यर्थमात्मत्वेन च स्फुरणात्प्रकारद्वयेन च स्नेह:। अतो योगिनां परमेव **तत्त्वं** पुरुषोत्तमरूपम्। तेषां सर्वं तत्त्वात्मकमित्यात्मापि तत्त्वरूपो भवति। योगसाङ्ख्ययोरेषैव व्यवस्था। **परत्वं** परमकाष्टापन्नत्वम्। वृष्णयो हि यादवा भगवदीया गुणातीता:, येषां सात्त्विकान्ते परमो निरोधो वक्तव्य:। 'शय्यासनाटनालापे'ति। तेषां भगवति **परत्वं** स्वामित्वं देवतात्वं च विदितं जातम्। दासस्य हि स्वामी नियामक:। स लौकिकोऽपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं **देवता**पदम्। स्वस्मिन् अलौकिकबुद्धौ हीनत्वाभावात् दृढा भक्तिर्न भविष्यतीति स्वस्मिन् प्राकृतत्वबुद्धिरेव। अत: परदेवतात्वं भगवति युक्तम्. भगवांस्तु यादृशस्तादृश एव सर्वविलक्षण: सर्वरूपश्चेति। अत उक्त**मिति विदित** इति। रङ्गस्थानं गत: यत्र सर्वेषामेव रस: पुष्टो भवति। यद्यपि शान्तरसस्य न विशेषाभिनय:; तथापि तथोपवेशनेन सामान्याभिनयोऽस्त्येव। 'अष्टौ नाट्ये रसा' इति विशेषाभिप्रायम्। भक्तिरसोऽपि रसदृष्टिवत् निपुणैरभिनेय इति। सर्वेषामेवार्थे **रङ्गं गत:। साग्रजो** बलभद्रसहित:। समानतया सर्वत्र निरूपयन् अत्र गौणत्वार्थं सहभावमेवोक्तवान्। अन्यथा द्विवचनेनैव वदेत्। वेदसहभावोऽपि भगवति वक्तव्य:, अलौकिकत्वाय। तत्रापि सर्वरससंबन्धे **पित्रो**रित्यादि न सामञ्जस्येन युक्तं भवेत्। गोपानामपि लीलाया अकृतत्वात् न हास्यरसत्वम्। तस्मादसर्वत्वात् सहभाव एवोक्त:। रसोत्पत्तौ तत्तद्बुद्धिर्योग्यत्वेन निरूपिता फलोन्मुखत्वाय ।।१७।।

व्याख्यार्थ:—वहां रंगमण्डप में प्रथम मल्ल देखे जो अपने से लड़ने वाले प्रतियोगी को ढूंढ रहे थे, वे भगवान् को वज्र समान देख समझ गए कि ये तो हमारे मारने वाले हैं न कि प्रतिद्वंदी हैं, इसलिए श्लोक में कहा कि 'मल्लानामशनि' मल्लों को वज्र रूप से दर्शन दिए, जहां कड़ाके की बिजली गिर रही हो तथा जोर से वर्षा हो रही हो वहां कुशल नहीं तथा भाग जाना भी वहां से कठिन होता है, इसलिए वे भाग जाने में भी असमर्थ हो गए। इस प्रकार रुद्र प्रकृति वाले मल्लों के स्वभावों का निरोध कर लिया है। २—'नृणां नरवर' कहकर बताया है कि जो साधारण राजस हैं उन्होंने भगवान् को नरश्रेष्ठ अर्थात् राजा के समान अद्भुत वेशधारी स्वरूप वाला देखा, जिससे भगवान् ने अद्भुत रस प्रकट कर दिखाया, कारण कि साधारण अद्भुत रस से ही वश होता है। ३—'स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्' वहां जो स्त्रियां देखने के लिए आई थीं, वे राजस सात्विक थीं, अत: उनको तो भगवान् अपने इच्छित फल का रूप ही देखने में आए। वे काम की सेनाएँ हैं, उन्होंने अपने पति के दर्शन कभी भी नहीं किए थे 'स्मर' ही स्मरणात्मा है, वह आत्मा जब स्वरूप धारण कर अब प्रकट हुई है, तब हम नाथवाली हुई हैं। इस प्रकार मूर्तिमान होने से अब हम सकल इन्द्रियों से, शरीर से तथा अन्त: करण से सेवा कर सकेंगी। वैसे तीनों का एक प्रकार कहा, सबसे अधम मल्ल हैं, क्योंकि तामस तामस हैं। उत्तम स्त्रियां हैं, कारण कि राजस सात्विक है; यह पुष्टिमार्गीय क्रम है,जो आधिभौतिक अभिमानी हैं, उनकी रीति यह है कि वे गोप हैं, जो भगवान् के इस प्रकार के

माहात्म्य देखकर भी देह अभिमान के कारण उनको अपना स्वजन बन्धु ही समझने लगे, अतः वे तामस राजस हैं।

हमारे बन्धु होते हुए भी इनका परम उत्कर्ष हुआ है। अतः भगवान् ने जो विलक्षण वेश धारण किया है, वह हास्य रस को उत्पन्न करने वाला है, इस प्रकार यहां हास्य रस प्रकट किया। भगवान् ने जिस प्रकार अब आध्यात्मिक वेश द्वारा आधिभौतिक द्रष्टाओं में रस उत्पन्न किया वैसे ही पश्चात् इन्द्रिय रूप राजाओं को उसके बाद आत्म रूप भक्तों में रस प्रकट करेंगे, राजा लोग दमन करने योग्य होने से इन्द्रिय रूप हैं। भगवान् को देखते ही उनमें वीर रस प्रकट हुआ, जिसका वर्णन 'असतां क्षिति भुजां शास्ता' नीच राजाओं को शिक्षा देने वाले हैं, इस पद से किया है। दुष्ट राजाओं को भगवान् को देखने से भाव उत्पन्न हुए कि यह हमारा दमन करेंगे, अतः हम इनसे लड़ेंगे, जिससे हमारा दमन न कर सकेंगे, ऐसी बुद्धि नीचता के कारण इनमें हुई, जिससे भगवान् के सत्य रूप को न जान सके। जैसे इन्द्रियां विषयासक्त होने से भगवान् को नहीं देख सकती हैं, अतः इन्द्रियों का दमन जैसे आवश्यक है वैसे ही इनका दमन भी आवश्यक समझा। भगवान् ने इनको वीर रस से दर्शन दिया, किन्तु दर्शकों में जो सन्त थे, वृष्णि हैं और भक्ति के अधिकारी हैं, जो लौकिक असत् राजा थे वे पामर ही थे। उनको तो 'बीभत्स' रस स्वरूप के दर्शन हुए। जो राजस थे वे राजस भाव की सिद्धि करने के कारण राजा कहे जाते हैं, इस प्रकार क्षितिभुजों को ही वीर रस उत्पन्न हुआ था।

भगवान् को देख कर युद्ध करने की बुद्धि उनको उत्पन्न हुई थी; किन्तु उनको यह ज्ञान हो गया कि ये शास्ता हैं, अतः युद्ध में प्रवृत्ति न हुई वीर रस तो उत्पन्न हुआ ही, रसों में वीर रस भी एक प्रकार से उत्तम है, यों दिखाने के लिए उसको प्रकट किया है।

साधारण हीन पुरुष भी यदि राजा की स्त्री को देखे तो उसमें भी काम भावना उत्पन्न होगी ही, किन्तु वैसे पुरुष को देख कर रानी में काम भाव न प्रकटेगा। कारण कि रानी उसको अपने से कम दर्जे का समझती है। अपने से सामने वाला उत्तम है, वैसी बुद्धि रस की पोषक होती है। अतः जो वीर विशेष वीरता वाले हैं; वे असत् हों अथवा विचार हीन हों, अभिमानी हों तो भी सामने वाले में शास्ता की प्रतीति होने पर भी वीर रस उत्पन्न हो, यह योग्य ही है। भगवान् में जैसा स्नेह स्त्रियों का है, वैसा ही अथवा उस से भी विशेष स्नेह वसुदेव देवकी का है, किन्तु स्त्रियों में अज्ञानात्मक तम है; जिसका प्रयोजक काम है, यहां अर्थात् वसुदेव देवकी के स्नेह में प्रयोजक मोह है, इसलिए मोहांश के कारण इनमें राजस भाव है, स्नोहांश तो सर्वत्र सत्विक ही होता है।

स्नेह के तीन प्रकार हैं, जब लौकिक भाव वाला स्नेह होता है, तब वह स्नेह राजस कहलाता है। जब शास्त्र निषिद्ध भाव वाला स्नेह होता है, तब वह स्नेह तामस कहा जाता है और जब शास्त्र में जिसकी आज्ञा है इस प्रकार का स्नेह हो तो वह सात्विक गिना जाता है, अतः जैसा जैसा अधिकारी वैसा वैसा उसका निरोध कहा गया है।

अपने माता पिता, वसुदेव देवकी को बालक रूप से दर्शन दिया, शिशु रूप के दर्शन से उनके हृदय में करुणा अर्थात् दया रस उत्पन्न हुआ, वह (दया रस) स्नेह का अन्तरङ्ग रूप है, बाल स्वरूप में ही स्नेह धर्म रहता है; अतः उनको भगवान् शिशु रूप से प्रतीत होने लगे। सात्विकों को

कहते हैं कि वे मुक्ति के अधिकारी हैं एवं अलौकिक हैं। ये भय, बीभत्स तथा शान्त रस के ही अधिकारी हैं। उनमें से जिसकी अबही मुक्ति होगी वह दुष्कर्म कर्ता कंस तामस सात्विक है, देह की अधिष्ठात्री देवता हो, जैसे प्राज्ञ हो, वैसे उसका निरूपण करते हैं। 'मृत्युः भोजपते' भोजपति को भगवान् मृत्यु रूप देखने में आया। 'मृत्यु' भयरूप है, जिससे विशेष भयानक अन्य कोई नहीं है। लोक न्याय के अनुसार नरक से भी मृत्यु महान् ही है। भोजों का पति कह कर इसका महत्व भी बताया,जिससे यह 'सात्विक' है; यह भी सूचित हो गया।

'विराट् अविदूषां' अनपढ़ों को विराट स्वरूप का दर्शन हुआ। वे अनपढ़ होते हुए भी भगवान् के स्वरूप में निष्ठावाले भक्त होने से राजस सात्विक भक्त हैं, अतः भगवान् के स्वरूप में रूधिर तथा मद के बिन्दु देखकर स्नेह के कारण उनको भय हुआ। इस प्रकार यहां बीभत्स रस उत्पन्न किया है। जैसे अपने पुत्र का किसी बुरे पदार्थ से सम्बन्ध हो तो माता पिता को उससे पुत्र के अनिष्ट होने का संदेह तथा भय उत्पन्न होता है, जिससे वे उसकी निवृत्ति के उपाय करते हैं।

यदि इस प्रकार भय या संदेह न हो तो निवारण में प्रवृति न हो, यह सब स्नेह के कारण होता है। दोष तो भगवान्‌की लीला के कारण पूरी तरह ज्ञान न होने से होता है। जहां 'उत्कृत्योत्कृत्य कृति' है। अर्थात् जहां विशेष से विशेष कृति है, वहां ही महान् पुरुषों में ही बीभत्स रस उत्पन्न होता है। जो प्राकृत हैं, उनमें बीभत्स रस उत्पन्न नहीं होता है, यदि ऐसों में भी यह रस उत्पन्न होवे तो यह रस निरोध जनक रसों में न गिना जाता। अति प्राकृत जिनकी बुद्धि है कि भगवान् त्यागने के योग्य है, वे निरोध के अधिकारी नहीं हो सकते हैं। 'विराट्' शब्द का अर्थ शोभा के अभाव वाला है, अथवा जिससे शोभा का भाव निकल गया है वे तो प्रसिद्ध नहीं हैं, कारण कि वैसा भाव देखा नहीं है और संमत भी नहीं है। उसके स्वरूप को जानने वाले मूर्ख नहीं होते हैं। अर्थात् विद्वान् ही उसके स्वरूप को जानते हैं। जो योगी हैं, वे सात्विक-सात्विकी हैं, किन्तु प्रवृत्ति स्वभाव वाले होने से गुणातीत अर्थात् निर्गुण नहीं हैं। उनको अर्थात् योगियों को अपने इच्छित फल की सिद्धि के लिए भगवान् की आत्मरूप से स्फूर्ति होती है और स्नेह दो प्रकार से होता है, अतः योगियों का परम तत्व पुरूषोत्तम स्वरूप है। उनकी दृष्टि में यह सब तत्व रूप है, अतः आत्मा भी तत्व रूप है, योग और साङ्ख्य का यह ही सिद्धान्त हैं।

'पर' शब्द का तात्पर्य परम काष्ठापन्न स्वरूप अर्थात् जिससे उत्तम अन्य कोई तत्व नहीं हैं, वृष्णी जो यादव हैं,वे भगवदीय होने से गुणातीत अर्थात् निर्गुण हैं। सात्विकों का निरोध वर्णन कर पश्चात् उनका परम निरोध 'शय्यासनाटनालापे' श्लोक में कहा जाएगा। उन यादवों को भगवान् सबसे उत्कृष्ट अपना स्वामी और देवता समझ में आया। दास का स्वामी ही नियामक है, वह अर्थात् स्वामी लौकिक भी होता है, यह हमारे स्वामी लौकिक नहीं है; यों बताने के लिए 'देवता' पद दिया है। यदि अपनी बुद्धि अलौकिक है, वैसा ज्ञान हो, तो भगवान् में दृढ भक्ति नहीं हो सकती है। अतः अपनी हीन प्राकृत बुद्धि रखनी चाहिए;जिससे भगवान् में भक्ति दृढ़ होवे। अतः भगवान् को परदेवता समझना योग्य ही है। यों तो भगवान् जिस प्रकार का कहो उस प्रकार का होते हुए भी सबसे विलक्षण तथा सर्व रूप हैं। अतः कहा है कि 'इति विदितः' जैसा जैसा अधिकारी वैसा वैसा दर्शन देकर तदनुकूल रस प्रकट किया।

'रङ्गमण्डप' में इसलिए ही पधारे थे कि सबका ही रस पुष्ट हो, हालांकि शान्त रस का विशेष अभिनय यहां नहीं किया है, तो भी उस प्रकार बैठने से साधारण अभिनय तो हुआ ही है। नाट्य में आठ रस हैं, यह विशेष अभिप्राय है। निपुणों को भक्ति रस का रस की दृष्टि के समान अभिनय करना चाहिए। भगवान् सर्व के हितार्थ रङ्ग मण्डप में पधारे। बलभद्रजी के साथ भगवान् ने सर्वत्र समभाव से निरूपण किया। बलभद्र को साथ में गौण भाव दिखाने के लिए लिया है। यदि गौण भाव प्रकट करना न होता, तो साथ में कहने के लिए द्विवचन कहा जाता, किन्तु यहां 'साग्रजोगतः' इस प्रकार श्लोक में एक वचन ही कहा है। भगवान् से वेद का सहभाव है, यों अलौकिकत्व दिखाने के लिए कहना चाहिए।

इस प्रकार जहाँ सर्व रस सम्बन्ध है, वहां 'पित्रोः' यह कहना उपयुक्त नहीं हैं। गोपों ने भी लीला नहीं की है, उनके लिए हास्य रस कहना ठीक नहीं है। इस कारण से असर्वपन होने से सहभाव से ही कहा है, यों समझना चाहिए। रस को प्रकट करने में वैसी वैसी बुद्धि ही योग्यता से कही है, क्योंकि नहीं तो फल प्राप्ति न होगी; अतः फल की प्राप्ति के लिए वैसी बुद्धि होगी तो रस अवश्य प्रकट होगा ।।२७।।

आभास—प्रधानक्रमेण कंसस्यादौ भयमाह **हतं कुवलयापीडमिति** ।

आभासार्थ—भगवान् को जो कार्य मथुरा में क्रमवार करने थे, उनमें मुख्य कार्य कंस को मारना था। अतः कार्य के क्रम में प्रथम क्रम यह होने से इसको प्रधान क्रम कहा है। जिसके कार्य का प्रारम्भ करते प्रथम वह कार्य करते हैं, जिससे कंस को भय उत्पन्न हो। जिसका वर्णन 'हतं कुवलयापीडं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**हतं कुवलयापीडं दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ ।**
कंसो मनस्व्यपि तदा भृशमुद्विविजे नृप ।।१८।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जिनने कुवलयापीड को मारा, उन दोनों को देखकर कंस समझ गया कि ये दोनों कठिनाई से जीतने योग्य हैं, अतः मनस्वी होते हुए भी बहुत व्याकुल हो गया ।।१८।।

सुबोधिनी—स हि ज्ञातवान् वञ्चयित्वा समायास्यतीति, तत्र मारयित्वा समागत इति, यद्यपि महाशूरः राजापि, तथापि **भृशमुद्विविजे**। यदि गजो हतः अशस्त्रेण, तर्ह्यन्यानपि मारयिष्यतीति युक्तिः। प्रमाणमाह **दृष्ट्वा तावपि दुर्जयाविति**। मनसा दृष्ट्या च एतौ दुर्जयाविति प्रतिभाति, मया च यत्नः कर्तव्यः, कृतश्च भूयात्, अपकृतश्च पित्रादिबन्धनेन; अतो मारयिष्यत्येव, नान्यथेति भृशमुद्वेगः। दुःखेन जयो ययोरिति नात्र योगो वक्तव्यः, किन्तु अजेयावित्येव रूढोर्थः। **नृपेति** संबोधन शत्रोस्तथात्वदर्शनात् विश्वासार्थम् ।।१८।।

व्याख्यार्थः—कंस ने तो यों समझ रखा था कि भगवान् छल करके रंग मंडप में आएंगे,

किन्तु वहां तो वे अन्दर न आ सकें, इसलिए जो शूर वीर पहलवानों सहित हाथी को द्वार पर खड़ा किया था। उसे मार कर चले आए, हालांकि राजा कंस महान् शूरवीर है, तो भी बहुत डर के कारण व्याकुल हो गया। वैसे हस्ती को जब बिना शस्त्र के मारडाला है, तो दूसरों को भी मार डालेंगे, इस युक्ति को कहकर और उनको देखकर प्रमाणित करता है कि वे दोनों कठिनाई से जीतने योग्य हैं। कंस कहने लगा कि ये मनसे अथवा देखने से दुर्जय मालूम होते हैं। मुझे तो यत्न करना चाहिए, किए भी बहुत हैं और इसके पिता आदि को बन्धन में डालकर अपकार भी किए हैं; अतः निश्चय है कि यह मारेंगे ही। मारने के सिवाय और कुछ नहीं करेंगे, इन विचारों से बहुत उद्वेग वाला हो गया। यहां 'दुर्जय' शब्द का अर्थ शब्दों के अनुसार यौगिक नहीं लेना है, किन्तु उसका भावार्थ समझना चाहिए कि ये दोनों जोते न जाएंगे। अर्थात् इनको किसी प्रकार में जीत नहीं सकूंगा, 'नृपः' विशेषण इसलिए दिया है कि मैं जो कुछ कह रहा हूं उसमें आपको विश्वास हो कि यह मेरा शत्रु ऐसा ही अजेय है ॥१८॥

आभास—एवं प्रधानस्य रसाविर्भावमुक्त्वा मल्लानामतिकठिनानां भगवतो गुणश्रवणमपि अधिकमपेक्ष्यत इति तान् परित्यज्य शिष्टानां रसाविर्भावो जात इत्याह **तौ रेजतुः** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रधान रस का आविर्भाव हुआ, यह कह कर अब अति कठोर मल्लों को भगवान् के गुणों का श्रवण भी विशेष चाहिए, किन्तु उनको छोड़ कर वहाँ रङ्ग मण्डप में जो अन्य शिष्ट हैं; उनमें रस का आविर्भाव हुआ; जिसका वर्णन 'तौ रेजतुः' श्लोक में कहते है—

श्लोक—**तौ रेजतु रङ्गगतौ महाभुजौ विचित्रवेषाभरणस्रगम्बरौ।**
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—आभूषण, माला और वस्त्रों से जिनने विचित्र वेष धारण किए हैं,वैसे महाभुजावाले रंगमण्डप में गए हुए वे दोनों सुशोभित होने लगे। नट की भाँति उत्तम वेषधारी अपनी कान्ति से द्रष्टाओं के मन को अपनी तरफ खींचते हुए शोभायमान हुए ॥१९॥

सुबोधिनी—तौ निरीक्षतां प्रभया मनः क्षिपन्तौ रेजतु इति। **मनो** हि प्रतिबन्धकं क्षणेन रसान्तरमप्युत्पादयेत्, अतस्तस्याक्षेपो वक्तव्यः। यथा नोत्पादयेदिति। प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं प्रथमतो भगवच्छोभावर्णनम्। शोभायामुभयोस्तुल्यता, यथा नीलमुक्तामणी। नटवदेव भगवन्तौ रूपान्तरं गृहीतवन्तौ। तौ चेद्रङ्गगतौ भवतः,वेशः सार्थको भवतीति परमार्थतः। लोकेऽपि रङ्गस्थान एव नटोत्तमता, नान्यत्र। अतो **रङ्गगतौ रेजतुः** पूर्वापेक्षयापि। नन्वयं रङ्गः कृत्रिमः, कथमत्र रमणमिति चेत्; तत्राह **महाभुजाविति**। तथापि भुजाभ्यामेव सर्वे निराकर्तव्या इति युक्तैव शोभा। ननु तथापि ये रसानभिज्ञाः प्राकृताः शुद्धस्वाङ्गरसं न जानन्ति, तेषां कथं रसोत्पत्तिरित्यत आह **विचित्रवेषाभरणस्रगम्बराविति**। विचित्रो वेषो यथा भवति; तथा आभरणानि स्रजः अम्बराणि च ययोः। त्रिविधान्यप्याभरणानि वैचित्र्यं जनयन्तीति अन्येषामपि रसयो-

ग्यता। नन्वेतयोः नटवद्रूपान्तरग्रहणमिति हि महतां प्रतीतिः, न सर्वेषाम्; तत्कथं नटबुद्ध्यभावात् रसोत्पत्तिरिति चेत्, तत्राह **यथा नटा**विति। नटत्वदेव तदानीमभिनयं कुरुतः। अतः सर्वेषामेव नटप्रतीतिः। ननु स्वाभाविकमेव अपूर्वदर्शनात्तयोः कथं न भवेदित्याशङ्क्याह **उत्तमवेषधारिणा**विति। उत्तमवेषं धारयत इति नटाभिनयो न स्वाभाविकः। अतः सर्वेषामेव स्वप्रभया मनोहरणं युक्तम् ॥१६॥

व्याख्यार्थः— वे दोनों अपनी कान्ति से देखने वालों के मन को अपनी तरफ खेंचते हुए शोभायमान हुए। उनका मन अपनी तरफ इसलिए खेंचने लगे कि मन चञ्चल होने से क्षण में रसान्तर को उत्पन्न कर देता है। खेंचा हुआ (मन) रसान्तर उत्पन्न नहीं करेगा, मन ही रस को एक रस में रखने के लिए प्रतिबन्धक है। अतः उस प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिए प्रथम भगवान् की शोभा का वर्णन करते हैं। शोभा में दोनों रूपों की समानता है, जैसे नीलम और मोती समान हैं। नट की भांति ही दोनों भगवत्स्वरूपों ने रूपान्तर ग्रहण किया है। वे उस रूपान्तर से रङ्ग मण्डप में पधारे तब वेशधारण करना सचमुच सार्थक हो गया। लोक में भी नाटक में ही नटकी उत्तमता देखने में आती है, दूसरे स्थान पर नहीं दिखती है। पहले की उपेक्षा भी जब रङ्ग मण्डप में गए, तब सुशोभित हुए।

यह रङ्ग मण्डप तो बनावटी है, यहां रमण कैसे होगा ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहते हैं कि 'महाभुजौ' बड़ी भुजा वाले हैं, अतः इन भुजाओं से सब कृत्रिमपन मिटा देंगे। इसलिए शोभित हुए यह कहना योग्य ही है, जिससे रमण अर्थात् रस का प्रकट हुआ है। यों मान भी लेवें, तो भी जो रस से अनजान हैं; प्राकृत हैं, शुद्ध स्वाङ्ग के रस को नहीं जानते हैं, उनमें रस की उत्पत्ति कैसे होगी ? उनमें रस की उत्पत्ति के लिए ही इस प्रकार की आभूषण माला और वस्त्रों से विचित्र वेष धारण किया है, जिससे उनमें भी रस की उत्पत्ति हो। तीन प्रकार के आभरण की विचित्रता उत्पन्न करते हैं, अतः अन्यों में भी रस की योग्यता होती है। इन दोनों ने जो नट की भांति रूपान्तर ग्रहण किया है, जिसकी प्रतीति महान् पुरुषों को होगी न सर्व को, तब नट के ज्ञान न होने पर रस की उत्पत्ति कैसे होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे नट अर्थात् नट को देख कर जैसे सबको रस आता है, वैसे ही वहां भी इन दोनों ने नट की भांति ही खेल किया है। अतः सबको ही नट की प्रतीति होती हैं, उनका अपूर्व दर्शन स्वाभाविक होता है। जिससे क्या रस का प्राकट्य नहीं हो सकता है ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि यहां उत्तम वेष धारण किया है, किन्तु यह नट का नाटक स्वाभाविक नहीं है, अतः सर्व के मन का हरण तो अपने वास्तविक प्रभाव से ही किया है, यह योग्य है ॥१६॥

आभास—ततस्तेषां रस आविर्भूत इति वक्तुं भगवति प्रेमपूर्वकमवलोकनमाह **निरीक्ष्ये**ति।

आभासार्थ—रङ्ग मण्डप में स्थितों को उन स्वरूपों को प्रेमपूर्वक देखने से रस उत्पन्न हुआ, जिसका वर्णन 'निरीक्ष्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—निरीक्ष्य तावुत्तमपुरुषौ जना मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप ।
प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणाननाः पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—साधारण तथा उत्तम पुरुष, जो मञ्च पर बैठे थे, एवं जो राष्ट्र के निवासी थे, उन सबको उन दोनों उत्तम पुरुषों को देखकर हर्ष के वेग से नेत्र तथा मुखारविन्द खिल गए, नेत्रों से उनके मुख रस का पान करते हुए वे तृप्त न हुए ।२०।

सुबोधिनी—पुरुषमात्रमपि सुन्दरं दृष्ट्वा प्रमोदो भवेत्; एतौ तु पुरुषोत्तमौ, 'उत्तमः पुरुषः परमात्मे'ति आत्मनोपि नियामकौ । **जनाः** सर्व एव प्राणिनः साधारणाः । ततो विशिष्टाः **मञ्चस्थिताः** । दर्शनयोग्यत्वाय वा मञ्चस्थितत्वम् । **नागरराष्ट्रकाः** नगरवासिनो देशवासिनश्च । नगरवासिनो रसाभिज्ञाः, देशवासिनो बहुज्ञाः । अत उभये विशिष्टा गणिताः । ततोऽपि नृपास्त्रिविधाः चतुर्विधा वा । सर्वेषामपि नियन्तारं दृष्ट्वा मुदिता जाताः । न केवलं हर्षमात्रम्, किन्तु प्रहर्षस्य यो वेगः तेनोत्कलितं विकाशाभिमुखमाननं येषाम् । प्रथमदर्शन एवैतत् । अग्रे वाक्यैर्विकाशं वक्ष्यति । अतस्तदाननं पपुः, तेन मार्गेणान्तः प्रवेशितवन्तः । **नयनैरि**ति । नयनरूपाण्येव तानि । अतो मुखमपि नीतवन्त इति । इयमेव तदासक्तिः, यदन्तर्बहिः स एव दृश्यते ॥२०॥

व्याख्यार्थः—साधारण सुन्दर पुरुष को देख कर भी आनन्द उत्पन्न होता है, ये तो पुरुषों में उत्तम पुरुष हैं । उत्तम पुरुष अर्थात् परमात्मा, अतः ये आत्मा के भी नियामक हैं । श्लोक में 'जनाः' पद साधारण सकल प्राणियों के लिए दिया है, उन साधारणों से उत्तम वे थे, जो सभा में मञ्च पर बैठे थे । उनको मञ्च पर इसलिए बिठाया गया था कि वे देखने के योग्य थे । नगरवासी रस को जानते हैं और देश वासी अनुभवी होते है, अतः इनको वरिष्ठ अर्थात् उत्तम या विलक्षण कहा है । उनसे भी राजा लोग तीन चार प्रकार के थे वे सब, सबके नियन्ता को देख कर प्रसन्न हुए, वे केवल प्रसन्न ही न हुए, किन्तु प्रसन्नता के वेग से उनके मुख कमल विकसित हो गए । यह पहला ही दर्शन है, आगे शब्दों से खिलना कहेंगे, अतः नेत्रों से उनके मुख कमल का पान कर अन्तःकरण में उनको पधराया । नेत्रों को संस्कृत में 'नयन' कहते हैं । अर्थात् ले जाने वाले हैं, अतः मुख को भी अन्दर ले गए । यह लेना ही प्रकट करता है कि उनकी इनमें आसक्ति है, जिससे बाहर और भीतर वे स्वरूप ही उनको दीख रहे हैं ॥२०॥

आभास—न केवलं योगिवदन्तः स्थापयित्वा चरितार्था जाताः, किन्तु भक्ता इव परमाकाङ्क्षायुक्ता इव, क्षुधिता इव, मुग्धा इव, प्रोष्यागता इव, परमस्निग्धा इव जाता इत्याह **पिबन्त इवेति** ।

आभासार्थ—वे योगी की भाँति अन्तःकरण में पधरा कर कृतार्थ नहीं हो गए, किन्तु भक्तों के, परम आकाँक्षावालों के, मुग्धों के, युवावस्थावाली सरल स्वभाववाली नायिका के, विदेश से आए हुए प्रीतम के और परम प्यारे के समान स्थितिवाले हो गए, जिसका वर्णन 'पिबन्त इव' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक:—पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ।
जिघ्रन्त इवनासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः ॥२१॥

श्लोकार्थः—रङ्ग में स्थित नेत्रों से मानो उनका पान कर रहे हैं, जिह्वा से मानो चाट रहे हैं, नासापुटों से मानों सूंघ रहे हैं और बाहुओं से मानों आलिङ्गन कर रहे हैं ॥२१॥

सुबोधिनी:—चक्षुर्भ्यां पिबन्त इव जाताः । प्रत्येकं चक्षुर्द्वयेनान्तर्दुःसहतापशान्त्यर्थं अन्तर्निवेशितवन्तः । यथा पानसमये जलमन्तर्बहिर्व्याप्तं तिष्ठति, तथा भगवान् जात इत्यर्थः । यथा गौर्वत्से जाते जिह्वया प्रेमपूर्त्यर्थं लेहनं करोति, तथा ज्ञानानन्तरं भावमाविष्कृतवन्तः । यथा पिता तदर्थमेव संपादितपदार्थः प्रोष्यागतः मूर्ध्नि जिघ्रति जातं वा, तथा भगवति सर्वे जाताः । ज्ञानप्रेमानन्तरं बहिरात्मत्वेन व्यवहृतवन्त इत्यर्थः यथा वा मित्राणि स्त्रियो वा चिरागतं आलिङ्गन्ति, तथा भगवति सर्व एव जातभावा जाताः । ज्ञानप्रेमात्मव्यवहारेषु सिद्धेषु सख्यान्तमात्मसमर्पणान्तं वा भक्तिसाधनानि क्रियन्ते, तथा कृतवन्तः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—आंखों से मानों भगवान् का पान कर रहे थे, कैसे पान करते थे ? उसकी व्याख्या करते हैं कि प्रत्येक दर्शक अपने भीतर के दुःसह ताप की निवृत्ति करने के लिए भगवान् को नेत्रों द्वारा भीतर पधराते हैं। जैसे पीने के समय जल भीतर तथा बाहर फैला रहता है, वैसे ही भगवान् भीतर तथा बाहर व्याप्त हो रहे हैं। जिस प्रकार गौ, बछड़े से प्रेम की पूर्ति के लिए उसको चाटती रहती है, वैसे ही दर्शक भी भगवान् के स्वरूप का ज्ञान होने के बाद अपना भाव प्रदर्शित करने के बाद अपना भाव प्रदर्शित करने के लिए मानो जिह्वा से चाट रहे हैं। जैसे पिता विदेश से आगमन के समय पुत्र के लिए अनेक पदार्थ लाता है और आते ही उस पुत्र के मस्तक को प्रेम प्रकट करने के लिए अथवा प्रेम पूर्ति के लिए सूंघता है। अथवा पुत्र के जन्म होने पर प्रेम से मस्तक सूंघता है, वैसे सर्व दर्शक भी मानो नासापुट से सूंघ रहे हैं। इस प्रकार ज्ञान तथा प्रेम होने के बाद बाहर भगवान् को अपनी आत्मा समझ व्यवहार कर रहे हैं। मित्र तथा स्त्रियां बाहर से बहुत समय से आए हुए अपने मित्र तथा पतियों का आलिङ्गन करती हैं, वैसे दर्शक भी इस प्रकार के भाव वाले होकर मानो आलिङ्गन कर रहे हैं। जैसे ज्ञान, प्रेम और आत्मपन के व्यवहार सिद्ध हो जाने पर सख्य पर्यन्त अथवा आत्मसमर्पण तक भक्ति के साधन किए जाते हैं, वैसे ही ये भी करने लगे ॥२१॥

आभासः—एवं ज्ञानक्रियाशक्तिविनियोगेन अन्तःकरणशरीरयोर्भगवति विनिवेशनमुक्तम्, लेहनाघ्राणाभ्यामिन्द्रियप्राणयोरपि । एवं चतुर्धा क्रियाज्ञानशक्ती निरूपिते । अनेन तदासक्तिः सिद्धैव, तथापि स्थूणाखननन्यायेन यदि न स्थिरीक्रियते, रसस्तदा दृढो न भवतीति भगवति वाचनिकमाह ऊचुरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ज्ञान तथा क्रिया शक्ति के निवेदन से अपने अन्तःकरण एवं शरीर का पूर्णरीति से, भगवान् में प्रविष्ट कर दिया तथा चाटने और सूंघने से इन्द्रियों एवं प्राणों को भी

भगवान् में जोड़ दिया, वैसे चार प्रकार की ज्ञान शक्ति का निरूपण किया है। हालांकि इससे उनकी भगवान् में आसक्ति सिद्ध ही हो गई, तो भी स्थूणाखनन न्याय की भांति जो इसको स्थिर न किया जायगा तो रस दृढ न होगा, इसलिए वाणी से भगवान् के गुणों का 'ऊचुः परस्पर' श्लोक से वर्णन किया है।

श्लोकः—**ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।**
तद्रूपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव ॥२२॥

श्लोकार्थः—वे दर्शक उनकी रूप गुण, मधुरता और सामर्थ्य जैसी देखी थी और सुनी थी उनका मानो याद कर आपस में परस्पर कहने लगे ॥२२॥

सुबोधिनी:—यद्यपि सर्वे जानन्ति, तथापि वक्तारः श्रोतारश्च सर्व एव जाताः, दार्ढ्यकरणस्यैव प्रयोजकत्वात्, अतः **परस्परमेवोचुः**, यतस्ते प्रसिद्धा निरुद्धाः, सर्व एव तथा जाता इति वक्तुं निश्चयमाह । तत्र भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा वक्तव्यमिति ज्ञानार्थं दर्शनं श्रवणं चाह **यथादृष्टं यथाश्रुतमिति** । न तु कल्पनया । श्रुतं कीर्त्यत इति सिद्धम्, दृष्टमसंभावनादिनिराकरणाय । ननु कः प्रसङ्गोऽत्र भगवद्गुणनिरूपणे, तत्राह **तद्रूपेति** । तस्य रूपं गुणाः माधुर्यं कोमलता च प्रागल्भ्यं सामर्थ्यं तद्दृष्टं श्रुतं स्मारितं येषु । तेन संस्कारोद्बोधात् संयोगापेक्षया संस्कारस्य बलवत्त्वात् ऊचुरेव । अन्यथा अप्रत्यक्षविषये परिदृश्यमाने अन्यचित्तता न स्यात् । वस्तुतस्तु भगवद्गुणाः स्वरूपं च भगवत्कृपया तेष्वाविर्भूतमेव, तथापि स्मृता इव वदन्तीतीवेत्युक्तम् ॥२२॥

व्याख्यार्थः—हालांकि सब भगवान् के रूप गुण आदि को जानते हैं, तो भी उनको दृढ़ करने के लिए सब ही वक्ता तथा श्रोता बन गए, इसलिए परस्पर अर्थात् आपस में कहने लगे। कारण कि ये प्रसिद्ध निरुद्ध थे, सब ही वैसे ही हो गए हैं, यों निश्चय बताने के लिए कहने लगे।

भगवान् के महात्म्य का वर्णन तब करना चाहिए जब उसका ज्ञान होवे, अतः श्लोक में कहते हैं कि 'यथादृष्टं, यथा श्रुतम्' हम जो वर्णन करते हैं वह कल्पना से नहीं कहते हैं, बल्कि जैसा आंखों से प्रत्यक्ष देखा हैं और जैसा सुना है, वह कहते हैं, जो सुना जाता है उसको ही कहा जाता है। वह स्वयं सिद्ध है और फिर वह आंखों से देखा हुआ हो, तो उसमें असंम्भावना नहीं रहती है। यहां गुणों के निरूपण का कोई अवसर नहीं है फिर क्यों कहे जाते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उनके रूप, गुण मधुरता और सामर्थ्य ऐसे हैं जो स्मरण कराने के लिए विवश कर देते हैं। अतः संस्कारों के जगने से संयोग की अपेक्षा से संस्कार बलवान होते हैं, अतः कहना ही पड़ता है। यदि न कहा जावें तो चित्त के अन्यत्र जाने की संभावना हो सकती है। अतः गुणानुवाद कहने से परोक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं, जिससे अन्यत्र चित्त नहीं जाता है। यथार्थ में तो भगवान् के गुण तथा भगवान् का स्वरूप भगवान् की कृपा से उनमें (दर्शकों में) प्रकट ही हैं, तो भी मानो स्मरण हुआ है, वैसे कहते हैं, अतः श्लोक में 'इव' पद दिया है ॥२२॥

आभासः—तेषाँ वाक्यान्याह एतावित्यष्टभिः

आभासार्थ:—उनने जो वाक्य कहे हैं वे "एतौ भगवतः" श्लोक से आठ श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोकः—**एतौ भगवतः साक्षाद्धरेर्नारायणस्य हि ।**
अवतीर्णाविहांशेन वसुदेवस्य वेश्मनि ॥२३॥

श्लोकार्थ:—नारायण हरि साक्षात् भगवान् ही राम और कृष्ण इन दो स्वरूपों से वसुदेव के गृह में अंश से प्रकट हुए हैं[1] ॥२३॥

सुबोधिनी:—अष्टैश्वर्याणि वक्तव्यानीति । गुणैः सह भगवान् प्रमाणं चेति वा । जन्मावधि सर्वमाहुः । तत्रोभयोरुत्पत्तौ तुल्यतामाहुः । **एतौ** कृष्णरामौ **भगवतः** पुरुषोत्तमस्य **साक्षात्**स्वयमागत्य सर्वदुःखनिवारकस्य । स एव स्वस्मिन् तानानीय स्वकीयान् देहादीन् तेषु संपाद्योद्धारं कुर्वन् समागत इत्याह **नारायणस्येति** । अनेन मूलमध्यब्रह्माण्डभावा निरूपिताः । तस्यैतावान् समारम्भः सर्वमुक्त्यर्थः । स भगवदवतारव्यतिरेकेण न संभवतीति युक्त एव तस्यावतार इति हि शब्दः । अवतारो हि ये उद्धर्तव्याः, तेषां मध्ये अवतरणम् । कूपे पतितो हि गुणैः स्वयमागत्य वोद्धियते । तत्राज्ञेषु स्वागमनमेवोचितमिति **अवतीर्णौ** । **इह प्रपञ्चे** । यावतांशेन एते उद्धृता भवन्ति, तावन्तमेवांशं व्यापृतवानित्याह **अंशेनेति** । अंशत्वं स्वरूपत्वं च सर्वत्र पूर्णगुणके आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादावनन्तमूर्तौ पूर्णे न विरुध्येते । सर्वप्रसिद्धमेतादिति वदन् **वसुदेवस्य वेश्मनि** गृहे भार्यायां चेत्युक्तम् । अतो द्वयमपि समर्थितं गृहे ह्याविर्भाव एवेति 'यथाश्रुत'मिति वाक्याद्वा । तावदेव तैः श्रुतमिति ॥२३॥

व्याख्यार्थ:—आठ ऐश्वर्य कहने चाहिए अथवा छ गुण, सातवें भगवान् और आठवें प्रमाण (बलराम) कहने चाहिए। जन्म काल तक सर्व कहते हैं, उसमें प्रथम दोनों के प्राकट्य में समानता बताते हैं। ये राम और कृष्ण सर्व दुःख निवृत्त करने वाले साक्षात् आप प्रकट भगवान् पुरुषोत्तम के स्वरूप हैं। वह अपने में उनको पधराकर अपनी देह आदि का उनमें सम्पादन कर उद्धार करते हुए आए हैं, इसलिए कहते हैं, कि 'नारायणस्य' नारायण शब्द कह कर बताया है कि सर्व भाव अर्थात् मूल मध्य तथा ब्रह्माण्ड के भाव इनमें हैं। उनका इतना कार्य करना सर्व की मुक्ति के लिए है। श्लोक में आए हुए 'हि' शब्द का भाव प्रकट करते हैं कि सर्व की मुक्ति भगवान् के अवतार के सिवाय नहीं हो सकती है, इसलिए उनका अवतार होना योग्य ही है। इसलिए 'हि' शब्द दिया है, जिनका उद्धार करना है उनके यहां ही प्रकट होना 'अवतार' है। यदि कोई कूप में गिर पड़ा है तो उसको दो प्रकार से निकाला जाता है। एक रस्सी से और दूसरे स्वयं कूए में जा कर। यदि कूए में गिरा हुआ मूर्ख है, रस्सी पकड़ना नहीं जानता है, तो निकालने वाला दयालु स्वयं कूए में कूदकर उसको निकालता है। अज्ञों का भी उद्धार करता है, अतः उनमें प्रकट होना ही योग्य समझ आप दो स्वरूपों से

१—अंश से कहने का आशय यह है कि जितने अंश से उनका उद्धार हो, उतने से ही वहां व्यापारवाले हुए हैं। विशेष टीका में—अनुवादक

प्रपंच में प्रकटे हैं। जितने अंश से इनका उद्धार होता है उतना ही अंश फैलाया है। या काम में लिया है। अंशपन और स्वरूपपन दोनों का उसमें विरोध नहीं है। जो सर्वत्र पूर्ण गुण वाले हैं तथा आनन्द मात्र कर पाद, मुख, उदर, आदि वाले अनन्त मूर्ति पूर्ण हैं। यह प्राकट्य सर्व में प्रसिद्ध है। यों कहते हुए कहते हैं कि वसुदेव जी के वेश्म[1] में प्रकट हुए हैं। अतः घर में वा स्त्री में दोनों का समर्थन किया है। 'यथाश्रुत' इस वाक्य से समर्थन किया है कि जैसा कि हमने सुना है, उन्होंने उतना ही सुना है ॥२३॥

आभास—एवमुभयोः सामान्यरूपमुक्त्वा भगवति विशेषरूपमाह एष इति।

आभासार्थः—इस प्रकार दोनों के सामान्य स्वरूपों का वर्णन कर भगवान् के स्वरूप की विशेषता 'एषवै' श्लोक से प्रकट करते हैं।

श्लोक—**एष वै किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम्।**
कालमेतं वसन्गूढो ववृधे नन्दवेश्मनि ॥२४॥

श्लोकार्थ—प्रसिद्ध एवं निश्चय है कि यह कृष्ण देवकी के यहां प्रकटे और गोकुल पहुँचाए गए। जहां गुप्त रीति से इतने दिन रहे वहाँ ही नन्द के घर में बड़े हुए हैं ॥२४॥

सुबोधिनीः—**एषः** कृष्णः। वै निश्चयेन। **किले**ति प्रसिद्धौ। देवक्यां जातः गोकुलं **च** नीतो वसुदेवेन। चकारात् तत्प्रतिनिधित्वेन कन्याप्यानीता। नारदवाक्यादेषा प्रसिद्धिः। ततः एतावत्कालं एकादशवर्षपर्यन्तं तत्रैव वसन् नन्दवेश्मनि **ववृधे**। तर्हि कथं सर्वैर्न व्यवहृत इति चेत्, तत्राह **गूढ** इति। गुप्त इति। गुप्तत्वार्थं गुप्तत्वे वा न व्यवहृत इत्यर्थः। वृद्धिर्जननवत्प्रातीतिकी ॥२४॥

व्याख्यार्थः—यह कृष्ण देवकी के यहां प्रकटे; गोकुल में वसुदेव जी ले गए, यह बात निश्चित है और प्रसिद्ध है। श्लोक में 'च' दिया है जिसका आशय है कि कृष्ण को वहाँ छोड़ के उसकी प्रतिनिधि रूप में कन्या ले आए। इस प्रकार जन्म होना और नन्द के यहां जाना यह बात प्रसिद्ध कैसे हुई? यह समग्र लीला गुप्त ही हुई थी। इस पर आचार्य श्री कहते हैं कि नारद के कहने से यह प्रसिद्ध हुई। वहां जाने के अनन्तर ग्यारह वर्ष नन्द के घर में रह कर आप बढ़े तब सबने क्यों न पहचाना? इसके लिए श्लोक मे कहा है कि 'गूढः' गुप्त होकर वहां रहे थे। अर्थात् किसी को तब तक मालूम न था कि यह वसुदेव के पुत्र हैं। भगवान् कृष्ण का बढ़ना केवल प्रतीति मात्र था। वास्तव में वे तो सदैव एक समरस रूप हैं ॥२४॥

आभास—न केवलं तुष्णीं वृद्धि गतः किन्तु चरित्राण्यपि कृतवानित्याह पूतनेत्यादि पञ्चभिः।

१—वेश्म शब्द का अर्थ घर तथा स्त्री होता है।

आभासार्थ:—केवल चुप चाप बैठ कर नहीं बढ़े, किन्तु चरित्र भी किए। जिसका वर्णन 'पूतनानेन' श्लोक से लेकर पाँच श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—**पूतनानेन नीतान्तं चक्रवातश्च दानव ।**

अर्जुनौ गुह्यकः केशी धेनुकोऽन्ये च तद्विधाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—इसने पूतना, बड़े दानव तृणावर्त, यमलार्जुन, केशी, शङ्खचूड़, धेनुक का तथा वैसे अन्यों का भी अन्त किया ॥२५॥

सुबोधिनी:—दुष्टनिग्रहः शिष्टदुःखदूरीकरणं तेभ्यः फलदानं चेति। तत्र दुःखं त्रिविध आधिभौतिकमाध्यात्मिकमाधिदैविकमिति। ततश्चरित्रं पञ्चविधम्। तत्र प्रथममाह ; अनेन पूतना अन्तं नीता प्रथमम्। ततश्**चक्रवात**स्तृणावर्तः अन्तं नीतः। स च दानवो महान्। ततोऽ**र्जुनौ** यमलौ वृक्षौ। ततो धेनुकः। ततः सांप्रतं केशी। **गुह्यकः** शङ्खचूडः। अन्ये चारिष्टादयः **तद्विधाः** पूर्वोक्तसमानाः।

व्याख्यार्थ:—दुष्टों का निग्रह, श्रेष्ठ पुरुषों का दुःख दूर करना और उनको फल देना ये तीन कार्य किए। इनमें दुःख तीन प्रकार के हैं, (१-आधिभौतिक २-आध्यात्मिक और ३-आधिदैविक) और चरित्र पांच प्रकार के हैं, उनमें प्रथम प्रकार कहते हैं। इनने पहले पूतना का अन्त किया अर्थात् पूतना को मारा है। उसके पश्चात् महान् दैत्य तृणावर्तका नाश किया। उसके बाद यमलार्जुन वृक्षों को गिरा दिया। उसके अनन्तर धेनुक को, पीछे केशी और शङ्खचूड़ को मारा और जो दूसरे अरिष्ट आदि थे, उनका भी नाश किया ॥२५॥

कारिका:—**षडेते प्रतिपक्षास्तु इन्द्रियाणीव रूपिताः ।**

अतिदिष्टास्तथाचान्ये सर्वतुल्या यतः परे ॥१॥२५॥

कारिकार्थ—ये छः इन्द्रियों के समान प्रतिपक्षी कहे हैं। दूसरे अतिदेश हैं क्योंकि वे सर्व समान हैं।

आभास—आधिभौतिकोपद्रवपरिहारमाह गावः सपाला इति।

आभासार्थ:—जो आधिभौतिक उपद्रव मिटाया, जिसको 'गावः' श्लोक में कहते हैं:

श्लोकः—**गावः सपाला एतेन दावाग्नेः परिमोचिताः ।**

कालियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः ॥२६॥

श्लोकार्थः—इनने गोपों सहित गायों की दावाग्नि से रक्षा की। कालिय नाग का दमन किया और इन्द्र का अहङ्कार नष्ट किया ॥२६॥

सुबोधिनी:—एतेन भगवता सपाला गावः **दावाग्नेः** सकाशात् परितो **मोचिताः**। अचेतनबाधनिराकरणमुक्तम्। सचेतननिराकरणमाह। कालियः सर्पो **दमितः**। आधिदैविकोऽपि भूततुल्यो जात इति वक्तुं सहकीर्तनम्। **इन्द्रश्च विमदः कृत** इति। चकारात् ब्राह्मणाः वरुणादयश्च ॥२६॥

व्याख्यार्थः—इन भगवान् ने गोपों सहित गायों का दावाग्नि से रक्षण कर जड़ अग्नि से हुए कष्ट को नष्ट किया। अब चेतन से जो कष्ट हुआ उसको मिटाने के लिए कालिय सर्प का दमन किया। इन्द्र का भी अभिमान निवृत्त किया। इन्द्रदेव होने से आधिदैविक हैं, किन्तु इस समय उसने कृत्य से अपने को भूत समान बना दिया है। अतः उनका वर्णन भी यहां किया गया है। 'च' शब्द से ब्राह्मण और वरुण आदिका भी मद उतारा है, यह भी बता दिया ॥२६॥

आभासः—आधिदैविकोपद्रवनिराकरणमाह सप्ताहमिति।

आभासार्थः—आधिदैविक उपद्रवों का निराकरण इस 'सप्ताह' श्लोक से कहते हैं।

श्लोकः—**सप्ताहमेकहस्तेन कृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना।**
वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलम् ॥२७॥

श्लोकार्थः—इस बालकृष्ण ने एक ही हाथ से बड़ा गिरिराज सात दिन धारण किया। जिससे वर्षा, वायु और पत्थरों से गोकुल की रक्षा की और उपधर्म से भी बचा लिया ॥२७॥

सुबोधिनी:—एकहस्तेनाद्रिप्रवरो गोवर्धनः **कृत** धारितः। अनायासार्थ**मेकहस्तेन कृत** इत्युक्तम्। सर्वत्राप्रयोजकव्यावृत्त्यर्थमुक्तिविशेषः। यथा कालियः सर्प इति, सर्पो हि दमने दुःसाध्य इति। **अमुना** भगवतेति बालकत्वं प्रदर्शितवन्तः। किं धारणेन कृतमित्याशङ्कायामाह **वर्षवाताशनिभ्यश्चेति**। अशनिप्रायाः पाषाणाः। यदि वा क्षणं तिष्ठेयुः, तदाशनयोऽपि पतेयुरिति निर्धारितत्वादुक्तं **अशनिभ्यश्चेति**। **चकारात्** इन्द्रयागादपि उपधर्मात् परिपालिता इति ॥२७॥

व्याख्यार्थः—एक हाथ से गोवर्धन धारण किया। जिसके धारण करने से इनको किसी प्रकार का भी परिश्रम न हुआ। जिससे कहा है कि सात दिन एक हाथ पर धारण करे रहे थे। एक हाथ से धारण की विशेष उक्ति का आशय यह है कि आपको सर्वत्र दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

जैसे सूर्य का दमन दुःसाध्य हैं, तो कालिय का दमन करना अतिदुःसाध्य था उसमें संशय ही नहीं है। श्लोक में 'अमुना' पदका भावार्थ बताते हैं कि यह इस लीला करने के समय बालक ही थे। धारण कर कौनसा कार्य सिद्ध किया? इसके उत्तर में कहा है कि वर्षा, वायु और पत्थरों से गोकुल की रक्षा की। श्लोक में आए हुए 'च' अक्षर का भावार्थ है कि गोकुल को न केवल इनसे बचाया किन्तु गोकुलवासी जो 'उपधर्म' गौणधर्म परदेवाश्रय कर रहे थे, जिससे भी उनको बचा लिया ॥२७॥

आभास—आध्यात्मिकपीडापरिहारमाह गोप्य इति ।

आभासार्थ—आध्यात्मिक पीड़ा के परिहार का वर्णन 'गोप्यो' श्लोक में करते हैं।

श्लोकः—**गोप्योऽस्य नित्यमुदित हसितप्रेक्षितं मुखम् ।**
पश्यन्त्यो विविधाँस्तापांस्तरन्ति स्माश्रमं मुदा ॥२८॥

श्लोकार्थः—गोपीजन इनके नित्य आनन्दमय हर्षयुक्त मुखारविन्द को देखती हुई बिनाश्रम तथा आनन्द से अनेक प्रकार के तापों को पार कर गईं ॥२८॥

सुबोधिनीः—गोप्यो हि **अस्य मुखं पश्यन्त्य विविधांस्तापान्** जहुः । नित्यमुदितं च तत् हर्षपूर्वकं प्रेक्षितं यत्र तादृशं च । नित्यमुदितत्वेन तत्र न किञ्चित्कर्तव्यम् । दृष्टिश्च स्वतः प्रवृत्ता भवति । विवेकेन ये क्लेशाः, ये वा अज्ञानेन, ते उभये हसितप्रेक्षिताभ्यां निराकृताः । **मुखं** हि परमानन्दरूपम् । **विविधास्तापाः** कामादयः (अज्ञानादयः) विध्याद्यनुरोधादयश्च । तरणे प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् । **अश्रम**मिति । कर्मज्ञानभक्तिमार्गेषु श्रमोऽप्यस्त्यन्ततः । अत्र तु श्रमाभावः । किञ्च । नौकया नद्यादितरणे श्रमाभावोऽस्ति । अत्र तु **मुदे**त्यधिकम् ।२८॥

व्याख्यार्थः—गोपीजन इनके मुख को देखती हुई विविध तापों को पार कर गईं । अर्थात् ताप त्याग दिए । भगवान् के मुख का वर्णन करते हैं कि नित्य आनन्दमय तथा हर्ष पूर्वक जिसका देखना है, वैसे मुख कमल का गोपियों ने दर्शन किया । जिससे उनके ताप नष्ट हो गए । मुख नित्य आनन्दमय है ही, अतः आनन्द उत्पन्न करने के लिए कुछ भी कर्त्तव्य करना नहीं पड़ा । आनन्द युक्त मुख दर्शन के लिए दृष्टि स्वतः प्रवृत्त होती है । विवेक करने से अथवा अज्ञान से जो क्लेश होते हैं, उन दोनों क्लेशों का नित्य आनन्द रूप और हर्ष वाले ईक्षण से निराकरण कर दिया । मुख परमानन्दरूप है । जिससे ही काम आदि अज्ञान कार्य और शास्त्र विधि पूर्वक कर्म करने से रुकावटें नष्ट हो गईं । इसमें इसकी प्रसिद्धि ही प्रमाण है । कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्ग में अन्त में श्रम भी है, किन्तु ये तो बिनाश्रम 'क्लेशों' को पारकर आनन्दस्वरूप को पा गईं हैं ।

हालाँकि नौका में बैठ कर समुद्र पार करते हैं, उसमें श्रम का अभाव है, किन्तु वहां प्रसन्नता नहीं, कुछ भय रहता है । यहां तो बिना श्रम तथा अधिक हर्ष से पार पहुँच गईं । इसलिए 'श्लोक' में 'अश्रम' और 'मुदा' दो पद दिए हैं ॥२८॥

आभास—एवं दुःखाभावमुक्त्वा सत्सु सर्वसुखप्रदानं भविष्यमाह वदन्त्यनेन वंशोऽयमिति ।

आभासार्थः—इस प्रकार दुःखका अभाव कहकर सत्पुरूषों को सर्व सुख का दान होगा, जिसका वर्णन 'वद' श्लोक से करते हैं ।

श्लोकः—**वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोः सुबहुविश्रुतः ।**
श्रियं यशो महत्त्वं च लप्स्यते परिरक्षितः ॥२९॥

श्लोकार्थः—इस भगवान् के कारण से यह यदु का वंश अच्छी प्रकार से बहुत विशेष प्रसिद्ध होगा, इसकी रक्षा करने से 'श्री', व 'यश' और बड़ाई को प्राप्त करेगा ॥२९॥

सुबोधिनीः—**अनेन** भगवता कृत्वा **यदोर्वंशः** विगीतोऽपि **सुबहुविश्रुतो** भविष्यति। दुष्टो हि न श्रूयते। दोषनिराकरणे तु श्रूयते। ततोऽपि गुणाधने विश्रुतं भवति। अलौकिके तु गुणे बहुविश्रुतं भवति। मोक्षदानार्थं भगवति समागते सुबहुविश्रुतं भवति। किञ्च **श्रियं च** लप्स्यते पूर्वस्मादधिकाम्। **यशश्च, श्रियो** हि सांसिद्धिको दोषो लोभ इति तन्निवृत्त्यर्थं यशसो निरूपणम्। बहिः शोभैषा। अन्तःशोभार्थमाह **महत्त्वं चेति**। महत्त्वेन सत्यादयः सर्वे गुणा उक्ताः। चकारान्मोक्षं च प्राप्स्यति। अनेनैव **परिरक्षितश्च** भविष्यतीति। न तु सन्निपातेन म्रियमाणः यथा गङ्गया मुक्तः क्रियते। तथा सति न सर्वोत्कर्षो भगवति समायाति ॥२९।

व्याख्यार्थः—इस भगवान् के कारण से निन्दित भी यदु का वंश अच्छी प्रकार से बहुत विशेष प्रसिद्ध होगा, जो दुष्ट निन्दित है उसको कोई सुनना भी नहीं चाहता है। जब उसके दोष मिट जाते हैं, तब सुना जाता है। यदि उसमें गुण प्रकट होवे तो विशेष सुना जाता है। जो वे गुण अलौकिक होवे तो उसको बहुत सुनना चाहते हैं। यदि उस वंश में मोक्ष दान करने के लिए भगवान् पधारे हों तो उसको अच्छे प्रकार (बहुत विशेष तरीके) से सब सज्जन सुनना चाहते हैं। न केवल इतना ही किन्तु पहले से अधिक 'श्री' को प्राप्त करता है। 'श्री' होने से लोभ रूप दोष की सिद्धि होती है। जिसको मिटाने के लिए यश का निरूपण किया है। यह वर्णन बाहर की शोभा का है। अब भीतर की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसमें महत्ता भी आ जाती है। जिससे उसमें सत्य आदि सर्वगुण भी प्रकट हो जाते हैं। श्लोक में 'च' का भावार्थ बताते हैं कि इस 'च' कहने से यह प्रकट किया है कि इस वंश को मोक्ष भी प्राप्त होगा। इसे कर के ही यह वंश पूर्ण रीति से रक्षित होगा। न कि जैसे सन्निपात से मरे हुए की गङ्गा मुक्ति नहीं करती है, वैसे ही इसके निन्दित होने से भगवान् मुक्ति नहीं करेंगे। यों नहीं है, यों होवे तो भगवान् की सबसे उत्कृष्टता चली जाए। अतः वंश मनुष्य का कैसा भी हो, तो भी भगवान् उसको मुक्त कर सकते हैं ॥२९॥

आभास—एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वा प्रमाणबलमिव निरूपयन् बलभद्रचरित्रमाह अयं चेति।

आभासार्थः—इस प्रकार भगवान् का चरित्र कहकर प्रमाण बल की भाँति बलभद्र के चरित्र 'अयं' श्लोक से वर्णन करते हैं।

श्लोकः—**अयं चास्याग्रजः श्रीमान्रामः कमललोचनः।**
प्रलम्बो निहतो येन वत्सको धेनुकादयः ॥३०॥

श्लोकार्थः—ये श्रीमान्, कमल के समान नेत्रवाले राम, इनके बड़े भाई हैं, जिनने प्रलम्ब, वत्सासुर और धेनुक आदि दैत्य मारे हैं ॥३०॥

सुबोधिनी:—यथा भगवान् षड्गुणैश्वर्य-संपन्नः, एवमयमपीति चकारादतिदिश्यते। अनेन तुल्यत्वनिरूपणेष्वपि उपदेशातिदेशकृतं वैलक्षण्य-मुक्तं भवति। **अस्य** भगवतः **अग्रजो** ज्येष्ठ-भ्राता। तस्य ज्येष्ठत्वे च हेतुमाह **श्रीमा**निति। शोभातिशयवान् अधिकश्च दृश्यते। **राम** इति प्रसिद्धः अनेन साधनरूपता तस्योक्ता **कमललोचन** इति। दृष्टयैव सर्वतापनाशक इति। अस्य पौरुषं तथा न प्रसिद्धमिति रूपमेव बहुवर्णितं पौरुषमप्याहुः **प्रलम्बो निहतोऽनेनेति वत्सकः** लोके। बलभद्रेण हत इति प्रसिद्धत्वात् गणितः। **धेनुकादय** इति। तत्संबन्धिनः तालाश्च परि-गणिताः भगवतापि धेनुको हत इति प्रसिद्धिः। अतः पूर्वमुक्तम्। **ये बकादय** इति वा पाठः। अप्रसिद्धत्वात् दर्दुरादयः **आदि**शब्देन ग्राह्याः। एवं सर्वे भगवद्गुणतत्पराः कायवाङ्मनोभिर्भग-वत्प्रपन्ना जाताः ॥३०॥

व्याख्यार्थः—श्लोक में 'च' अक्षर का भावार्थ बताते हैं कि जैसे भगवान् ऐश्वर्य आदि छः गुणों से युक्त हैं वैसे ये भी हैं। इससे बराबरी के ऐसा निरूपण करते हुए भी भगवान् में उपदेश के अति देश से जो विलक्षणता है, उसको निरूपण करते हैं। इनके बड़े भाई हैं, ये बड़े हैं और इनमें भगवतत्व भी है, जिसको प्रसिद्ध करने के लिए 'हेतु' देते हैं, कि ये 'श्रीमान्' हैं। अर्थात् सबसे अधिक शोभा वाले हैं। ये 'राम' नाम से प्रसिद्ध हैं। यों कहने से उनका साधारण रूप बताया। विशेषता बताते हुए कहते हैं कि ये कमल लोचन होने से दृष्टि से ही सबके ताप नाश करते हैं। अथवा सर्व प्रकार के तापों को मिटाते हैं। इतना वर्णन करने से इनका विक्रम प्रकट न हुआ, अतः शौर्य का वर्णन करते हैं। इन्होंने प्रलम्ब को मारा। लोक में वत्सक को मारा, यह प्रसिद्ध है, तथा धेनुक आदि भी मारे। उनके सम्बन्धी तालों को भी गिना, यह भी लोक में प्रसिद्ध है कि भगवान् ने धेनुक को मारा। अतः पहले कहा है, अथवा ये 'बकादय' यों पाठ है। प्रसिद्ध न होने से आदि शब्द से दर्दुर आदि असुर भी मारे, यह समझ लेना चाहिए। इस प्रकार सब भगवान् के गुण वर्णन में तत्पर हो गए, जिससे काया, वाणी और मन से भगवान् के शरण हुए ॥३०॥

आभास—ततो गुणश्रवणे मल्लानामपि रस आविर्भूत इत्याह जनेष्विति।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवद्गुणानुवाद श्रवण के अनन्तर मल्लों में भी रस का आविर्भाव हुआ; जिसका वर्णन 'जनेष्वेवं' श्लोक में श्रीशुकदेवजी करते हैं।

श्लोकः—श्रीशुक उवाच—**जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च।**
कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत् ॥३१॥

श्लोकार्थः—श्री शुकदेवजी कहने लगे—मनुष्य इस प्रकार गुणानुवाद कर ही रहे थे कि तुरहैयें बजने लगीं। वे बज ही रहीं थीं और चाणूर ने आकर राम कृष्ण से कुशल प्रश्न किए। जिससे उनको प्रसन्न समझा। फिर चाणूर निम्न वाक्य कहने लगा।

सुबोधिनी:- अन्यथा भयात् रौद्ररस उत्पन्नोऽपि प्रतिबद्धः स्थितः। भीता एव रौद्ररसेन जाताः। गुणश्रवणे तु रौद्रता गतेति इदानीं संभाषणार्थं प्रवृत्ताः। एवं **सर्वेष्वेव जनेषु** प्रकर्षेण गृणत्सु सत्सु **तूर्याणि** च निरन्तरं वाद्यमानानि जातानि। चकारात् मल्लविस्फोटनानि। एवं मङ्गले संपन्ने स्वस्य जयमाशङ्क्य **कृष्णरामौ समाभाष्य** सम्यगाभाषणं कृत्वा कुशलप्रश्नादिकं विधाय ततः प्रसन्नौ ज्ञात्वा **चाणूरो वाक्यमब्रवीत्**। मुख्यत्वात्, पदार्थास्तदीया बाधितार्थाः युद्धं कर्तव्यमिति वाक्यार्थः परमबाधितः। अतो **वाक्य**मित्युक्तम् ॥३१॥

व्याख्यार्थः—मल्लों की प्रवृत्ति में रुद्र रस रहता है। प्रतियोगी को देखकर उनमें रौद्र रस उत्पन्न होता है। यहां उत्पन्न हुआ भी, रौद्ररस भगवान् के गुणों के श्रवण से रुक गया। जिससे सम्भाषण करने के लिए प्रवृत्त हुए। इस प्रकार जब सर्व मनुष्य जोर से भगवद्गुणगान कर रहे थे, तब तुरही बाजे निरन्तर बजने लगे। 'च' कहकर यह बताया कि मल्लों का भी शोर होने लगा। इस प्रकार प्रारम्भिक मङ्गल पूर्ण होने पर, हमारी जीत होगी। इसमें शक समझ कर मल्लों में मुख्य चाणूर भगवान् राम कृष्ण से कुशल प्रश्न कहने लगा। अर्थात् उनका वाणी से स्वागत किया। जिससे उनकी प्रसन्नता जानकर निम्न वाक्य कहने लगा।

यह मल्लों में मुख्य होने से जो कुछ कहने लगा, उसके पदों का अर्थ तो बाधित है, किन्तु समग्र वाक्य का भावार्थ युद्ध करना चाहिए यह निकलता है। अतः 'वचन' न कहकर मूल श्लोक में 'वाक्य' कहा है ॥३१॥

आभास—स हि चतुरः गोप्यं गोप्येनैव निरूपयन्नाह हे नन्दसूनो इति।

आभासार्थ—निश्चय से वह चतुर है। अतः जो गुप्त कहने योग्य है, उसका गुप्त रीति से निरूपण करता हुआ 'हे नन्दसूनो!' यह श्लोक कहता है, जिसमें गोप्य का संकेत कर देता है।

श्लोकः—चाणूर उवाच—**हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीरसंमतौ।**
नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राज्ञाहूतौ दिदृक्षुणा ॥३२॥

श्लोकार्थ—चाणूर कहने लगा कि हे नन्द पुत्र! हे राम! तुम दोनों की शूरवीरता वीर पुरुष बखानते हैं। आप मल्ल युद्ध कर सकते हैं और उसमें दोनों कुशल हैं। यह सुनकर ही आपको चतुराई देखने की इच्छावाले राजा ने आपको बुलाया है।३२।

सुबोधिनी:—वस्तुतो जानात्येव नायं नन्दसूनुरिति। तथा सति भ्रातरमिव भागिनेयमपि युद्धे न युञ्ज्यात् कंसः। **रामेति** वचनं नाममात्रेण संतोषार्थम्। उत्कर्षवाचकत्वात् बलभद्रेति नोक्तम्। संकर्षणत्वं च गोप्यमेव। नामग्रहणानन्तरं तत्स्तुतिमाह **भवन्तौ वीर्यसम्मताविति**। पराक्रमे विषये सर्वैः **स्तुतौ**. न कोऽपि युवयोः पराक्रमे विप्रतिपद्यत इति। अतः **राज्ञा आहूतौ**। किञ्च। **नियुद्धौ कुशलौ** मल्लानामिव बाहुयुद्धे समर्थौ। राज्ञा श्रुतं प्रामाणिकमेव भवति। अतो **दिदृक्षुणा** अर्थात् बाहुयुद्धं राज्ञा आहूतौ ॥३२॥

व्याख्यार्थ:—यह नन्द का पुत्र नहीं है; यह अच्छी तरह से कंस जानता ही है, तो भी, भ्राता की तरह भानजे को भी युद्ध में लगाता है। 'राम' यों कहना तो नाम मात्र संतोष के लिए है। यदि 'बलभद्र' कहे तो उसकी बड़ाई देखने में आवे। राम में जो सङ्कर्षणत्व है, वह गुप्त रखने योग्य ही है। इस प्रकार नाम लेने के अनन्तर उनकी स्तुति करता है कि आप वीरों में माननीय हैं। अत: आपके पराक्रम की सब बखान करते हैं। कोई ऐसा नहीं है कि जो कहे कि ये वीर युद्ध में कुशल नहीं है। अत: राजा ने आपको बुलाया है और विशेष आप कुशल लड़ाकू हैं। मल्लों के समान बाहु के युद्ध में भी शक्तिमान हैं। यह बात जो राजा ने सुनी है, वह प्रमाणित ही है। सुनने से राजा को आपकी कुशलता देखने की इच्छा हुई, इसलिए आपको बाहुयुद्ध करने के लिए बुलाया है ॥३२॥

आभास—ननु राज्ञो दर्शने सुखं भवति, अस्माकं कः पुरुषार्थ इति चेत्तत्राह प्रियं राज्ञ इति।

आभासार्थ—राजा को तो देखने से आनन्द होगा, हमारा कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा? यदि राम कृष्ण यों कह दें तो उसके उत्तर में चाणूर 'प्रियं राज्ञ:' श्लोक कहता है।

श्लोकः—**प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यः श्रेयो विन्दन्ति वै प्रजाः।**
मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा ॥३३॥

श्लोकार्थ:—जो प्रजा मन, वाणी तथा कर्म से राजा का प्रिय करती है, वह सुखी रहती हैं और जो प्रिय नहीं करती है; वह दुःखी होती है ॥३३॥

सुबोधिनी:—राज्ञः प्रियं प्रकर्षेण कुर्वन्त्यः तदधीनाः **प्रजा श्रेयः** उत्तमफलं धनादिकं **विन्दन्ति**। परं कापट्ये फलं न भवतीत्यभिप्रायेणाह **मनसा कर्मणा वाचे**ति। ये हि कायवाङ्मनोभिः प्रियं कुर्वन्ति, ते श्रेयो **वै** निश्चयेन विन्दन्ति। न केवलं प्रिये कृते श्रेयः प्राप्यते **अन्यथा** नेत्येतावदेव किन्तु **विपरीतम्**। यः प्रियं न करोति कायवाङ्मनोभिः सः **अतः** अस्माद्धेतोः अन्यथा अश्रेयो मारणादिकं च प्राप्नोति यतः प्रजानां अयं स्वधर्म इति ॥३३॥

व्याख्यार्थ:—राजा का अच्छी तरह से जो प्रिय करती है, उसके अधीन वह प्रजा धन आदि उत्तम फल पाती है। वह प्रिय भी कपट से न करे। अर्थात्, शुद्ध मन, कर्म तथा वाणी से करेगी तो निश्चय से फल पाएगी। प्रिय करने से तो उत्तम फल प्राप्त करती है, किन्तु जो मन कर्म और वाणी से भी प्रिय नहीं करती है वह विपरीत फल; अर्थात् सर्व प्रकार की पीड़ा भोगती है। कारण कि प्रजा का धर्म है राजा का प्रिय करना ॥३३॥

आभास—नन्वस्माभिर्बालैर्वनस्थैः क्व मल्लयुद्धं शिक्षितमिति चेत्तत्राह नित्यं प्रमुदिता इति।

आभासार्थः—वन में रहनेवाले हम बालकों ने मल्लयुद्ध की शिक्षा कहां से प्राप्ति की होगी। यदि ये यों कहदें तो उसके उत्तर में 'नित्य प्रमुदिता' श्लोक कहता है।

श्लोक:—**नित्यं प्रमुदिता गोपा वत्सपाला यथा स्फुटम् ।**
वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तश्चारयन्ति गाः ॥३४॥

श्लोकार्थः—सदा ही आनन्द में रहने वाले ग्वाले बचपन में ही बछड़ों को चराने के लिए जब वन में जाते हैं, तब वहां वनों में मल्लयुद्ध की क्रीड़ा करते हुए गौवों को चराते हैं, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥३४॥

सुबोधिनी:—एके हि जीविकार्थं शिक्षन्ति, अन्ये तु बलार्थं (शिक्षन्ति) पुष्टाः सन्तः, शिक्षकाः परम्परया प्राप्ताः, परं ते लौकिका भवन्ति; अतः शास्त्रीयेभ्यः फलतो हीना अपि स्वरूपतः पुष्टा भवन्ति । तदाह नित्यमेव प्रमुदिता गोपाः बाल्येऽपि **वत्सपालाः स्फुटमेव वनेषु मल्लयुद्धेन क्रीडन्तः गाश्चारयन्ति** । गोचारणे हि श्रमे दुग्धपानं स्वतः सिद्धम्, वृषभाणां निग्रहश्च बलिष्ठैरेव भवति । अत सर्वथा श्रुतं सत्यम् ।३४।

व्याख्यार्थः—मल्लयुद्ध सीखने के दो हेतु हैं। एक जीविका के लिए सीखना, दूसरे शरीर को पुष्ट बनाने के लिए सीखना। आपके सिखानेवाले वे हैं, जो परम्परा से सीखते व करते आए हैं, वे लौकिक कहे जाते हैं। अतः जो युद्ध शास्त्र की विधि के जानने वाले शिक्षकों से सीखे हैं, उनसे वे फल से हीन हैं, तो भी स्वरूप से पुष्ट होते हैं। वह (चाणूर) कहता है गोप हमेशा प्रसन्न चित्त वाले होते हैं। बचपन से ही बछड़ों को चराने जाते है। वे वनों में मल्लयुद्ध की क्रीड़ा करते हुए उनको चराते हैं। गौओं को चराने में श्रम होने पर पीने के लिए दूध तो बिना विलम्ब तैयार है। बैलों को पकड़ना बलिष्ठों का काम है। अतः ग्वाले मल्लयुद्ध की क्रीड़ा करते हुए दूध पीकर पुष्ट होते हैं। अतः जो राजा ने सुना है, वह सर्वथा सत्य है ॥३४॥

आभास—तस्माद्राज्ञः प्रियं कर्तव्यमित्याह तस्मादिति ।

आभासार्थः—इसलिए हमको राजा का प्रिय करना चाहिए। जिसका वर्णन 'तस्माद्राज्ञः' श्लोक में करता है—

श्लोक:—**तस्माद्राज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवामहे ।**
भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः ॥३५॥

श्लोकार्थः—इसी कारण से तुमको और हमको राजा का प्रिय करना चाहिए, क्योंकि राजा सर्व भूतों का रूप है, जिससे अपने ऊपर भूत प्रसन्न होते हैं ॥३५॥

सुबोधिनी:—राजा हि सर्वाराध्यः, अतो **यूयं** लौकिका **वयं च** शास्त्रीयाः चकारात् एवमन्ये विद्यावन्तोऽपि **प्रियं करवामहे** । सर्वानेकीकृत्य वदति, एकमार्गप्रवृत्तानां हि मुख्यानुसरणं

युक्तमिति, अस्माभिश्चेत्कर्तव्यं भवद्भिरपि कर्तव्यमेवेति । ततः किमत आह **भूतानि नः प्रसीदन्ति** इति । सर्वभूतमयः प्राणी, अतस्तेषां हितं कर्तव्यम्, अन्यथात्वे शापप्रसादे कृतघ्नता भवेत् । फलदानार्थं यतः **सर्वभूतमयो नृपः**, भूतान्यत्र देवतारूपाणि तस्य विवक्षितानि । वस्तुतस्तु पाञ्चभौतिक एव ।।३५।।

व्याख्यार्थः—सबको राजा की सेवा करनी चाहिए । अतः तुम जो लौकिक हो और हम जो शास्त्रीय हैं और 'च' कहने से यह बताया है कि अन्य भी जो इस विद्या को जानने वाले हैं, वे सब मिल कर राजा का प्रिय कार्य करें । एक ही मार्ग पर चलने वालों को मुख्य का अनुसरण करना चाहिए । हम करते हैं तो आपको भी करना चाहिए । इस प्रकार करने से क्या होगा ? भूत हम पर प्रसन्न होंगे, प्राणी सर्वभूतों के रूप हैं । अतः उनका हित करना चाहिए । यदि हित नहीं किया तो शाप और प्रसाद में फलदान के लिए कृतघ्नता होगी, क्योंकि राजा सर्व भूतमय है । भूत राजा देवता रूप कहे हैं, वास्तविक तो वह भी भौतिक ही है ।।३५।।

आभास—ततो भगवान् युक्तियुक्तं ग्राह्यमिति, लौकिकमपि न बाधनीयमित्यक्लिष्टकर्मा उत्तरमाहेत्याह तन्निशम्येति ।

आभासार्थः—पश्चात् अक्लिष्टकर्मा भगवान् कहने लगे कि जो युक्त से युक्त हो वह ग्रहण करना चाहिए और लौकिक का भी बाध न करना चाहिए । जिसका वर्णन 'तन्निशम्य' श्लोक में करते है—

श्लोकः—**तन्निशम्याब्रवीत्कृष्णो देशकालोचितं वचः ।**
नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्य च ।।३६।।

श्लोकार्थः—चाणूर के ये वचन सुनकर भगवान् कृष्ण उसके वचनों का अभिनन्दन कर अपने को भी युद्ध करना अभीष्ट है, यह मानते हुए देश और काल के अनुरूप योग्य वचन कहने लगे ।।३६।।

सुबोधिनीः—तद्युक्तियुक्तं **वचः**, कृष्णस्तदर्थमेवावतीर्णः समागतश्च, तथापि **देशकालयोः यदुचितं** तदाह । लौकिकत्वात् प्रश्नस्य, शस्त्रादियुद्धापेक्षया **नियुद्ध मात्मनोऽभीष्टम्** । क्षत्रियाणां हि शस्त्रग्रहणं षोडशे वर्षे, उपनयनानन्तरं च शिक्षा, अत इदानीं बाहुयुद्धमेवाभीष्टं **मन्यमानः** देशकालावस्थानामनुगुणत्ववचनात्तं चाणूरमभि**नन्द्य च**कारात् राजानं च उवाच ।।३६।।

व्याख्यार्थः—युक्ति से युक्त जो वचन हैं, उनको कहने के लिए ही कृष्ण ने अवतार लिया है और यहां आए हैं, तो भी देश तथा काल के योग्य जो वचन हैं, वे कहने लगे । कारण कि यहां प्रश्न लौकिक का है । शास्त्र आदि से युद्ध करने की अपेक्षा मल्लयुद्ध ही अपने को अभीष्ट हैं । क्षत्रिय १६ वर्ष के जब होते हैं तब शस्त्र ग्रहण करते हैं । उपनयन के अनन्तर ही शिक्षा ली जाती है । अतः बाहुयुद्ध ही अभीष्ट मानते हुए देश काल के योग्य वचन कहने के कारण उस चाणूर का अभिनन्दन कर राजा को कहने लगे ।।३६।।

आभास—द्वयमत्र वक्तव्यम्, राज्ञः प्रियं कर्तव्यमेव, परं त्वया सह नियुद्धं न कर्तव्यम्, अतुल्यबलत्वादिति, तदाह द्वयेन प्रजा इति ।

आभासार्थः—यहां दो बात कहनी हैं। एक राजा का प्रिय कर्तव्य करना और दूसरी तेरे साथ लड़ाई नहीं करनी। कारण कि दोनों का बल समान नहीं है। जिसका वर्णन दो श्लोकों से करते हैं। जिनमें प्रथम प्रजा' इस श्लोक से कहते हैं—

श्लोकः—**प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः ।**
करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः ।।३७।।

श्लोकार्थः—इस भोज पति कंस को हम और तुम प्रजा हैं। हम तो वनवासी हैं, तो भी इनका प्रिय करते हैं। वह आपका बड़ा अनुग्रह है ।।३७।।

सुबोधिनीः—अस्य **भोजपतेः** कंसस्य, प्रदर्शनेन तिरस्कृत इव, **वय**मिति प्रदर्शनेन कथं वा प्रजात्वमित्युपहसितः, वयं **च**काराद्यूयं च, वस्तुतस्तु यूयमेव, चस्त्वर्थे, **वयं** तु **वनेचरा** इति, नास्माकं राज्ञा कृत्यम्, तथापि नित्यं करवाम, फलं तु नापेक्ष्यत इत्याह **तन्नः परमनुग्रह** इति। मातुलो हि राजा, स चेद्भागिनेयगुणान् पश्येत्, तदा अनुगृह्णीयादेवेति युक्तत्वादभिनन्दनम् । एतावानर्थः साधारणः ।।३७।।

व्याख्यार्थः—इस भोजपति कंस की हम वनवासी प्रजा हैं। यह उपहास की तरह कहा है, 'च' कहकर बताया है कि सचमुच तो तुम इसकी प्रजा हो। हम तो वन में रहने वाले हैं, अतः हमारा राजा से कोई काम नहीं है, तो भी उनका नित्य प्रिय करते हैं। हम फल की इच्छा नहीं रखते हैं, इसलिए कहते हैं कि इस प्रकार हमको मल्लयुद्ध करने का अवसर आपने दिया है। यह परम अनुग्रह है। राजा मेरा मामा है, वह यदि भानेजों के गुणों को देखे तो अनुग्रह करेगा ही, यह योग्य होने से हर्ष की बात है। इस प्रकार जो कहा हैं, वह साधारण है ।।३७।।

आभास—विशेषमाह बाला वयमिति ।

आभासार्थ—साधारण कह कर अब 'बालावयं' श्लोक में विशेष कहते हैं।

श्लोकः—**बाला वयं तुल्यबलैः क्रीडिष्यामो यथोचितम् ।**
भवेन्नियुद्धं माऽधर्मः स्पृशेन्मल्लसभासदः ।।३८।।

श्लोकार्थः—हम बालक हैं, अतः समान बलवालों से योग्यता के अनुसार खेलेंगे। कुश्ती भले ही हो, पर इसी प्रकार हो कि जैसे मल्ल और सभासदों को अधर्म स्पर्श न करे ।।३८।।

सुबोधिनीः—प्रदर्शनमेव ह्यत्र प्रयोजनम्, नत्वन्यत् चेत्, तदा बाहुयुद्धं शास्त्रनुसारेण कर्तव्यमिति तथैव करिष्याम इत्याह **बाला वय**मिति। नियुद्धशास्त्रे हि समानवयस्कैरेव समानबलदेहैः युद्धं कर्तव्यमिति हि स्थितिः अतः बालैः समावयस्कैस्तुल्यबलैरेतैर्गोपैः सह क्रीडिष्यामः, थासत्युचितं भवति, तदाह **यथोचित**मिति। नन्वाज्ञा प्रमाणम्, का औचितीत्याशङ्कयाह **भवेन्नियुद्ध**मिति। असमानैः क्रियमाणमेतद्युद्धमधर्मो मा भवेत्, ततो द्रष्टृणांमल्ल सभासदां दोषोपि न भवेदित्याह **मल्लसभासदः मा स्पृशे**दिति। चाणूरोक्तो हि लौकिको धर्मः, तदविरुद्धोऽयं शास्त्रीयो धर्म इति युक्तमुक्तं भगवतापि। चाणूरादयो दैत्या इति छलेनैवोक्तवान्। बलसंबन्धिनो वयं बालाः तुल्यबलाः प्रातीतिकाः सखित्वाद्गोपाः बलभद्रो वा, भवांस्तु न तुल्यबलः, किन्तु हीनबल इति अभिप्रायेण प्रत्युक्तम् ॥३८॥

व्याख्यार्थः—इस सभा में अपनी पहलवानी दिखाना ही प्रयोजन है, न कि दूसरा कोई मतलब है? यदि यों है तो मल्लयुद्ध शास्त्रानुसार करना ही चाहिए। इसलिए हम वैसा ही करेंगे। जिसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि हम बालक हैं, युद्ध के प्रारम्भ में कहा है कि समान आयुवाले तथा समान देह और बलवालों में कुश्ती करनी चाहिए, यह मर्यादा है। इसलिए कहते है कि जैसे योग्य हो वैसा करना चाहिए। यदि कहो कि राजा की आज्ञा ही प्रमाण है, योग्यता क्या है? इसके उत्तर में कहते हैं कि कुश्ती भले हो, किन्तु असमानों में कुस्ती करने से यह हस्तयुद्ध अधर्म होगा, अतः वह नहीं होना चाहिए, जिससे मल्लयुद्ध लड़नेवालों को तथा सभासदों को अधर्म न लगे। चाणूर ने कहा कि वह लोकिक धर्म है और यह युग शास्त्रीय धर्म है, उससे विरुद्ध नहीं है। चाणूर आदि देत्य हैं, इसलिए उन्होंने जो कहा है वह छल से ही कहा है। यहां भगवान् ने 'बाला' शब्द अपने लिए कहा है, जिसका गूढ़ आशय आचार्य श्री प्रकट करते हैं कि भगवान् के इस शब्द का भावार्थ है हम बालक, सम्बन्धी होने से 'बाल' हैं। अर्थात् आयु करके प्रतीति बाल की होती है, किन्तु हम बलवाले हैं, गोप आदि भी प्रतोति से ही सखा हैं, अथवा बलभ्रद तुम तो हमारे समान बलशाली नहीं हो. किन्तु कम शक्ति वाले हो। इस अभिप्राय से 'बाला' शब्द दिया है ॥३८॥

आभास—चाणूरस्तु विपरीतं ज्ञात्वा अनिष्टफलार्थं विपरीतत्वं संपाद्य युद्धार्थं प्रवर्तयते न बाल इति द्वाभ्याम्। उपपत्त्या बलं साधयति। न वा त्वं बालः, स्थूलाभिप्रायेण सूक्ष्मत्वमाशङ्क्य इष्टसिद्धिं मत्वा अङ्गीकारे तत्परिहारार्थमाह 'न बालो न किशोर' इति।

आभासार्थः—चाणूर तो भगवान् के वचनों को विपरीत समझ कर अनिष्ट फल के लिए विपरीतता सम्पादन कर युद्ध में प्रवृत्त कराने के लिए 'न बालो' आदि दो श्लोकों में कहता है, हेतु देकर सिद्ध करता है कि आप बलवान् हैं, आप बालक नहीं हैं—

चाणूर उवाच—**न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः।**
लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत् ॥३९॥
तस्माद्भवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नाऽनयोऽत्रवै।
मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः ॥४०॥

श्लोकार्थ:—चाणूर कहने लगा, कि तूं न बालक है और न किशोर है और बलराम बलवानों में श्रेष्ठ है। हजार हस्तियों के समान बलवाले कुवलयापीड़ को जिसने क्रीडा से मार डाला, अत: आप दोनों को बलवानों से ही कुश्ती करनी चाहिए, इसमें किसी प्रकार का अन्याय नहीं है। हे वृष्णि कुल में उत्पन्न कृष्ण, तूं मेरे साथ मल्लयुद्ध कर और बलराम मुष्टिक के साथ कुश्ती करे ॥४०॥

सुबोधिनी:—वयस्तव बलादिनियामकं न भवतीत्यभिप्राय:। वस्तुतोपि तथा। बलश्चेति चकारात् सोऽपि न बालो न किशोर:, किन्तु बलिनां वर:, सोऽपि भवांश्च, उभयोर्बलमपि प्रतिज्ञाय अन्यतरबलसाधनं दृष्टान्तेनेतरत् साधयितुम्, सहस्रद्विपानां सत्व बिभर्ति इति तादृशरूप: कुवलयापीड:। द्विपस्य बलं शास्त्रसिद्धं पुरुषाच्छतगुणं बलमिति, भारं वहति पुरुषशतभारं वहति गज इति। तादृशोऽपि लीलयैव हत:, नह्यसाधनेन, ससाधन इभ: पुरुषेण बालेन वा हन्तुं शक्य:, अतोतिपुरुषकारस्त्वयि वर्तत इति न भवान् पुरुषैस्तुल्य:। एवं बलभद्रोऽपि। तत किमत आह **तस्मादिति**। भवद्भ्यां सह गजादपि बलिष्ठैर्योद्धव्यम्। एवं युद्धे नानय:। शत्रुभिर्योद्धव्यमेव, न्यायविरोधोपि नास्ति। वै निश्चयेन। तर्हि गोपालास्तथाविधा: सन्ति, तै: सह युद्धं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **मयिविक्रमेति**। **वार्ष्णेयेति** संबोधनं छलं दूरीकरोति। कपटं परित्यज्य स्पष्टं मया सह युद्धं कुरु, त्वं कंसस्य भागिनेय:, अत: किमिति छलवाद: क्रियते, छलं परित्यज्य मया सह द्वेषिणा स्पष्टं युद्धं कर्तव्यम्, तदाह **विक्रमेति**। पराक्रमं कुरु, बलेन सह मुष्टिक: पराक्रमं करोतु, अनेन मुष्टिको हीन: बल: प्रबल: अहं महाबलस्त्वत्तोपीति निरूपितवान्। अत एव भगवता च गुरो हत:, अन्यथा अक्लिष्टकर्मा न हन्यात्। हननस्याप्रतिज्ञातत्वात्। एवं वाग्बन्धावधि सर्वेषां द्रष्टृणां भगवत्यासक्तिर्निरूपिता ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धपूर्वार्धे चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४०॥

व्याख्यार्थ:—मैं बालक हूँ यह जो तूं कहता है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि तुम्हारी आयु बल आदि को नियम में रखनेवाली नहीं है। इस अभिप्राय से कहता है कि 'न बालो न' तू न बालक है और न किशोर है, आचार्य श्री कहते हैं कि वास्तव में यह कहना सत्य है। 'च' का तात्पर्य है कि बलराम भी न बालक है और न किशोर है; बल्कि बलवानों में श्रेष्ठ है, वह और आप दोनों ही बलवान् हैं, इस प्रकार दोनों बलवान हो, यह प्रतिज्ञा कर उसको सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त देता है। कुवलयापीड़ हस्ती में हजार हाथियों का बल है, एक साधारण हस्ती में बलिष्ठ मनुष्यों के समान बल रहता है और सौ मनुष्यों के समान बोझ भी उठाता है, वैसे बलिष्ठ कुवलयापीड को लीला से मार डाला, बिना किसी शस्त्र आदि साधन के कोई बालक या पुरुष साधन वाले हस्ती को नहीं मार सकता है, अत: तूं बहुत वीर है। इससे तूं मनुष्य जैसा नहीं है, इस प्रकार बलभद्र भी मनुष्य के समान नहीं है। यदि यों है, तो क्या? इसके उत्तर में कहते है कि इसी कारण से आपके साथ तो उन योद्धों को लड़ना चाहिए जो कुवलयापीड़ से विशेष बलवान् होवें। इस प्रकार इस युद्ध में अन्याय नहीं है, शत्रुओं से तो युद्ध करना ही चाहिए, जिसमें न्याय से भी विरोध नहीं है, यह निश्चय ही है।

यदि कहो कि गोप वैसे ही हैं, उनसे हम युद्ध करें। उसके उत्तर में चाणूर कहता है कि नहीं। हे वार्ष्णेय! तू मुझसे कुश्ती कर, तू युद्ध कला में उत्पन्न हुआ है, अतः मैं गोप हूँ,यह छल छोड़कर खुली तरह से मुझसे लड़ाई कर। तू कंस के बहिन का पुत्र है; अतः छल से वाद क्यों कर रहा है? छल छोड़कर मुझ शस्त्रु से, स्पष्ट लड़ाई कर, इसलिए कहता है कि विक्रम से आज्ञा अर्थ में लोहा दिया है कि लड़ाई कर,पराक्रम दिखा। बलराम के साथ मुष्टिक पराक्रम दिखावे;यों कहने का चाणूर का तात्पर्य है कि मुष्टिक में थोड़ा बल है, मैं तुमसे भी विशेष बलवाला हूँ, इससे ही कहा गया है कि चाणूर को भगवान् ने मारा, यों नहीं कहते, अर्थात् अहंकार प्रकट न करता, तो अक्लिष्टकर्मा भगवान् उसको नहीं मारते; क्योंकि मारने की प्रतिज्ञा नहीं की थी इस प्रकार वाणी के बन्धन तक सब देखने वालों की भगवान् में आसक्ति का निरूपण किया ॥४०॥

श्री मद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४३वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

राग टोडी

हँसत हँसत श्याम प्रबल कुवलया संघारचौ ॥
तुरत दंत लये उखारि कंधनि पर धारचौ।
निरखति नर नारि मुदित चक्रित गज मारयौ ॥
अति हि कोमल अजान सुनत नृपति जिय में संकारचौ।
तनु बिन ज्यों भये प्रान मल्लानि प्रेम आये ॥
देखत ही संकित गए कालनिरखि भाये।
कंस आनि घेरि लियो दोउ मन मुसक्याये ॥
असुर बीर चहुँ पास जिनके मुख अकाश मल्ल करत घास नास ब्रह्म को बिचारै।
सबै कहत मिरहु श्याम सुनत रहत सदा नाम हार जीत घर ही में कौन काहि मारै ॥
हँसि बोले श्याम राम कहा सुनत रहे नाम खेलन को हमहिं काम बालक संग डोले।
सूर नन्द के कुमार यहै राजसी बिचार कहा कहत बार बार प्रभु ऐसे बोले ॥

—○○—

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरणकमलेभ्यो नमः ॥

• श्रीमद्भागवत महापुराण •

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ४३वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४०वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

'द्वितीय अध्याय'

[redacted]

[redacted]

चाणूर, मुष्टिक आदि पहलवानों का तथा कंस का उद्धार

कारिका—एकचत्वारिंशत्तमे वधः कंसस्य रूप्यते ।
तदीयैः सह तस्माद्धि पित्रोरोधश्च दीनयोः ॥१॥

बलक्षयाय लीलापि वाक्यान्यासक्तिबोधने ।
भक्तार्थे मारणं चास्य कंसस्यापि तथैव च ॥२॥

प्रतिबन्धनिवृत्यर्थमेतावद्भगवत्कृतम् ।
निरुद्धास्तेपि मुक्ता हि पूर्वस्माच्च विशिष्टता ॥३॥

बोधिता ज्ञानकथनादासक्तिश्च स्थितैव हि ।
त्रिविधाः सर्व एवैते गुणातीतोपि सात्विकः ॥४॥

अथवा ते पुनर्वाच्यास्तत्रैके मोचिताः स्वतः ।
निरुद्धाः सफलाः प्रोक्ताः पितरौ पूर्वतोधिकौ ।।५।।

कारिकार्थ—इस इकतालीसवें अध्याय में साथियों के साथ कंस के वध का निरूपण किया जाता है, जिससे माता पिता की आसक्ति भी कही गई है।

उनकी आसक्ति को जगाने के लिए नगर की स्त्रियों के वाक्य माता पिता को कहे गए हैं। कंस तथा मल्ल आदि का वध भक्तों के लिए ही किया है। यह सब भगवान् ने निरोध में जो प्रतिबन्ध थे, उनको निवृत्ति के लिए किया है और जिससे इस अध्याय में शत्रुओं की भी मुक्ति हुई हैं। इस अध्याय में भगवत्व (भगवान् पने) के ज्ञान कहने से प्रथम कहे हुए निरोध से यहाँ विशेषता बताई है। आसक्ति भी स्थित है ही उसका यों निरूपण है और यहां कोई नवोन आसक्ति नहीं कराई जाती है, इस कारण से भी विशिष्टता है। तामस भाव के समय भगवान्पन से ज्ञान नहीं था। अब भगवत्व का ज्ञान हुआ है। अतः आसक्ति नूतन कही जाती है। ये सब तीन प्रकार के हैं। ये कौन ? मल्ल, स्त्रियां और माता पिता। ये तीन क्रम से तामस[1], राजस[2] और सात्विक[3] हैं, यद्यपि वसुदेवजी को अन्यत्र गुणातीत कहा गया है, किन्तु यहां सात्विक हैं। यहां वैकुण्ठ लोक का फल कहा है। वह लोक ज्ञानियों को प्राप्त होता है और वह ज्ञान सतोगुण के उदय होने से ही होता है, इस कारण से वसुदेवजी को यहां सात्विक कहा है।

अथवा ये तीन गुण इस अध्याय के अनन्तर के प्रसंग में इस प्रकार समझने चाहिए, वे प्रकार बताते हैं—

१—जो यादव बाहर दुःखी थे, उनको उस दुःख से स्वतः छुड़ाकर यहाँ बुला लिया, यह बुलाना माता पिता के लिए नहीं था और सांदिपिनी को भी बुलालिया ये सात्विक हैं। इनकी कथा आगे के अध्यायों में होगी।

२—जिनका पहले निरोध हुआ है, वे तामस व्रजस्थ हैं, जिनका वर्णन दो अध्यायों में किया है।

१-मल्ल, २-स्त्रियां, ३-माता पिता

३—जिनको फल प्राप्त हुआ है वे कुब्जा, अक्रूर आदि राजस; जिनका कि वर्णन पीछे दो अध्यायों में हुआ है। इस अध्याय में पूर्व निरोध से भी अधिक गुणातीत माता पिता का वर्णन किया है, उनके छुड़ाने के लिए अन्यों का वर्णन है ।।५।।

आभास—पूर्वाध्याये युद्धार्थं चाणूराकारणमुक्तम्, 'आहूतो न निवर्तेते' शास्त्रात् हीनबलेनापि युद्धार्थं प्रवृत्तावित्याह एवमिति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में युद्ध के लिए चाणूर ने बुलाया है, शास्त्र की आज्ञा है कि यदि कोई लड़ाई करने के लिए बुलावे तो लड़ाई करनी ही चाहिए। वहां से हटना योग्य नहीं है, चाहे वह लड़ने वाला कम बलवाला हो। अतः युद्ध करने को प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'एवं चर्चित' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं-

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**एवं चर्चितसंकल्पो भगवान्मधुसूदनः ।**
आससादाथ चाणूरं मुष्टिकं रोहिणीसुतः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं-इस प्रकार जो करना है, उसका विचार करके मधुसूदन भगवान् चाणूर के पास जाकर उससे भिड़े और रोहिणी के पुत्र मुष्टिक से भिड़े ॥१॥

सुबोधिनी— **चर्चितो** विचारितः **संकल्पो** येन, यस्य वा। चर्चा हि विचारात्मिका, अविचार्य चेत् दुर्बलेन सह (महान्) युद्धं कुर्यात्, तदा दोषो भवेत्। किञ्च। भगवान् तद्धृदयमपि जानाति, युद्धाभावे न निवर्तत इति, शङ्का तु नास्तीत्याह **मधुसूदन** इति। यो मधुमपि हन्ति, तत्रायं को वा वराक इति, अत एव **आससाद** निकटे संबद्धो जातः। **अथेति**। प्रथमं चाणूरस्य, पश्चाच्चाणूरः सः स्वस्मिन् योजितः, भिन्नपक्षे मारितो दूरीकृतो वा, **अथ** तदनन्तरं चाणूरमाससाद, मुष्टिकं तु रोहिणीसुत इति, मुष्टिको ह्यप्रयोजकः, बिभेति च स्वतः, स्वयं च नोक्तवान्, तथापि चाणूरे संलग्ने तद्वाक्यात् स्वयमपि संलग्नः। तदनुचितमिति रोहिणीसुत इत्युक्तम्। ॥१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने प्रथम इस कुश्ती करने के विषय में चाणूर से विचार विमर्श किया, अनन्तर तय हुआ कि कुश्ती करनी चाहिए, यदि परामर्श करने के सिवाय दुर्बल के साथ हस्त युद्ध किया जावे तो दोष है। अब विचार पूर्वक यह कुश्ती लड़ी जाती है। अतः इसमें किसी प्रकार दोष नहीं है। विशेष में भगवान् चाणूर के हृदय की बात भी जानते हैं कि यह युद्ध के सिवाय शान्ति न करेगा। लड़ने में भगवान् को तो कुछ संशय वा डर नहीं है, क्योंकि भगवान् 'मधुसूदन' हैं अर्थात् मधु दैत्य को मारने वाले हैं। जहां मधु दैत्य जैसे प्रबल का कुछ बल नहीं चला, वहां यह बेचारा

क्या है ? अतः इसके निकट जाकर इससे भिड़े, पहले चाणूर के पास गए, अनन्तर उस चाणूर[1] को अपने से मिला लिया। अनन्तर दूसरे पक्ष[2] में उसको मारा व दूर फैंक दिया और मुष्टिक को रोहिणी पुत्र ने इस प्रकार नष्ट किया। मुष्टिक तो डरता था, इसलिए स्वयं ने कुछ नहीं कहा। इसलिए उसकी कुश्ती प्रयोजनवाली नहीं थी। मुष्टिक ने देखा चाणूर भगवान् से कुश्ती[3] लड़ रहा है, तब आप भी लड़ने लगे; वह अनुचित है, इसलिए बलराम न कहकर 'रोहिणी सुत' कहा है ॥१॥

आभास—मल्लयुद्धप्रकारेण प्रवृत्ताविति तदाह चतुर्भिः ।

आभासार्थ—मल्ल शास्त्र में जिस प्रकार मल्ल से लड़ने के लिए कहा है, वैसे ही लड़ने में प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन ४ श्लोकों में करते हैं—

कारिका—**बलं शिक्षा च माया च प्रसादश्च गुरोस्तथा ।**
चत्वारोपि निराकार्यास्ततः श्लोकचतुष्टयम् ॥१॥

कारिकार्थ—४ श्लोक क्यों कहे हैं ? उसका कारण आचार्यश्री इस कारिका में प्रकट करते हैं। ४ श्लोकों में बल, शिक्षा, माया और गुरु की कृपा; इन चार बातों को बतानी हैं, अतः ४ श्लोक हैं ॥१॥

श्लोक—**हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः ।**
विचकर्षतुरन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया ॥२॥

श्लोकार्थ—हाथों से हाथ मिला कर और पैरों से दोनों पैर जोड़ कर, जीतने की इच्छा से बलपूर्वक आपस में खींचने लगे ॥२॥

सुबोधिनी—हस्ताभ्यामिति। हस्ताग्रे हस्ताग्रं धृत्वा पादाग्रे च पादाग्रं विचकर्षतुः। प्रथमं समत्वायाह **अन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया** आकर्षणं कृतवन्तौ। येनैवाकृष्टो परः आकृष्टो भवति स पराजितो भवति इति, अङ्गुलीनां बन्धनं परस्परमुभयोः अत्रैव। जये महाबलत्वम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—हाथों के अग्रभाग को हाथों के अग्रभाग से मिलाकर इस प्रकार पैरों के अग्रभाग को पैरों के अग्रभाग से मिलाकर दोनों एक दूसरे को खींचने लगे। जीत लेने की इच्छा से जबर्दस्ती से खींचने की क्रिया करने लगे। जिसके खींचने से दूसरा घसीटा हुआ आ जाता है, वह पराजित[1]

१- आधिदैविक, २- चाणूर आधिभौतिक रहा उस पक्ष में,
३- घुटने, सिर आदि मिलाकर सम्मुख हो के लड़ रहे हैं।

१- हारा

गिना जाता है। इस युद्ध में ही दोनों की परस्पर अङ्गुलियों का बन्धन होता है। जीतने में विशेष बल चाहिए ॥२॥

आभास—ततः साक्षात्सर्वाङ्गेषु संयोगेन युद्धमाह **अरत्नी द्वे** इति।

आभासार्थ—पश्चात् सर्व अङ्गों से सामने परस्पर मिलकर जो युद्ध किया है, उसका वर्णन 'अरत्नी द्वे' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**अरत्नी द्वे अरत्नीभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी।**
शिरः शीर्ष्णोरसोरस्तावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥३॥

श्लोकार्थ—दोनों ने अपने हाथ की अँगुलियों को खोल कर परस्पर हाथ मिलाए और इस प्रकार घुटनों को घुटनों से, मस्तक को मस्तक से, छाती को छाती से मिला कर लड़ने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—हस्तमध्ये उभयत्रापि हस्तसंबन्धः **अरत्नी**वाच्यो भवति तथा जानुद्वयमपि अधोभागसहितजानुद्वयेन संवेष्टितं भवति, क्रमेणैतच्चतुष्टयं बोद्धव्यम्। **शिरः शिर्ष्णा उरसा उरः।** एवं तौ **अन्योन्यमाभिमुख्येन जघ्नतुः।** बलशिक्षे निरूपिते ॥३॥

व्याख्यार्थ—दोनों तरफ के खुले हुए हाथों के मध्यभाग के सम्बन्ध को 'अरत्नी' कहते हैं। इसी प्रकार दोनों घुटने भी नीचे के भाग सहित मिलाए तथा मस्तक मस्तक से छाती छाती से मिलाकर परस्पर सामना करने लगे। इस प्रकार बल और शिक्षा का निरूपण किया ॥३॥

आभास—मायया शास्त्रीयप्रकारमाह **परिभ्रामणे**ति।

आभासार्थ—माया से शास्त्र की परिपाटी 'परिभ्रामण' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**परिभ्रामणविक्षेपपरिरम्भावपातनैः।**
उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्यं प्रत्यरुन्धताम् ॥४॥

श्लोकार्थ—चारों तरफ घुमाना, दूर फैंकना, जोर से आलिंगन, फिर पृथ्वी पर पटकना, आगे बढ़ना, पीछे हटना; इस प्रकार एक दूसरे के बल को रोकने लगे ॥४॥

सुबोधिनी—परितो **भ्रामण**मेकस्यैकेन, ततो दूरे **विक्षेपः**, ततः पुनरागतयोः **परिरम्भः** गाढालिङ्गनम्, ततो मिलितेनैव भूमाववपातनम्, एवं चत्वारः एकक्रमेण, ततो विश्लिष्टयोः **उत्सर्पण**मूर्ध्वप्रक्षेपः, **अपसर्पणं** हत्वा पश्चात्सर्पणमधः सर्पणं वा। पतितो मल्लः ऊर्ध्वं सर्पणेनापि उपरितनं जयति। उपरितनो वा अधस्तनम्। एव**मन्योन्यं प्रत्यरुध्यताम्।** अन्योन्यस्य बलं यथा प्रतिरुद्धं भवति ॥४॥

व्याख्यार्थ—प्रथम दोनों परस्पर एक दूसरे को चारों तरफ घुमाते हुए दूर फेंक देते थे, फिर दोनों आकर गाढ आलिङ्गन करते थे। पश्चात् मिलते ही भूमि पर पटक देते थे। इस प्रकार चारों ही एक क्रम से करते थे। अनन्तर जब दोनों छुट्टे हो जाते थे तब आगे धकेलते, तो वे पीछे पास आ जाते, जो कोई गिरा देता तो वह सरकता हुआ ऊपर आ जाता है। जिससे उसकी जीत हो जाती है। अथवा ऊपर वाला नीचे हो जाय तो फिर वह जीत जाता है; इस प्रकार जैसे एक दूसरे का बल रुक जावे ऐसी क्रिया कर अपना बल दिखाने लगे ॥४॥

आभास—ततः प्रसादेनापि प्राप्तैः प्रकारैर्युद्धमाह **उत्थापनै**रिति ।

आभासार्थ—पश्चात् अर्थात् बल, शिक्षा और माया के प्रकार से युद्ध कर अब गुरु कृपा से जो युद्ध करने के तरीकों का ज्ञान हुआ है, उन तरीकों से युद्ध करते हैं, जिसका वर्णन 'उत्थापनै' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—**उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि ।**
परस्परं जिगीषन्तावुपचक्रतुरात्मनः ॥५॥

श्लोकार्थ—जो घुटने और पैरों को समेट कर स्थिर जैसा बैठ जाता है, उसको वहाँ से खड़ा कर देना और जो एक स्थान पर सिमिट कर खड़ा रह जाता है, उसको वहाँ से सरकाकर ले जाना, जो स्थिर है, उसको हिला देना, जो हिलता एवं फिर रहा है, उसको एक स्थान पर स्थिर कर देना; इन चार प्रकारों से वे मल्ल अपनी अपनी जीत होने के लिए अपनी देह को दुःख देने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—उपविष्टं स्थिरं प्रतिज्ञाय उत्थापनं करोति स जयति । यस्तूर्ध्वं तिष्ठति तं य उन्नमयति सोऽपि जयति । तथा यः स्थिरो भवति तं च यश्चालयति प्रतिज्ञया सोऽपि तथा, यश्चलतीतस्ततः तं यः स्थिरीकरोति सोऽपि । एवमेतेऽति चत्वारः प्रकाराः, तैः **जिगीषन्तौ** मल्लौ आत्मनः अपक्रमतुः देहस्यापकारं कृतवन्तौ । अत्र संघातः प्रत्यक्षः स्थूलः कार्पास इव चाणूरादेः, सूक्ष्मोऽतिनिष्ठुरः वज्रस्येव भगवतः ॥५॥

व्याख्यार्थ—जो प्रतिज्ञा कर, स्थिर होकर बैठे हुए को उठाता है, वह जीतता है। जो सीधा खड़ा हो जाता है; उसको नमाता[1] है वह भी जीतता है। जो स्थिर होकर खड़ा होता है, प्रतिज्ञा के साथ उसको वहां से हिलाता है, वह भी जीतता है। और जो इधर उधर घूम रहा हो, उसको एक स्थान पर स्थिर कर देता है, वह भी जीतता है। इस प्रकार ये युद्ध के जो चार प्रकार हैं, उनसे जो युद्ध करते हैं, वे जीतने की इच्छा से अपने शरीर का अपकार करते हैं। इस प्रकार के युद्ध में अङ्ग को चोट लगना तो प्रत्यक्ष ही है। यद्यपि चाणूर आदि स्थूल हैं, किन्तु वे कपास की भांति हैं और

१- कन्धे (गले) में हाथ डाल कर नमाता है।

भगवान् सूक्ष्म होते हुए भी वज्र के समान अति निष्ठुर है ।।५।।

आभास—एवं फलत: भगवज्जयेऽपि प्रतीत्या विपरीत इति ये पूर्वं स्वासक्ताः कृता: तत्रापि स्त्रियो मुग्धा: तास्त्वसहमानाः स्वहृदयस्थं भावं प्रकाशितवत्य इत्याह **तदिति** एकादशभि: । तत्र सप्तभिर्दृष्टवर्णनं भगवच्चरित्रत्वाय, चतुर्भिः स्वनिन्दार्थं गोपिकास्तोत्रमिति । तत्र प्रथमं युद्धं दृष्ट्वा खिन्नानां आक्रोशार्थी प्रवृत्तिमाह-तद्युद्धं बलाबलवत्, अतः परस्परं योषित: समेताः सानुकम्पाः स्वस्वदेशग्रामभेदेन वरूथश: समेता: वक्ष्यमाणमूचुरिति सम्बन्ध: । तत्प्रसिद्धं वा बलाबलवद्युद्धमेवोचुः **एतद्बलाबलयुद्ध**मिति ।

आभासार्थ—यद्यपि इस युद्ध का फल भगवान् की ही जय हुई, तो भी जो भगवान् में प्रेमासक्त थे, उनको विपरीत प्रतीति होने लगी । उनमें भी जो स्त्रियां थीं वे तो भोलीं थीं, जिनसे वे उस प्रतीति को सहन न कर सकीं । अत: अपने हृदय में स्थित भावों को प्रकाशित करने लगीं, जिसका वर्णन 'तद्बलाबल' से ११ श्लोकों में करती हैं । उनमें सात श्लोकों में प्रत्यक्ष देखा हुआ भगवच्चरित्र वर्णन करती हैं और ४ श्लोको में अपनी निन्दा के लिए गोपियों का स्तोत्र कहा है । जिसमें पहले युद्ध को देखकर जो खेद युक्त हो के चिल्लाने लगे, उनका वर्णन करती हैं । किस प्रकार कहने लगीं वह प्रकार कहते हैं । दया युक्त हृदयवाली सब स्त्रियां अपने अपने देश तथा ग्राम के भेद से रक्षित स्थान पर मिलकर परस्पर जो कहना है वह कहने लगीं । सबल और निर्बल का युद्ध जो प्रत्यक्ष देखने में आ रहा था प्रथम उसका वर्णन करने लगीं—

श्लोक—**तद्बलाबलवद्युद्धं समेता: सर्वयोषितः ।**
ऊचुः परस्परं राजन् सानुकम्पा वरूथशः ।।६।।

श्लोकार्थ—हे राजन् ! बलवान् और निर्बल का वह युद्ध देख, इकट्ठी हुई सब स्त्रियाँ करुणा सहित परस्पर कहने लगीं ।।६।।

सुबोधिनी--ततस्तस्य दोषा अप्यग्रे **ऊचु**रिति केचित्, तद्युद्धमालक्ष्य वा समेता: बलाबलवतोर्युद्धम्, बलं चाबलं च, मतुबुभयत्र सम्बध्यते तयोर्बलाबलयुक्तं यथा भवति तथा वा युद्धम् । सर्वेषां योषित इति निरोध एव नियामको न संबन्धादिरित्युक्तम् । **परस्परमिति** समानशीलव्यसनता सर्वेषामुक्ता । **राजन्निति** स्नेहात्संबोधनमवधानाय । स्त्रीणां वचनमिति कदाचिदुपेक्षां कुर्यादिति, स्निग्धे स्नेहस्यायं गुण: यत्समर्थेऽप्यसमर्थबुद्धिरिति, समूहबाहुल्ये हि सम्यक् श्रवणं भवतीति । दशविधा वा लीलया, सगुणा नवविधा एकविधा निर्गुणा इति । एवं दशप्रकारसमूहाः ।।६।।

व्याख्यार्थ—कोई कहते हैं कि वे उसके दोष भी आगे कहने लगीं । बलवाले और निर्बल*

* श्लोक में'बलाबलवत्'पद में जो मतुप् प्रत्यय है,वह बल और अबल दोनों शब्दों के साथ जोड़ना है ।

की लड़ाई देखकर जो समान शील तथा व्यसन वाली थीं, वे परस्पर आके मिलीं। इन सब स्त्रियों के मिलाप का कारण निरोध है, न कि सम्बन्ध कारण है। राजन्! यह सम्बोधन राजा को स्नेह से सावधान करने के लिए दिया है, क्योंकि कदाचित् राजा यों समझे कि स्त्रियों के वचन है वे कैसे होंगे उनको न सुना तो हानि नहीं, यों राजा न समझे, इसलिए इस प्रकार का सावधान करने के लिए संबोधन दिया है। स्नेह में यह गुण है कि समर्थ को असमर्थ समझा देता है, विशेष समूह में अच्छी तरह सुना जाता है अर्थात् करने वाले बहुत होते हैं तो बड़ी ध्वनि निकलती है, जिससे वह अच्छी तरह सुनने में आती है। लीला से वे दश प्रकार की थीं। सगुण से नव प्रकार की थीं और एक निर्गुण थी, इस प्रकार दश विध समूह थे ॥६॥

आभास—तत्रैका न्यायाभिनिविष्टाः अन्यायमसहमाना आहुः **महानयमिति** ।

आभासार्थ—उनमें एक प्रकार का न्याय प्रिय था, वह अन्याय का सहन नहीं कर सकता था, वह कहने लगा—

श्लोक—स्त्रिय ऊचुः—**महानयं बताधर्म एषां राजसभासदाम् ।**
ये बालबलवद्युद्धं राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः ॥७॥

श्लोकार्थ—स्त्रियाँ कहने लगीं—खेद है कि राज सभा के ये सभासद् राजा के देखते हुए बालक की बलवान् से कुश्ती करा रहे हैं, यह महान् अधर्म है ॥७॥

सुबोधिनी—बतेति खेदे । कथमेवमकस्मात् अनर्थः प्रवृत्त इति, अयं महानेवा**धर्मः एषां राजसभासदां** भविष्यति । यद्यपि राजसंबन्ध एवाधर्मः तत्रापि सभासंबन्धः, तत्राप्यधिकारः, सर्वापेक्षया अयं महानेवाधर्मः, तमेवाह, निमित्तं वा । **ये बालबलवद्युद्धमिति** । एको बालः, अपरो बलवानिति तयोर्युद्धं शास्त्रविरुद्धमिति, तत्रापि **राज्ञः पश्यतः** । राजा हि धर्ममूर्तिः, तस्य दर्शने सुतरामधिकृतैरन्यायो न कर्तव्य इति । अतः राज्ञः पश्यतोऽपि सतः **अन्विच्छन्तीति** । अनेन राजाप्येवं ज्ञास्यति एते सर्वत्रैवंभूता दुष्टा इति । ततो दृष्ट्वापकारोऽपि भविष्यतीति तासामाशयः ॥७॥

व्याख्यार्थ—खेद है कि यह अचानक अधर्म कैसे हो रहा है? यह बड़ा ही अधर्म है, जो राज सभा के सभ्यों को लगेगा। हालांकि अधर्म राजा से सम्बन्ध रखता है, तो भी उसका सभा से भी सम्बन्ध है। उनमें भी जो सभा के अधिकारी हैं अर्थात् सभा के अधिकारियों को वैसी सभा बन्द करने का अधिकार है। सब अधर्मों से यह महान् अधर्म है, जो एक बाल और दूसरा बलवाला अर्थात् पहलवान, इन दोनों का युद्ध शास्त्र के विरुद्ध है। उस पर भी राजा के देखते हुए युद्ध हो रहा है। राजा धर्म की मूर्ति होता है, उसके सामने अधिकारियों को अन्याय नहीं करना चाहिए। अतः राजा के देखते हुए भी अधिकारी यों करना चाहते हैं, इससे राजा भी यों समझेगा कि ये सब ऐसे दुष्ट हैं, जो अधर्म करा रहे हैं। पश्चात् देख कर इसका दण्ड भी होगा, उनके कहने का यह ही आशय है ॥७॥

आभास—ननु भगवानपि सबलो बलिष्ठः, अतो नाधर्मो भविष्यतीति चेत्तत्राहुः **क्व वज्रसारसर्वाङ्गा**विति ।

आभासार्थ—भगवान् भी बलवान-बलिष्ठ हैं। अत: कोई अधर्म नहीं होगा। इस पर 'क्व वज्र सार' श्लोक कहती हैं—

श्लोक—**क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसंनिभौ ।**
क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ ॥८॥

श्लोकार्थ—वज्र के समान कठोर अँग वाले तथा पर्वतराज के समान योद्धा कहाँ? और अति कोमल अँग वाले, जो अभी युवावस्था को भी प्राप्त नहीं हुए हैं, वैसे किशोर अवस्था वाले बालक कहाँ ? ॥८॥

सुबोधिनी—न हि बाधितमर्थं वेदोऽपि बोधयति, भगवतोऽङ्गानि कोमलानीत्यनुभवसिद्धम्। मल्लानामप्यङ्गान्यतिकठिनानीत्यपि लोकप्रसिद्धि:। किञ्च। तावुच्चौ, एतौ च सूक्ष्मौ, 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा' इति न्यायविरोधोऽत्र प्रदर्शित:। तदाह। **वज्र**दपि सारभूतानि **सर्वाङ्गानि** ययो:. सुतरां **मल्लौ** मल्लविद्यायां निपुणौ, तत्रापि **शैलेन्द्रसंनिभौ** महामेरुतुल्यौ क्व, एतौ बालकौ वा **अतिसुकुमारौ क्व**। अत्यन्तं सुकुमाराण्यङ्गानि ययो:। वयसा तु **किशोरौ**, लोके किशोरावपि देहवशाद्बीजादिवशाद्वा **प्राप्तयौवना**विव भवत:। तदपि नास्तीत्याहु:। न प्राप्तं यौवनं याभ्यामिति। नञ् समास: स्पष्टतया प्रदर्शनार्थ:। ८॥

व्याख्यार्थ बाधित अर्थ को वेद भी बोध नहीं कराता हैं। भगवान् के अङ्ग कोमल हैं, यह अनुभव से सिद्ध है। मल्लों के अङ्ग बहुत कठोर होते हैं, यह भी प्रसिद्ध है। और विशेष, वे मल्ल तो लम्बे हैं और ये बाल छोटे हैं। जैसी आकृति वैसे गुण होते हैं, यों कह कर बताया कि यहां न्याय के विरुद्ध कार्य हो रहा है जिसका वर्णन करती हैं। वज्र से भी मजबूत सर्व अङ्ग वाले, मल्ल विद्या में भी निपुण तथा महामेरू के तुल्य ये मल्ल कहां ? और ये अति कोमलाङ्ग कुमार कहाँ ? आयु से तो अभी किशोर ही हैं। कभी किशोर भी देह तथा बीज के कारण किशोर अवस्था में भी जवान जैसे हो जाते हैं, किन्तु ये वैसे भी नहीं हैं, यह स्पष्ट देखने में आता है। इसलिए श्लोक में न आप्तयौवनं याभ्यां तौ (नाप्तयौवनौ) यह नञ् समास से दिया है ॥८॥

आभास—एवमधर्मे हेतुभूतं न्यायविरोधं निरूप्य न केवलमधर्म: एषां भविष्यति, किन्तु यस्य धर्मस्य प्रभावेन ऐश्वर्यादिकं भुञ्जते, तस्याप्यतिक्रमो भविष्यतीत्याहु: **धर्म-व्यतिक्रम** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार अधर्म करने में जो हेतु रूप न्याय का विरोध है, वह कहकर विशेष कहती हैं कि न केवल इनको अधर्म लगेगा, किन्तु जिस धर्म के प्रभाव से ऐश्वर्य आदि भोगते हैं उस धर्म का भी उल्लङ्घन होगा, जिसका वर्णन 'धर्मव्यतिक्रमो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत् ।**
यत्राधर्म: समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कर्हिचित् ॥९॥

श्लोकार्थ—इस सभा में धर्म का उल्लङ्घन अवश्य होगा, जहाँ अधर्म होवे, वहाँ कभी बैठना नहीं चाहिए ॥९॥

सुबोधिनी—**अस्य समाजस्य ध्रुवं व्यतिक्रमो भवेत्**, शुभफलं धर्मादेवेति तदतिक्रमे नाश एव, ततः पूर्वं विषमनियोगेनाधर्मः । अन्येऽपि सहजा अधर्माः सन्त्येव, वस्तुतोऽपि **धर्मस्य प्रभुरच्युत** इति प्रभोरन्यथा विनियोगे लीलादर्शने वा धर्म-सेवकत्वेन सेवकसेवकानां भवत्येवातिक्रमः, सोऽप्यधर्मः धर्मं नातिक्रमेदिति निषेधात् । एवमधर्मः अस्मिन् समाजे सर्वत एवोद्गतः, अतो **यत्र** सभ्य-**गधर्म उत्तिष्ठेत्, तत्र** दुःखस्यावश्यंभावात् कदाचिदपि **न स्थेयम्** । यद्यपि दुःखसंभावना नास्ति, तथापि कारणोत्पत्तेर्विद्यमानत्वात् सर्पनिकटशयनवत् न स्थेयमेव ॥९॥

व्याख्यार्थ—इस समाज का निश्चय उलटा भाग्य होगा। कारण कि शुभ फल धर्म से ही होता है। उसके उल्लङ्घन से नाश ही होता है। प्रथम छोटे को बड़े से युद्ध कराके अधर्म किया है। दूसरे भी सहज[1] अधम हुए हैं। वास्तव में धर्म का स्वामी अच्युत है। उसका अन्य प्रकार विनियोग होने पर वा लीला दर्शन में अथवा धर्म सेवकपन से सेवक सेवकों का अतिक्रम होता ही है। वह भी अधर्म है। शास्त्र में आज्ञा है कि धर्म का उल्लङ्घन न करे। इस प्रकार इस में चारों तरफ अधर्म प्रकट हो रहा है। इससे जहां सर्व प्रकार अधर्म देखने में आवे वहाँ दुःख (नाश) अवश्य होगा। अतः वहां कभी भी नहीं ठहरना चाहिए, जो कि यहां दुःख की संभावना प्रकट नहीं है, तो भी कारण की उत्पत्ति तो मौजूद है। इसलिए जैसे सर्प पड़ा हो वहां उसके निकट सोना नहीं चाहिए, क्योंकि नाश का कारण सर्प मौजूद है। इसी प्रकार यहां भी दुःख का कारण मौजूद है ॥९॥

आभास—नन्वेवं सति सर्वेषामेवाधर्मः, को विशेषः समाजस्येति चेत्तत्राहुः न सभां प्रविशेदिति ।

आभासार्थ—यदि यों है तो सर्व को अधर्म लगेगा, सभा की विशेषता क्या है ? जो उस को ही अधर्म लगे इस पर 'न सभां प्रविशेत्' श्लोक कह कर इसका समाधान करती हैं—

श्लोक—अपरा ऊचुः—**न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन् ।**
अब्रुवन्विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते ॥१०॥

श्लोकार्थ—दूसरी कहती हैं—सभासदों के दोष जानने वाले बुद्धिमान् पुरुष को सभा में नहीं जाना चाहिए; क्योंकि वैसी सभा में जाकर न कहे, अथवा विरुद्ध कहे, अथवा कहे कि मैं नहीं जानता, तो वे तीन ही पाप के भागी होते हैं ॥१०॥

१- उसके साथ

सुबोधिनी--अथवा किमित्युच्यते, निर्गन्तव्यं वा, तूष्णीं वा स्थातव्यमित्याशङ्क्य स्वार्थमप्याहुः **न सभामिति**। सभास्थैरवश्यं वक्तव्यम् अथासामर्थ्यं चेत्, प्रथमत एव **प्राज्ञः** अग्रिमार्थं **सर्वं** जानन् सभामेव न **प्रविशेत्**। 'सभायां न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्। अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी'ति मनुवाक्यात्। एते हि **सभ्यदोषा** इत्याहुः **अब्रुवन्निति**। सभायां उपविष्टेनावश्यं वक्तव्यम्, पृष्टः अपृष्टो वा यथोचितं न वदेत्, तथापि नरकभागी स्यात्, यदि वा विरुद्धं वदेत्, अन्यायपृष्टः अपृष्टो वा, पृष्टश्चेज्जानन्नपि नाहं जाने इति वदेत्, **सोऽज्ञ** इत्युच्यते। एवं त्रिविधा अप्येते नरकभाजो भवन्ति। सभायां प्रविशन् सभास्मरणे तद्गतगुणदोषाणामपि स्मरणमावश्यकमिति तथोक्तम्। **किल्बिषमावश्यकं** नरकम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—अथवा क्या करना चाहिए ? सभा छोड़ कर बाहर आ जाना चाहिए वा चुप हो के बैठना चाहिए ? इस पर जो करना चाहिए वह 'न सभां' इस श्लोक में बताती है–जो सभा में बैठे हों उनको अवश्य कहना चाहिए, यदि कहने की शक्ति न हो, तो बुद्धिमान् को सभा में क्या होगा, इसको पहले ही समझ, सभा में ही न जाना चाहिए, मनु ने भी कहा है कि सभा में जाना ही नहीं चाहिए यदि जाए तो जो योग्य हो वह कहना चाहिए यदि न कहता है तो वह मनुष्य पापी होता है। ये सभासदों के दोष हैं— नहीं कहना. सभा में बैठे हुए को पूछने अथवा न पूछने पर भी योग्य (उचित बात) नहीं कहे, तो वह नरक भागी होता है, अथवा विरुद्ध कहे तो भी नरक भागी होता है। अन्याय से पूछने पर, वा न पूछने पर या पूछने पर भी यदि कोई कह देवे कि मैं नहीं जानता हूं तो वह मूर्ख कहा जाता है। इस प्रकार के तीन ही सभा में बैठे हुए नरक भागी होते हैं। सभा में जाते समय सभा का स्मरण करते हुए उसके गुण तथा दोषों को भी स्मरण करना चाहिए, 'किल्बिष' शब्द का अर्थ यहां अवश्य नरक की प्राप्ति है ॥१०॥

आभास—ननु भगवतोपि बलमवश्यमस्ति 'कुवलयापीडवधात्तत्राहुः **वलगतः शत्रुमभित'** इति।

आभासार्थ—यदि कोई कहे कि भगवान् भी निश्चय बलवान् है जिसका प्रमाण कुवलयापीड़ हस्ती का वध है इसके उत्तर में 'बलगतः शत्रु' श्लोक कहती हैं—

श्लोक—**वलगतः शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम्।**
वीक्षतां श्रमवार्युप्तं पद्मकोशमिवाम्बुभिः ॥११॥

श्लोकार्थ—अरी ! शत्रु के चारों तरफ मल्ल के शब्द कहते फिरते हुए कृष्ण के मुख कमल को देखो तो कैसा परिश्रम से उत्पन्न जल से अर्थात् पसीने से गीला हो रहा है ? यों दिखाई देता है, जैसा जल से व्याप्त कमल ॥११॥

सुबोधिनी--शत्रुं चाणूरमभितः वलगतः मल्लशब्दान्कुर्वतः **कृष्णस्य** सदानन्दस्य अस्माकं सर्वस्वस्य वा **वदनाम्बुजं** प्रस्वेदजलैर्व्याप्तं पश्यत। यद्यधिकबलः समबलो वा स्यात्, तदा शत्रोरिवास्यापि श्रमो न स्यात्, 'शब्दश्चासमर्थस्यैवे'ति लोकप्रसिद्धिः। **श्रमवारिभिर्व्याप्तं** न तु कणैः,

अनेनान्तःश्रमाधिक्यं द्योतितम् । ननु भवत्येव कर्मणा श्रमः, को दोष इति चेत्तत्राहुः **पद्मकोशमिवाम्बुभिरिति** । पद्मकोशो हि जलादुद्गतो भवति, न कदाचिज्जलं स्पृशति, यथा जलं वर्धते तथा तन्नालमपि वर्धत इति तस्य जलव्याप्तिरसंभाविता । तथा भगवतोऽपि श्रमजलसंबन्धोऽसंभावित इत्यर्थः । तासामासक्तिसिद्ध्यर्थं भगवता तथा प्रदर्शितं अन्यासक्ता मा भवेयुरिति, कंसादीनां च प्रथमतः सुखर्थम् ।।११।।

व्याख्यार्थ—शत्रु (चाणूर) के चारों तरफ, मल्लों के समान शब्द करते हुए, हमारे सर्वस्व सदानन्द कृष्ण के पसीने के जल से व्याप्त मुखकमल को तो देखो, यदि शत्रु से अधिक बल वाले अथवा समान बल वाले होते तो शत्रु की तरह इनको भी श्रम न होता, शब्द तो असमर्थ ही करते हैं, यह लोक में प्रसिद्ध ही है । श्रम से उत्पन्न जल से मुख कमल भरा पड़ा है, नहीं कि बूंदों से । इससे मालूम होता है कि भीतरी श्रम की अधिकता है । कर्म करने से श्रम होता * ही है, इससे कौनसा दोष है ? इसके समाधान में कहती है कि जैसे पद्मकोश जल से उत्पन्न होता है, किन्तु उसको जल स्पर्श नहीं करता है । ज्यों जल बढ़ता है त्यों उसका नाला भी बढ़ता है, जिससे उसकी जल से आर्द्रता असंभव है । वैसे ही भगवान् को भी श्रम जल का स्पर्श हो नहीं सकता है । तब शङ्का होती है कि स्त्रियें जो कह रही हैं वह असत्य है क्या ? जिसका समाधान आचार्य श्री करते हैं कि ये स्त्रियां अन्य में आसक्त न होवे, उनकी आसक्ति मुझ में ही सिद्ध हो तदर्थ भगवान् ने उनको वैसी प्रतीति कराई है और यों करने से कंसादिक को भी प्रथम प्रसन्न किया है ।।११।।

आभास—एतत्सर्वेषां न प्रकटमिति वक्तुरपि कदाचिद्दर्शनाभावात् बलभद्रे सर्वजनीनं तदिति सापेक्षमाहुः **किं न पश्यतेति** ।

आभासार्थ—यह भगवान् के मुखारविन्द पर श्रम जल का दर्शन सब को न भी हुआ हो । कदाचित् कहने वाली को भी न हुआ हो । बलभद्र में जो दीख रहा है वह तो सब देख रहे हैं । अतः अपेक्षा से 'किं न पश्यत' श्लोक में उसका वर्णन करती है—

श्लोक—**किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम् ।**
मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभितम् ।।१२।।

श्लोकार्थ—अरी ! राम का लाल सुर्ख नेत्रवाला मुख नहीं देखती हो क्या ? जो मुष्टिक के प्रति क्रोधपूर्ण है । इतना होते हुए भी वह हास के आवेश से सुशोभित है ।।१२।।

---

* टीका में 'भवत्येव' है, नीचे नोट में 'भवतु' पाठ दिया है । यदि वह हो, तो उसका अर्थ इस प्रकार होगा, कर्म से श्रम होने दो क्या दोष है ?

सुबोधिनी—रामस्य मुखमासमन्ताम् ताम्रलोचनं किं न पश्यत। भ्राता ज्येष्ठोऽयम्। अस्य श्रमः सर्वजनीनः, अन्यथा क्रोधाविर्भावं न कुर्यात्। अशक्तस्यैव तथा करणात्। ननु स्वभावतोऽपि ताम्रो भवेदित्याशङ्क्याह मुष्टिकं प्रति सामर्षमिति। मुष्टिको मारणीय इति क्रोधमाविर्भावयति। स्वतो ह्यसमर्थानां कामादयः प्रवर्तका भवन्ति। नन्वेतदपि सहजमिति चेत्तत्राह हाससंरम्भशोभितमिति। हासेन यः क्रोधसंरम्भः तेन शोभितम्। अथवा पूर्वं हाससंरम्भेण हासपूर्वककामलीलया शोभितम्, पूर्ववचने अस्मान्खिन्नान्वा दृष्ट्वा हाससंरम्भाभ्यां शोभितम्। एता अस्मान् न जानन्तीति हास्यम्, दुःखं प्राप्नुवन्तीति शीघ्रं मारणीय इति संरम्भमपि करोति। उभाभ्यां वातिशोभितम्, अतो न सहजं किमपीत्यर्थः।१२।

व्याख्यार्थ ताम्र जैसे सम्पूर्ण लाल नेत्र वाला राम का मुख क्या नहीं देखती हो? यह बड़ा भाई है. इसका श्रम सार्वजनिक है, नहीं होता तो क्रोध को प्रकट न करते, अशक्त ही यों करता है, लाल नेत्र स्वभाव से भी होते हैं, इस पर कहती हैं कि ये नेत्र स्वभाव से लाल नहीं हैं, किन्तु इस मुष्टिक को मारना ही है इसलिए क्रोध का आविर्भाव होने से ये नेत्र लाल हुए हैं। जो स्वयं असमर्थ हैं, उनकी प्रवृत्ति कामादिक कराते हैं। यदि कहो कि यह भी सहज है तो इस पर कहती हैं कि हास से जो क्रोध उत्पन्न किया उसमें सुशोभित मुख है। जिससे ये नेत्र क्रोध के कारण ही लाल हुए हैं अथवा प्रथम हास पूर्वक की हुई कामलीला से यह मुख सुशोभित है। अथवा आगे कहे हुए वचन में हमको खिन्न (सखेद) देखकर हास और क्रोध से शोभित यह मुख है। ये स्त्रियाँ हमको नहीं जानती हैं, इस कारण हास्य किया है और ये दुख पारही हैं। इसलिए उसको (मुष्टिक करो) शीघ्र मारना चाहिए, अतः क्रोध भी करते हैं। दोनों (हास एवं क्रोध) से विशेष शोभित है, अतः कहने का यह तात्पर्य है कि कुछ भी सहज नहीं है ॥१२॥

आभास—एवं स्नेहवशादश्रान्तेपि भगवति श्रमं मत्वा अनवसरे भगवानस्माभिर्दृष्ट इति स्वभाग्यं विगर्हयन्त्यः गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्दन्ति पुण्या बत इति चतुर्भिः।

आभासार्थ—इस प्रकार अश्रान्त भी भगवान् को प्रेम से श्रमित समझकर कहने लगी कि हमने भगवान् के दर्शन अवसर पर नहीं किए। इससे अपने भाग्य को धिक्कारती हुई गोकुल वासियों के भाग्य की (पुण्या बत) श्लोक से लेकर ४ श्लोको में सराहना करती हैं—

श्लोक—पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्गगूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः।
गाः पालयन्सहबलः क्वणयंश्च वेणुं विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः।१३।

श्लोकार्थ—अहो! व्रज की भूमि धन्य है। जहाँ मनुष्य शरीर से गुप्त साक्षात् पुराण पुरुष परमात्मा बन के विचित्र पुष्प माला धारण कर, बलदेवजी के साथ गौओं को चराते, बंसी बजाते क्रीड़ा करते वहाँ बिराजते हैं, इस लीला समय में भी महादेवजी तथा लक्ष्मीजी इनके चरणों की सेवा करती है ॥१३॥

सुबोधिनी—आदौ भूमिमभिनन्दन्ति, पश्चात् स्त्रियः, आदौ व्रजभुव एव धन्याः,यदयं नृलिङ्गेन कपटमानुषवेषेण गूढः सन् स्वयं पुराणपुरुषोपि वनचित्रमालायुक्तश्च तत्रत्या गाः पालयन् ससहायोपि तत्परः बलभद्रसहितः विक्रीडयैव विशेषेण क्रीडार्थमेव अञ्चति व्रजभुवम्, गच्छति वा, स्वयं तु गिरित्रेण रमया च अर्चितौ अङ्घ्री यस्य। भूमिः स्वभावतः पुण्या भवति, यद्यपि मथुरापि तथा गणिता, तथापि मथुरामण्डले व्रजभुव एव पुण्याः, पुण्यं हि सुखफलं भवति, निरन्तरं तत्रत्यानां सुखानुभवात्, अत्र तु तद्विपरीता इति। **बते**ति हर्षे, एतादृशमपि लोके स्थानं भवतीति। गोप्यस्य हि क्रीडा सुखदायिनी। अतो भगवतोपि गुप्तक्रीडासाधनत्वात् सुखदा भूमिः। **पुराणपुरुष** इति तासां स्वरूपज्ञानं दृढमिति ज्ञापितम्। तथापि श्रमाविर्भावात् स्थलान्तरप्रशंसैव। गुप्तश्च सर्वैर्व्यवहर्तुं शक्यते। तथात्वे नियामकमप्याह। वनस्थानामपि चित्रमाल्यानां धारक इति। **गाः पालयन्निति**। सुतरां गौणभावाश्रयणात् स्वच्छन्दलीला संपद्यते। बाधकनिराकरणार्थं ससहायोपि। रसोद्बोधनार्थं रक्षकदेवोद्बोधनार्थं वा दिनेपि परमानन्दानुभवार्थं च वेणुक्वणनम्। **च**कारात् नानाविधां च लीलां कुर्वन्। भूमेः पूजने तत्रत्यानपि पूजयतीति स्वच्छन्दलीलाया-मतिक्रमेपि नापराधो भवति। अन्यत्र गुप्तत्वाभावे स्वस्य नेष्टम्, गुप्तत्वे तु चाणूरादीनामतिक्रम इति उभयथाप्यत्र दुःखम्। न च गोकुले स्वरूपप्रच्युत एव तिष्ठतीति शङ्कनीयम्। यतस्तत्र स्थितमपि महादेवो लक्ष्मीश्च पूजयति। स हि पशुपतिः, तदीयानां पशूनां पालोनां भगवान् रक्षक इति स्वयमपराधी च पूजनया स्वापराधं दूरीकरोति, महांश्चेत्स्वकार्यं करोति, तदा हीनो लज्जते, अतः पूजयति। अन्यथा गोवर्धनोद्धरणे इन्द्रस्यापकारं कुर्यात्, गोवर्धनं वा विशकलितम्, स हि यथास्थितान् पर्वतान् पालयति, सुदर्शनस्यापि मोक्षं नाङ्गीकुर्यात्, अतः सेवकत्वेनैव तस्य व्यवहारो दृश्यते। **लक्ष्मीः पुनः सर्वस्त्रीमूलप्रकृतिः, तदुद्भवरूपा गोप्यः**, तासामपि कृपां करोतीति। अथवा। महादेवो भगवति पशुपालने क्रियमाणे तस्य पालनं गमिष्यतीति, रमा च गोपिकासु स्थितासु आदरो गमिष्यतीति ॥१३॥

व्याख्यार्थ—प्रथम व्रज की भूमि की सराहना करती हैं, पीछे स्त्रियों की पहले तो व्रज की भूमियां धन्य हैं, कारण कि यह स्वयं पुराण पुरुष, कपट से मानुष रूप धारण कर, विचित्र वन की मालाओं को पहन कर, वहाँ की गायों को पालते हुए, सहायक बलभद्र के साथ विशेष क्रीड़ा करने के लिए ब्रज भूमि को पूजते हैं अथवा वहां जाते हैं, आपके चरण तो महादेव और लक्ष्मी पूज रहे हैं, भूमि यद्यपि स्वभाव से पुण्य वाली होती है, हालांकि मथुरा भी वैसी गिनी गई है तो भी मथुरा मण्डल में व्रज की भूमियाँ ही पुण्य रूप हैं, पुण्य का फल सुख है, जिसका प्रमाण यह है कि व्रजवासी निरन्तर सुख का अनुभव कर रहे हैं, यहा तो उससे विपरीत दुःख का अनुभव हो रहा है, श्लोक में (बत) शब्द से हर्ष प्रकट किया है कि लोक में ऐसा भी स्थान है, जो गोप्य है। उसकी ही क्रीड़ा सुख देने वाली होती है। अतः यह भूमि गुप्त क्रीड़ा का साधन होने से भागवान् को भी सुख देने वाली है। (पुराण पुरुष) कहकर यह बताया है कि इनको दृढ़ स्वरूप ज्ञान है, तो भी श्रम के आविर्भाव से दूसरे स्थल की प्रशंसा ही की है। सब कार्य गुप्त रूप से सब कर सकते हैं। इस प्रकार से है तो भी नियामक को भी कहती है, वन में स्थितों का भी नियामक, विचित्र वनमालाओं को धारण करने वाले हैं, (गायों का पालन करते हुए) यों कहने का आशय है कि बहुत ही गौण भाव के आश्रय से स्वच्छन्द लीला हो सकती है, अर्थात् पुराण पुरुषोत्तम होकर भी कपट मनुष्य बन गायों को चराना यह गौण भाव का आश्रय लेना है। वैसा करने से ही गोप आदि से स्वच्छन्द लीला हो

सकी है। उस लीला में कोई भी बाधक न हो तदर्थ अपने साथ सहायक (बलरामजी) भी लिया है। रस को जगाने के लिए, रक्षक देव को भी प्रबुद्ध करने के लिए अथवा दिन के समय में भी परमानन्द को अनुभव कराने के लिए, भगवान् वेणु बजाते हैं, और श्लोक में जो (च) शब्द दिया है जिसका आशय प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि केवल यह लीला नहीं करते थे, किन्तु अन्य भी अनेक प्रकार की लीलाओं को करते थे। भूमि का पूजन करते हुए वहाँवालों का भी समादर करते थे, यों कहने से यदि स्वच्छन्द लीला का उल्लङ्घन भी हो जाए तो कोई अपराध नहीं। अन्यत्र गुप्तत्व का यदि अभाव हो तो वह आपको प्रिय नहीं है, गुप्त होने पर चाणूर आदि का अतिक्रम होता है। इस प्रकार दोनों बातों में दुःख है। यह भी शङ्का न करनी कि ये गोकुल में अपने निज स्वरूप से च्युत हो गए हैं, जो कि वहां स्थित स्वरूप को भी महादेवजी तथा लक्ष्मीजी पूज रही हैं। महादेवजी इसलिए भी पूजा करते हैं कि स्वयं (पशुपतिः) पशुओं के स्वामी हैं। और यहां भगवान् उन पशुओं के रक्षक एव पालक हैं और विशेष कारण बताते है कि एक तो वे पूजन करते हैं, जो अपराधी होता है पूजा से अपराध को दूर करता है और देखता है कि इन्होंने यह महान् होकर मेरा कार्य कर रहे हैं,मैं नहीं करता हूं,तब उसको लज्जा आती है, जिससे वह पूजा करता है,अन्यथा गोवर्द्धन के उद्धरण के समय इन्द्र का अपकार (बुरा) करे अथवा गोवर्द्धन टूक कर दे, वह तो यथा स्थित पर्वतों की पालना करते हैं। सुदर्शन का मोक्ष भी अङ्गीकार न करे,अतः देखा जाता है कि उनका व्यवहार सेवक की भांति ही है। लक्ष्मीजी सकल स्त्रियों की मूल प्रकृति हैं। उनके वैभव का रूप गोपियां हैं। उन पर भी कृपा करते हैं। अथवा महादेवजी यों समझ पूजन करते हैं कि यदि इस प्रकार भगवान् पशु पालन करेंगे तो मेरा (पशुपालन) कर्म चला जाएगा और लक्ष्मी समझेगी कि इस प्रकार गोपियां सदैव भगवान् के पास रहेंगी तो मेरा आदर मिट जाएगा। अतः पूजाकर भगवान् को प्रसन्न करूं;तो मेरा आदर बना रहे ॥१३॥

आभास—एवं भूमिमभिनन्द्य गोपिकाभिनन्दनमाह त्रिभिः। **'गोप्यस्तपः किमचरन्नि'**ति।

आभासार्थ—इस प्रकार भूमि का अभिनन्दन कर तीन श्लोकों में गोपियों का अभिनन्दन करती हैं 'गोप्यस्तपः किमचरन्नि'ति—

श्लोक—**गोप्यस्तपः किमचरन्यदमुष्य रूपं**
लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥१४॥

श्लोकार्थ—अहो ! गोपियों ने ऐसा कौनसा तप किया है, जो श्रीकृष्णचन्द्र का रूप जो कि लावण्य से श्रेष्ठ, नित्य प्रति नया, दुर्लभ, यश, लक्ष्मी और ऐश्वर्य का अविचल धाम तथा स्वतः सिद्ध और जगत् में उनके बराबर या उत्तम अन्य कोई नहीं है, वैसे को नेत्रों से देखती हैं, मानो पी रहीं हैं ॥१४॥

सुबोधिनी—भगवतो रूपं यादृशं ध्येयं तादृशं यतः पश्यन्ति, भगवन्तमेव च गायन्ति, तदासक्ताश्च नित्यं तिष्ठन्तीति, न ह्येतत्त्रयं स्वल्पतपसा प्रसिद्धतपसा वा भवति, अन्यथा अन्येषामपि स्यात्, अतो न ज्ञायते, किं वा तपस्ताभिः कृतमिति। यद्यप्यस्माभिरपि भगवद्रूपं दृश्यते, तथापि अमुष्यैतद्रूपं लावण्यमेव सारभूतं यत्र, केवलं लावण्यमेव तत्र प्रकाशते, लावण्यस्यापि वा सारम्। इदानीं तु क्रोधस्याविर्भावात् अवस्थया तिरोहितमिव प्रतिभाति। किञ्च। **असमोर्ध्वं** न सममूर्ध्वं च यस्मात्। तासां हि दृष्टौ भगवानेक एवेति प्रतिभाति। अत्र तु दुष्टः संबन्धी चाणूरादिरपि दृश्यते, ऊर्ध्वता च कंसादेः मञ्चस्थितत्वात् प्रतीयते। किञ्च। **अनन्यसिद्धम्**, स लावण्यरसः केवलं भगवत्येव सिद्धः, अन्यथा भुव्यन्येपि भाग्ययुक्ता भवेयुः। अतस्तादृशामृतपानं तपसा विना न भवतीति अवश्यं तपस्तासु सिद्धम्। किञ्च। **दृग्भिः पिबन्ति**, दूरादपि पातुं शक्यते दृशा, तत्रापि नानाविधैः कटाक्षैः अलसवलितादिभिः पानम्, अनेन सर्वोपि रमणप्रकारस्तासां सूचितः। चर्वितचर्वणव्यावृत्यर्थमाहुः **अनुसवाभिनवमिति**। अनुसवं प्रतिक्षणं नूतनमेव भवति पूर्वानुभूतरसादुत्कृष्टम्, नापि तत्सर्वसुलभमित्याहुः **दुरापमिति**। सर्वेषामेव दुःखेनापि प्राप्तुमशक्यं तासां त्वयत्नसिद्धं जातमिति। ननु केवलं भोग एव भगवता सिद्ध इति कथं सर्वोत्कृष्टता, यद्धि सर्वमेव फलं साधयति, तत्सर्वोत्तममिति चेत्तत्राह **एकान्तधामेति**। भोगस्त्वैहिकपारलौकिकसर्वोत्कृष्ट इति वीर्यस्य न पृथगुपयोग, ज्ञानवैराग्ययोश्च। अतस्त्रयमेवावशिष्यते यशः श्रीः ऐश्वर्यं चेति। तेषामेकान्ततः भगवल्लावण्यामृतमेव धाम, तस्मिन् प्राप्ते ऐश्वर्यादिकं सर्वं सिध्यतीति न भोगमात्रपरत्वम्, **ऐश्वरमिति**भावे घञ्। **च**कारादपेक्षितानामपि ज्ञानवैराग्यादीनां ग्रहणम्॥१४॥

व्याख्यार्थ—ये गोपियों भगवान् के उस रूप को देख रही हैं जिसका भक्त ध्यान करते हैं, और गान भी भगवान् का ही गाती है, तथा नित्य उनमें ही आसक्त रहती हैं। ये तीन ही अल्प तपस्या अथवा प्रसिद्ध विशेष तपस्या से भी जब नहीं प्राप्त होते हैं, तब इन्होंने न जाने कौनसी तपस्या की है, जिससे इनको ये तीन हो प्राप्त हुए हैं। यदि बिना तपस्या के होते हैं तो अन्य को भी प्राप्त होने चाहिए, किन्तु होते नहीं।

हालांकि हम भी भगवान् के रूप का दर्शन कर रही हैं, तो भी इनको जिस रूप का दर्शन होता है वह तो सारभूत लावण्य[1] ही है, अर्थात् उस रूप में केवल लावण्य ही प्रकाशित है अथवा सौन्दर्य का भी सार है, इस समय तो क्रोध के प्रकट होने से अवस्था बदलने से वह लावण्य तिरोहित सा हो गया है और विशेष में कहती हैं कि उनके समान अथवा उत्तम कोई नहीं है। उनकी दृष्टि में केवल भगवान् ही दीख रहे हैं। यहां तो हम लोगों को दुष्ट और सम्बन्धी[2] चाणूर भी दीख रहा है। कंस आदि उच्च आसन पर बैठे होने से उनकी उच्चता प्रतीत हो रही है। वह सौन्दर्य रस तो केवल भगवान् में हि सिद्ध[3] है। अतः वैसे अमृत का पान तपस्या के सिवाय नहीं होता है। जिससे निश्चय है कि उनकी पूर्ण तपस्या फली भूत है। यदि यों न हो तो पृथ्वी पर अन्य भी इसका पान कर भाग्य वाले हो सकें, जो नहीं होता है, और विशेषता यह है कि नेत्रों से पान कर रही हैं। नेत्रों से दूर होते हुए भी पान हो सकता है। उसमें भी कटाक्षों के अनेक प्रकारों से पान कर रही हैं। यों कहने से गोपियों के रमण के सर्व प्रकार बताए हैं। यदि

१- विशेष सौन्दर्य, खूबसूरती, २- भगवान् से कुश्ती करने से सम्बन्धी,
३- सदा निश्चय से रहा हुआ है।

कोई कहे कि ये चबाये हुए को फिर चबाने के समान क्रिया हुई। उसके उत्तर में कहती हैं कि नहीं, यह तो प्रतिक्षण नूतन ही नूतन बना रहता है। एक बार देखकर जो रस प्राप्त हुआ पुनः दूसरी बार देखने पर उससे भी उत्कृष्ट रस प्राप्त होता है। यह रस सर्व को सुलभ भी नहीं है। सब को ही दुःख से अर्थात् परिश्रम से भी मुश्किल से प्राप्त करने जैसा है, किन्तु इनको तो बिना यत्न प्राप्त हो गया है। यदि कहो कि इनको तो भगवान् से केवल भोग ही सिद्ध हुआ है, जिससे सर्व से उत्कृष्टता कैसे हुई ? जब कि सर्व प्रकार के फल की सिद्धि होवे तब सर्वोत्तमता मानी जाए। इसके उत्तर में कहती हैं कि (एकान्त धाम) भगवान् सब के धाम हैं, अर्थात् भगवान् के रूप के लावण्य सार के पान से उनको न केवल भोग की प्राप्ति हुई है किन्तु ऐश्वर्य, यश, श्री की भी प्राप्ति हुई है। श्लोक में (च) शब्द से यह भी बता दिया कि ज्ञान, वैराग्य आदि भी प्राप्त हो गए हैं ॥१४॥

आभास—ननु सर्वोत्तमा भगवद्भक्तिः, तासां तु कामः प्रधानमिति का स्तुतिरिति चेत् तत्राहुः **'या दोहन'** इति।

आभासार्थ—सब से उत्तम भगवान् की भक्ति है। इनमें तो काम की प्रधानता है, उनकी स्तुति कैसे करती हो ? जिसका उत्तर 'या दोहनेऽवहनने' श्लोक में देती हैं—

श्लोक—**या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-**
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥१५॥

श्लोकार्थ—अहो ! ये व्रजाँगनाएँ धन्य हैं; क्योंकि जो दुहती, चावल आदि कूटती, दही बिलोती, लीपती, झूलती, सींचती; रोते हुए बालकों को झूले में झुलाती और रमाती इत्यादि काम करती हुई भी भगवान् में अनुरक्त चित्त होने से उस समय भी भगवान् का ही चिन्तन करती हुई उनके गुणों को गाती थीं, जिससे प्रेम का उद्बोध हो गला भर जाता है ॥१५॥

सुबोधिनी—दोहनं सायं प्रतिप्रभाते वा, ततः अवहननम्, ततो मथनं दध्नः, प्रातरेव लेपनं च, एतच्चतुष्टयं गृहकार्यं व्रजस्त्रीणां सहजं सर्वासाम्, ततः **प्रेङ्खेङ्खनं** दोलयांदोलनम्, विद्यमानबालकानाम**र्भकरुदितं** बालकरोदनम्, **उक्षणं** सेचनं वृक्षादिषु, सूक्ष्मेषु तुलस्यादिषु वा, **मार्जनं** प्राङ्गणादेः, एतेषु एतं भगवन्तं गायन्ति, **चकारात्** स्मरन्ति भावयन्ति, तदर्थमेव च कुर्वन्ति। धर्मपरा अपि तत् कुर्वन्ति इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **अनुरक्तधिय** इति। अनुरक्ता धीर्यासाम्, अनुरागमात्रेण न भक्तिर्भवति उत्कटभावाभावात्, लौकिकप्रेमवतां धर्ममार्गेऽपि तथात्वादित्यत आह **अश्रुकण्ठ्य** इति। अश्रूणि नेत्रयोः, गद्गदकण्ठता च, तदुभयं निर्दिष्टम्। अथवा नेत्रयोः स्मरणाभावात् अन्तर्दृष्टीनामश्रूणि कण्ठ एव समागतानीति तथोक्तवत्यः। अतः सर्वभावेन प्रपन्नाः फलं च प्राप्नुवन्तीति

व्रजस्त्रियो धन्याः। किञ्च। उरुक्रमचिन्तयानाः। न केवलं कदाचिदेव तासामेवंभावः, किन्तु सर्वदेति वक्तुं सर्वदैवोरुक्रमं चिन्तयानाः उरुक्रमं चिन्तयन्ति ।।१५।।

व्याख्यार्थ—व्रज की स्त्रियों के गृह के चार कार्य स्वाभाविक ही हैं–१-प्रातः और सायं गायों का दोहना, २-चावल आदि कूटना, ३-दही बिलोना, ४-घर में लेपन करना। उसके अनन्तर बालकों का रोना होता है तब उनको झूले में झुलाना, वृक्ष आदि में पानी देना तथा छोटे पेड़ तुलसी आदि में सींचना, आङ्गन को बुहारी से झाड़ना, इन कामों को करती हुई इस भगवान् के गुणों को गाती हैं। 'च'देकर यह बताया है कि न केवल गाती ही है, किन्तु स्मरण करती हैं तथा उनकी हृदय में भावना भी करती हैं, जो कुछ करती हैं वह उनके लिए ही करती हैं। धर्म (घर के काम काज) के परायण हो वे कर्म करती होंगी ? इस पर कहती हैं कि (अनुरक्त धियः) हालांकि गृह के परायण हो कर कर्म करती हैं, किन्तु उनकी बुद्धि भगवान् में अनुरागवाली है। अतः वे कर्म अनासक्ति से कर रहीं हैं। यदि कहो कि केवल अनुराग से भक्ति नहीं होती है, क्योंकि केवल अनुराग में उत्कट भाव अभाव है, लौकिक प्रेम वालों के धर्म मार्ग में भी यों है। इस पर कहती है कि 'अश्रुकण्ठ्यः' इनकी आंखों के आंसू कण्ठ में आ गए हैं जिससे कण्ठ गद् गद् हो गया है, अथवा श्रवण वा स्मरण के न होने के कारण अन्तर्दृष्टि होने से उनके आंसू कण्ठ में आ जाते हैं, इस प्रकार की अवस्था होने से निश्चय है कि ये सर्व भाव से भगवान् के शरणागत हुई हैं। जिससे फल पा रही हैं, अतः ये व्रज सीमन्तिनियें धन्य हैं,अर्थात् भाग्यवाली हैं। विशेष में कहती हैं कि इनको यह भाव केवल कभी कभी नहीं होता है, किन्तु सर्वदा भगवान् का ही चिन्तन करती रहती हैं। जिससे इस प्रकार का भाव भी सर्व काल में बना ही रहता है ।।१५।।

आभास—किञ्च। एतादृश्योऽपि न केवलं योगिवत् साक्षात्काररहिताः, किन्तु तपस्विन इव वरदानार्थमागतं भगवन्तं सर्वदैव पश्यन्तीत्याह'**प्रातर्व्रजाद्व्रजत**'इति।

आभासार्थ—वैसी होते हुए भी योगी के समान केवल साक्षात्कार से भी रहित नहीं है, किन्तु जैसे तपस्विओं को वरदान देने के लिए प्रकट होकर दर्शन देते हैं वैसे ये भी प्रकट भगवान् का सर्वदा दर्शन करतीं रहतीं हैं, जिसका वर्णन 'प्रातर्व्रजाद्व्रजत' श्लोक में करती हैं—

श्लोक—**प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं**
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्।
निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—प्रातःकाल जब भगवान् गायों को लेकर व्रज में से वन में जाते और साँझ समय, जब बंशी बजाते हुए गायों के साथ लौटते हैं, तब ये अबलाएँ जल्दी घर से निकल बहुत पुण्यवाली होने से मार्ग में इन भगवान् के दया दृष्टि सहित मन्द हास्य युक्त मुखारविन्द का दर्शन करतीं हैं।।१६।।

सुबोधिनी—गूढास्तु लीलाः ताभिर्न ज्ञायन्त इति **भगवद्दर्शनं सायं प्रात**रेवेत्याहुः। प्रातःकाले गाः नीत्वा व्रजाद्व्रजतः, सायंकाले च व्रजमाविशतः, **च**कारादन्यदापि यदृच्छया आगच्छतः अन्याश्च दर्शनावस्थाः सर्वा एव संगृहीताः। **गोभिः सममि**ति पाल्यमानानामानयनमावश्यकमिति निर्भयार्थं च। न हि वेदबोधिते पदार्थे कस्यचिदपि शङ्का भवति। किञ्च। **वेणुं क्वणयत्** इति। यथा चित्तमपहृतं भवति, तथा वेणुनादं करोति। तेन तद्भावाः सर्वे भगवद्विषयका आविर्भवन्ति अन्ये तु तिरोभवन्ति। अतस्तस्य वेणुनादं निशम्य **तूर्णं** गृहान्निर्गताः **पथि** मार्ग एव भगवन्तं पश्यन्ति। योगिनो हि समागते भगवति पश्यन्ति, एतास्तु अर्धसमागत एवेति विशेषः। अतो **भूरिपुण्याः अबला** इति। तासां दोषाभावो भूरिपुण्यत्वे हेतूक्तः। किञ्च। **सस्मितं मुखं पश्यन्ति**। अन्तरानन्दमाविर्भावयत्। तेन यथा भक्तिप्रतिबन्धकमुत्पन्नमपि ज्ञानं निवृत्तं भवति, तादृशं प्रेमानन्दं एव प्रयच्छतीति मोक्षादप्यधिकफलत्वमुक्तम्। किञ्च। **सदयावलोकमि**ति। दयापूर्वकमवलोकनं यस्मिन्। न च वक्तव्यं संसारो न निवर्तिष्यत इति, यतो भगवान् दयया पश्यति,कृतार्था एताः कर्तव्या इति दयया दोषनिवृत्तिः। अवलोकनेन सर्वस्वदानमिति द्वयमुक्तम्॥१६॥

व्याख्यार्थः– गूढ लीलाओं की तो इनको पहचान नहीं है, इसलिए सायं प्रातः जो भगवद्दर्शन होता है, उसका वर्णन करती हैं। प्रातः काल गायों को लेकर जाते हुए और सायं काल व्रज में आते और 'च' शब्द से यह बताया है कि इसके सिवाय यदि कभी भी इच्छानुसार कहीं जाते तो दर्शन करती रहतीं थीं। इस प्रकार कहने से अन्य सर्व दर्शन की अवस्थाएँ बताईं, गायों के साथ कहने का आशय है कि सायं काल उनको साथ लौटा कर लाना आवश्यक है तथा निर्भयता बताने के लिए कहा है। वेद ने जिस पदार्थ का बोध कराया है, उसमें किसी को भी शङ्का नहीं होती है और विशेष में कहती हैं कि भगवान् लौटते समय वेणु बजाते इसलिए पधारते हैं कि उनका चित्त मुझ में आकर्षित होवे। जिससे उनके अन्तःकरण के अन्य सर्व भाव तिरोहित हो जावें और मेरे सम्बन्धी सर्व भाव आविर्भूत हो जावें। अतः उनके वेणुनाद को सुनते ही घर से निकल खड़ी २ रास्ते में ही भगवान् के दर्शन करती हैं। योगी लोग तो भगवान् आवे तब दर्शन करते हैं, ये तो आधे में आए हुए का दर्शन कर लेती हैं। योगियों से भी इनमें यह विशेषता है, अतः ये अबलाएँ बहुत पुण्यात्माएँ हैं। पुण्यात्मा कहने का आशय यह है कि इनमें दोषों का अभाव है। स्वल्प हँसने से विकसित भगवान् का मुखारविन्द देखने से इनके अन्तः करण में आनन्द का आविर्भाव होता है, जिससे स्नेहात्मक भक्ति में प्रतिबन्धक ज्ञान उत्पन्न होकर भी निवृत्त हो जाता है।

इस प्रकार के प्रेमानन्द को भगवान् इनको देते हैं, जो मोक्ष से भी अधिक फल वाला है। यों भी न कहना चाहिए कि इनका संसार निवृत्त न होगा, क्योंकि भगवान् इनको दया पूर्वक दृष्टि से देखते हैं, जिससे दया के कारण दोष निवृत्ति हो जाती है तथा अवलोकन से भगवान् इनको सर्वस्व दान करते हैं॥१६॥

आभास—अतः स्त्रीणां तादृशभगवल्लीलायां महानेव प्रयास उक्तः, ततो भगवांस्तदसहमानः यत्कृतवांस्तदाह **'एवं संभाषमाणास्वि'**ति।

आभासार्थ—मथुरा नगर की स्त्रियों ने इस भगवल्लीला में भगवान् को बहुत परिश्रम हुआ

है, यों कहा, भगवान् उनके वचनों को सहन नहीं कर सके, अतः उसके बाद जो किया वह 'एवं संभाषमाणासु' श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**एवं संभाषमाणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः ।**
शत्रुं हन्तुं मनश्चक्रे भगवान्भरतर्षभ ॥१७॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं-हे भरतर्षभ ! स्त्रियों के ऐसे वचन सुनकर योगेश्वर भगवान् हरि ने शत्रु को मारने का विचार किया ॥१७॥

सुबोधिनी—स्त्रीष्वेवं सम्यग्भाषमाणासु, अन्येन ह्यासक्तोपि सर्वात्मत्वात् शृणोत्येव,योगेश्वरत्वादपि दूरश्रवणदर्शनादेस्तद्धर्मत्वात् दूरादेव श्रुत्वा **हरिस्तासां** दुःखहर्ता **शत्रुं** कंसमेव हन्तुं चाणूरं तासां विषादं वा **मनश्चक्रे** । स ह्यक्लिष्टकर्मा न मारयेत्, सन्ध्यापर्यन्तं युद्धं च कुर्यात्, ततः सम्यक् ताडिताः न प्रातरागच्छेयुः, तथापि मारणार्थमेव नूतनं मनः कृतवान् । ननु कथमेवं नूतनं पूर्वसिद्धादधिकं करोतीति चेत्, तत्राह **भगवानिति** । विश्वासार्थं **भरतर्षभेति** संबोधनम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् अन्य कार्य में आसक्त थे तो भी सर्व की आत्मा होने तथा योगेश्वर हैं, इससे भी दूर से श्रवण दर्शन आदि उनके धर्म हैं। जिससे उन स्त्रियों ने जो मनोहर अच्छी तरह कहा वह दूर से ही सुन कर हरि होने से उनके दुःख हर्ता हैं। अतः शत्रु कंस को ही मारने के लिए तथा चाणूर को नष्ट करने के लिए अथवा यों करने से उनके (स्त्रियों के) विषाद को नाश करने के लिए विचार किया। वह तो अक्लिष्ट कर्मा हैं, अतः मारने की क्रिया कैसे करेंगे ? सन्ध्या पर्यन्त युद्ध ही करते रहे। युद्ध से अच्छी तरह पीटे हुए वे फिर दूसरे दिन आने की हिम्मत न करें, यों है तो भी मारने के लिए भगवान् ने दूसरा मन बना लिया । यदि पूर्व सिद्ध मन जो कार्य नहीं करता है तो नवीन मन उससे अधिक कैसे करेगा ? इसके उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं कि 'भगवान्' ये भगवान् हैं, इनमें सर्व गुण हैं । अतः सब कुछ कर सकते हैं। इस पर विश्वास करने के लिए राजा को 'भरतर्षभ' कहा है ॥१७॥

आभास—ननु तथापि स्त्रीणां वाक्यात् सर्वात्मा कथं तान् मारयितुं प्रवृत्त इति चेत्, तत्राह **'उपश्रुत्ये'**ति ।

आभासार्थ—भगवान् सर्व समर्थ हैं, तो भी स्त्रियों के वाक्य सुनकर उनको मारने के लिए कैसे प्रवृत्त हुए ? भगवान् (सर्वात्मा) होने से उनकी भी आत्मा हैं, अतः उनको मारना नहीं चाहिए, इस शङ्का का समाधान 'उपश्रुत्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**उपश्रुत्य गिरस्तासां पुत्रस्नेहशुचातुरौ ।**
पितरावन्वतप्येतां पुत्रयोरबुधौ बलम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—उनकी वाणी सुनकर पुत्र के स्नेह के कारण शोक से आतुर माता तथा पिता संताप करने लगे; क्योंकि वे पुत्र के बल को नहीं जानते थे ॥१८॥

सुबोधिनी—**तासां** वाक्यात् देवकीवसुदेवयोर्महानेव क्लेशो जातः, यदि शीघ्रं भगवान्न मारयेत् तयोरपि क्लेशः अधिकः अनुवर्तेत। अतः पित्रोरप्यर्थे हन्तुं मनश्चक्र इति। स्त्रीणां गिर उपश्रुत्य। तावपि तत्र समानीताविति निकटे च गिरो जाता इति **अन्वतप्येताम्**। तासां वचने भगवतः असामर्थ्यमिव प्रतिभातम्। अतः पूर्वं सामर्थ्यं जानतोरपि वाक्यश्रवणमनु तापो जातः। ननु माहात्म्यज्ञानस्य जातत्वात् कथं ताप इति चेत् तत्राह **पुत्रयोरबुधौ बलमिति**। माहात्म्यं तु जानीतः, परं न बलम्, ततः क्लेशं प्राप्नोतीति तयोरनुतापः ॥१८॥

व्याख्यार्थ – उनके (स्त्रियों के) वाक्य से देवकी और वसुदेव को बहुत ही क्लेश हुआ, जो भगवान् शत्रु को शीघ्र न मारे, तो माता पिता को इससे विशेष क्लेश होता। माता पिता को विशेष दुःख न हो इसलिए भी मारने का विचार किया। माता पिता भी वहाँ आ गए थे, इससे उनके निकट ही स्त्रियाँ बोल रही थी। वह सुन कर वे माता पिता बहुत शोकातुर हुए। स्त्रियाँ इस प्रकार बोल रही थी कि भगवान् मानो निर्बल हैं। अतः भगवान् के सामर्थ्य को पहले जानते थे तो भी इनके वचन सुनने से क्लेश उत्पन्न हो गया। जब भगवान् के माहात्म्य को जानते थे, तब क्लेश क्यों करने लगे? इस पर कहते हैं कि 'पुत्रयोर बुधौ बलं' पुत्र के माहात्म्य को तो जानते थे, किन्तु बल को नहीं जानते थे, जिससे क्लेश को प्राप्त हुए और दुःखी होने लगे ॥१८॥

आभास—एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रस्तुतं वदन् यत्पूर्वं कृष्णचाणूरयोः प्रकारचतुष्टयं निरूपितम्, तद्राममुष्टिकयोरप्यतिदिशति **तैस्तैरिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रासङ्गिक विषय कह कर, प्रस्तुत विषय जो प्रथम कृष्ण और चाणूर का युद्ध चार प्रकार का कहा है वैसे अब राम और मुष्टिक का 'तैस्तैर्नियुद्ध' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तैस्तैर्नियुद्धविधिभिर्विविधैरच्युतेतरौ।**
युयुधाते यथान्योन्यं तथैव बलमुष्टिकौ ॥१९॥

श्लोकार्थ—उन अनेक प्रकार के मल्ल युद्ध के प्रकारों से, जैसे श्रीकृष्ण और चाणूर कुश्ती करते हैं, वैसे और अन्य भी अनेक प्रकारों से बल और मुष्टिक परस्पर द्वंद्व युद्ध करने लगे ॥१९॥

सुबोधिनी—नियुद्धविधिभिः बाहुयुद्धप्रकारैस्**तैस्तैः** प्रसिद्धैः पूर्वोक्तैर्वा ततोपि विविधैरनेकप्रकारैः **यथाच्युतेतरौ अन्योन्यं युयुधाते, तथैव बलमुष्टिकावपि** तेनैव प्रकारेण युयुधाते। **अन्योन्यमिति** द्वन्द्वयुद्धता अनुपदेशश्चोक्तः ॥१९॥

व्याख्यार्थ:—बाहु युद्ध के उन उन प्रसिद्ध प्रकारों से अथवा पहले कहे हुए प्रकारों से उससे भी अन्य अनेक भांति से जैसे कृष्ण चाणूर लड़ रहे हैं वैसे ही बल मुष्टिक भी उसी भांति ही लड़ते हैं, श्लोक में 'अन्योऽन्यं' पद से द्वन्द्व युद्ध करने का कहा है ॥१६॥

आभास—अग्रे चाणूरमारणं वक्तुं पूर्वकृतयुद्धस्य वैयर्थ्ये उत्तरत्रापि तथैव भविष्यतीति पूर्वकृतस्य फलमाह '**भगवद्गात्रे**'ति ।

आभासार्थ—पहले की हुई युद्ध की व्यर्थता होने से दूसरी भी वैसी ही अर्थात् व्यर्थ होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए पहले की हुई लड़ाई का फल चाणूर का वध है । जिसका वर्णन 'भगवद्गात्र' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**भगवद्गात्रनिष्पातैर्वज्रनिष्पेषनिष्ठुरैः ।**
चाणूरो भज्यमानाङ्गो मुहुर्ग्लानिमवाप ह ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् के वज्र समान अवयवों के साथ बार बार रगड़ होने से और कठोर प्रहारों से चाणूर के सब अङ्ग टूट गए, जिससे वह बारम्बार ग्लानि पाने लगा ॥२०॥

सुबोधिनी—भगवतो गात्राण्यवयवाः तेषां निपातैः (निष्पातैः) उपरिपातैः वज्रनिष्पेषात् वज्रेण पेषणादपि पुनः पुनर्घर्षणादपि **निष्ठुरैः** अतिदुःसहैः चाणूरो भज्यमानाङ्गः **मुहुर्वारंवारं** ग्लानिमवाप । हेत्याश्चर्यम् । स हि पूर्वमिन्द्रेण सह युद्धे वज्रे प्रक्षिप्ते वक्षःस्पर्शेनैव तं वज्रं दूरीकृतवान् । तादृशो हि चाणूरः कथं मूर्च्छामवापेति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—वज्र सम अवयवों के साथ बार बार रगड़ने से जो कठोरता होती है, जिससे भी कठोर भगवान् के अवयवों के प्रहारों से जिसके अंग टूट गए हैं; वैसा चाणूर बार बार ग्लानि को प्राप्त हुआ । श्लोक में आया हुआ (ह) आश्चर्य वाचक है । आश्चर्य वाचक (ह) का स्पष्टी करण करते हैं कि चाणूर का पहले जब इन्द्र से युद्ध हुआ था, जब इन्द्र ने जो वज्र फेंका था तो उस वज्र को छाती से स्पर्श होते ही चाणूर ने फेंक दिया था, वैसा चाणूर अब कैसे मूर्छित हो गया ? यह आश्चर्य है ॥२०॥

आभास—ततो मारणं वक्तुं भगवानक्लिष्टकर्मेति प्रथमं तस्यापराधमाह '**स श्येनवेग**' इति ।

आभासार्थ—अक्लिष्ट कर्मा भगवान् चाणूर को मारेंगे, क्योंकि प्रथम चाणूर का ही दोष है, जिसका वर्णन 'स श्येनवेग' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टिकृत्य करावुभौ ।**
भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यबाधत ॥२१॥

श्लोकार्थ—उसने (चाणूर ने) बाज के वेग के समान उछल कर, दोनों हाथों की मुट्ठी बाँध, क्रोध कर वासुदेव भगवान् के वक्षःस्थल में प्रहार किया ॥२१॥

सुबोधिनी—**श्येनवेग** इति श्येनादप्यधिको वेगो यस्य । श्येनो हि भ्रातृव्यं निपात्याधत्ते, श्येनात्सर्वे सपक्षा बिभ्यति, अतस्तत उत्पत्य उभावपि **करौ मुष्टिकृत्य** गदावदेकीकृत्य पृथग्वा मुष्टिद्वयं संयोज्य सर्वेश्वरमगणयन्तं **वासुदेव** मोक्षदातारम् । अन्यथा भुजाधिष्ठातेन्द्रो न प्रवर्तयेत् । मोक्षं दास्यतीति भगवदिच्छया अन्यथा कर्तुमशक्ताः कालादयस्तूष्णीं स्थिताः । नन्वन्तर्यामी कथमेवं प्रेरितवांस्तत्राह **क्रुद्ध** इति । क्रोधेन व्याप्तस्तथा कृतवान्, न बुद्धिपूर्वकं प्रेरितो वा । राज्याद्यर्थे लक्ष्मीनिवासभूतमिति संतुष्टात्कंसाल्लक्ष्मीं प्राप्स्यामीति वक्षःस्पर्शमात्रं कृतवान् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—वह बाज से भी अधिक वेगवाला है । बाज भ्रातृव्य (शत्रु) को गिराकर ले जाता है । बाज से सब पक्षी डरते हैं । अतः वहां से छलांग मार दोनों हाथों की मुट्ठी बांध कर गदा को भांति एक कर अथवा अलग अलग एक एक हाथ की मुट्ठी बाँध के, मोक्षदाता सर्वेश्वर भगवान् का भी आदर न कर बाज की भांति उनकी छाती पर झपटा यदि यों न होता तो भुजाओं का अधिष्ठाता इन्द्र कभी इस कार्य में प्रवृत्ति न करता । काल आदि देव भी चुप कर के स्थित हो गए, क्योंकि भगवान् मोक्ष दगे, इस भगवान् की इच्छा से अन्यथा करने में असक्त हो गए ।

भगवान् ने अन्तर्यामी होकर ऐसी प्रेरणा कैसे की ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'क्रुद्धः' चाणूर ने क्रोध होने से यों किया है,न कि बुद्धि से और न प्रेरणा से कार्य किया है,तो किसलिए किया है ? राजा आदि के लिए अर्थात् यों करने से कंस प्रसन्न होकर लक्ष्मी देगा; अतः लक्ष्मी के निवास स्थान भगवान् की छाती का ही स्पर्श किया ॥२१॥

आभास—सोपि स्पर्शस्तस्य द्व्यर्थो जात इत्याह '**नाचलदि**'ति ।

आभासार्थ—उसका वह स्पर्श दो अर्थ वाला हुआ, जिसका वर्णन 'नाचलत्' दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—**नाचलत्तत्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः ।**
बाह्वोर्निगृह्य चाणूरं बहुशोभ्रामयद्धरिः ॥२२॥

भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजीवितम् ।
विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिन्द्रध्वज इवापतत् ॥२३॥

श्लोकार्थ-जैसे माला के प्रहार से हाथी डिगता नहीं,वैसे ही भगवान् इसके प्रहार से नहीं डिगे, किन्तु भगवान् चाणूर की दोनों भुजाओं को साथ में पकड़ कर खूब घुमाने लगे,घुमाते हुए पृथ्वी पर पछाड़ दिया, तब उसी वक्त उसके प्राण निकल गए और

गहने केश तथा माला आदि बिखर गए, पड़ते समय ऐसा मालूम हुआ कि इन्द्रध्वज गिरा ।।२२–२३।।

सुबोधिनी—तस्य प्रहारेण ईषदपि चलनं स्पन्दनमपि न प्राप्तवान् । दूरे स्पन्दनं ज्ञातवानपि नेति वक्तुं दृष्टान्तमाह **मालाहत इवेति** । हस्ती हि अङ्कुशप्रहारमपि न मन्यते का वार्ता माला-प्रहारस्य, ततो भगवांस्तं मारितवानित्याह **बाह्वोर्निगृह्येति** । यौ बाहू मुष्टीकृत्य भगवति प्रक्षिप्तवान् तावेकहस्तेन गृहीत्वा यथा न मोचयति तथा **निगृह्य बहुशो** बहुवारम**भ्रामयत्** भ्रामितवान् । यथा क्षेपणीरज्जुः बहुधा भ्राम्यते ।।२२।।

ततः **भूपृष्ठे पोथयामास** पाषाणे वस्त्रमिव पातितवान् । तस्य पुनरुत्थानाभावायाह **तरसा क्षीणजीवितमिति** । शीघ्रमेव भ्रामणसमय एव क्षीणं जीवितं यस्य । भगवान् हि दूरादेव प्रक्षिप्तवान् नत्वेकं भागं धृत्वा भूमौ ताडितवान्, अतस्तस्य भगवद्धस्ताद्विमुक्तस्य भूमौ पतने प्रकारमाह **विस्रस्ताकल्पकेशस्रगिति** । **विस्रस्ताः** इतस्ततः प्रक्षिप्ता **आकल्पाः** आभरणानि **केशाः स्रजो** मालाश्च यस्य तादृशो भूत्वा, लक्ष्मीस्थानप्रहारेण लक्ष्मीस्तस्य विमुखेति तत्सम्बन्धिनः पदार्था विशेषेण स्रस्ताः । ततः **इन्द्रध्वज इव** । पूर्वमिन्द्रगर्व-नाशो भगवता कृत इति तद्वदस्यापि जातमिति ज्ञापयितुम् । पूर्वदेशे प्रसिद्धः **इन्द्रध्वज** उच्चैस्तम्भः परितो रज्जूनामाकर्षणेनोत्थापितः यथा रज्जूनां शैथिल्ये गलितवस्त्राद्याभरणः पतति,तथा कालादृष्टकर्मादीनां विशकलितत्वेन रक्षकाभावात् शरीरं स्तम्भयितुमशक्तः **भूमावपतत्** । मल्ला हि पतन्तोपि स्वशरीरं धारणावशाद्धारयन्ति, तदत्र नाभूदिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तकथनम् ।।२३।।

व्याख्यार्थ—उसके प्रहार से भगवान् थोड़े भी न हिले और न चलायमान हुए । केवल हिलना भी समझ में न आया । इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जो हस्ती अङ्कुश के प्रहार को भी नहीं गिनता है वहां माला के प्रहार की क्या बात है ? अर्थात् जिन भगवान् ने हाथियों के देवता इन्द्र का भी गर्व भंजन कर दिया, वह भी कुछ न कर सका तो चाणूर के ये हाथ क्या कर सकेंगे ? कुछ नहीं ? अनन्तर भगवान् ने चाणूर की वे दो भुजाएँ जिनकी मुट्ठी बांधकर भगवान् पर प्रहार किया था, उनको एक हस्त से इस प्रकार पकड़ लिया जैसे छुड़ा न सके । बाद में बहुत वार उसको ऐसे घुमाने लगे जैसे क्षेपणी रज्जु से बहुत बार घुमाई जाती है ।।२२।।

पश्चात् पत्थर की शिला पर जैसे वस्त्रों को पटकते हैं वैसे ही पृथ्वी पर पटका । पटका तो क्या हुआ फिर खड़ा हो जाएगा? इसके उत्तर में कहते हैं 'तरसा क्षीण जीवितम्'। घुमाते समय ही जिसका जीवन क्षीण हो गया था, जिससे उठने की शक्ति ही न रही थी, भगवान् ने उसको दूर से ही फेंक दिया था न कि एक भाग को पकड़ कर भूमि पर मारा था । अतः भगवान् के हाथ से छूटकर पृथ्वी पर गिरने का प्रकार कहते हैं कि 'विस्त्रस्ताकल्प केशस्त्रग्' जहाँ तहां जिसके आभूषण, केश और मालाएँ बिखर गई हैं, यों क्यों हुआ ? जिसका कारण कहते हैं कि इसने लक्ष्मी के निवास स्थान पर प्रहार किया । जिससे लक्ष्मी इससे अप्रसन्न हो गई है, अतः लक्ष्मी सम्बन्ध वाले सब पदार्थ जहां तहां फैल गए । चाणूर कैसे पड़ा ? उसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं । 'इन्द्रध्वज इव' पहले जैसे भगवान् ने इन्द्र के गर्व का नाश किया था,वैसे ही इसका भी मद तोड़ा है । यों बताने के लिए 'इन्द्रध्वज इव' कहा है । पूर्व देश में प्रसिद्ध उच्च स्तम्भ है जिसको रस्सों से खींचकर खड़ा किया गया है । वह

जैसे रस्सों के ढीले हो जाने पर वस्त्र आभरणादिकों के गल जाने से गिर पड़ता है, वैसे ही यह भी काल, कर्म और अदृष्ट के नष्ट होने से तथा रक्षक के अभाव से पृथ्वी पर गिर गया। मल्ल लोग गिरते हुए भी धारणा के वश शरीर को धारण कर लेते है। अर्थात् खड़े कर सकते हैं, किन्तु यहां वह भी न हो सका। इसलिए 'इन्द्रध्वज' का दृष्टान्त देकर समझाया है।।२३।।

आभासा—यथैतस्य भगवता मारणं कृतम् एवं मुष्टिकस्यापि बलभद्रेण कृतमिति वक्तुमाह **तथैवेति**।

आभासार्थ—जैसे भगवान् ने इसको मारा, वैसे ही बलरामजी ने मुष्टिक को मारा। जिसका वर्णन 'तथैव' श्लोक में करते है।

श्लोक—**तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्टयाभिहतेन वै।**
बलभद्रेण बलिना तलेनाभिहतो भृशम्।।२४।।

श्लोकार्थ—उसी प्रकार जिस मुष्टिक ने प्रथम बलदेवजी पर अपनी मुष्टिक का प्रहार किया था। जिससे बलशाली बलदेवजी ने भी उसको तल प्रहार से मार डाला।।२४।।

सुबोधिनी—बलभद्रस्याप्यक्लिष्टकर्मत्वं बोधयितुं पूर्वं मुष्टिकस्यातिक्रम उच्यते। तथेत्यनेन स्त्रीणां वचनानन्तरं तद्दुःखदूरीकरणाय शत्रुहननेच्छा तथैव गात्रस्पर्शैः शत्रोः सर्वाङ्गव्यथा। ततो मारणमिति सर्वमतिदिष्टम्। मारणे प्रकारं वक्तुं पुनर्निरूपणमाह **स्वमुष्टया अभिहतेन** बलेन **तलेन** चपेटेनाभिहतः **भृशम्**। **प्रवेपित** इति। मुखाद्रुधिरमुद्वमन् अत्यन्तमर्दितः **व्यसुः** सन् **पपात**। असावधानत्वाय दृष्टान्तः **वाताहत इवेति**। चपेटताडनेनैव क्रियाशक्तिस्तस्यापगता बलवता सजातीयेनोपहतेति। **स्वमुष्टये**ति। **मुष्टिकनाम्ना** तस्य मुष्टिरेव प्रसिद्धा, अत एव तेनाभितो हतः आभिमुख्येन वा। **प्रथमपक्षे** मुष्टिभिःसर्वाङ्गेषु हननं, द्वितीये तु मुखे वक्षसि वा सकृदेव हननमिति। ननु चपेटमात्रेण कथं हननमित्याशङ्क्याह **बलिनेति**। अनेन कर्णप्रान्ते मर्मस्थानमिति दैवगत्या हत इति पक्षो व्यावर्तितः। **अभितो हत** इत्यनेनापि यतो बलमस्य भद्रमेव उपकार्येवेति।।२४।।

व्याख्यार्थ—बलभद्र भी अक्लिष्ट कर्मा हैं; यह जताने के लिए कहते हैं कि यहां भी प्रथम मुष्टिक ने ही अतिक्रमण किया है। उसी प्रकार स्त्रियों के वाक्य सुनने के बाद उनके दुःखों को दूर करने के लिए बलभद्र ने भी शत्रु के मारने की इच्छा की। वैसे ही गात्र स्पर्श से शत्रु के सब अङ्गों में व्यथा पैदा कर दी, अनन्तर उसको मार डाला। यह सब समय तथा भाग्य की बात है। अब मारने के प्रकार का फिर वर्णन करते हैं। मुष्टिक ने जब प्रथम अपने घूँसे से बलरामजी पर प्रहार किया, तब बलरामजी ने जोर से थप्पड़ मारी। जिससे वह काँपने लग गया और मुख से रुधिर बहाता हुआ दुःख से प्राण हीन हो, जैसे वायु के झटके से पेड़ गिरता है वैसे ही गिर पड़ा। थप्पड़

लगनें से ही उसकी क्रिया शक्ति नष्ट हो गई, कारण कि सजातीय बलवान् मल्ल की वह थप्पड़ थी और उससे वह मारा गया।

मुष्टिक के नाम से उसकी मुष्टि[1] ही प्रसिद्ध थी। इस कारण से ही चारों तरफ अथवा सामने बल को मारा। जिसके दो पहलू हैं, एक घूँसों से सर्व अङ्गों पर प्रहार, दूसरा मुख पर वा छाती पर एक ही बार प्रहार। बल ने केवल थप्पड़ से कैसे मार डाला? जिसके उत्तर में 'बलिना' विशेषण दिया है। अर्थात् बलरामजी प्रसिद्ध बलशाली हैं। अतः एक ही थप्पड़ से मारडाला। इस विशेषण से थप्पड़ कर्ण के पास मर्म स्थान पर लगने से मरा अथवा प्रारब्ध वैसा ही थी इसलिए मरा। इन दोनों पक्षों का निराकरण किया है, वैसे ही 'अभिहतो' कहकर भी इन पक्षों का निराकरण किया है, कारण कि बलरामजी का नाम 'बलभद्र' इसलिए है कि इनका बल कल्याण करने वाला है। अर्थात् सब का हित ही करने वाला है, इससे थप्पड़ से मुष्टिक का हित ही किया है ॥२४॥

आभास—आहननमात्रेण कथं प्राणोद्गम इति आशङ्क्य प्रकारमाह **'प्रवेपित'** इति।

आभासार्थ—केवल थप्पड़ लगने से कैसे प्राण निकल गए, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'प्रवेपितः' श्लोक कहा है।

श्लोक—**प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन्मुखतोऽर्दितः।**
व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः ॥२५॥

श्लोकार्थ—उसके मुँह से रुधिर बहने लगा और वह काँपने लगा तथा दुःखी हुआ, प्राण निकल जाने से यों पृथ्वी पर गिर पड़ा, जैसे वायु के वेग से पेड़ गिरता है ॥२५॥

सुबोधिनी—प्रवेपित इति। प्रकर्षेणवेपित इति मूर्च्छया परितः कम्पितो जातः, ततोन्तः क्षोभात् आघातेन सर्वाङ्गे रुधिरमेकीभूतं मुखान्निर्गतम्, ततः पीडितो जातः यथा प्राणापगमो भवति, ततः स्तंभकस्याभावात् पतितः। बलक्रियापतनपर्यन्तमपि व्यापृतेति ज्ञापयितुं दृष्टान्त उक्तः, नावयववियोगेन कारणनाशात् पतितः किन्तु बलमूलकारणवायोरेव सामर्थ्यादिति ।२५।

व्याख्यार्थ—थप्पड़ लगने से ऐसा कम्पन हुआ जो मूर्छा आ गई। जिससे अन्तःकरण में क्षोभ हुआ। थप्पड़ की चोट से सकल अङ्ग में रुधिर एक स्थान पर इकठ्ठा होकर मुख से बाहर

१- मुक्की या घूँसा

निकलने लगा। जिससे ऐसी पीड़ा होने लगी जो प्राण निकल गए। रोकने वाला कोई न होने से गिर पड़ा। इसके गिरने तक बलरामजी की क्रिया इसके साथ लगी रही। जैसे वायु का वेग पेड़ के गिरने तक पेड़ को नहीं छोड़ता है, वैसे ही बल की क्रियाशक्ति ने इसको गिरने तक नहीं छोड़ा ॥२५॥

श्लोक—**ततः कूटमनुप्राप्तं रामः प्रहरतां वरः ।**
अवधील्लीलया राजन्सावज्ञं वाममुष्टिना ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ राम ने समीप आए हुए कूट नाम वाले मल्ल को अपमान के साथ बाएँ हाथ की मुक्की से मार डाला ॥२६॥

सुबोधिनी—तस्मिन् हते **कूटो** नाम बहुकपटाभिज्ञः युद्धे कूटवत् स्थितोपि बलभद्रं ताडितवान्। ततो बलेन लीलयैव हत इत्याह। **अत्र न बलव्यापारः किन्तु मल्लरसस्योद्गमनार्थं रमणात्मक** इति रसोद्गमार्थमेव, **प्रहरतां वर** इति **लीलये**ति च पुरुषकारोपि निरूपितः। **राजन्नि**ति विश्वासार्थं सम्बोधनमलौकिकत्वात्। क्रियाशक्तिप्रधानः **राम** इति बलनामवत् रामनाम्नोपि सामर्थ्यप्रतिपादकत्वं वक्तुमिदमुक्तम्। ॥२६॥

व्याख्यार्थ—मुष्टिक के मरजाने के अनन्तर बहुत कपट जानने वाला कूट नाम धारी मल्ल कूट[1] की तरह खड़ा हुआ भी बलभद्र पर प्रहार करने लगा। तब बलरामजी ने लीला से ही उसको भी मार डाला। इसे मारने में बलरामजी का कोई व्यापार[2] नहीं है, किन्तु मल्ल रस को उत्पन्न करने के लिए एक प्रकार का खेल ही है। 'प्रहरतां वरः' कह कर यह बताया है कि जो कुछ कार्य है, वह इसके लिए लीला है तथा पुरुषार्थ भी निरूपण किया है। हे राजन् ! यह सम्बोधन विश्वास के लिए दिया है, क्योंकि यह लीला अलौकिक है। विश्वास करने पर ही समझ में आती है। 'राम' यह नाम बल नाम की भांति क्रियाशक्ति की प्रधानता वाला है। यह 'राम' नाम सामर्थ्य को प्रतिपादन करने के लिए दिया है ॥२६॥

आभास—एवमुभयोर्वधो बलान्निरूपितः अवशिष्टयोर्वधं भगवतः सकाशादाह '**तर्ह्येवे**'ति।

आभासार्थ—इस प्रकार दो का वध बलराम ने किया। शेष जो बचे उनका वध भगवान् ने किया। जिसका वर्णन 'तर्ह्येव' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तर्ह्येव हि शलः कृष्णपादापहतशीर्षकः ।**
द्विधा विदीर्णस्तोशलक उभावति निपेततुः ॥२७॥

१- मुद्गर, पर्वत की चोटी, २- मेहनत, श्रम।

श्लोकार्थ—उसी क्षण शल नामक मल्ल श्रीकृष्ण के चरण प्रहार से भग्न शिर हो गया। जिससे तोशलक मल्ल के भी दो टुकड़े हो गए। इस भाँति ये दोनों ही गिर गए ।।२७।।

सुबोधिनी—न तु बलभद्रव्यापारानन्तरं शलतोशलौ हतौ किन्तु यदैव कूटो हतः तदैव **शलोपि** चतुर्थः **कृष्णपादापहतशीर्षको** जातः। स हि पादं धर्तुमागतः क्षिपता पादेन हतः। तस्मिन्नेव समये **तोशलकोपि** समागतः। स तु **द्विधा विदीर्णः** पदैव। उभयोरपि पदव्यापारः, साक्षाद्भगवता हताविति वक्तुं एवं वचनमुचितम्। अत्र प्रकारान्तरादपि सम्भवति कृष्णपादापहतं दूरं प्रक्षिप्तं शिरो यस्य तादृशः **शलो** जातः। तेन **द्विधा विदीर्णः**। तस्य शिरसा **तोशलको** हतः। द्विधा विदीर्णः प्रदरवत्, न तु भगवत्पदा हत इति। अर्थद्वयेपि उभावपि निपेततुः सकृदेव, एको विदीर्णः, एकस्तिर्यक् द्विधा जात इति विशेषः। ।।२७।।

व्याख्यार्थ—बलभद्र के कार्य करने के अनन्तर शल और तोशल न मरे किन्तु जब ही कूट मरा तब ही चौथे शलका भी कृष्ण के चरणारविन्द के प्रहार से मस्तक गिरा। वह आया तो था भगवान् के पैरों को पकड़ने के लिए, किन्तु पैर पकड़ते ही जो भगवान् ने पैर को उछाला तो उससे उसका शिर गिर गया। उसी समय तोशलक भी आ गया, वह तो भगवान् के पैर से दो टुकड़े में हो गया। दोनों के मरने में पाद का ही कार्य हुआ। ये वचन इसलिए कहे हैं कि इनकी मृत्यु साक्षात् भगवान् के द्वारा ही हुई है। इसका अर्थ दूसरे प्रकार से करते है कि भगवान् के चरणारविन्द के उछालने से शल का शिर दूर जाके गिरा। उसके शिर से तोशलक के प्रदर की भांति दो टुकड़े कर दिये, तोशलक भगवान् के चरण से नहीं मरा। दोनों प्रकार के अर्थ का तात्पर्य यह है कि दोनों एकबार ही गिरे, एक चिर गया और एक टेडे बाँके दो टुकड़े होके गिरा। उनके गिरने में यह विशेषता थी ।।२७।।

आभास—एवं भगवतोक्लिष्टकर्मत्वं निरूपितम्। **'चाणूर'** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का अक्लिष्ट कर्मपन बताया है—

श्लोक—चाणूरे मुष्टिके कूटे शले तोशलके हते।
शेषाः प्रदुद्रुवुर्मल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः ।।२८।।

श्लोकार्थ—चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशलक के मर जाने पर शेष रहे सब मल्ल प्राण बचाने की इच्छा से भाग गए।

सुबोधिनी—गणना हतानामभिज्ञानार्था। पञ्चानां मध्ये एकस्मिन्नपि प्राणे स्थिते यथा देहो नापगच्छति, तथा शिष्टा मल्ला नापगच्छन्तीति। ततः सर्वे स्वप्राणरक्षकाः धनप्राप्त्याशां दूरीकृत्य प्रकर्षेण दुद्रुवुः। अयुद्धे कंसाद्भयम्, युद्धे तु भगवत इति पलायनमेव शरणम्। अन्येषां वीरा-

णामपि पलायनं मा भवत्विति **मल्लग्रहणम्**। सावशेषे शिष्टानां युद्धं कर्तव्यमिति **सर्वग्रहणम्**। ननु सर्वैरेव स्वपौरुषं प्रदर्शनीयम्, कथमतिक्रम इति चेत्, तत्राह हतेषु **प्राणपरीप्सव** इति। यदि चाणूरादीन्न हन्यात्, तदा अन्येपि युद्धचेरन्। न हि वीरा इव मल्लाः प्राणनिरपेक्षं यतन्ते। परिपालयितुमीप्सवः **परीप्सवः** ॥२८॥

व्याख्यार्थ—कितने वा कौन २ मरे यह जताने के लिए श्लोक में नाम देकर गणना की गई है। जो पांच मरे हैं, उनमें से यदि एक में श्वास होता तो जैसे श्वास रहने पर देह नहीं जाती है वैसे बचे मल्ल भी नहीं भागते। एक भी नहीं बचा, इस कारण से सब अपने प्राणों के रक्षक थे। अतः धन प्राप्ति की आशा छोड़ जोर से भाग गए। उन्होंने समझा कि लड़ेंगे नहीं तो कंस क्रोध करेगा और लड़ाई करेंगे तो (भगवान् का भय) अर्थात् भगवान् मार डालेंगे। अतः भागजाना ही रक्षा का मार्ग है। श्लोक में 'मल्ल' शब्द इसलिए दिया है कि केवल मल्ल भाग गया अन्य दूसरे वीर नहीं भागे। यदि थोड़े मल्ल भागते, कुछ नहीं भी भागते तो बचे हुए मल्लों को भगवान् से युद्ध करना पड़ता; इसलिए कहा है कि सब मल्ल भाग गए। यदि यों कहो कि भागे क्यों? सब को अपनी २ शूरवीरता दिखानी चाहिए थी, इस कर्त्तव्य का उल्लङ्घन क्यों किया? इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि उन्होंने देखा कि ये मारे गए हैं और यदि हम ठहरेंगे तो हम भी मरेंगे, इसलिए प्राण बचाने की इच्छा से शेष रहे हुए सब भाग गये। जो चाणूर आदि न मरे होते तो अन्य भी लड़ते। वीर प्राणों की परवाह नहीं करते हैं, किन्तु मल्ल वैसे नहीं हैं, मल्ल तो प्राणों की रक्षा के इच्छुक होते हैं, प्रण बचाना चाहते हैं; अतः भाग गए ॥२ ॥

आभास—ततो भगवांस्तुल्यबलैः क्रीडिष्याम इति पूर्वमेव प्रतिज्ञानात् तेषु गतेष्वपि राजप्रीतेश्चिकीर्षितत्वात् गोपैः सह मल्लयुद्धं कृतवानित्याह **'गोपान्वयस्यानि'**ति।

आभासार्थ - पश्चात् भगवान् ने, समान बलवालों से खेलूंगा, पहले ही यों कहा था। अतः शेष मल्लों के भाग जाने पर गोपों के साथ कुश्ती करने लगे, क्योंकि भगवान् को राजा का प्रसन्न करने की इच्छा थी। जिसका वर्णन 'गोपान्वयस्यानाकृष्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**गोपान्वयस्यानाकृष्य तैः संसृज्य विजह्रतुः।**
वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ रुतनूपुरौ ॥२९॥

श्लोकार्थ—तब अपने मित्र गोपों को खींच उनसे मिलकर खेलने लगे, उस समय बाजे बाजते थे और आपके कूदने से नूपर झनझनाहट करते थे। २९॥

सुबोधिनी—वयस्याः समानवयसा प्रीत्या कालकृततुल्यबलाः तेपि किञ्चिद्भीता इत्यालक्ष्य **आकृष्य** स्वयं हस्ते धृत्वा समाकृष्य **विजह्रतुः**। ननु भगवान् न विहरणार्थं प्रवृत्तः, नापि कंसस्यैतदभिप्रेतमिति किमिति विजह्रतुः, प्रतिज्ञा तु पूर्वं तैः सह युद्धनिषेधार्था, न तु बालैः सह युद्धार्थापि, उभयत्र तात्पर्ये वाक्यभेदप्रसङ्गात् प्रकरणं नियामकमिति इतरनिषेधो वक्तव्य एवेति चेत्,

तत्राह **वाद्यमानेषु तूर्येष्विति**। तेषु हतेष्वपि मल्लानां रसजनकानि तूर्याणि वाद्यमानान्येव जातानीति निमित्तस्य विद्यमानत्वात् लोकप्रतीत्यर्थं लीलया कस्यापि संतोषो न जात इति लोकानां प्रीत्यर्थं तथा कृतवन्तौ। किञ्च। **वल्गन्तौ** शब्दं कुरुतः मल्लानां जयख्यापकम्। किञ्च। **रुतनूपुरौ** च जातौ। नूपुरयोरपि जयख्यापकत्वं लोकसिद्धम् ॥२९॥

व्याख्यार्थ—समान आयु से एवं प्रीति से मित्र काल ने जिनमें समान बल किया है, वैसे गोपों ने उनको अपने हाथ से खींचा, क्योंकि वे भी कुछ डरे हुए थे। खींच आने के बाद दोनों खेलने लगे। भगवान् खेलने के लिए यहां नहीं आए थे और कंस को भी यह अभिप्रेत[1] नहीं था, तो फिर क्यों खेलने लगे? पहले उनके[2] साथ न लड़ने के लिए प्रण किया था न कि बालकों के साथ युद्ध के लिए भी; वाक्य के भेद के प्रसङ्ग से दोनों तरफ तात्पर्य होता है। यदि कहो कि प्रकरण ही नियामक है, इससे दूसरे का निषेध कहना ही चाहिए, जिसका उत्तर देते हैं कि उन मल्लों के मरजाने पर भी, मल्लों को रस उत्पन्न करने वाले बाजे बाजते ही रहे। यह फिर कुश्ती करने का निमित्त कारण लोगों के प्रतीति के लिए मौजूद ही था। अब तक जो कुश्ती का खेल हुआ, उससे किसी को भी सन्तोष न हुआ। अतः लोगों को प्रसन्न करने के लिए मल्लों के जीत के शब्द करते हुए खेलने लगे। भगवान् के नूपरों की झनझनाहट भी जय को बताने वाली ध्वनि थी, यह लोक में प्रसिद्ध ही है ॥२९॥

आभास—एतद्यदर्थं कृतं तज्जातमित्याह।

आभासार्थ—यह कार्य जिसलिए किया वह हुआ, जिसका वर्णन 'जनाः प्रजहृषुः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—जनाः प्रजहृषुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः।
ऋते कंसं विप्रमुख्याः साधवः साधुसाध्विति ॥३०॥

श्लोकार्थ—राम कृष्ण का चरित्र देख कंस के सिवाय सब लोग प्रसन्न हुए। मुख्य विप्र तथा साधु लोग धन्य-धन्य शब्द कहने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी—जना प्रजहृषुरिति। जनाः प्रकर्षेण जहृषुः हर्षं प्राप्ताः। **सर्वे** इति। अष्टविधाः मल्लकंसव्यतिरिक्ताः। रूपेण तथा जाता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **कर्मणेति**। **रामकृष्णयोरु**भयोरपि मल्लवधलक्षणेनालौकिकेन कर्मणा। सांप्रतं बालैः सह मल्लयुद्धलक्षणेन वा। पूर्वकर्म तूद्वेजकमिति न रसोत्पादकम्। कंसस्यापि सुखमाशङ्क्याह **ऋते कंस**मिति तत्रापि ये **विप्रमुख्याः**, ये वा **साधवः** भगवत्पराः **साधुसाध्विति** वदन्तो जहृषुः। कायिकव्यापारो दर्शनमेव, हर्षो मानसः, वाचनिकी प्रशंसेति सर्वथा तेषां हर्षो निरूपितः। हीनानां प्रशंसाकरणमयुक्तमिति विप्रश्रेष्ठाः साधवश्च गणिताः ॥३०॥

१- पसंद २- चाणूर आदि के

व्याख्यार्थ—जनता अत्यन्त प्रसन्न हुई। वहाँ आठ प्रकार की जनता थी। कंस के सिवाय वह समग्र प्रसन्न हुई। भगवान् के रूप को देखकर जनता प्रसन्न हुई होगी, यों कोई समझे तो उस भ्रम को मिटाने के लिए कहते हैं कि रूप से नहीं, किन्तु उन दोनों के मल्ल वध रूप अलौकिक कर्म से जनता प्रसन्न हुई, वा बालकों से युद्ध क्रीड़ा करते समय मल्ल-युद्ध के दाव पेच देखकर प्रसन्न हुई। चाणूर आदि से लड़ना तो मन को दुःखी करनेवाला था, जो रस को पैदा करने वाला नहीं था। कंस तो प्रसन्न हुआ होगा, ऐसी शङ्का किसी को हुई हो तो उसको मिटाने के लिए श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि 'ऋते कंसः' कंस के सिवाय अन्य सर्व प्रसन्न हुए। उनमें भी मुख्य ब्राह्मण और साधु अर्थात् भगवत्परायण जो थे, वे धन्य हो, धन्य हो, यों कहते हुए अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगे। शरीर का व्यापार दर्शन ही है, मन का व्यापार हर्ष है, वाणी का व्यापार प्रशंसा है; यों कहकर यह बताया कि इनको सर्व प्रकार हर्ष प्राप्त हुआ। यदि कोई साधारण हीन प्रशंसा करें तो वह योग्य नहीं। अर्थात् उस प्रशंसा का कुछ आदर नहीं। अतः कहा है कि श्रेष्ठ ब्राह्मण और साधुओं ने प्रशंसा की है, जिससे उसकी योग्यता तथा महत्ता लोक में प्रसिद्ध हुई ॥३०॥

आभास—मध्ये कियत्कालं यावता गोपैः सह युद्धम्, तावच्चिन्ताकुलो विचारमूढः स्थितः, पश्चात्पुनर्दैत्यावेशेन बहिर्मुखो जात इति निवारणादिकं कृतवानित्याह **'हतेष्वि'**ति।

आभासार्थ—बीच में कितने ही समय तक जब कि गोपों से कुश्ती हो रही थी, तब तक कंस चिन्ताकुल तथा विचार मूढ हुआ बैठा था, पीछे फिर दैत्य के आवेश से बहिर्मुख हुआ, जिससे बाजे बजाना आदि सब बंद करा दिए, जिसका वर्णन 'हतेषु मल्लवर्येषु' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**हतेषु मल्लवर्येषु विद्रुतेषु च भोजराट्।**
निवारयत्स्वतूर्याणि वाक्यं चेदमुवाच ह ॥३१॥

श्लोकार्थ—कितने ही मल्ल मर गए और कितने ही भाग गए, तब कंस ने अपने बजते हुए बाजों को बन्द करा दिया और यह वाक्य कहने लगा ॥३१॥

सुबोधिनी—केचन हताः, केचन विद्रुताः, तथापि प्रसिद्धतयैव अपकारः कर्तव्य इति विचारितवान्। यतो **भोजराट्**। आदौ निमित्तं दूरीकृतवानित्याह **निवारयत्स्वतूर्याणीति**। न्यवारयदिति वा। इदमग्रे वक्ष्यमाणं वाक्यं चोवाच। चकाराद्युद्धार्थं सावधानोऽपि जातः। कपटलीला स्वेनैव निराकृता, ईश्वरत्वं चाविष्कृतवान्। तथा सति यदि तयोर्वरं दद्यात्, तूष्णीं वा अन्तर्गच्छेत्, तदा न काचिच्चिन्ता स्यात्। अक्लिष्टकर्मा हि भगवान्, वसुदेवं मोचयित्वा नयेत्, स्थापयेद्वा। 'भक्तद्रोहे वधः स्मृत' इति भगवत्प्रतिज्ञेति अक्लिष्टतासिद्ध्यर्थं वक्ष्यमाणमुक्तवान्। हेत्याश्चर्ये। एतावदपि दृष्ट्वा पुनर्निर्लज्ज आज्ञापयतीति। ॥३१॥

व्याख्यार्थ—कितने ही मरे और कितने ही भाग गए; यों देख कर भी कंस ने विचार किया कि अब तक तो कपट से अपकार कराया, किन्तु अब प्रसिद्ध रीति से इनका अपकार कराना चाहिए, क्योंकि यह भोजराज है। प्रसिद्ध अपकार में प्रथम जो बाजे बज रहे थे वे बंद करवाए तथा आगे के वचन कहने लगा। 'च' शब्द का आशय है कि युद्ध के लिए भी सावधान हो गया। कपट लीला आपने ही खतम कर दी और अपना ईश्वरत्व प्रकट कर दिखा दिया। वैसा होने पर यदि दोनों को प्यार करे, अथवा चुपचाप भीतर चला जावे, तब तो कोई चिन्ता नहीं थी। कारण कि भगवान् तो अक्लिष्टकर्मा हैं; वसुदेव को ले जावे अथवा वहां ही ठहरावे। भगवान् की प्रतिज्ञा है कि जो भक्त का द्रोह करे, उसका वध होना चाहिए। यह भगवान् की इच्छा बिना क्लिष्ट कर्म करने से ही सिद्ध हो जावे, अतः कंस स्वयं निम्न वचन कहने लगा। इसलिए 'ह' शब्द आश्चर्य अर्थ में दिया है। अर्थात् कंस स्वयं अपने वध के लिए ऐसे शब्द कहता है। जिससे उसका वध निश्चित होता है, अतः आश्चर्य है। इतना दोनों भ्राताओं का पराक्रम देखकर भी निर्लज्ज होकर फिर भी आज्ञा देता है ॥३१॥

आभास—तस्यायुक्तवचनान्याह 'निःसारयते'ति द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—उसने (कंस ने) जो अयोग्य वचन कहे, उनका 'निःसारयत' से दो श्लोकों में वर्णन करते हैं—

श्लोक—कंस उवाच—**निःसारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ पुरात्।**
धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नीत दुर्मतिम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—कंस ने कहा—वसुदेव के इन दुराचारी पुत्रों को नगर से बाहर निकाल दो, गोपों का धन लूट लो, दुर्बुद्धि नन्द को कैद करो ॥३२॥

सुबोधिनी—भगवति तत्संबन्धे च लोके दोषप्रतीतिव्यावृत्त्यर्थं कपटेन वदति, यतो **दुर्वृत्तौ** बालौ च। न हि मारणं उचितम्, युद्धदर्शनार्थमेव परमाकारितौ। वसुदेवस्यैवैतौ। अतो भागिनेयाविति निःसारणमेव कुर्वन्तु। गोपानां च धनं हरत। धनेन तैः पोषिताविति। नन्दः अस्मदीयोपि भिन्नपक्षो जात इति **बध्नीत**। ननु कोपराधो नन्दस्य, स हि स्वपुत्रत्वेन जानाति, नत्वन्यथेति चेत्, तत्राह **दुर्मतिमि**ति। दुर्बुद्धिरयम्। विलक्षणं पुत्रं दृष्ट्वा स्वस्माज्जातः कथमेवं भविष्यतीत्याशङ्कायां राज्ञे खलु निवेदनीयम्, विचारकाणां चतुराणामेषा रीतिरिति, तदकरणात् दुर्मतिः। अतस्तस्य बन्धनमेव दण्डः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् तथा उनके सम्बन्धी लोक में जो दोष की प्रतीति हो रही है, उसको निकालने के लिए छल से कंस कहने लगा कि इन दोनों वसुदेव के पुत्रों को निकालदो, क्योंकि ये दुराचारी हैं। इनको मारना उचित नहीं है, कारण कि मैंने युद्ध देखने के लिए बुलाए हैं और वसुदेव के पुत्र होने से मेरे भगिनि के पुत्र हैं। इसलिए इनको नगर से निकालना ही योग्य है। गोपों का धन छीन लो, उनके धन से ही ये दोनों पोषित हुए हैं। हालांकि नन्द अपना ही है; तो भी अन्य पक्ष में चले जाने के कारण इसको भी बाँध लो। यदि कहो कि नन्द ने कौनसा अपराध किया है ? वह

तो इनको अपना पुत्र जानता है, न कि पराया जानता है ; उसके उत्तर में कहता है कि यह 'दुर्मति' है । इसकी बुद्धि श्रेष्ठ नहीं है; बल्कि दुष्ट है; क्योंकि जब नन्द ने देखा कि यह विलक्षण पुत्र हैं, मेरे जैसे लक्षणों वाला नहीं है, तो यह मुझ से पैदा हुआ पुत्र वैसा कैसे होगा ? ऐसा विचार कर राजा को कहना था कि देखो यह विलक्षण बालक कैसे उत्पन्न हुआ है ? जो विचार करने वाले हैं और जो चतुर पुरुष हैं, उनकी यह रीति है । यों न करने के कारण समझा जाता है कि यह दुष्ट बुद्धि वाला है, अतः इसको कैद करना ही दण्ड है ।।३२।।

आभास—वसुदेवस्तु मुख्योऽपराधी, अतोऽस्माद्विशेषमाह '**वसुदेव**' इति ।

आभासार्थ—वसुदेव तो मुख्य अपराधी है, अतः इससे विशेष 'वसुदेव' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**वसुदेवस्तु दुर्मेधा हन्यतामाश्वसत्तमः ।**

उग्रसेनः पिता चापि सानुगः परपक्षगः ।।३३।।

श्लोकार्थ—अति नीच दुर्बुद्धि वसुदेव को शीघ्र मार डालो और अनुचरों सहित पिता उग्रसेन को भी मार डालो; क्योंकि यह भी शत्रु के पक्ष में हो गया है ।।३३।।

सुबोधिनी—तुशब्देन बन्धनपक्षं व्यावर्तयति **दुर्मेधा** इति । स्वयमष्टमो मया आनेय इति प्रतिज्ञायापि नानीतवान् कंस एव मारणीय इति च कपटं कृत्वान्यत्र स्थापितवान् । अतो हन्यतामाश्वित्यविचारेण । सतां बन्धूनां हननं निषिद्धमिति चेत् तत्राह **असत्तम** इति । सर्वोपास्यराजहननार्थं कृतप्रयत्न इति । नन्वेवं सति यादवाः सर्वे त्वां मारयेयुरिति चेत्, तत्राह **उग्रसेन** इति । यद्यपि **पिता** तथाप्युग्रसेनो हन्तव्यः, **सानुगो** देवकसहितः, स एव **परपक्षग** इति । अन्ये अराजकभयात्साधारणत्वाद्वा नापकरिष्यन्तीति भावः ।।३३।।

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द कह कर बन्धन का तरीका बतलाता हैं । यह वसुदेव दुष्ट बुद्धिवाला है; क्योंकि आठवाँ बालक मैं स्वयं ले आऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा कर के भी उसको नहीं लाया, उस (बालक) से कंस को ही मरवाना योग्य है; इस विचार से कपटकर बालक को दूसरे स्थान पर स्थापित कर दिया । अतः शीघ्र ही बिना कुछ विचार करने के, इसको मार डालो । सत्पुरुष बान्धवों को मारने की शास्त्र में आज्ञा नहीं है, बल्कि निषेध है । अतः इसको नहीं मारना चाहिए । यदि कोई यों कह दे उसका उत्तर स्वयं देता हैं कि 'असत्तम' बहुत ही नीच हैं । जिसमें हेतु यह है कि जिस 'राजा' को समग्र प्रजा पूज्य मानती है, उस राजा को मरवाने के लिए उसने यह प्रयत्न किया है । यदि तुम यों करोगे तो सर्व यादव मिल कर तुझे मारेंगे । इस पर कहता है कि उग्रसेन, जो कि पिता है, तो भी उसको देवक सहित मार डालो, वह भी शत्रु पक्ष में है । यों करने से दूसरे अराजक होने से डर जाएँगे तथा दूसरे साधारण हैं, कोई अपकार न कर सकेंगे, कहने का यह तात्पर्य है ।।३३।।

आभास—स्वाग्रे स्वाधिकबलानां हननं दृष्ट्वापि दुर्बुद्धिः अनुनयं परित्यज्य विपरीतं वदति, अतो मारणीय इति तस्य दोषं त्याजयितुं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह । **एवं विकत्थमान** इति ।

आभासार्थ—अपनी आँखों के सामने अपने से भी अधिक बलवालों का मरना देखकर भी दुष्ट बुद्धिवाला कंस विनय त्याग कर विपरीत कहने लगा, अतः यह मारने योग्य है । यों समझ भगवान् इसके दोष छुड़ाने के लिए इसके मारने में प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'एवं विकत्थमान' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**एवं विकत्थमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः ।**
लघिम्नोत्पत्य तरसा मञ्चमुत्तुङ्गमारुहत् ॥३४॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कंस के प्रलाप (अण्ड-बण्ड बकने) करने पर भगवान् कोप कर, फुर्ती से कूद, जल्दी ऊँचे मञ्च पर चढ़ गए ॥३४॥

सुबोधिनी—रजकतुल्योयं **कंसः** । कं प्रति सः, न कमपीति । एवं वदतीति अधिक्षेपविषयत्वात्, **अव्ययः** स्वतो भयाभावात्, **प्रकुपितः** भक्तानामपकारश्रवणात्, **लघिम्ना** मल्लविद्यायामिवोत्पतनप्रकारेण **उत्तुङ्गं** स्थूलं मञ्चमारुहत् । यत्र कंसस्तिष्ठति । अयं हि ततोधः पातनीयः, उच्चस्थानोपवेशनाद्यतो वल्गति ॥३४॥

व्याख्यार्थ—यह कंस रजक के समान है । अतः अपशब्द किसके प्रति बोलता है और किसके प्रति नहीं बोलता है ? इस प्रकार रजक के समान तिरस्कार के वचन कहते हुए कंस को देख, निर्भीक तथा भक्तों के अपकार श्रवण से कुपित अविकारी भगवान्, जैसे मल्ल विद्या में कूदना कहा है, वैसे कूद कर भारी मञ्च पर चढ़ गए, जहाँ कंस स्थित था, वहाँ कूद कर भगवान् इसलिए गए कि यह उच्च स्थान पर बैठा है, इसलिए यह बक-बक कर रहा है, अतः इसको नीचे पटकना चाहिए ।

आभास—ततो यज्जातं तदाह '**तमापतन्तमि**'ति ।

आभासार्थ—उसके अनन्तर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन 'तमापतन्तमालोक्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तमापतन्तमालोक्य मृत्युमात्मन आसनात् ।**
मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी ॥३५॥

श्लोकार्थ—उसने अपनी मृत्यु को पास आते देख झट आसन से उठ वीर कंस ने ढाल और तलवार हाथ में ले ली ॥३५॥

सुबोधिनी—उपर्यागत्य पतन्तम्, तदानीमपि यदि प्रपन्नो भवेत् तदापि न मारयेदिति सूचयितुं तत्रापि तस्यातिक्रम उच्यते । **स** हि पूर्वमेव तमात्मनो मृत्युत्वेन श्रुतवान्, तथापि **मनस्वी** शूरः । शूराणामन्तकाले शौर्यमाविर्भवतीति, तदा **आसनात्सहसोत्थाय** आसने उपवेशनमयुक्तमित्याशङ्क्य स्वधर्मविध्यर्थं युद्धे च मरणं क्षत्रियस्योक्तमिति । स्वधर्ममिव खड्गचर्मणी जगृहे निकटे तयोरेवोपयोगात् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—कंस ने देखा कि कृष्ण मुझे मारने के लिए यहां मेरे निकट आगया है, तो भी भगवान् की शरण नहीं ली । यदि तब शरण में चलाजाता तो न मारते,इससे यह सूचित होता है कि वहां उस समय भी कंस अतिक्रमण करने लगा । कंस ने पहले ही सुन लिया था कि यह मेरा काल है,तो भी डरकर शान्त हो,विनय नहीं की,क्योंकि शूर है,शूरवीरों के अन्दर अन्तकाल में भी शूरवीरता उत्पन्न होती है । तब आसन से उठा, क्योंकि समझा कि अब आसन पर बैठे रहना अयोग्य है । युद्ध में मरना क्षत्रिय के लिए धर्म की आज्ञा है ! अतः स्वधर्म के अनुसार तलवार और ढाल को ले लिया, क्योंकि समीप के युद्ध में तलवार और ढाल ही उपयोगी होते हैं ॥३५॥

आभास—ततो युद्धार्थे यतमानं तं विलोक्य अन्तरिक्षे च युद्धमयुक्तमिति भूमावुत्पन्नत्वात् भूमौ पातयितुं गृहीतवानित्याह **'तं खड्गपाणिमि'**ति ।

आभासार्थ—पश्चात् लड़ाई का यत्न करते हुए उसको देख, ऊपर लड़ाई करना योग्य नहीं है, पृथ्वी पर ही योग्य है, अतः पृथ्वी पर गिराने के लिए उसको पकड़ा जिसका वर्णन 'तं खड्गपाणि' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे ।**
समग्रहीद्दुर्विषहोग्रतेजा यथोरगं तार्क्ष्यसुतः प्रसह्य ॥३६॥

श्लोकार्थ—खड्ग हाथ में लेकर जैसे आकाश में बाज इधर-उधर घूमता है, वैसे घूमते हुए कंस को असह्य और उग्रतेजवाले भगवान् ने वैसे बलात्कार से पकड़ लिया, जैसे गरुड़ सर्प को पकड़ता है ॥३६॥

सुबोधिनी—तस्य महत्वाय युद्धकौशलमाह । **आशु विचरन्तं श्येनमिव**, अलौकिकी शिक्षा तदीयोक्ता, स ह्युपरि पतन्नेव दृष्टः अम्बरे च, **अम्बर** एव तं गृहीतवान् । ननु प्रहारात्कथं न भयं तत्राह **दुर्विषहः** दुःखेनापि विशिष्टं सहो यस्य, असह्यं **वा** उग्रं तेजो यस्य, अग्रं वा सर्वापेक्षया तेजो यस्य, प्रभावसामर्थ्ययोर्विद्यमानत्वात् न भयम्, अत एव तेजःसामर्थ्यात् न शस्त्रप्रक्षेपः ग्रहणसिद्धिश्च । कालात्मा भगवान् तं मारणार्थमेव गृहीतवानिति दृष्टान्तमाह **यथोरगं तार्क्ष्यसुत** इति । **प्रसह्य** बलात्, अनेन तस्य शरीरव्यापारः प्रतिकूलः सूचितः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—उसकी महत्ता दिखलाने के लिए उसके युद्ध की कुशलता का वर्णन करते हैं–बाज के समान शीघ्र फिरने वाले यह उसकी अलौकिक शिक्षा कही, उसको ऊपर वा आकाश में कूदते देखा, भगवान् ने आकाश में ही उसको पकड़ लिया। कंस के हाथ में तलवार है; वह प्रहार करेगा, इससे क्यों नहीं डरे ? इसके उत्तर में 'दुर्विषहोग्रतेजा' दो विशेषण भगवान् के दिए हैं, भगवान् कंसे भी प्रहार को सहन कर सकते हैं, तथा आपका सब से बढ कर उग्र तेज है जिसको देख सामने वाले स्वतः डर जाते हैं। प्रभाव तथा सामर्थ्य दोनों के विद्यमान से आप निडर है। अतः तेज के सामर्थ्य के कारण कंस शस्त्र चला नहीं सका तथा भगवान् ने पकड़ लिया जिसमें कोई बाधा न हुई। इस वक्त भगवान् कालात्मा होकर उसको मारने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। अतः उसको बल से वैसे पकड़ लिया जैसे गरुड़ सर्प को पकड़ता है। इससे उसके शरीर के व्यापार की प्रतिकूलता की सूचना दी है ॥३६॥

आभास—तथापि गृहीत इति तस्याग्रेपि विनयार्थं सामर्थ्यं प्रदर्शितवान्, तथाप्यविनीतं पातितवानित्याह '**प्रगृह्य**'ति ।

आभासार्थ—यद्यपि उसको पकड़ कर उसके आगे अपनी सामर्थ्य इसलिए दिखाई कि अब भी यह विनय करे तो ठीक है, किन्तु तो भी यह अनम्र ही रहा। अतः उसको मञ्च से गिरादिया जिसका वर्णन 'प्रगृह्य' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात् ।
तस्योपरिष्टात्स्वयमब्जनाभः पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः ॥३७॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने मञ्च पर चढ़ते ही इस प्रकार कंस के केशों को पकड़ लिया जिससे कि उसका मुकुट गिर गया। अनन्तर उसको ऊँचे मञ्च से अखाड़े में पटका तथा आप, जो सर्व जगत् के आश्रय, स्वतन्त्र और कमलनाभ हैं, वे उसके ऊपर आ पड़े ॥३७॥

सुबोधिनी—स हि भगवता स्पृष्टोऽपि न किन्तु **केशेषु** गृहीतः। वैयग्र्यसूचनायाह **चलत्किरीटं** यथा भवतीति। ततः सर्वथा सज्जीकृतं रङ्गस्थानमिति स्वपदेन पवित्रमिति भगवदीयरूपसिद्ध्यर्थं **तुङ्गमञ्चात् रङ्गोपरि** निपात्य स्वयमपि तदुपरि पतितः। यथा अनवहितौ ततः पतितौ भवतः तथा लोकप्रतीतिर्जनिता। तत्क्रियायां स्वयमपि व्यापृत इति न क्लिष्टकर्मत्वम्। नन्वेवं कथं पातलक्षणमपूर्वं साधनं कृतवान्। न हि शत्रुमारणे स्वयमात्मा साधनत्वेन नियुज्यते तत्राह **अब्जनाभ** इति। स हि कमलनाभो मूलकारणं स्वात्मानमेव सर्वत्र नियुङ्क्ते तथात्रापि। अनेनालौकिकपक्षकरणदोषोपि निवारितः। सर्वेषां च पितृत्वेनोद्धारोपि कर्तव्य इति तथा कृतवानित्यर्थः। **विश्वाश्रय** इति। तस्य भारेणैव मारणं कृतमिति केचित्। वस्तुतस्तु तस्यापि भगवानाश्रय इति सोप्युद्धर्तव्य इति तस्मै स्वात्मानं दत्तवान्। **आत्मतन्त्र** इति स्वस्य शङ्काभावाय। स हि स्वतन्त्रः। उभयत्रापि हेतुरपीडायामनधिकारिणे स्वात्मानं प्रयच्छतीत्यत्रापि ॥३७॥

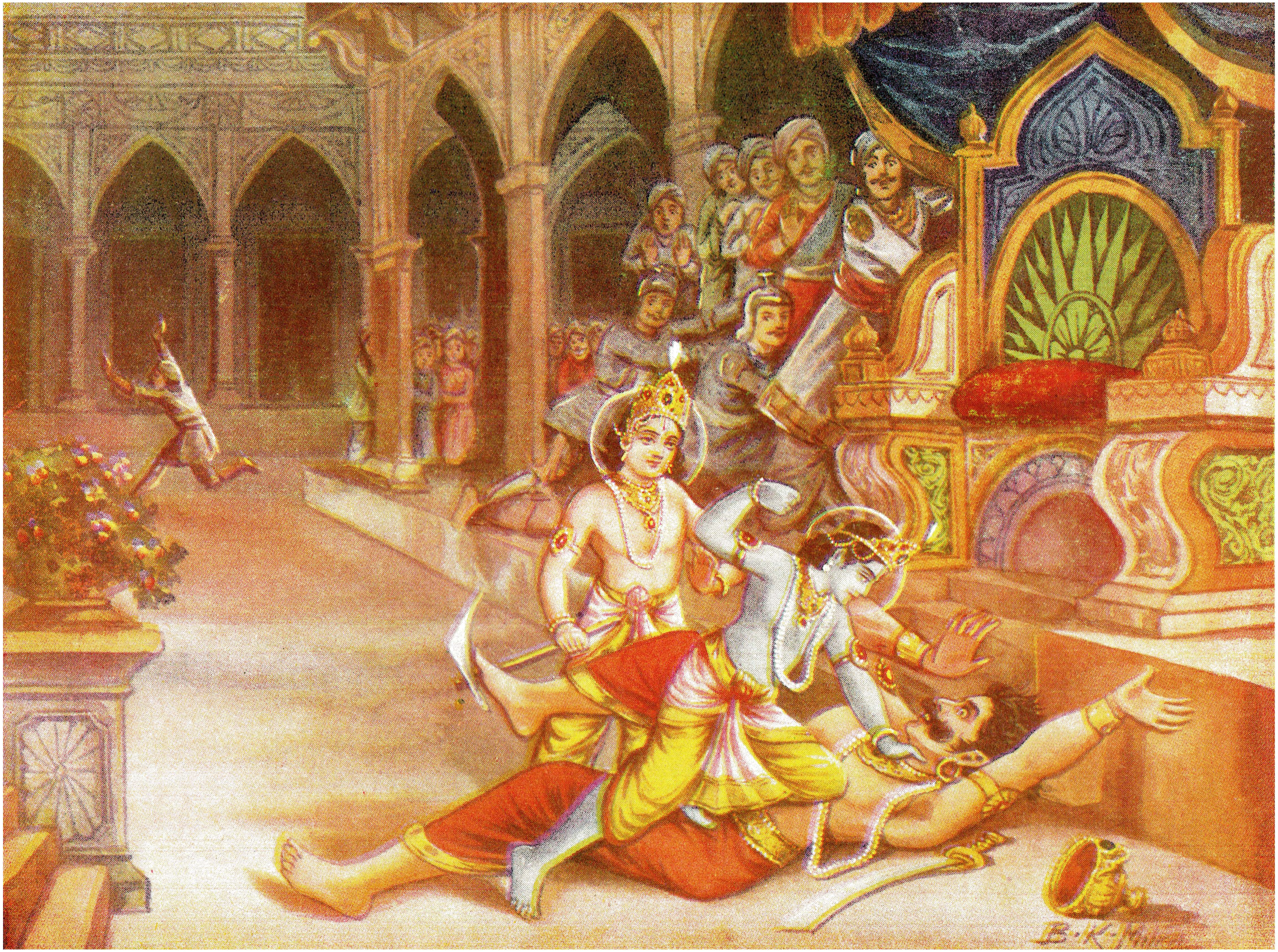

कंस-उद्धार

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

व्याख्यार्थ—भगवान् ने उसको स्पर्श भी न कर चोटी से पकड़ लिया तो उसका मुकुट गिर गया। जिससे वह व्याकुल हुआ तथा घबराया। पश्चात् सर्व प्रकार सजा हुआ तथा अपने चरणों से पवित्र किया हुआ जो रङ्गमण्डप है, उसमें ऊँचे मञ्च से इसलिए गिराया कि उसका भगवदीय रूप हो जावे, अतः आप भी उसके ऊपर पड़ गए। लोक को वैसी प्रतीति हुई, जैसे कोई अन जाने में गिरते हैं, वैसे ये दोनों गिरे हैं। उस क्रिया में आप व्यापारवाले होते हुए भी क्लिष्ट कर्मा नहीं हैं। शङ्का करते हैं कि गिराकर मारना यह नवीन लक्षणवाला ढंग है, जिसमें आप ही शत्रु को मारने में साधन बन गए हैं। यों तो कभी भी नहीं हुआ है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अब्जनाभः' आप कमल नाम विष्णु हैं, अतः सर्व कार्य का मूल कारण जैसे आप हैं वैसे यहां भी आप कारण बन गए हैं। यह नाम देने से अलौकिक प्रकार से मारा, यह दोष भी मिटा दिया है। आप सबके पिता हैं जिससे सब का उद्धार भी आपको ही करना है; इसलिए इस प्रकर किया है। 'विश्वाश्रय' पद का भाव कितने ही यों कहते हैं कि आपके बोझ से मरा है, किन्तु आचार्य श्री इस पद का भावार्थ बतलाते हैं कि जैसे आप सर्व जगत् का आश्रय हैं, वैसे ही इसका भी आश्रय हैं। इसलिए उसका भी उद्धार भगवान् को ही करना चाहिए, जिससे उसकी अपनी आत्मा हो; अतः आप उसके ऊपर पड़े हैं। आपको कोई भी कार्य करने में शङ्का नहीं होती है, कारण कि आप 'आत्मतन्त्रः' स्वतन्त्र हैं, अतः आप ही पीड़ा न होने में तथा अनधिकारी को अपनी आत्मा देने में कारण हैं ॥३७॥

आभास—ततस्तस्मै स्वात्मदानेन कृतार्थं त लोकप्रतीत्यर्थं कपटं कृत्वा तिष्ठतीति भ्रान्तानां प्रतीतिसिद्धयर्थं च सम्परेतमपि तं विचकर्षेत्याह **'तं सम्परेतमि'**ति।

आभासार्थ—भगवान् ने कंस को अपनी आत्मा का दान देकर कृतार्थ किया, किन्तु लोक प्रतीति के लिए कपट कर खड़े हैं; वैसे भ्रान्ति की प्रतीति की सिद्धि के लिए मरे हुए को भी आप अपने हाथ से घसीटने लगे, जिसका वर्णन 'तं संपरेतं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तं संपरेतं विचकर्ष भूमौ हरिर्यथेभं जगतो विपश्यतः।**
हाहेति शब्दः सुमहांस्तदाभूदुदीरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र ॥३८॥

श्लोकार्थ—मरे हुए कंस को भगवान् ने जगत् के देखते हुए पृथ्वी पर वैसे घसीटा, जैसे सिंह मरे हुए हस्ती को घसीटता है। हे नरेन्द्र! उस समय सब जनों के मुख से भारी हाहाकार शब्द निकला ॥३८॥

सुबोधिनी—सम्यक् परः इतः प्राप्तो येन भगवद्धस्ते वा सम्यक् मृत इति। नास्य प्राणा ह्युत्क्रान्ताः किन्तु मूर्च्छया अन्तर्दृष्टौ अन्तर्बहिर्यद्रूपं भगवदीयं सर्वदा दृश्यते तस्मिन् स्वयं प्रविशन् प्राणानपि प्रवेशितवानिति सारूप्यपक्षे भवति। सायुज्ये तु अस्मिन्नेव शरीरे आत्मनि वा प्राणानां लयः इहैव समवनीयन्त इति 'मृत्युर्यस्योपसेचनमि'ति च श्रुतौ। ततस्तादृशस्य

भगवदीयशरीरोत्पत्त्यर्थं **विचकर्ष** यत्र यत्राङ्घ्रिरेणवः तत्र सम्बद्धं कृतवान् । अत एव **भूमावि**त्युक्तम् । लोकप्रतीतौ तस्य निकृष्टत्वख्यापनाय विकर्षणम्, विशीर्णावयवं च निकर्षणेन कृतवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **हरिरिभमिति** । अल्पमूर्तिः सिंहः स्थूलमपि गजं हत्वा दैवादेवायं मृत इति शङ्का भविष्यतीति विशीर्णावयवं यथा भवति तथा कर्षणं करोति, तथा दैवगत्या कदाचिन्मृतो भवेदिति शङ्कापरिहारार्थम् । वस्तुतस्तु **हरिः** सर्वदुःखहर्ता यथा गजेन्द्रमुपरि नीतवान्, तथात्र कंसं भूमौ विशेषेण चकर्षेति विशेषः । अधिकः प्रयत्नो न कृत इति माहात्म्यार्थमक्लिष्टकर्मत्वख्यापनार्थं च प्रमाणमाह **जगतो विपश्यत** इति । पितरौ क्लेशिताविति तयोः संतोषार्थं विकर्षणमिति केचित् । तत्र दृष्टान्तादिकं न संगच्छते । स यमुनां प्रापित इति पुराणान्तरम् । तत्र विश्रान्त इति । किञ्च । सर्वेषामेव स मारित इति प्रतीतिर्जातेत्याह **हाहेति शब्दः सुमहानभूदिति** । अयुक्ते तथा शब्दः । पित्रोर्हितार्थे तथाकरणे सर्वजनानां हाहेतिशब्दो नोपपद्येत । राजत्वाद्वा अकस्मात्तथा वचनम् । **नरेन्द्रे**ति सम्बोधनं लोकपीडकेषु रक्षकाणां तथा भवतीति ज्ञापनार्थम् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—अच्छे प्रकार यहां से गया, अथवा भगवान् के हाथ से अच्छे प्रकार मरा । मुक्ति के दो तरीके हैं, एक सारूप्य, दूसरा सायुज्य । भगवान् के हाथ से मरने के कारण इसको सारूप्य मुक्ति मिली, अतः इसके प्राण निकल नहीं गए किन्तु मूर्च्छा से अन्तर्दृष्टि होने पर अन्दर और बाहर भगवदीय के जैसा रूप सदा देखने में आता है। वैसे रूप में स्वयं प्रवेश करते हुए प्राणों को भी उसमें प्रवेश कराया, यह सारूप्य मुक्ति का पक्ष है । सायुज्य पक्ष में इसी शरीर में वा आत्मा में प्राणों का लय यहां हो जाता है जैसा कि 'मृत्युर्यस्योपसेचनं' श्रुति में कहा है। पश्चात् वैसे कंस का भगवदीय शरीर हो जाय तदर्थ उसको खींचा । खींचते २ जहाँ जहाँ भगवान् की चरण रज थी, वहां वहाँ लेकर उससे सम्बन्ध कराया । इसीलिए भूमि पर गिरा कर घसीटा है। घसीटने का वास्तविक आशय तो भगवान् का यही था, किन्तु लोक की प्रतीति में यों आया कि यह निकृष्ट है। इसलिए इसको घसीटते हैं। घसीटने से शरीर के अवयव वैसे विशीर्ण हो गए, जैसे सिंह हस्ती को जब घसीट कर ले जाता है, तब उसके शरीर के अवयव जैसे हो जाते हैं। सिंह छोटा है और हस्ती स्थूल देहवाला है, तो भी उसको मार कर जब घसीटता है, तब उसके शरीर के अवयव फट जाते हैं। जिससे निश्चय होता है कि यह दैव से अकस्मात् नहीं मरा है, किन्तु इस छोटे सिंह ने ही इस स्थूल हस्ती को मारा है। वैसे यहाँ भी कंस को श्रीकृष्ण ने ही मारा है । यों घसीटने से लोगों को निश्चय हो गया कि भगवान् ने मारा, किन्तु आप 'हरि' हैं। अर्थात् सर्व दुःखहर्ता हैं। गजेन्द्र को ऊपर ले गए, किन्तु इसको पृथ्वी पर घसीटा, यह विशेषता है। भगवान् ने अधिक परिश्रम नहीं किया. जगत् के देखते हुए यह लीला की है। जिससे आपका माहात्म्य और अक्लिष्टकर्मा स्वतः सिद्ध है। कितने ही कहते हैं कि भगवान् का कंस को घसीटने का आशय दुःखी माता-पिता के संतोषार्थ था। इस आशय से दृष्टान्तादि का मेल नहीं होता है। अन्य पुराणों में यह कथा है कि भगवान् घसीट कर यमुना पर ले गए, वहाँ शान्ति ली और विशेष भगवान् ने इसको मार डाला, सबको ऐसी प्रतीति हुई । जिससे बड़ा भारी हाहाकार का शब्द हुआ । वैसा शब्द तब होता है जब कोई अयोग्य कार्य होता है। माता-पिता के हित के लिए यों करने पर सर्व मनुष्यों का हाहाकार शब्द करना योग्य नहीं लगता है। अथवा कंस राजा था, इसलिए अचानक वैसे शब्द निकले हैं। राजा को 'नरेन्द्र' कहने का तात्पर्य यह है कि जो रक्षा करने वाले हैं, वे लोक को पीड़ित करने वालों से वैसा ही व्यवहार करते हैं।

इसकी सूचना कर दी है कि आप राजाओं में श्रेष्ठ हैं, इससिए इस बात को आप समझते ही हैं ॥३८॥

आभास—एवं सर्वजनीने तस्य मारणे प्रवृत्ते प्रमेयबलमाश्रित्य तस्य परलोके किं जातमित्याकाङ्क्षायां सारूप्यं वा सायुज्यं वा जातमित्याह '**स नित्यदोद्विग्नधिये**'ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्व जन का हित हो, इसलिए उसको मारने में प्रमेय बल का आश्रय लेकर प्रवृत्त हुए हैं तो उसकी परलोक में क्या गति हुई ? सायुज्य या सारूप्य मुक्ति हुई ? उसका 'स नित्यदो' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**स नित्यदोद्विग्नधिया तमीश्वरं पिबन्वदन्वा विचरन्स्वपन्श्वसन् ।**
ददर्श चक्रायुधमग्रतो यत्तदेव रूपं दुरवापमाप ॥३९॥

श्लोकार्थ—वह कंस उद्विग्न बुद्धि से चक्रधारी उस ईश्वर को पीते, बोलते, घूमते, सोते; श्वास लेते सदा आँखों के सामने देखता था; अतएव दुर्लभ उसी रूप को प्राप्त हुआ ॥३९॥

सुबोधिनी—सर्वदैव भयेनोद्विग्नबुध्या तमेव भगवन्तं भयप्रत्यासत्त्या प्रदर्शितेश्वरस्वरूपं **चक्रायुधं** शङ्खचक्रगदापद्मधरं सर्वावस्थासु पश्यन् तदेव **रूपमवाप** । सदा तद्भावभावितः । अन्ते तु तं दृष्टवानेव । पाने हि दुःखनिवृत्त्या सुखेन च विषयप्राबल्यात् सर्वविस्मरणं सिद्धम् । तथा भोजने । विशेषेण चरणे आखेटकादावपि । **स्वपन्** निद्रायाम् । **श्वसन्** मूर्च्छायामपि । यत्र पञ्चस्ववस्थासु दर्शनं तत्रोपवेशनादौ न सन्देह एव । किञ्च, न केवलं स्मरणमात्रं किन्त्व**ग्रतश्चक्रायुधं ददर्श** । सर्वदैव भयजनको भगवानिति तस्य न भयं निवृत्तम्, अतोऽन्तेऽपि सुतरां भगवान्मारयितुं प्रवृत्त इति भयजननात् **तदेवरूपं** प्रकटीभूतं अन्तरेवेति विमर्शः, बहिः पक्षे उत्क्रान्तिरप्यपेक्षते । यद्यपि कालरूपसायुज्यं युक्तं योधानामिव तथापि भावनाया बलिष्ठत्वात् सर्वदा साक्षात्कृत**मेव रूपमवाप** । तद्वस्तुतः सर्वेषामेव दुरापम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—हमेशा ही भय के कारण उद्विग्न बुद्धि से उसी भगवान् को भय से हुई आसक्ति से शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किए हुए ईश्वर स्वरूप को सर्व प्रकार की अवस्थाओं में देखता हुआ उसी रूप को प्राप्त हुआ । कारण कि सदैव उनके भाव से भावित था । यों भावना करते हुए अन्त में तो उनके दर्शन कर ही लिए । पान करने से दुःख की निवृत्ति हुई, जिससे सुख की प्राप्ति हुई । सुख सब विषयों से प्रबल है, अतः उसको सब अन्य विषयों की विस्मृति हो गई । भोजन में, शिकार आदि में फिरते हुए, निद्रा में, श्वास लेते, मूर्छा में भी इस प्रकार की पाँच अवस्थाओं में भी जब भगवान् के दर्शन उसको हो रहे थे, तब बैठते और उठते समय दर्शन होने में क्या सन्देह है ? कोई सदेह नहीं है । इस प्रकार केवल स्वरूप का स्मरण ही नहीं हुआ, किञ्च आँखों के सामने चक्रधारी का साक्षात् दर्शन करता था । कंस को तो भगवान् सर्वदा भय उत्पन्न करने वाले हैं । अतः उसका भय

निवृत्त न हुआ। जिससे अन्त में भी यह विचार हो रहा था कि भगवान् मुझे मारने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। इससे भय उत्पन्न हुआ कि भगवान् आ गए, अतः वही रूप प्रकट हो गया। अन्तःकरण में ही यह विचार हो रहा था, दूसरे बाहर के पक्ष में उत्क्रान्ति की भी अपेक्षा होती है। यद्यपि शूरवीरों के समान काल रूप से सायुज्य होना योग्य था, तो भी भावना की बलिष्ठता थी, जिससे जिस स्वरूप का भावना से साक्षात्कार करता था, उस स्वरूप को प्राप्त हुआ। वास्तव में सबको वह स्वरूप प्राप्त होना कठिन है ।।३९।।

आभास—एवं तस्य भगवदिच्छया तथात्वमापन्नस्य स्वतो दोषाभावात् गुणस्य च विद्यमानत्वात् सायुज्यमुक्त्वा व्यवहारे शिष्टं कृत्यं वदन् तद्भ्रातॄणां वधमाह '**तस्यानुजा**' इति।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवदिच्छा से वैसे स्वरूप को प्राप्त हुआ था। उसमें स्वतः कोई दोष नहीं था; गुण ही विद्यमान थे। अतः उसकी सायुज्य मुक्ति का वर्णन कर, अब व्यवहारानुसार, जो योग्य कृत्य करना है, उसका वर्णन करते हुए उसके भ्राताओं का वध 'तस्यानुजा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**तस्यानुजा भ्रातरोऽष्टौ कङ्कन्यग्रोधकादयः ।**
अभ्यधावन्नतिक्रुद्धा भ्रातुर्निर्वेशकारिणः ।।४०।।

श्लोकार्थ—उसके आठ छोटे भाई, कङ्क और न्यग्रोधक आदि अति क्रोध करते हुए भाई का वैर लेने के वास्ते दौड़ कर आए ।।४०।।

सुबोधिनी—तस्य कंसस्य **भ्रातरः अष्टौ** भ्रातरः **कङ्को न्यग्रोध** इति। सपक्षतामहत्वनिरूपणार्थं नामद्वयं निरूप्य तदादिभूता निरूपिताः। कंसे निहते भ्रातरि जीवति, भ्राता परैर्न हन्तव्य इति हते, पुनः 'जिघांसन्तं जिघांसीयादि'ति न्यायात्, भ्रातुर्निवेशनं निष्कृतिं कुर्वन्तीति **अतिक्रुद्धाः** सन्तः **अभ्यधावन्**। कपटेनाकस्मान्मारितवानित्यतिक्रोधः। एकः कथञ्चिन्मारितः वयमष्टावेकश्च मारक इति क्रुद्धबुद्धयः आभिमुख्येनैव धावनं कृतवन्तः। **निर्वेशो** ऋणशोधनम्। हन्यात् हतो वा भवेत् अन्यथा न निर्वेशः स्यादिति ।।४०।।

व्याख्यार्थ—उस कंस के कङ्क, न्यग्रोध आदि आठ भाई कहे हैं, किन्तु आदि शब्द देकर यह बताया है कि इनके सिवाय अन्य भी इसके पक्ष वाले बहुत हैं। भ्राताओं के जीतेहुए कंस मारा गया, यह अयोग्य हुआ। इतने भाइयों के होते हुए शत्रुओं से भ्राता मारे जाने योग्य नहीं। यदि मारा गया है, तो 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' इस न्यायानुसार भ्राता का ऋण चुकाते हैं। अर्थात् बदला लेते हैं। अतः बहुत क्रोध में हो दौड़ते आए, बहुत क्रोध इसीलिए किया कि कृष्ण ने हमारे भाई को कपट से अचानक मारा है। मारने वाला एक है, हम आठ हैं। इसलिए क्रोध में आकर सामने ही दौड़ने लगे, जो मारे उसको मारना ही चाहिए, यदि वैसा नहीं किया जाता है, तो वह ऋण उतरता नहीं है ।।४०।।

आभास—अत्रापि भ्रातैव अष्टानामनुकल्प एक एव तान् मारितवानित्याह **'तथातिरभस नि'ति** ।

आभासार्थ—यहाँ भी उन आए हुए कंस के आठ भाईयों को मारने में भगवान् का एक ही भ्राता समर्थ है । अत: उस एक ने आठों को मारा, जिसका वर्णन 'तथातिरभसान्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तथातिरभसांस्तांस्तु संयत्तान्रोहिणीसुतः ।**
अहन्परिघमुद्यम्य पशूनिव मृगाधिपः ॥४१॥

श्लोकार्थ—जैसे सिंह पशुओं को मारता है, वैसे ही बलरामजी ने शस्त्रादि से सज कर अति वेग से आए हुए उन आठ भ्राताओं को मुद्गर से मार डाला ॥४१॥

सुबोधिनी यथा कंस: अतिवेगवान् एवं ते सर्व एव अतिशीघ्रमागतास्**तान्** प्रसिद्धान् । **तु** इति भगवन्मारणपक्षं व्यावर्त्तयति । नाप्युपेक्ष्या: यत: **संयता:** शस्त्रपाणय: । ननु भगवानेव मारयेत् किमिति बलेन हतास्ते तत्राह **रोहिणीसुत** इति । देवकीभ्रातरस्ते । अतो मातुला भगवता न हन्तव्या इति । कंसस्तु अन्येन वध नार्हतीति कथंचिद्धत: अवमृश्यकारित्वात् । अत एव सशस्त्रान् स्वयमपि **परिघ**प्रायं दन्तमेव गृहीत्वा अन्यद्वा तत्र विद्यमानमायुधं अर्गलामेव वा तेन **अहन्** मारितवान् । **पशूनि**वेत्यत्रापि सम्बध्यते । यथा लकुटेन पशवो हन्यन्ते तथा सर्वे मारिता: । तेषां छेदनं न भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **मृगाधिप इवे**ति । सिंहो हि क्षुधित: भक्षणार्थमेव मारयतीति तथा सर्वे विशीर्णावयवा: कृता इत्यर्थ: । अनायासेन मारणे सन्देहाभावे वा दृष्टान्त: ॥४१॥

व्याख्यार्थ—जैसे कंस बहुत वेगवाला था, वैसे ये सब भी बहुत शीघ्र वेग से आए, उन प्रसिद्धों को बलरामजी ने मुद्गर से मार डाले । बलरामजी ने मारे, इसलिए श्लोक में 'तु' शब्द दिया है । जिसका भावार्थ है कि भगवान् ने नहीं मारे । भगवान् ने क्यों नहीं मारे ? इसका कारण यह है कि भगवान् देवकीजी के पुत्र हैं और ये देवकी के भाई हैं, जिससे भगवान् के मामे हैं । इसलिए भगवान् ने नहीं मारे । यदि भगवान् को मारना नहीं था, तो उपेक्षा कर छोड़ देना था । तो कहते हैं कि छोड़ने के योग्य भी नहीं थे । कारण कि वे शस्त्र लेकर मारने आए थे, उनकी उपेक्षा करनी योग्य नहीं है । अत: बलरामजी रोहिणी के पुत्र हैं, उन्होंने मारे । जब उनको बलरामजी ने मारे, तो कंस भी भगवान् का मामा था, उसको क्यों मारा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि कंस दूसरे से मर नहीं सकता । इस विचार से और अपकारी होने से जैसे-तैसे लाचार हो मार डाला । वे भाई सशस्त्र थे, इसलिए बलरामजी ने भी मुद्गर जैसा दाँत ही लेकर अथवा वहाँ अन्य जो कुछ भी विद्यमान आयुध को लेकर या किवाड़ को ही लेकर उससे उन्हें मार डाले । जैसे लकड़ी से पशु मारे जाते हैं, वैसे ही वे भी पशुओं की भाँति मार डाले गए, उनको काट डाला गया तो नहीं कहा जायगा, क्यों ? इस शङ्का पर दृष्टान्त देते हैं कि 'मृगाधिप: इव' सिंह की तरह मारे । भूखा सिंह खाने के लिए ही

पशु को मारता है। जिससे उस पशु के अवयव फाड़ डालता है, वैसे ही उनके अवयवों की भी परिध की चोट से वैसी ही दशा हो गई थी। अथवा सिंह का दृष्टान्त इसलिए दिया है कि सिंह को पशु मारने में कोई परिश्रम नहीं होता है और सिंह ने पशु को मारा, इसमें कोई संदेह भी नहीं होता है, वैसा यहाँ भी समझना चाहिए ॥४१॥

आभास—एवं सभ्रातरि हते देवानामपि परमानन्दो जात इति देवविपक्षवधेन भगवतो धर्मस्थापनमेव जातमिति मातुलदोषपरिहारार्थं देवकृतं पुष्पवृष्ट्यादिकमाह **'नेदुर्दुन्दुभय'** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार भ्राताओं सहित कंस के मरने से देव भी बहुत प्रसन्न हुए। देवों के शत्रुओं के नाश से भगवान् ने धर्म को स्थिर ही किया। मामे के वध के दोष को मिटाने के लिए देवों ने पुष्प वृष्टि आदि की, जिसका वर्णन 'नेदुर्दुन्दुभयः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः।**
पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः ॥४२॥

श्लोकार्थ—उस समय आकाश में दुन्दुभि, बाजे बजने लगे और ब्रह्मा, महादेव आदि भगवान् की विभूतिएँ प्रेम से पुष्प-वर्षा करती हुईं स्तुति करने लगीं तथा अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥४२॥

सुबोधिनी—ब्रह्मा ईश्वरश्च आदौ येषाम्, विष्णुर्भगवानेवेति द्वावेवावशिष्टाविति द्वयोर्गणना, प्रमेयप्रमाणभूतौ वा। **तं** भगवन्तं **प्रीताः** सन्तः **पुष्पैः किरन्तः शशंसुः**। दुन्दुभीनां नादं स्वतन्त्रं तत्प्रेरणया जातमिति कायिकं भिन्नकर्तृकमपि **ब्रह्मा**दीनां मानसं भवति। पुष्पवृष्टिः कायिकी। शंसनं वाचनिकम्। तेषां तु **स्त्रियः** पुरुषधर्मैस्तुल्या अपि एकशेषेणोक्ताः भगवति स्नेहविशेषात् **ननृतुः**। ननु ब्रह्मणः सर्वतुल्यत्वान्महादेवस्य च कंसो भक्त इति कथं सर्वेषामनुमोदनमिति चेत् तत्राह **विभूतय** इति। भगवतो विभूतिप्रायाः विभूतिमान् भगवान् अतः स्वामिकृतं तेषामभिनन्द्यमेव ॥४२॥

व्याख्यार्थ—विष्णु तो भगवान् ही हैं, इसलिए शेष (बाकी) ब्रह्मा और महादेव दो रहे। उनकी विभूतियों में गणना की है। अथवा प्रमेय और प्रमाण रूप दोनों हैं। इसलिए ये दो कहे हैं। अर्थात् ये दोनों अन्य देवों के समान केवल विभूति रूप नहीं हैं। सर्व देवगण प्रसन्न हो प्रेम से पुष्प-वर्षा करते हुए स्तुति करने लगे। नगाड़े बिना किसी के बजाए उनकी प्रेरणा से स्वतन्त्र ही बजने लगे, जिससे ब्रह्मादि देवों ने कायिक प्रसन्नता प्रकट की। दुन्दुभि का बजना यह पृथक् कर्त्तापन है, तो भी इससे ब्रह्मादि देवों के मन की प्रसन्नता प्रकट होती है। कारण कि उनकी प्रेरणा से वे बजने लगे

थे और पुष्प-वृष्टि कायिकी-सेवा तथा स्तुति, वाणी की सेवा है । देवों की स्त्रियाँ पुरुषों के धर्म के तुल्य होती हुई भी पृथक्, अकेली ही भगवान् के अधिक स्नेह के कारण नाचने लगीं ।

ब्रह्मा सब को उत्पन्न करता हैं, इसलिए उसको सर्व समान हैं और कंस महादेवजी का भक्त है तो इन्होंने भी अन्यों के साथ कैसे प्रसन्नता प्रकट की है ? यदि यों कोई शङ्का करे तो उसके उत्तर में कहा है कि 'विभूतयः' अर्थात् अन्य सब भगवान् की वे विभूतियें हैं, अतः स्वामी जो कार्य करे, उसका अभिनन्दन विभूतियों को करना ही चाहिए ।।४२।।

आभास—भगवान् स्त्रीणां सुखार्थे अवतीर्ण इति कथं तेषां स्त्रीणां सुतरां मातुलानीनां वैधव्यं संपादितवानित्याशङ्क्य तासामतिदुःखं न जातं भर्तृदोषस्मरणात्, अन्यथा निर्वाहाभावात्, भगवत्यादरातिशयाच्चेति वक्तुम् तेषां स्त्रीणामुपाख्यानमाह **'तेषां स्त्रिय'** इति ।

आभासार्थ—जब भगवान् ने स्त्रियों के सुखार्थ अवतार लिया है तथा बहुत निकट सम्बन्धवाली स्त्रियाँ जो कि मामियें हैं उनको विधवापन कैसे दिया ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उनको साधारण ही दुःख हुआ था, जिसके दो कारण हैं । एक तो वे अपने पतियों के दोषों को जानती थीं । उन दोषों के स्मरण से उनको दुःख कम ही हुआ । दूसरा भगवान् में उनका विशेष आदर था । इन दोनों कारणो से उनको विशेष दुःख नहीं हुआ, यह बताने के लिए उनके चरित्रों का 'तेषां स्त्रियः' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः ।**
तत्राभीयुर्विनिघ्नन्त्यः शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः ।।४३।।

श्लोकार्थ—हे महाराज ! उनकी स्त्रियाँ पति के मरण से दुःखित हो, सिर कूटती, आँखों से आँसू बहाती वहाँ आईं ।।४३।।

सुबोधिनी—मल्लादीनां कंसादिनवानां च । **महाराजे**ति संबोधनमाश्चर्यमेतदिति ज्ञापनार्थम् प्रोत्साहनार्थं वा । लौकिकमिति कदाचिन्न श्रृणुयात् । **सुहृदां** भर्तृणां **मारणेन** अतिदुःखिताः । अन्यायित्वेन पतितत्वात् भर्तृत्वमनुक्त्वा मित्रत्वमेवाह—**'पत्नी हि सर्वस्य मित्रमि'**ति श्रुतेः । मरणेनैव दुःखिताः । यदि भगवांस्तान् बन्दीकुर्यात् तदा दुःखमपि **न** भवेत् । अतः **शीर्षाणि विनिघ्नन्त्यः तत्राभीयुः** । अस्त्राणि **विलोचनयो**र्यासाम् । अश्रूण्यन्तःकरणधर्माः, हननमिन्द्रियाणाम्, अभिगमनं कायिकम्, शोककार्यं त्रयमपि, कुलस्त्रीणां सभास्वागमनं नान्यदा ।।४३।।

व्याख्यार्थ—मल्ल आदिकों की तथा कंस आदि नवों भाइयों की स्त्रियां वहां आईं । हे महाराज ! यह संबोधन आश्चर्य प्रकट करने के लिए अथवा उत्साह बढ़ाने के लिए दिया है, क्योंकि यह विषय लौकिक है । उसको यदि राजा सुनना न चाहे, तो यह सम्बोधन देकर सुनने के

लिए उत्साहित किया है । अपने पतियों के मरने से वे सब स्त्रियाँ अति दुःखित देखने में आईं । पति शब्द न कह कर 'सुहृद' शब्द कहने का भाव बताते हैं कि वे अन्यायी थे, इस कारण पतित थे । अतः पति न कहकर सुहृद शब्द दिया है । श्रुति में कहा है कि 'पत्नी हि सर्वस्य मित्रं' सर्व मनुष्यों का मित्र अपनी पत्नी ही है, इसलिए यहां पति को भी सुहृद कहा है । मरने से दुःखी हुईं थीं यदि भगवान् इनको न मारकर बन्दी बना देते तो वैसा दुःख न करतीं । मरने के कारण जिनकी आँखों से आंसू गिर रहे हैं, वैसी वे शिर को कूटती हुईं वहां आगईं । शोक के तीन कार्य हैं । अर्थात् शोक होने पर ये तीन कार्य स्वतः हो जाते हैं । एक आंसू आने का, जो अन्तःकरण का धर्म है । शिर पीटना, इन्द्रियों का धर्म है । वहां (मृतक के स्थान पर वा सभ्यों की सभा में) जाना, देह का धर्म है । कुल की स्त्रियों का ऐसे समय ही सभाओं में आना होता है । दूसरे समय बाहर नहीं निकलतीं हैं ।।४३।।

आभास—आगत्य यादृक् दृष्टवत्यस्तदाह **शयानानि**'ति ।

आभासार्थ—आकर जैसा देखा, उसका वर्णन 'शयानान्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**शयानान्वीरशय्यायां पतीनालिङ्ग्य शोचतीः ।**
विलेपुः सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो मुहुः शुचः ।।४४।।

श्लोकार्थ—वीर शैया पर सोए हुए पतियों का आलिङ्गन कर,शोक करती हुईं, बार-बार आँसू बहाती हुईं स्त्रियाँ सुस्वर से विलाप करने लगीं ।।४४।।

सुबोधिनी—**वीरशय्यायामि**ति रणाङ्गणे, शय्यायामेव शयने स्त्रीणामधिकार इति । **पतीनालिङ्ग्ये**ति स्नेहोद्गम उक्तः । ततः **शोचन्त्यो** जाताः, **विलेपुः सुस्वरं** यतो **नार्यः** । अन्तःकरणपूर्वकत्वायाह **मुहुः शुचो विसृजन्त्य** इति । लौकिक्येषा भाषा, यथा देवक्यादयः पुत्राद्यपाये रोदनं कृतवत्यः तथा तासामपि जातमिति भगवान् भक्तकृपया तथा कृतवानिति वक्तुमेव निरूप्यते ।।४४।।

व्याख्यार्थ—यहां वीर शैया कहने का भावार्थ यह है कि रणाङ्गण में, शैया पर शयन स्त्रियां कर सकती हैं, यह उनका अधिकार है । पतियों को सोए हुऐ देख स्त्रियों में स्नेह प्रकट हुआ; अतः पतियों का आलिङ्गन करने लगीं । पश्चात् शोक करने लगीं और सुस्वर से विलाप करने लगीं, क्योंकि वे उनकी पत्नियाँ थीं । उनका दिखावटी विलाप नहीं था, किन्तु हृदय के आन्तरिक दर्द से विलाप करतीं थीं । जिसका चिन्ह है बार बार आंखों से आंसू टपकते थे । यह लौकिकी[1] भाषा है, जिस प्रकार देवकी आदि ने पुत्रादिकों के नाश से रुदन किया

१- भागवत में तीन भाषाएँ ह—लौकिकी, परमत और समाधि ।

था वैसे ही इनका भी रोदन है। भगवान् भक्तों पर कृपा करने के लिए यों करते हैं। यह बताने के लिए इस प्रकार निरूपण किया है ॥४४॥

आभास—चतुर्भिर्विलापमाह '**हा नाथे**'ति ।

आभासार्थ—स्त्रियों के विलाप का ४ श्लोकों में 'हा नाथ' से प्रारम्भ से होकर वर्णन हुआ है-

श्लोक—स्त्रिय ऊचुः-हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथवत्सल ।
त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः ॥४५॥

श्लोकार्थ—हा नाथ ! हा प्रिय ! हा धर्मज्ञ ! हा दयालु ! हा अनाथ वत्सल ! आपके मरने से घर और प्रजा के साथ हम भी मरी हैं ॥४५॥

सुबोधिनी–आदौ तान् शोचन्ति ततः पुरीं ततस्तेषां दुर्दशां तत ईश्वरापराधेन परलोकेपि न सुखमिति। प्रथममात्मानं शोचन्ति हेति। महादुःखे संबोधनानि स्वस्य धर्मादिभक्त्यन्तपञ्चपुरुषार्थसाधकत्वेन । **नाथ**त्वात् धर्मस्तस्य सेवया सिध्यति। **प्रिय**त्वादर्थं साधयति। **धर्मज्ञ**त्वात् कामम्। स्त्रीणां व्रतमनुस्मरन्निति। **करुणे**ति तत्कृपया मोक्षोपि भवतीति। **अनाथवत्सले**ति दीना **वयं** त्वच्छरणं गता इति भक्तिरपि सिध्यति। इदानीं तु **त्वया हतेन ते वयं** त्वदीयाः **सगृहप्रजाः निहताः**, त्वया निहतेन। कयाचित्क्रियया व्याप्तो भवतु यथाकथचिन्मरणहेतुः मारक एव भवति, शरीरेण गृहेण पुत्रैर्वा धर्मः सेत्स्यतीति पक्षो निराकृतः। यतो वयं सर्वे हता एव ॥४५॥

व्याख्यार्थ–प्रथम उनका शोक करती हैं। पश्चात् पुरीका, अनन्तर उनकी दुदशा का, बाद में ईश्वर के अपराध से परलोक में भी सुख न मिलेगा, यों कहकर प्रथम अपना शोक प्रकट करती हैं। 'हा' शब्द से महादुःख प्रकट करने में जो नाथ आदि पांच विशेषण कहे हैं वे पांच पुरुषार्थ के साधक हैं। जैसा कि 'नाथ' शब्द देकर यह बताया है कि आप 'नाथ' हैं, आपकी सेवा से हमारा 'धर्म' सिद्ध होता था। 'प्रिय' से बताया है कि आप प्रीतम हैं, इससे हमारा आप से अर्थ' सिद्ध होता था। धर्मज्ञ' से बताया है कि आप धर्म को जानने वाले हैं, अतः हमारा 'काम' आप से सिद्ध होता था। 'करुण' से यह बताया है कि आप कृपालु हैं, जिससे हमारा मोक्ष भी सिद्ध होता था। 'अनाथ वत्सल' पद से यह बताया है कि हम दीन अनाथ आपके शरणागत हैं, यों भक्ति भी सिद्ध होती थी, ये पांच पुरुषार्थ आपके होते हुए ही हमारे सिद्ध हो जाते थे। अब आपके मर जाने से वे हम सब आपके घर सहित प्रजा समाप्त हो गई है। कोई भी किसी भी क्रिया से व्याप्त भले ही हो, वह जैसा कैसा भी प्रकार का मरण हेतु तो मारने वाला हो होता है। धर्म शरीर से, घर से वा पुत्रों से भी सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार एक पक्ष का निराकरण किया है, क्योंकि हम सब मारे हो गये, अब धर्म की सिद्धि कैसे हो सकेगी ॥४५॥

आभास—ननु मथुरेयं तीर्थभूता अत्र जीवता मृतेन वा मोक्षः साधनीय इति किं भर्त्रपगमे शोकः क्रियत इति चेत्तत्राह '**त्वया विरहिते**'ति ।

आभासार्थ—यह मथुरापुरी तीर्थ है। इसमें जीते हुए वा मरने पर भी मोक्ष सिद्ध किया जा सकता है तो फिर भर्ता के मरने से शोक क्यों किया जाता है? यदि यों कहो तो उसका उत्तर 'त्वयाविरहिता' श्लोक में देती हैं—

श्लोक—**त्वया विरहिता पत्या पुरोयं पुरुषर्षभ ।**
न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे पुरुष श्रेष्ठ! आप इस पुरी के पति हैं, आपके बिना यह पुरी शोभा नहीं देती है, जैसे कि हम (लोग) कारण कि इसके उत्सव तथा मङ्गल सब नष्ट हो गए हैं ॥४६॥

सुबोधिनी--**त्वया पत्या विरहिता इयं पुरी** स्वयमेव **न शोभते** किमन्येषामुपकारं करिष्यतीति भावः। यतो निवृत्तानि उत्सवाः मङ्गलानि च यस्याम्, तस्मिन्विद्यमान एव **उत्सवो मङ्गलानि** च प्रवृत्तानि न तु निवृत्ते, तासां दृष्ट्या अमङ्गलमिव प्रतिभातीति। वाद्यानां निवृत्तत्वादुत्सवो निवृत्त इति तथोक्तम्। अत एव **न शोभते**,क्षणान्तरे शोभिष्यत इत्याशङ्क्याहुः **वयमिवेति**। यथा वयमतः परमशोभायुक्ता एव, तथा पुर्यपीति तासां प्रतिभा, यतः त्वया पत्या विरहिता। यद्यपि पुर्याः पतिर्भविष्यति यः कश्चित्तथापि त्यक्तो भविष्यतीति जीर्णपटमिव शोभाकरो भविष्यतीति भगवांस्तु पतिर्न भविष्यतीति तासां वचनं सत्यमेव। त्यक्तव्या च ततः परम्। तदाह **हे पुरुषर्षभेति** ॥४६॥

व्याख्यार्थ—आप स्वामी के बिना यह पुरी स्वयं नहीं शोभती है, तो वह दूसरों का क्या उपकार कर सकेगी? कारण कि उसके अपने उत्सव और मङ्गल नष्ट हो गए हैं।

पति के मौजूद होने पर ही उत्सव और मङ्गल कार्य होते हैं, उसके जाने पर नहीं होते हैं। उनकी दृष्टि से अमङ्गलवत् दिखता है, वाद्य बजने बंद हो जाने से उत्सव बंद हो गए, अतः वह नहीं शोभती है। थोड़े दिन बाद शोभा देगी, इस पर कहती हैं कि नहीं, हमारी भांति वह कभी भी शोभित नहीं होगी। जैसे हम इसके बाद अशोभित ही रहेंगी वैसे ही यह पुरी भी। स्त्रियों की शोभा पति से होती है, पति के विरह में वे अशोभा वाली हो जाती हैं। यदि कोई कहे कि आप (रानियों) के समान तो पुरी नहीं है, क्योंकि पुरी, एक (पति) राजा के जाने पर दूसरे (पति) राजा वाली हो जाती है। इसके उत्तर में वे कहती हैं कि यद्यपि पुरीका कोई दूसरा भी पति होगा, तो वह त्याज्य पति होगा। जैसा कि धुले हुए पुराने कपड़े पहने जाने पर उनसे नवीन वस्त्रों के समान शोभा नहीं होती है वैसे ही यहां भी होगा और भगवान् तो पुरी के राजा नहीं बनेंगे, यह जो स्त्रियों ने कहा तो स्त्रियों के ये वचन सत्य ही हैं, किन्तु अब शंका यह उठी कि जब भगवान् पुरी के राजा नहीं बनेंगे तो वहां कैसे रहा जाएगा? तो उसके लिये कहा गया है कि तब वह पुरी छोड़ दी जानी चाहिये। इस पर उन्होंने (बड़े आर्त कंठ से) कहा–हे पुरुषर्षभ! अर्थात् हे पुरुषों में उत्तम ॥४६॥

आभास—ननु स्त्रीणां भाग्ये अवैधव्ये विद्यमाने कथमेवं भवेत्, अतो भवतीनामेव

दुर्भाग्यान्मृत इति किमिति विलापः क्रियत इति चेत्तत्राहुः '**अनागसामि**'ति ।

आभासार्थ—यदि स्त्रियों के भाग्य में विधवापन न लिखा होता तो यह मरता नहीं, अतः तुम्हारे दुर्भाग्य से यह मरा है, तब विलाप क्यों करती हो ? यदि यों कहो तो उसका उत्तर इस 'अनागसां' श्लोक में देती हैं--

श्लोक—**अनागसां त्वं भूतानां कृतवान्द्रोहमुल्बणम् ।**
तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक्को लभेत शम् ॥४७॥

श्लोकार्थ—आपने जो निष्पापी जीवों का घोर द्रोह किया, जिससे इस दशा को प्राप्त हुए हो, कारण कि जो जीवों से द्रोह करता है, उसको सुख नहीं मिलता है । अर्थात् भूत द्रोह कर कोई भी सुख नहीं पाता है ॥४७।

सुबोधिनी--निरपराधानां प्राणिनां **त्वमुल्बणं** पुत्रादिमारणरूपं **द्रोहं कृतवान्** तेनैवं दुर्मृत्युरूपां **दशां नीतः** । ननु धर्मोपि भूयान् कृत इति यथा धर्मफलं न जातं तथैतदपि न भवेदित्याशङ्क्य **द्रोहस्य** विशेषमाहुः **भूतध्रुगि**ति । अत्यन्तधर्मकर्तापि भूतद्रोहं चेत्कुर्यात् तदा **शं न लभेत**व सर्वं धर्मं बाधित्वा द्रोहः स्वफलमेव प्रयच्छतीति ॥४७॥

व्याख्यार्थ– निर्दोष प्राणियों का तुमने पुत्र मारने आदि का बड़ा द्रोह किया है, उससे ही इस मृत्यु (रूप) दशा को प्राप्त हुए हो, मैंने यदि ये अपराध किये हैं तो धर्म भी बहुत किया है, तो जैसे उस धर्म का फल नहीं हुआ वैसे इसका भी फल नहीं मिलना चाहिए, इसके उत्तर में कहा है कि सब अधर्मों में विशेष अधर्म भूत (जीव) द्रोह है । बहुत धर्म करने वाला भी यदि भूतों का द्रोह करता है तो वह भी कल्याण को प्राप्त ही नहीं कर सकता है । द्रोह ऐसा जबरदस्त है जो सब धर्मों को दबा कर अपना ही फल देता है ॥४७॥

आभास—ननु राज्ञां द्रोहः स्वाभाविक एव भवतीति कथमन्यरीत्या फलमिति चेत्तत्र विशेषमाहुः '**सर्वेषामिह भूतानामि**'ति ।

आभासार्थ– राजाओं का द्रोह करना स्वभाव सिद्ध है. यदि यों न करें तो किस रीति से फल (दंड) हो ? जो ऐसी शङ्का हो तो उसके उत्तर में इस 'सर्वेषामिह' श्लोक में विशेष कहते हैं—

श्लोक—**सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः ।**
गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित्सुखमेधते ॥४८॥

श्लोकार्थ—यहाँ यह ही श्रीकृष्ण सकल प्राणियों को पैदा करने वाले तथा संहार

करने वाले हैं; इनसे द्रोह कर कोई भी कहीं भी क्या सुख प्राप्त कर सकता है ? कदापि नहीं ।।४८।।

सुबोधिनी—राज्ञोपि सर्वथा सर्वभूतद्रोहे भवत्येवानिष्टम् । ततोपि तव प्रकारान्तरेण महज्जातमिति तत्फलं तथा । यतः **सर्वेषामेव भूतानामेष भगवान् प्रभव** उत्पत्तिस्थान**मप्ययो** नाशश्च । तेन मध्येपि स एव । युक्तश्चायमर्थः। 'यतो ब्रह्म भगवान् कारणत्वेनोक्तः, अतस्तदवध्याने भूतसाध्यं सुखमिति न क्वचिदपि सुखं भवेत् । भूतानां हि भगवानाराध्यः । मारकत्वाद्भयजनकश्च । **गोप्ता च** रक्षकः । अतस्तद्विरोधे तदात्मकमेव सर्वमिति **न क्वचित्सुखम्** । तस्मात्स्वदोषेणैव तवेयमवस्थेति ।।४८।।

व्याख्यार्थ—राजा का भी सर्व भूतों से द्रोह करने पर अनिष्ट ही होता है । उससे भी तुमने अन्य प्रकार से जो महान् भूत द्रोह किया जिसका फल भी वैसा ही हुआ है, क्योंकि समस्त भूतों का यह भगवान् उत्पन्न होने का स्थान और नाश का स्थान है । इससे मध्य में भी अर्थात् पालने का स्थान भी वह ही है । यह अर्थ योग्य है, कारण कि ब्रह्म अर्थात् भगवान् ही शास्त्रों में कारण पन से कहा गया है । अतः उसकी अवहेलना कर भूतों द्वारा प्राप्त सुख कभी भी नहीं होता है । कारण, भूतों के आराध्य भगवान् ही हैं । मारक होने से और भयजनक होने से, एवं पालन कर्ता भी वही हैं । अतः सब उसके ही रूप हैं, जिससे उनके द्रोह करने से कहीं भी कुछ भी सुख नहीं प्राप्त होता है । इससे यह अवस्था तुमने अपने दोषों से आप ही की है ।।४८।।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**राजयोषित आश्वास्य भगवांल्लोकभावनः ।**
यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत् ।।४९।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि लोकों के पालक भगवान् ने राजा की स्त्रियों को सांत्वना दे, लोक रीति के अनुसार मरे हुए सबों की क्रिया करवाई ।४९।

सुबोधिनी—**राजयोषित** इति । एवं तासां सत्यवचनं श्रुत्वा ताः **आश्वास्य, भगवान्** समर्थः, आश्वासनेनैव तासां परमानन्दो जात इति अलौकिकं सामर्थ्यं भगवच्छब्दादवगम्यते । **लोकभावन** ति । न तस्य शत्रुमित्रोदासीनत्वम् । अतः शत्रुस्त्रीणामपि कृत एव भगवतोपकारः । तासु कृपयैव परलोकक्रियां कारितवानित्याह **यामाहुर्लौकिकीं संस्थामिति** । दाहादिरूपाम् । **हताना-मिति** । तासां सहगमनम्, भगवता आश्वासनस्य कृतत्वात् । यद्यपि अस्तिप्राप्ती दुष्टे तथाप्यग्रे लीलायाः कर्तव्यत्वात् नानुमरणे बुद्धिर्दत्ता । **सम्यगकारयत्** तथा शब्दतो नियोगं कृतवान् ।
।।४९।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कहे हुए उनके (स्त्रियों के) सत्यवचन सुनकर भगवान् ने उनको आश्वासन (धैर्य) दिया जिससे वे परमानन्दित हुई, क्योंकि भगवान् शब्द कहने से कृष्ण में अलौकिक सामर्थ्य है । जिससे वचन मात्र से दुःख दूर कर आनन्द दान करते हैं और आप लोकभावन हैं ।

अर्थात् आपकी शत्रु अथवा मित्र में उदासीनता नहीं है दोनों में समान भावना है। अतः शत्रु की स्त्रियों को भी धैर्य देकर उनका उपकार किया है। उन पर कृपा करके ही परलोक की क्रिया आपने करवाई है। इसलिए श्लोक में 'यामाहु लौकिकीं संस्थां' कहा है। वह लौकिक क्रिया कौनसी ? इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'दाहादिक्रियां' दाह से लेकर पिण्ड आदि सर्व क्रिया करवाई। वे स्त्रियाँ पतियों के साथ नहीं गईं, क्योंकि भगवान् ने उनका दुःख मिटाकर आनन्द दान दे दिया था। यद्यपि अस्ति और प्राप्ति दुष्ट थीं, तो भी आगे लीला करनी है, इसलिए पति के पीछे सती होनें की बुद्धि नहीं दी। वचन से उनको इसी प्रकार समझाया जिससे वे उनके पीछे मरजाने से रुक गईं ॥४९॥

आभास—एवं दुष्टमारणं तत्रातिसंनिहितप्रतिक्रियां च कृत्वा यदर्थमेतावत्कृतं तयोः पित्रोर्लौकिकनिरोधं त्याजयित्वा स्वनिरोधं कृतवानित्याह '**मातरं पितरमि**'ति द्वाभ्याम्।

आभासार्थ - इस प्रकार दुष्ट का वध करके तथा मरने के अनन्तर की उस वक्त होने वाली क्रियाएँ करवाके, अनन्तर जिनके लिए इतना कार्य किया, उन माता पिता का लौकिक निरोध छुड़ाकर अपने में निरोध किया जिसका वर्णन 'मातरं पितरं' 'देवकी वसुदेवश्च' इन दो श्लोकों में कहते है।

श्लोक—**मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात्।**
कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसास्पृश्य पादयोः ॥५०॥

श्लोकार्थ—फिर माता-पिता को बन्धन से छुड़ाकर राम तथा कृष्ण दोनों ने उनके चरणों में सिर रखकर और उनके चरणों का स्पर्श कर वन्दन किया ॥५०॥

सुबोधिनी—मुख्यं दुःखं मातुरेव, अतः प्रथमं निरूपिता। यद्यपि बहव एव बद्धा उग्रसेनादयः तथापि प्रथमत एतावेव मोचितौ। **चकारा**देतन्निकटे सेवकाश्च। आदौ निरोधात् दूरीकृतवन्तौ। **अथ बन्धनात्**। प्रथमं मानसो विमोकः। द्वितीयः कायिकः। तयोर्वैलक्षण्यप्रतिपादनाय **अथे**ति। नियोगानन्तरं वा कृतकार्यत्वेनाव्यग्रत्वाय। ततः **कृष्णरामौ** फलसाधनभूतौ **ववन्दाते** अभिवादनं कृतवन्तौ, तथैव तौ निरुद्धौ भवत इति। **शिरसा पादयोरास्पृश्य** सत्यलोकादुपरि तौ नीतौ। फलं च तयोदयम् न तु दुःखनिवृत्तिमात्रम्। यत्र पुत्रस्य सत्यलोकप्रापणं तत्र पित्रोस्ततोधिकस्थानप्रापणं युक्तमेव, आसमन्तात्स्पर्शनं तु सत्यमाक्रम्य यथा गच्छतः तथोपायं कृतवन्तौ ॥५०॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'माता' शब्द पहले इसलिए दिया है कि मुख्य दुःख माता को ही था। यद्यपि उग्रसेन आदि बहुत कैद किए गए थे तो भी प्रथम इन दो को ही छुड़ाए। पीछे अन्य छुड़ाए तथा 'च' शब्द देकर यह बताया है कि निकट में जो सेवक थे, उनको भी मुक्त किया। पहले निरोध से दूर किए, अनन्तर बन्धन से। पहला छुड़ाना मानस था, दूसरा कायिक था। दोनों में विलक्षणता बताने के लिए 'अथ' शब्द दिया है। नियोग के बाद जब कार्य सिद्धि होने से व्यग्रता भी नहीं रही तब फल के साधन रूप राम तथा कृष्ण प्रणाम करने लगे। यों करने से वे दोनों ही निरुद्ध होंगे।

मस्तक से चरणों को छूकर उनको सत्यलोक से ऊपर पहुँचाया उनका केवल दुःख दूर नहीं करना था, किन्तु उनको फल देना है। जहां पुत्र को पितृभक्ति से सत्य लोक की प्राप्ति होती है; वहाँ माता पिता को तो उच्च स्थान प्राप्त कराना योग्य ही हैं। चारों तरफ स्पर्श करने से सत्यलोक का उल्लङ्घन कर जैसे ऊपर लावे वैसा उपाय दोनों ने किया ।।५०।।

आभास—एवमुत्कृष्टफलदानलक्षणस्वगृहनयनेन निरुद्धौ तौ अनधिकारिणौ मा भवत इति लोके ज्ञापनार्थं तयोरधिकारमाह **'देवकी वसुदेवश्चे'**ति।

आभासार्थ—इस प्रकार उत्कृष्ट फल दान देकर, अपने घर ले जाने से, वे माता पिता निरुद्ध होते हुए भी अनधिकारी न होंवे, 'देवकी वसुदेवश्च' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ।**
कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ।।५१।।

श्लोकार्थ—देवकी तथा वसुदेव ने दोनों पुत्रों को जगदीश्वर जान कर नमस्कार किया, किन्तु उनका आलिङ्गन नहीं किया; क्योंकि शङ्काशील हुए कि ये जगदीश्वर हैं, इनका आलिङ्गन कैसे करें ? ।।५१।।

सुबोधिनी—**च**कारस्तूक्तसमुच्चयार्थः। अन्यतरस्यापि गौणत्वाभावाय। कंसादिकमारणेन वैकुण्ठप्रापणेन च प्रत्यक्षतोनुभावं दृष्ट्वा **जगदीश्वरा**वेताविति **विज्ञाय कृतसंवन्दनौ** कृतनमस्कारौ भगवन्तौ न **सस्वजाते** नालिङ्गितवन्तौ। यतः **शङ्कितौ**। ईश्वरे हि संबन्धिनामपि शङ्का भवत्येव। प्रपञ्चः कंसेनैव निराकृतः। आसक्तिः स्थितैव। फलं साधनं च परं कर्तव्यम्। तत्र फलं वैकुण्ठप्राप्तिः साधनं ज्ञानमिति तयोः पूर्णनिरोधो निरूपितः।।५१।।

व्याख्यार्थ—'च' समुच्चय अर्थ में है तथा एक भी गौण नहीं है। दोनों की समानता दिखाने के लिए भी 'च' है। कंस आदि को मारने से और वैकुण्ठ पहुँचाने से प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर समझगए कि दोनों जगदीश्वर हैं। यों जानकर प्रणाम करने लगे, किन्तु उनको पुत्र समझ आलिङ्गन नहीं किया, क्योंकि मन में शङ्का होने लगी। ईश्वर में संबन्धियों को भी शङ्का होती ही है। प्रपञ्च कंस ने ही नाश किया। आसक्ति तो थी ही, फल, और साधन करने थे। उनमें फल वैकुण्ठ की प्राप्ति और साधन ज्ञान है। इन दोनों की प्राप्ति होने पर पूर्ण निरोध का निरूपण हुआ ।।५१।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे एकचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ।।४१।।

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४४वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण का वीर्य निरूपक द्वितीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४५वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ४२वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

"तृतीय अध्याय"

श्रीकृष्ण, बलराम का यज्ञोपवीत और गुरुकुल प्रवेश

कारिका—**साधारण्येन सर्वेषां द्विरूपोपि निरूप्यते ।**
द्विचत्वारिंशे ह्यध्याये निरोधः सर्वसम्मतः ॥१॥

कारिकार्थ—साधारण रीति से इस ४२वें अध्याय में सर्व सम्मत निरोध, सबका दो प्रकार× का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**पित्रोर्गाज्ञस्तथान्येषां स्वस्यापि च निरूप्यते ।**
द्विरूपे मध्यमे रोधे यादवत्वं प्रयोजकम् ॥२॥

× भगवान् और भक्तों का परस्पर निरोध

कारिकार्थ—माता तथा पिता का, राजा का और अन्यों का एवं अपना भी निरोध कहा जाता है। इन दो प्रकार के मध्यम निरोध में यादवत्व प्रयोजक है।२।

कारिका—**स्वस्य शब्दात्मके रोधः स्वाज्ञायां निखिलस्य च ।**
देवे दैत्ये च सर्वत्र कालादिष्वपि सर्वतः ।।३।।

कारिकार्थ—अपना निरोध शब्दात्मा में होता है और अपनी शब्दात्मक आज्ञा में सर्व का निरोध होता है। देव, दैत्य और कालादि में भी सब जगह चारों तरफ निरोध कहा जाता है ।।३।।

आभास—पूर्वाध्याये विशेषतो निरोध उक्तः पित्रोः, स चालौकिकः, लौकिकोऽपि कर्तव्य इति तयोर्बोधनेन तमाह **'पितरावि'**ति **एकादशभिः** ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में माता तथा पिता का विशेष प्रकार का निरोध कहा है, वह लौकिक है। लौकिक निरोध भी उन दोनों को समझा कर कराना चाहिए, उसका वर्णन 'पितरावुपलब्धार्थौ' आदि ११ श्लोकों में श्री शुकदेवजी करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**पितरावुपलब्धार्थौ विदित्वा पुरुषोत्तमः ।**
माभूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि श्रीकृष्ण ने समझ लिया कि मेरे माता-पिता को मेरे स्वरूप का ज्ञान हो गया है, यह ज्ञान इस समय नहीं होना चाहिए; इसलिए जनता को मोह में डालने वाली अपनी माया फैला दी ।।१।।

सुबोधिनी—मध्यमत्वाद्गुणैर्ज्ञानभक्तिभ्यां चेति । अन्यथा पूर्वस्मादपकर्षः स्यात्, लौकिको निरोधः अलौकिके बाधे विद्यमाने न भविष्यतीति तदाच्छादनार्थं मायां विस्तारितवानित्याह । **उपलब्धार्थौ पितरौ विदित्वा**, उपलब्धार्थता मा भवत्विति **जनमोहिनीं निजां मायां ततान** । प्रयच्छत्येव सर्वं निरोधे, किं बहुना व्यापिवैकुण्ठमपि दत्तवान् । तथापि वेशेन क्रीडतीति ज्ञानं न लीलौपयिकम्, अतो बाधकत्वात् सा मा भवत्विति मायाच्छादनम् । ननु को दोषः स्यात्तत्राह **पुरुषोत्तम** इति । मूलभूतः, यदि कश्चिदंशः समागच्छेत् तस्य लोके समागतस्य ज्ञानं नात्यन्तं लज्जाकरम्, महतस्तु मूलभूतस्य भवत्येव । तत्फलं च भविष्यत्येव । तत्फलं च भक्तिः, परमानन्दस्य तुल्यत्वात् । ननु मायया मोहे ततोऽप्यपकर्षो भवेत्तत्राह **निजामिति** । सा हि स्वकीया यथा युक्तमेव कार्यं करिष्यतीति । ननु भगवदतिक्रमे दोषः स्यात्, ततोनिष्टसाधकत्वं मायाया इत्याशङ्क्याह **जनानेव मोहयति न तु भगवदीयान्** । जनेषु च मोहयति न तु भगवति, अत्र हेतुर्वा स्वेति । तस्याः कार्यनिदर्शनार्थं जनमोहिनीत्वमुक्तम् । ।।१।।

व्याख्यार्थ—यह निरोध मध्यम है, अतः गुणों से और ज्ञान तथा भक्ति द्वारा इसको सिद्ध किया है। यदि यों न करते तो प्रथम निरोध से इसका अपकर्ष* हो जाए, अलौकिक निरोध लौकिक का बाधक है। वह जब तक रहेगा, तब तक लौकिक निरोध नहीं हो सकेगा; इसलिए उस अलौकिक निरोध के ज्ञान को छिपाने के लिए भगवान् ने अपनी माया फैलाई। जिससे माता-पिता को मेरे स्वरूप का जो ज्ञान हो गया है; उससे उनका अलौकिक निरोध सिद्ध हुआ है; वह ज्ञान (इस माया से) मिट जाए तो फिर लौकिक निरोध सिद्ध होवे। निरोध करने पर भगवान् सब कुछ देते ही हैं, विशेष तो क्या व्यापि वैकुण्ठ भी दे दिया, तो भी कपट वेश से अर्थात् मनुष्याकृति से खेलते हैं। यह ज्ञान भी लीलोपयोगी नहीं है, अतः बाधक होने से वह बाधकता न होवे, इसलिए माया से उस ज्ञान का आच्छादन किया। यों समझने में क्या दोष है? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप मूल स्वरूप पुरुषोत्तम हैं। यदि अंश रूप से आए हों और उसका लोक में ज्ञान भी हो जाए, तो अत्यन्त लज्जा की बात नहीं है, मूल स्वरूप महान् का ज्ञान हो जाना तो लज्जायुक्त ही है और उसका फल होगा हो। वह फल भक्ति है, वह परमानन्द के तुल्य ही है।

●

माया द्वारा मोह कराने से उससे भी कम होगा? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं; क्योंकि वह माया अपनी (भगवान् की) है, अतः वह जैसे योग्य होगा वैसे करेगा।

भगवान् का अतिक्रम होना दोष है, जिससे माया अनिष्ट सिद्ध करने वाली होगी। इसके उत्तर में कहते हैं कि वह माया भगवान् का अतिक्रम नहीं कराएगी, किन्तु साधारण मनुष्यों में मोह कराएगी। भगवदीयों में मोह न कराएगी, जिससे भगवदीय भगवान् में वैसे ही निरुद्ध रहेंगे ॥१॥

आभास—ततः अलौकिकमुपायं विधाय लोकन्यायेन सापराधावेताविति एकस्मिन्कृते वसुदेवो दुःखं प्राप्नोतीति नालिङ्गनं कृतवानिति प्रतीतिमुत्पाद्य तद्दोषपरिहारार्थं तादृशानि वचनानि आह '**उवाचे**'ति।

आभासार्थ—पश्चात् अलौकिक उपाय कर अपनी निरपराधता सिद्ध की, किन्तु लोक न्याय से ये अपराधी हैं। यों दिखाने के लिए कहते हैं कि अपराधी होने के कारण ही वसुदेवजी ने इनके लिए दुःख भोगा है, अतः इनका आलिङ्गन नहीं किया है। इस प्रकार की प्रतीति पैदा कर उस दोष के निवारणार्थ उस प्रकार के वचन 'उवाच पितरौ' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः।**
प्रश्रयावनतः प्रीणन्नम्ब तातेति सादरम् ॥२॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण अपने बड़े भाई के साथ माता-पिता के समीप आ

---

* माता-पिता का या इस निरोध का निरादर हो जाता।

कर विनय से नम्र हो माता-पिता को प्रसन्न करते हुए आदर से हे अम्ब ! हे तात ! कहने लगे ।।२।।

सुबोधिनी—नमस्कारं परित्यज्य **एत्य** निकटे समागत्य, बलभद्रस्तथा वक्तुं न जानातीति तस्यापि दोषः परिहर्तव्य इति तत्सहितः, **सात्वतानामृषभः** स्वामी भगवद्भक्तानां शिक्षकः सन्मर्यादां शिक्षयन् । **प्रश्रयेण** विनयेन नम्रो बाल इव **प्रीणन्** प्रीतिमुत्पादयन् आदरपूर्वकं **अम्ब तातेति** संबोधनमुवाच । लज्जा सापराधत्वं च लोकदृष्टौ संभवतः । तत्र प्रथमं लज्जा निवारणीया, पुत्रः स्वात्मैवेति न तेन कृते मोचने लज्जा भवति । अतः पुत्रत्वं ज्ञापयन् **अम्ब तातेति** संबोधनं कृतवान्, उपचारव्यावृत्त्यर्थं सादरम्, कपट एवोपचारप्रयोगः । तथापि तद्हृदये पूर्वस्मृतिनाशेऽपि विपरीता बुद्धिः कथमुत्पद्येत तत्राह **प्रीणन्निति** । यथा प्रीतिर्भवति तथा मुखचेष्टां कुर्वन्, अवगणनया पुत्रत्वेऽपि संबोधिते प्रीतिर्नोत्पद्यत इति विनयप्रकाशनम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण नमस्कार का परित्याग कर अर्थात् नमस्कार न कर पिता के समीप आ गए । आप अकेले नहीं आए, किन्तु अपने बड़े भाई बलरामजी को भी साथ में ले आए थे, किन्तु बलरामजी को किस प्रकार बोलना चाहिए, यह वे नहीं जानते हैं । उनका दोष भी उतारना है, इस लिए साथ लाकर भी प्रथम आगे आप आए । आप भगवद्भक्तों के स्वामी एवं शिक्षक हैं, अतः सन्मर्यादा आपको सिखानी है; अतः विनय से नम्र हो जैसे बालक प्रेम व हर्ष उत्पन्न करता है; वैसे ही प्रीति उत्पन्न करते हुए आदर सहित हे अम्ब ! हे तात ! यों सम्बोधन कर कहने लगे । लज्जा और अपराधत्व लोक दृष्टि में होते हैं; उनमें प्रथम लज्जा का निवारण करना चाहिए । पुत्र अपनी ही आत्मा है, वह यदि बन्धन से छुड़ावे, तो उससे पिता को लज्जा नहीं आनी चाहिए । श्रीकृष्ण अपने को पुत्र प्रकट बताने के लिए कहते हैं कि हे अम्ब ! हे तात ! हे माता ! हे पिता ! मैं आपका पुत्र हूँ । कृष्ण माता-पिता को हे माता ! हे पिता दिखावटी रीति से नहीं कहते हैं । इस के लिए शुकदेवजी ने श्लोक में 'प्रयुक्त सादरम्' से कहा है कि कृष्ण ने आदरपूर्वक तथा नम्रता से ये शब्द कहे हैं; जिस से माता-पिता की पूर्व स्मृति का नाश हो और उनमें प्रेम उत्पन्न हो । इस के लिए फिर उन्होंने विशेष करके अपने मुख की चेष्टा भी वैसी ही की, जिससे प्रीति भी उत्पन्न हुई ।।२।।

आभास—एवं लज्जां दूरीकृत्य अपराधनिराकरणेनास्माभिरपराधः कृत इति वक्तुं तत्साधनाय तयोरपेक्षितत्वं ज्ञापयति '**नास्मत्त**' इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपराध के निराकरण से लज्जा को दूर कर कहने लगे कि हमने बराबर अपराध किया है; क्योंकि जो हमको करना चाहिए था, वह हमने नहीं किया है, जिसका वर्णन 'नास्मत्तो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—श्रीकृष्ण उवाच—**नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि ।**

बाल्यपौगण्डकैशोराः पुत्राभ्यामभवन्क्वचित् ।।३।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने कहा, हे तात ! आप दोनों हम दोनों के लिए नित्य उत्कण्ठित रहते थे, किन्तु हमारी बाल्य, किशोर और नव युवा अवस्था यों ही गई । हम दोनों से आपकी कुछ भी सेवा न हो सकी ।।३।।

सुबोधिनी—नित्योत्कण्ठितयोरपि,सर्वदा पुत्रयोर्बाल्यपौगण्डकैशोरा द्रष्टव्या इति आकांक्षा, बाल्यावयो मुद इति संतोषे हि सर्वस्याकांक्षा भवति । **पुत्राभ्यामिति** पञ्चमी, आवाभ्यां (पुत्राभ्यां) हेतुभूताभ्याम्, आवयोः संबन्धिनः बाल्यादयः, अन्येषां च कीर्तिवत्प्रभृतीनां न जाताः,भगवानुत्पत्स्यत इति श्रवणाल्लोकोपद्रव इति स्वस्यैव निमित्तता स्वस्यापि बाल्याद्यदर्शने, अक्लिष्टकर्मत्वाय स्वयमेवोक्तवान् मां गोकुले नयेति । अतः स्वयमेव निमित्तम्,समर्थानुपेक्षां कृतवन्तावित्यपि, स्वधर्मपरिपालनं हि गोप्यता । अक्लिष्टकर्मता(वा) स्वस्यैव रक्षणीया, पित्रोस्तु बाधिकैव, अतः स्वनिमित्तमेव बाल्यादीनामननुभवः ।।३।।

व्याख्यार्थ—आपको नित्य यह लालसा रहती थी, कि हम पुत्रों का सुख लें, बालकों की बाल्य, किशोर और नव युवा अवस्था देखें क्योंकि बाल्यादि अवस्था आनन्द प्रद होती है, उससे प्रसन्न होने की सब को आकांक्षा रहती है । श्लोक में 'पुत्राभ्यां' पद पञ्चमी विभक्ति में कहा है जिसका अर्थ है कि हम दोनों पुत्रों से आप बाल्य आदि किसी अवस्था को भी सुख प्राप्त नहीं कर सके है, किन्तु कीर्त्तिमान् प्रभृतियों से भी सुख नहीं ले सके; उसका कारण भी मैं ही हूँ क्योंकि आपके यहाँ भगवान् का प्राकट्य होगा । यों सुनने से लोक में कंस द्वारा उपद्रव होने लगे । कीर्त्तिमान् तो पांच वर्ष तक सुख दे सका, किन्तु मैं बाल्यादि का भी दर्शन मात्र न दे सका । जिसका कारण भी में ही हूँ, जो 'अक्लिष्ट कर्मा' होते हुए भी मैंने उसका उपयोग न कर आपको कह दिया कि 'मुझे गोकुल ले चलो' अतः आपको वह सुख न मिला, जिसका कारण मैं हूं । अक्लिष्टकर्मत्व धर्म गोप्य रीति से पालन करना है, वह अपने लिए हो रक्षणीय है, माता पिता के लिए बाधक ही है अतः अपने लिए ही बाल्य आदि अवस्थाओं का अनुभव न कराया ।।३।।

आभास—यद्यपि भवतां सुखाभावः तथाप्यस्माकं भूयान् क्लेशो, भवतामल्प इति निरूपयति '**न लब्ध**' इति ।

आभासार्थ—श्रीकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि आपको हम से सुख की प्राप्ति न हुई जिससे आपको क्लेश हुआ वह अल्प है, किन्तु उससे हमको जो दुःख हुआ वह विशेष है । क्यों वा कैसे महान् क्लेश हुआ ? जिसका वर्णन 'न लब्धो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके ।**
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम् ।।४।।

श्लोकार्थ—हम दोनों मन्दभागियों को आपके निकट रहना भी प्राप्त न हुआ । माँ-बाप के पास घर में रहने से बालकों को लालन से जो आनन्द प्राप्त होते हैं, उनसे भी हम वञ्चित रहे ।।४।।

सुबोधिनी—दैवहतयो: दैवं हतं याभ्याम् । अर्थाद्भवदीयम्, ब्रह्मणो हि नाहष्टम्, दैवप्रेरितयोर्वा, तथाप्यन्यथाप्रत्यायकः शब्दः मोहिकया मायया जनित इति न भगवद्वाक्ये बाधितार्थत्वं विरोधः। परोक्षता तु व्याख्यातैव, लौकिकीयं भाषा। अतो भगवान् गोप्य एव सर्वथा विज्ञैरपीति फलिष्यति, भगवतापि बाल्यत्वमाविष्कृतमिति, तद्यादृशं लोके प्रशस्तं भवति तादृशं प्रकटीकर्तव्यम्। इदं त्वस्मिन्नंशे विकलमिति श्रुत्या यथार्थतापि भवति। आत्मत्वेन तद्धर्माः परिगृहीता इति ऐक्यनिरूपणमपि न दोषाय। स्वबाल्यस्य लोकप्रसिद्धत्वात् कथं विकलतेत्याशङ्क्याह **यां बाला** इति। लोकानां संतोषहेतुर्बाल्यं यद्यप्यस्मदीयं तथाप्यस्मत्संतोषहेतुर्न भवति, नन्दादिषु तथा हृदयं न प्रकटीकृतमिति सहजो धर्मस्तेषु नोत्पन्नः। कृत्रिमो हि न सुखदायी,अन्यथा बन्धन न कुर्यात्, भारे वा भूमौ न स्थापयेत्। तस्मात्सुष्ठूक्तं **पितृगेहस्था** एव बालाः पितृभ्यां **लालिताः मुदं विन्दन्त** इति। **मुदमित्येकवचनं** सर्वेषां बालानां तुल्यत्वाय। नान्ये उत्कर्षहेतवो धर्माः, स्थिता अप्यप्रयोजका इति निरूपितम् ॥४॥

व्याख्यार्थ—जिन हम दोनो में दैवका हनन किया है अर्थात् आपका भाग्य बदल दिया है। सारांश यह है कि आपको जो पुत्रों के वात्सल्य सुख का आनन्द मिलना था, उसमें हम ही एक रुकावट रूप हुए, हमको तो अदृष्ट है ही नहीं, क्योंकि भगवद्रूप है, अथवा दैव से इस प्रकार प्रेरणा हुई है तो भी अन्यथा प्रतीति कराने वाले जो शब्द कहे हैं वे मोहिका माया से उत्पंन्न किए हैं, इस लिए इस भगवद्वाक्य में न अर्थ का बाध है तथा न विरोध है परोक्षता तो कही ही है, यह भाषा लौकिकी है, अतः विद्वान् भगवान् को सर्व प्रकार से गुप्त ही रखते हैं। प्रभु गोप्य ही फलित होते हैं, अर्थात् फल रूप बनते हैं।

भगवान् ने भी जैसा लोक में प्रशंसनीय हो वैसा बाल्य भाव अपने में प्रकट कर दिखाया है, किन्तु यह बाल्य भाव का अंश विकल है, यों श्रुति कहती है। जिसका तात्पर्य है कि भगवान् में लोकवत् बालत्व नहीं है, कारण कि भगवान् ने यह बालत्व भी आत्म धर्म से ही धारण किया है। इससे यह रूप भी वही आत्मा है, इस प्रकार ऐक्य निरूपण में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

अपने बालकपन की लोक में प्रसिद्धि है, फिर विकलता क्यों? इसके उत्तर में कहते हैं कि हमारा बालकपन लोकों के संतोष का हेतु है अर्थात् लोकों को हमारे बालकपन से आनन्द की प्राप्ति हुई है,किन्तु वह हमको आनन्द दाता न हुआ है, क्योंकि नन्द आदि के यहां यह हृदय का सच्चा भाव प्रकट नहीं किया कृत्रिम[1] भाव आनन्द नहीं देता है। यदि सहज सत्य भाव होता तो माता यशोदा मुझे बाँधती नहीं और बोझ होने से गोदो से उतार कर पृथ्वी पर न पटकती, इसलिए यह कहना सत्य सुन्दर है कि पिता के घर में रहने वाले ही बालक, माता पिता से लाड लडाने से आनन्द लेते हैं, 'मुदं' एक वचन इसलिए कहा है कि सर्व बालक माता पिता के पास समान रीति से लालित होते हैं। बालकपन से उत्कर्षवाला कोई धर्म नहीं है, होए भी तो वह अप्रयोजक[2] है ॥४॥

१- बनावटी, २- बिना मतलबवाला

आभास—उपेक्षाशङ्का तु न कर्तव्यैव, लोकतः स्वार्थमेवापेक्षितत्वात्, वेदे तु तस्य बाधकत्वात्तदाह '**सर्वार्थसम्भव**' इति ।

आभासार्थ—उदासीनता की शङ्का तो नहीं करनी चाहिए;क्योंकि लोक में स्वार्थ ही अपेक्षित है, तो जहां स्वार्थ है वहां उपेक्षा हो नहीं सकती है, वेद में वह तो बाधक है, जिसका वर्णन 'सर्वार्थ' श्लोक में करते है ।

श्लोक—सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः ।
न तयोर्याति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥५॥

श्लोकार्थ—जिस देह से चार पुरुषार्थ सिद्ध किए जाते हैं, वैसी देह जिनसे मिली और पाली गई, उन माता-पिता के ऋण से मनुष्य शत वर्ष की आयु से सेवा करके भी उऋण नहीं हो सकता है । ५॥

सुबोधिनी--सर्वे अर्था धर्मादयः अस्मिन्नेव मानुषशरीरे संभवन्ति । तथा लीला अपि । सामान्योक्तिः नात्यन्तं भगवत्परता हि वक्तव्या । **जनित**: पित्रा, **पोषितो** मात्रा, आवश्यकपोषितो हि तयैव भवति । **अथवा** । उभाभ्यां **जनितः पोषितश्च** भवति यथोपयोगम्, **यतो** याभ्यां यस्माद्वा **तयोर्निर्वेशं** निष्कृतिं प्रत्युपकारं शतायुषापि न याति । **मर्त्य** इति । मरणधर्मा । स हि कालेनोपद्रुतः स्वयमेवासमर्थः जीवनेऽपि तयोः कमुपकारं करिष्यति । अथवा । नायमनृणः, यतो मर्त्यो म्रियते, नहि दोषाभावे म्रियते, वर्षाणां शतेनाप्यानृण्यं न भवतीति । पूर्णमायुर्भुक्त्वापि म्रियते । अन्यथा अग्रेऽपि जीवेत् । पापेन हि दुःखमेव, अन्यथा पुण्यपापोपभोगः सर्वत्र नियत इति । एतच्छरीरत्याजनेन पुण्यपापयोः क उपकारः स्यात् आनृण्ये तु तावत्कालं प्रतीक्ष्य तदधिकारिणः स्वसन्तानात्तं दूरीकुर्वन्ति, तस्मान्मर्त्यता युक्ता भवति । **शतायुषेति** परमावधिः, कालस्य शतावृत्तावप्यनुपयोगे अग्रे नोपयोग एवेति तन्निवृत्तिः । तत्रत्यानां देवानां पूर्वमेवाकाङ्क्षानिवृत्तौ शीघ्रं मरणम्, अन्यथा तु ततोऽप्यधिकं जीवनमिति शतसंख्या उपलक्षिका ॥५॥

व्याख्यार्थ—धर्म आदि सर्व पुरुषार्थ इस मनुष्य शरीर से ही सिद्ध होते हैं, वैसे ही लीला का भी, यहां सामान्य विषय की भांति वर्णन है, अतः भगवत्सम्बन्धी विषय के वर्णन की अत्यन्त आवश्यकता नहीं है । पिता ने पैदा किया, माता ने पालन किया, पालन करने में जो विशेष आवश्यकताएँ है वे माता ही पूर्ण करती है । अतः कहा है कि माता ने पालन किया, अथवा जैसा उपयोग है वैसा दोनो ने जन्म देने और पालन करने में योग दिया है । जिस कारण से उनके ऋण से पुत्र सौ वर्ष सेवा करने पर भी छुटकारा नहीं पा सकता है, कारण कि स्वयं मरणधर्मवाला है, काल के गाल में है; जिससे वह स्वयं ही जीने में असमर्थ है, वह उनका क्या उपकार कर सकेगा ? अथवा यह माता पिता के ऋण से मुक्त हो नहीं सकता हैं, क्योंकि यह मरण धर्म वाला है, दोष के बिना कोई नहीं मरता है । सौ वर्ष भी सेवा करने से ऋण से मुक्ति नहीं होती है । पूर्ण आयु भोग कर भी मरेगा ही, यदि मरणधर्मा न हो तो आगे भी जीवित रहे । पाप से दुःख को ही भोगना है,

नहीं तो पाप पुण्य दोनों का भोग तो सर्वत्र नियत ही है । इस देह के त्याग के बाद पाप तथा पुण्य का क्या उपकार होगा ? ऋण से मुक्त होने के विषय में कहते हैं कि उसके अधिकारी उस समय की प्रतीक्षा[1] कर उस सन्तान से वह ऋण प्राप्त करेंगे,इससे मनुष्य मरण धर्मा है,यह कहना योग्य ही है । आयुष्य की विशेष अवधि सौ वर्ष की कही है, काल प्रति वर्ष आकर देखता है कि उसने अपना कर्त्तव्य पूरा किया वा नहीं ? यों देखते हुए जब वह देखता है कि सौ वर्ष हो गए, पूरे नहीं किए तब उसको ले जाता है । शेष ऋण आदि की वसूली उसकी सन्तान से करता है । वहाँ के देवों की आकांक्षा पूरी होने पर शीघ्र मरण होता है । यदि उनकी आकांक्षा पूरी न हुई तो सौ वर्ष से विशेष भी मनुष्य जीता है, अतः शत वर्ष कहना उपलक्षण मात्र है ।।५।।

आभास— तत्र विशेषमाह **यस्तयोरात्मज** इति ।

आभासार्थ—इस विषय में विशेष इस यस्तयों' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—**यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च ।**
वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ।।६।।

श्लोकार्थ—जो पुत्र समर्थ होते हुए भी शरीर से और धन से माता-पिता का पालन-पोषण नहीं करता है, मरने के बाद उस पुत्र को परलोक में उसका मांस खिलाते हैं ।।६।।

सुबोधिनी--तयोः पित्रोः शरीराज्जातः न करोत्येव तयोर्निष्कृतिं बुद्धिपूर्वकम्, तिष्ठत्वन्यत् यो **वृत्तिं** जीविकां न **दद्यात् तं प्रेत्य** परलोके मृत्वा स्थितं प्रकर्षेण एत्यागत्य वा **स्वमांसं** तस्यैव मांसं **खादयन्ति** । युक्तश्चायमर्थः । तदुद्भवेन शरीरेणोत्पादितं तदीयमेव भवति, यथा दासकृतं स्वक्षेत्रोद्भवं वा, तच्चेत् स्वार्थमेव नियोगं कुर्यात् शरीरं पोषयेत् परलोकं वा साधयेत् तदा अविशेषात् शरीरेणापि तदुद्भवेन तत्साधयतु मुख्यत्वाच्च । तस्मादयमेव दण्डो विहितः । निष्कृतिश्च भवति । तदीयमनेन भक्षितमिति परस्वभक्षक एव भवेत्, ननु तेन किञ्चित् कुर्यात् अतो देवास्तदुपकारार्थं वृद्ध्यभावाय निष्कृतेश्च संभावना नास्तीति तन्मांसमेव तं खादयन्ति । यो हि वृत्तिमेव न ददाति स किमन्यत्करिष्यतीति ।।६।।

व्याख्यार्थ – पुत्र, माता तथा पिता के शरीर से उत्पन्न हुआ है । उसका बदला बुद्धि पूर्वक नहीं देता है, विशेष कुछ न करे तो उनका पालन पोषण ही करे, यदि वह भी नहीं करता है तो मरने के बाद जब परलोक में स्थित होता है तो वहाँ उसको उसका ही मांस खिलाते हैं, यह कहना योग्य ही है । जिस प्रकार दास का कमाया हुआ द्रव्य तथा अपने क्षेत्र में उत्पन्न अन्न अपना है हम को ही उसके भोग का अधिकार है, वैसे ही पुत्र का शरीर माता पिता से उत्पन्न होने के कारण;

१- इन्तज़ारी

माता पिता का ही वह शरीर है, अतः उस शरीर द्वारा कमाए हुए धनादि पर माता पिता का अधिकार है। यदि पुत्र उस अधिकार का अनुपयोग करता है, तो उसको परलोक में इस प्रकार का दण्ड मिले वह योग्य ही है। किस प्रकार अनुपयोग करता है, वह बताते हैं कि माता पिता को न देकर अपने ही उपभोग आदि में निरङ्कुश व्यय करता है परलोक के सिद्ध करने में व्यय करता है। तात्पर्य यह है कि सब कुछ अपने स्वार्थ के लिए करता है तथा पिता माता का उपकार भूल जाता है। वास्तव में पुत्र का यह शरीर उनका ही है, तब इस शरीर से प्रथम उनका ही सर्व कार्य पूर्ण होना चाहिए, वह न हुआ, अतः यह दण्ड शरीर को ही मिला, वह योग्य है। उस कर्म का बदला लिया, उनका इसने जो खाया वह पराया द्रव्य खाया है। इस प्रकार जो इसने किया, उसका कुछ करना चाहिए, वहां कहते हैं कि देव; उसके उपकार के लिए उसके शरीर की वृद्धि न होने दे और अन्य कुछ देकर भी ऋण उतार नहीं सकता है अतः उसके मांस को ही ऋणदाता को खिलाते हैं, जो पुत्र माता पिता को भोजन वस्त्र नहीं दे सकता है, वह दूसरा क्या कर सकेगा ? ॥६॥

आभास—एवं सामान्यविशेषप्रकारेण पितृविषयकं दैविकबाधकमुक्त्वा प्रसङ्गात्सामान्यतस्तेषां पोषणाभावे जन्मैव निष्फलमिति मृत एवेति मृतवत् तादृश उपेक्षणीय एव स्वस्य जन्मवैयर्थ्यभयात् बुद्धिमांश्च नोपेक्षां करिष्यतीति, अपालने जन्मवैफल्यमाह **'मातरं पितरमि'**ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ऊपर के श्लोकों में सामान्य तथा विशेष प्रकार से पितृ सम्बन्धी दैव के किए हुए प्रतिबन्ध को बताकर सामान्य रूप से यह भी बताया कि माता पिता का, जो पुत्र पालन पोषण नहीं करता है, उसका जन्म निष्फल अर्थात् वृथा है, इसलिए वह मृत के समान है। वैसे शरीर का त्याग ही करना चाहिए, क्योंकि वैसे शरीर का होना व्यर्थ ही है। इस प्रकार के भय से साधारण तो शरीर का त्याग भी कर दे, किन्तु बुद्धिमान इस प्रकार उपेक्षा कर शरीर त्याग नहीं करता है; किन्तु दैव से हुए प्रतिबन्ध को पूरा कर पुनः माता पिता की सेवा करता है और जो पुत्र यों नहीं करता है, उसका स्वरूप निम्न 'मातरं' श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—**मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम् ।**
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः ॥७॥

श्लोकार्थ—वृद्ध पिता, माता, पतिव्रता स्त्री, अनुपनीत पुत्र, पुरोहित, ब्राह्मण और शरणागत के समर्थ होते हुए भी जो पुरुष पालन नहीं करता है, वह जीता हुआ भी मुर्दा है ॥७॥

सुबोधिनी—पितृविशेषणं **वृद्धमिति**। अन्यथा स एव समर्थः। माता त्वग्रिमविशेषणरहितापि पोषणीया। **साध्वीति भार्या** विशेषणम्। **शिशुमिति सुतस्य**, अनुपनीतम्, पश्चाद्भिक्षादिना स्वयमेव स्ववृत्तिं सम्पादयिष्यति। **गुरुं विप्रं** पुरोहितमिति यावत्। अयं धर्मः क्षत्रियाणाम्, तथैव

प्रपन्नं च शरणागतम्। पृथगुपदेशात् शरणसाहचर्याच्च विप्रपद उभयत्र सम्बध्यते। **कल्पः अबि-** **भ्रत्** श्वसन्नेव **मृतो** भवति। श्वासमात्रं तस्य परं न तु जीवनोपायोन्यः कश्चन ॥७॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'वृद्ध' पिता का विशेषण है, यों कहने का भाव यह है कि पिता वृद्ध न होगा तो अपना पालन स्वयं भी करेगा, किन्तु जब वृद्ध तथा अशक्त होने से कमाई न कर सके, तब पुत्र पर पिता के पालन करने का भार है इसी प्रकार माता तो सर्वथा पालनीया है। 'साध्वी' स्त्री का विशेषण है, जिसका भाव है कि पतिव्रता स्त्री पालन योग्या* है, कुलटा नहीं। अनुपनीत[1] पुत्र का पोषण, यज्ञोपवीत के बाद स्वयं भिक्षावृत्ति से उदरभरण⁎ कर लेगा, जो ब्राह्मण अपना पुरोहित है उसका पोषण करना, यह क्षत्रियों का धर्म है। इसी प्रकार शरण में आए हुए की रक्षा करना भी क्षत्रियों का धर्म है। ब्राह्मण पुरोहित हो अथवा शरण आया हो तो भी उसकी पालना तथा रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। ऊपर कही हुई पालना तथा रक्षा प्रत्येक मनुष्य को करनी चाहिए। यदि समर्थ होते हुए भी इस धर्म का पालन नहीं करता है, तो वह जीता हुआ भी मृतक के समान है, क्योंकि वह केवल श्वास ले रहा है, अपना कर्त्तव्य पालन कुछ नहीं करता है; अतः वह मुर्दा ही है ॥७॥

आभास—अतो दोषत्रयेण स्वस्यैवायमपराधः तेन चाकार्यम्। न तु भवतां काचित्क्षतिरिति निरूपयति **'तन्नावकल्पयोरि'**ति।

आभासार्थ—इन तीन दोषों के कारण मेरा ही दोष है, जिससे हम अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर सके। उससे आपकी कोई क्षति[2] नहीं हुई है, हमारी ही क्षति हुई है। जिसका वर्णन 'तन्नाव कल्पयोः' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः।**
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः ॥८॥

श्लोकार्थ—हम बालक होने के कारण असमर्थ थे और कंस से नित्य उद्वेग पा रहे थे। अतः आपकी सेवादि न करने से इतने दिन व्यर्थ गए ॥८॥

सुबोधिनी—**तत्** तस्मात्कारणात् बाधकज्ञानस्य विद्यमानत्वात्। **नौ** आवयोर**कल्पयोरेव** बाधकान्तराभावात् **एते दिवसाः मोघं व्यतिक्रान्ताः** पुरुषार्थसाधका न जाताः। तत्र हेतुः **वामनर्चतो**रिति। युवयोरर्चामकुर्वतोः। असामर्थ्यं लोकरीत्या। देशान्तरे स्थितः असमर्थो भवत्येव, बालकत्वाच्च। यद्यपि लीलयैवार्चा भवति तथापि **कंसान्नित्यमुद्वेग** इति न तत्संपन्नमित्याह **कंसादिति**।

---

* यह पति का धर्म है, १- बिना जनेऊ लिया हुआ,

⁎ यह उस समय की व्यवस्था है, अब जब तक विद्या पढ़े, तब तक पिता पोषण करे—अनुवादक

२- हानि

स हि नित्यं पूतनादिदैत्यान्प्रेषयति ततोद्वेगः सर्वदैव । वस्तुतस्तु युवयोर्निमित्तम्, स हि कदा वा भवत्स्वरूपं ज्ञात्वा उपद्रवं कारयिष्यतीति । अत एवान्ते तथैव जातम् । अत एवैते दिवसा भवदुपयोगाभावात् मोघा जाताः । **वां युवामनर्चतो** नमस्कारादिना महत्वात् पूजादिना च ॥८॥

व्याख्यार्थ—उस कारण से आपकी सेवा करने में बाधा करने वाला ज्ञान विद्यमान था, वह बाधक ज्ञान हमारी असमर्थता का ही था, अन्य कोई दूसरा नहीं था, जिससे इतने दिन व्यर्थ ही गए। कुछ पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हुआ, क्यों व्यर्थ गए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आपने माता पिता की सेवा नहीं की इसलिए वे दिन व्यर्थ गए, श्रीकृष्ण ने यह कहा कि हम विदेश में रहने और बालक होने से असमर्थ थे, वह लोक दृष्टि से कहा है, अन्यथा आप तो सर्वथा समर्थ हैं, जो कि लीला से भी अर्चा हो सकती थी, किन्तु कंस के कारण चित्त में सदैव उद्वेग रहता था । जिससे वह भी न कर सके, नित्य उद्वेग इसीलिए रहता था कि कंस पूतना आदि दैत्यों को क्रमशः भेजता ही रहता था । जिससे मन में शान्ति न आती थी, सदैव उस ध्यान से मन में विक्षेप रहता था । यह उद्वेग जो कहा वह तो वास्तविक उद्वेग नहीं था । हमारे अन्तःकरण में वास्तविक उद्वेग तो आपके कारण था कि कब माता पिता के दर्शन कर उनकी सेवा करेंगे, यह उद्वेग था तो भी मैं न आया, जिसका कारण यह था कि कंस मुझे जानकर आपको जान जाएगा तो उपद्रव कराएगा । इसलिए मैं वहां रह गया, अतः अन्त में यों ही हुआ । कंस ने अक्रूर को भेजकर लीला स्थल में उपद्रव ही कराया । हम न आकर जितने दिन वहां रहे उतने दिन आपकी सेवा न होने से व्यर्थ ही गए, क्योंकि आप बड़े पूजनीयों को नमस्कार पूजादि न कर सके ॥८॥

आभास—ननु सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् तदैव समागत्य कथं कंसो न हत इति चेत्तत्राह '**तत् क्षन्तुमर्हथ**' इति ।

आभासार्थ—जब आप में सर्व प्रकार का सामर्थ्य है तो आप उस समय आकर कंस को मारकर हमारी सेवा करते, वैसा क्यों न किया ? इसके उत्तर में इस 'तत्क्षन्तु' श्लोक से क्षमा याचना करते हैं ।

श्लोक—**तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः ।**
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम् ॥९॥

श्लोकार्थ—हे तात! हे माता! हम एक तो पराधीन[1] थे और दुष्ट कंस से दुःखित थे, इसलिए हम आपकी सेवा न कर सके, तो भी आप इस अवज्ञा को क्षमा कीजिए ॥९॥

१- नन्द के आधीन थे

सुबोधिनी—सत्यमपराधोऽस्ति परमर्धम् । स्वयमेकाकिना अलौकिकेन प्रकारेण समागत्य हन्तुमुचितो भवति । तथा सति अवतारवैयर्थ्यं हन्तुं च न शक्यते । अलौकिकात्तस्य वधो वरान्निषिद्ध इति । तथापीश्वरत्वात् पित्रोरनुरोधेन मारणीयो भवेत् तन्न कृतमित्यपराधः क्षन्तव्यः । क्षमायां **तात मातरिति** । मातृत्वं पितृत्वं च प्रयोजकम् । **नौ** आवयोरिति । उभयोरयं दोषः समानः । **किञ्च** । नैकान्ततोस्मद्दोषः यतः **परतन्त्रावावां नन्दाधीनौ** । तथा हि बुद्धिरुत्पादिता । तस्यातिक्रमे प्राणानेव त्यजेत् । अत एव कालीयावसरे परीक्षितः, तेन सहागमने परराष्ट्रवत् युद्धेन मारणं प्रसज्येत । तत्तस्यैवानाभिप्रेतम् । एतच्च परीक्षितमिन्द्रयागभङ्गोपदेशेन अलौकिकत्वात्तैरङ्गीकृतमपि । एतत्तु प्रजात्वादङ्गीकारमपि नार्हति । अतः परतन्त्रयोरशक्या सेवा । अपराधमाह **अकुर्वतो वां शुश्रूषामिति** । कंसादिमारणेन लोकेऽपि सामर्थ्यं प्रतीतमिति सेवायोग्यता । स्वार्थं हि सर्वमिति पुत्रादपि सेवा मृग्यत एव । **दुहृदेति** तस्य क्लेशदाने न कश्चित्पुरुषार्थः सिद्धः किन्तु हृदयदोषात् केवलं क्लेशः । तत्रापि भवदादिबन्धने सुतरामेव क्लेशं प्रयच्छतीति **भृशमि**त्युक्तम् ।।६।।

व्याख्यार्थ—सचमुच यह अपराध मेरा है, किन्तु वह पूर्ण अपराध नहीं, आधा है । मैं समर्थ हूं, स्वयं आकर अलौकिक प्रकार से उसको मारूं, यह उचित था, किन्तु यों करने से एक मेरा अवतार लेना व्यर्थ हो जाता और दूसरा वह मरता भी नहीं, कारण कि अलौकिक प्रकार से उसकी मृत्यु वर से निषिद्ध है । अर्थात् उसको वरदान है कि तेरी मृत्यु अलौकिक प्रकार से न होगी । यों होते हुए भी यदि आप कहो कि तूं ईश्वर है; कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ है, अतः माता पिता के लिए वर के प्रभाव को मिटाकर तुम्हें उसको मारना ही चाहिए था, वह क्यों न किया ? तो इस अपराध के लिए क्षमा मांगता हूँ । आप माता पिता हैं, वे बालक के अपराध को क्षमा करते हैं । अपराध क्षमा करो । दोनों के दोष समान हैं । किञ्च,[1] केवल मात्र हमारे दोष नहीं हैं कारण कि हम दोनों परतन्त्र थे; अर्थात् नन्द बाबा के आधीन थे । उन्होंने हमारी बुद्धि वैसी बनादी थी जो उनको छोड़ नहीं सकते थे । छोड़ने पर वे प्राण ही छोड़ देते, जिसकी परीक्षा कालीयदमन लीला के समय करली थी । यदि उनको साथ में लेकर आते तो एक प्रकार की दूसरे राज्य पर आक्रमण समान युद्ध दीखता । युद्ध से कंस मारा गया कहने में आता, यों करना नन्दजी को अभिप्रेत[2] न होता, यह इन्द्रयागभङ्ग के समय में देख लिया था । यद्यपि वह अलौकिक होने से मान लिया था, किन्तु यह लौकिक है और कंस की प्रजा होने से वैसा करना वह कभी भी नहीं मानते । अतः हम परतन्त्र होने से आपकी सेवा न कर सके । यह हम दोनों का अपराध है, अब कंसादि के मारने से लोक को सामर्थ्य का ज्ञान हो गया और सेवा की योग्यता भी हुई । इससे निश्चय हो गया कि लोक में सर्वत्र स्वार्थ ही है । पुत्र से भी सेवा प्राप्त हो, वैसी इच्छा रहती ही है । उसने[3] जो कुछ कष्ट दिए,उससे उसका कोई पुरुषार्थ तो सिद्ध नहीं हुआ । उसका हृदय दुष्ट था, जिससे उसने केवल दुःख ही दिए । उसमें भी आपको बन्धन में रखकर जो दुष्कर्म किया, वह कर्म तो अतिशय क्लेश देता है, इसलिए ही श्लोक में 'भृशम्' पद दिया है ।।६।।

१- कुछ और, २- इच्छित,
३- कंस ने

आभास—नन्वीश्वरः कथमेवमनीश्वरवद्वदतीति चेत्तत्राह '**इती**'ति ।

आसभार्थ—ईश्वर हो के यों अनीश्वर की भांति कैसे कहते हैं ? इसका उत्तर 'इति माया मनुष्यस्य' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा ।**
मोहितावङ्कमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि माया से मनुष्य रूप हुए, जगत् की आत्मा हरि की वाणी से माता-पिता मोहित हो गए, गोद में लेकर आलिङ्गन कर आनन्द को प्राप्त हुए ॥१०॥

सुबोधिनी—मायया मनुष्यो, यथा कायिकं चेन्मायिकं वाचनिकमपि तथैव कर्तव्यमिति । मनुष्यत्वमात्रप्रदर्शनं मायिकमिति न भगवति काचित्क्षतिः । मायिकेषु तु सर्वमेव मायिकम् । ननु कंसादिवधार्थे तथा कृतवान्, अत्र प्रयोजनाभावात् जातं ज्ञानं किमिति नाशयतीत्याह **हरे**-**रिति** । अन्यथा तौ पूर्वमपि क्लिष्टौ, ज्ञानं च क्लेशात्मकम्, साधनमेव परं तत्पुरुषार्थस्य, चिन्ताद्यपगमात् तदानीमपि सुखमिव प्रतिभाति । अतो ज्ञानेन दुःखं प्राप्स्यन्तीति । नन्वत्यन्तोपकारी फलाव्यभिचारिमार्गेण यतमानं किमिति व्यावर्तयति, नान्तरीयकं च दुःखं नात्यन्तं द्वेष्यमत आह **विश्वात्मन** इति । स हि परमदयालुः सर्वस्यात्मा यथासुखं सर्वान् प्रेरयतीति भक्त्यैव सः कृतार्थः कर्तव्य इति युवां मां पुत्रभावेनेति मुक्तेः सिद्धत्वात् सिद्धसाधनं ज्ञानमिति ज्ञाननिराकरणार्थं वाचा मोहनमुचितमेव । ततो **मोहितौ** तदानीमेव च **परिष्वज्य मुदमापतुः** । अन्यथा देहावसान एव सुखं स्यात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—माया के कारण मनुष्य देखने में आते हैं जिससे भगवत्व रूप में आनन्दत्व की किसी प्रकार की क्षति नहीं हुई है। लीला के लिये जैसे मायावी आकृति दिखाई है वैसे ही वाणी की भी दिखानी चाहिए। लीलाओं में सर्व वस्तु मायावी ही होती हैं। कंस वध लीला में यों करना आवश्यक एवं उपयोगी था। अब उसका कोई प्रयोजन नहीं है। तब उत्पन्न ज्ञान को क्यों मिटाया जाता है ? इस शङ्का को दूर करने के लिये कहते हैं कि आप 'हरि' हैं, अतः यदि यों न करें तो माता पिता का जो क्लेश है, वह ज्ञानात्मक है, जिससे पुरुषार्थ सिद्ध होकर चिन्ता नष्ट होगी और सुख जैसा मान होगा, अतः भगवान् ने यों किया है, अन्यथा ज्ञान ही रहता तो क्लेश को प्राप्त होंगे, अतः अज्ञान ही रहने दिया।

जो अत्यन्त उपकारी और उत्तम फल को देने वाले सीधे निश्चित् मार्ग के लिए प्रयत्न करने वाले को क्यों वहां से हटाते हैं ? अन्तर दुःख अत्यन्त दुःखदायी नहीं होता है, वह तो सहना ही पड़ता है। इस पर कहते हैं कि भगवान् विश्व की आत्मा हैं वे परम दयालु हैं, सर्व की आत्मा होने से सब को सुख मिले वैसी ही प्रेरणा करते हैं। भक्ति से ही अर्थात् स्नेह से ही उसको कृतार्थ करते हैं, प्राकट्य के समय में भगवान् ने कहा था कि 'युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत' आप दोनों

मुझे पुत्र भाव वा ब्रह्म भाव से भजोगे तो आप कृतार्थ होंगे, जिससे मुक्ति तो सिद्ध ही है। जो सिद्ध है उसका साधन ज्ञान था, उसकी आवश्यकता नहीं है, इसलिए उसके निराकरण करने के लिए वाणी से मोहित करना उचित ही है। इस प्रकार मोहित होने से उसी समय आलिङ्गन कर आनन्द को प्राप्त हुए, नहीं तो मरने के बाद सुख लेते ॥१०॥

आभास—ततो लौकिकसुखं महदेव जातमित्याह '**सिञ्चन्ताविं**'ति ।

आभासार्थ—उससे लौकिक सुख बड़ा ही हुआ इसको 'सिञ्चन्ता' श्लोक से बताते है।

श्लोक—**सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ ।**
न किञ्चिदूचतू राजन्बाष्पकण्ठौ विमोहितौ ॥११॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! आँसूओं की धाराओं से सिञ्चन करते हुए स्नेह रूप पाश से बँधे हुए ऐसे मोहित हो गए कि कुछ न बोल सके; क्योंकि अश्रुओं से कण्ठ बन्द हो गए थे ॥११॥

सुबोधिनी—**अश्रुधाराभिः** पुत्रौ कर्मसिञ्चन्तौ जातौ, अश्रूणां धाराभिः बहुकालवियोगस्मरणात्, **स्नेहपाशेन च आवृतौ**। पाशपदेनैव लौकिकत्वं पुत्रत्वं चोक्तम्। ततः न **किञ्चिदुक्तवन्तौ**, इदमप्येकं मोहकार्यं निर्भरतया पुत्रस्नेहप्लुतत्वम्। अन्यथा स्तुतौ अवश्यं गुणा वक्तव्या इति पुनरपि ज्ञानमुद्बोधितं स्यात्। **राजन्निति** संबोधनं श्रवणार्थम्। अवचने दृष्टं हेतुमाह **बाष्पकण्ठाविति**। सर्वथा भगवत्स्पर्शेऽपि मोहोनुवृत्त इति आद्यन्तयोर्दृढं मोहमुत्पाद्य निश्चिन्तो जात इति वक्तुमाह **विमोहिताविति**। अन्ते पुनर्विशेषणम्, मोहितौ यथा न कदाचिदपि आत्मज्ञानं भगवज्ज्ञानं वा तयोरुदेति, ततः प्रत्यापत्तिं वक्ष्यति ज्ञानाध्याये, अन्यथा भगवाननिष्टकर्ता स्यात्, अतो निरोधे समाप्त एव पश्चात्तन्निरूपणम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—आँसुओं की धाराओं से पुत्रों को सींचने लगे, कारण कि बहुत दिन के वियोग के स्मरण से नेत्रों से सहज जल गिरने लगा तथा उससे स्नेह रूप पाश से आवृत्त हो गए। श्लोक में शुकदेवजी ने केवल स्नेह शब्द न देकर 'स्नेह पास' कहा है, जिसके कहने का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि इससे यह बताया है कि वसुदेव देवकी का यह स्नेह लौकिक था, क्योंकि बलराम श्रीकृष्ण के स्वरूप को भूलकर उनको पुत्र समझने लगे, जिससे उनकी यह दशा हुई जो वे कुछ बोल न सके। यह भी एक मोह का ही कार्य है और उससे ही पुत्र स्नेह में डूब गए। यदि स्नेह में न डूबे होते तो स्तुति में अवश्य गुणों का वर्णन करते, जिससे पुनः ज्ञान प्रकट हो जाता। हे राजन् ! इस प्रकार संबोधन देने का आशय यह है कि जो मैं कहता हूं वह ध्यान से सुनो। न बोलने में प्रत्यक्ष हेतु कहते हैं कि आंखो के आंसू कंठ में आगए, जिससे कण्ठ रुक गया, अतः बोल न सके। सर्वथा भगवान् के श्री अंक के स्पर्श होने से भी मोह मिटा नहीं, इस प्रकार आदि तथा अन्त में दृढ़ मोह उत्पन्न कर दोनों भ्राता निश्चिन्त हो गए। इसलिए श्लोक में मोहितौ न कह कर 'विमोहितौ'

कहा जिसके कहने का भावार्थ आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि विशेष मोहित इसलिए कराया कि कभी भी आत्मज्ञान वा भगवद्ज्ञान इनको न होवे, इस प्रकार मोहित करने से भगवान् पर 'अनिष्ट कर्ता विशेषण लागू होगा अर्थात् भगवान् अनिष्ट कर्ता हैं, इस दोष की शङ्का न होवे, इसलिए ज्ञाना-'मुक्ति' कहेंगे, अत लौकिक निरोध समाप्त होने के अनन्तर उसका निरूपण किया है ।।११।।

आभास—एवं पित्रोर्निरोधमुक्त्वा सर्वयादवानां निरोधं वदन् प्रथमतो राज्ञ उग्रसेनस्य निरोधमाह '**एवमि**'ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार माता पिता का निरोध कह कर सकल यादवों का निरोध कहते हैं, जिसमें प्रथम उग्रसेन का निरोध इस 'एवं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**एवमाश्वास्य पितरौ भगवान्देवकीसुतः ।**
मातामहं तूग्रसेन यदूनामकरोन्नृपम् ।।१२।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार माता-पिता को आश्वासन[1] देकर देवकी के पुत्र भगवान् ने मातामह उग्रसेन को यादवों का राजा बनाया ।।१२।।

सुबोधिनी—पितरावाश्वास्य **मातामहं यदूनां नृपमकरोत्** । मातामहत्वं स्पष्टयति । **देवकीसुत** इति भक्तहितकारित्वाय यतोवतारः, पितरि श्वशुरे च राजनि दुहितुर्जामातुश्च चिन्तारहितो महान् भोगो भवतीत्यनुभवसिद्धम् । अतो न वसुदेवं राज्येभिषिक्तवान् । स च क्लिष्टो भवेत् पुत्रा हता इति, एवं च सति उग्रसेनार्थमेव कंसो हत इति भवति । तेन गृहीतं राज्यं तस्मै दत्तं इति । **तु** शब्दः स्वपक्षं स्वसंबन्धिपक्षं च व्यावर्तयति । नाम्ना तस्य सामर्थ्यमाह **उग्रसेनमिति** । पूर्वं तु तस्य देशाधिपत्यं स्थितं यादवास्तु न मन्यन्ते । अधुना तु यदूनां नृपमकरोत् । यदूनामाधिदैविकरूप इति तदधीनाः सर्व भगवत्कृतं मन्यन्ते ।।१२।।

व्याख्यार्थ माता पिता को धैर्य देकर मातामह को यादवों का राजा बनाया । उग्रसेन मेरा नाना है,जिसको स्पष्ट सिद्ध करने के लिए यहाँ'देवकी सुतः'नाम कहा है । आपने भक्तों के हित करने के लिए देवकी के अवतार लिया है । यह बात अनुभव से ही सिद्ध है कि जिसका पिता राजा होता है,उसकी पुत्री को निश्चित महान् भोग की प्राप्ति होती है और जिसका श्वसुर राजा होता है,उस जामाता को भी महान् भोग की प्राप्ति निश्चितता से होती है, अतः वसुदेव को राज्य न देकर उग्रसेन को दिया । जिससे जामाता वसुदेव और पुत्री देवकी को निश्चित महान् भोग प्राप्त होगा । वसुदेव को राज्य न देने का कारण यह भी था कि वह पुत्रों के मरजाने से दुःखी था । दुःखी मनुष्य राजा होने के योग्य नहीं होता है । यों कहने और करने का तात्पर्य यह है कि कंस के मारने का कारण यही

१- धैर्य

था कि जिसका राज्य कंस ने छीन लिया है, इसको मारकर पुनः जिसका राज्य पर हक़ है, उसको राज्य दूं। तात्पर्य यह है कि कंस को उग्रसेन के लिए ही मारा है। श्लोक में 'तु' शब्द इसलिए है कि भगवान् ने कंस को अपने वा अपने संबन्धी के स्वार्थ के लिए नहीं मारा, किन्तु न्याय की रक्षा के लिए कंस को मारा है। मातामह में राज्य करने की सामर्थ्य है, यह दिखाने के लिए उसका नाम उग्रसेन दिया है। अर्थात् जिसकी सेना बहुत क्रोध वाली है। पहले तो वह देश का अधिपति था, किन्तु यादव उसे ऐसा मानते नहीं थे। अब तो यादवों का राजा बना दिया, यादव पहले नहीं मानते थे तो अब उसको अपना राजा कैसे मानेंगे ? यह शङ्का मन में ही न लानी चाहिए, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण यादवों के आधि दैविक स्वरूप हैं, अतः यादव उस स्वरूप के ही आधीन हैं, अतः जो कुछ भगवान् करते हैं, उसको वे मान लेते हैं ॥१२॥

आभास—अत एव विश्वासार्थं कृत्यधिकं वाक्यमप्युक्तवानित्याह '**आह चे**'ति।

आभासार्थ—उग्रसेन को राज्य देने के अनन्तर, विश्वास दिलाने के लिए भगवान् 'आह' इस श्लोक से कहने लगे।

श्लोक—**आह चास्मान्महाराज प्रजास्त्वाज्ञप्तुमर्हसि।**
ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! हम आपकी प्रजा हैं। हमको आप आज्ञा दीजिए। ययाति के शाप के कारण यादवों को राज्यासन पर न बैठना चाहिए ॥१३॥

सुबोधिनी - **च**कारान्मनसापि तं राज्ये स्थापितवान्। यादवानां विधेयत्वार्थमाह हे **महाराज अस्मान् प्रजाः आज्ञप्तुमर्हसीति**। वयमेव प्रजाः। तु शब्देन सन्ततिरूपां प्रजां वारयति। तर्ह्यहमपि यादव इति प्रजास्वेवान्तर्भाव इति चेत्तत्राह **महाराजेति**। खण्डमण्डलाधिपतित्वं पूर्वमपि स्थितमिति यादृशी पूर्वमाज्ञापना तादृशी भविष्यतीत्याशङ्क्य महत्वमुक्तम्। राज्ञा ह्यवश्यमाज्ञापनीया इति विधिवशादेवाज्ञापनं बोध्यते नत्वाज्ञाप्यत इत्यर्थः। ननु किं स्वगृहीतं राज्यं दीयते आहोस्वित् पूर्वसिद्धमेव परिपाल्यते। आद्ये स्वयमादौ राज्यं गृहीत्वा पश्चाद्देयम्, अतस्त्वमादौ सिंहासने उपविश। द्वितीयः पक्षस्तु कंसेन त्वया च निराकृतः, महाराजत्वं चाधिकं कंसस्थम् प्रायेण, स तु तद्घातक एव भवति, नैकस्य एव तद्धर्मस्तस्मिन् प्रविशति, अतस्त्वयैव सिंहासने उपवेष्टव्यमित्याशङ्कायामाह **ययातिशापादिति**। **यदुभिर्नृपासने नासितव्यम्**, यदुर्हि ज्येष्ठ एवासीत्, सचेत्पित्रा निवारितः ततः प्रभृति न मर्यादाराज्यम्। अर्जुनादयस्तु पुष्ट्या सार्वभौमा जाताः। अत एव हताः, कंसोऽपि, भगवता तु तन्न कर्तव्यं मर्यादार्थमवतीर्ण इति। ईश्वरत्वं ज्ञापयितुं कदाचित्परं पुष्टिमवलम्बते, राज्यं तु सर्वदा पुष्टिहेतुर्भवति, यो हि यद्देशं करोति स तस्य सहजानेव धर्मान् गृह्णाति न तु केनचित्कदाचिदन्यथा कृतम्, अतोऽस्माभिः मुख्यशाखायामागतैः नासितव्यमेव। भोजत्वादयश्च प्रान्तशाखाः, अत एव विवाह उपपद्यते। भगवान् सर्वेश्वर इति चरणाधिपत्यं कस्मैचिद्दद्यादपि न तु स्वयं गृह्णीयात् वैयर्थ्यादनीश्वरत्वापत्तेः सिद्धत्वाच्च ॥१३॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में आये हुए 'च' का आशय प्रकट करते हैं कि भगवान् ने केवल देखा देखी 'उग्रसेन' को राजा नहीं बनाया है किन्तु मन से उसको राज्य गद्दी पर बिठाया है। जिसकी पुष्टि के लिए उग्रसेन को कहते हैं कि हे महाराज ! हम आपकी प्रजा हैं, अतः आप हमको आज्ञा दे सकते हैं। वह प्रजा भी सन्तान रूप प्रजा हम नहीं हैं, किन्तु 'रैवत' हैं। यदि उग्रसेन कह दे कि मैं भी यादव होने से प्रजा ही हूं तो कहते हैं कि नहीं, आप तो 'महान् राजा' हैं। आप आगे भी खण्ड-मण्डल के राजा तो थे। इस कारण जैसे पहले आज्ञा होती थी, वैसी अब भी होगी। यह शङ्का मत कीजिये, अब वह बात नहीं है, कारण कि आगे आप खंड मंडल के राजा थे अब आप महाराजा हुए हैं, इसलिए आप विधिवश अर्थात् नियम के वश होकर आज्ञा देते हैं, न कि व्यक्ति विशेष से आज्ञा करते हैं।

शङ्का करते हैं कि कंस को मारकर उसका राज्य आपने लिया, वह लिया हुआ राज्य देते हो अथवा मैं पूर्व ही राजा था, उसकी पालना करते हो ? यदि कंस से लिया हुआ राज्य देते हो तो प्रथम लिए हुए राज्य पर आपका अधिकार है,उस परआप पहले बैठें,पश्चात् इच्छा हो तो मुझे दे देना।

दूसरे प्रकार से शङ्का करते हैं कि यदि कंस ने और आपने त्याग किया है तो भी महाराजा के धर्म तो कंस में थे। वे धर्म उसके नाश करने वाले में आते हैं कारण कि वे धर्म जो निकट हैं, उसमें प्रवेश करते हैं। उसके नाशक होने से आप उसके निकट थे, अतः महाराजा के धर्म आप में आए; जिससे सिंहासन पर आपको बैठना चाहिए।

इन दोनों पक्ष की शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'ययाति शापात्' ययाति के शाप से यादवों को राजगद्दी पर नहीं बैठना चाहिए। 'यदु' बड़ा था, उसको पिता ने राज्य से हटाया, उस दिन से मर्यादा पूर्वक राज्य नहीं चला है। अर्जुन आदि तो भगवत्कृपा से 'सार्वभौम' राजा हुए हैं, अतः वे मरे और कंस भी मरा। भगवान् तो वैसा नहीं करेंगे अर्थात् मर्यादा भङ्ग नहीं करेंगे, क्योंकि मर्यादा की रक्षा के लिए तो आपने अवतार धारण किया है। अपना ईश्वरत्व दिखाने के लिए कभी अनुग्रह से कार्य करते है, राज्य तो सर्वदा अनुग्रह से ही प्राप्त होता है।

जो जिस प्रकार का वेश ग्रहण करता है, वह उसके अनुरूप धर्मों का पालन करता है। कोई भी उसके विपरीत नहीं करता है और न किसी सुज्ञ ने यों किया है। अतः हम जो यादवों की मुख्य शाखा में उत्पन्न हुए हैं इससे निश्चय किया है कि राज्य सिंहासन पर न बैठना। भोज आदि अन्तिम शाखा है, इसलिये उसमें विवाह आदि भी होते हैं। भगवान् सर्वेश्वर हैं, इसलिए भूमि का आधिपत्य किसी को भी दे, किन्तु स्वयं उसका ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि भूमिका आधिपत्य उनके लिए वृथा है तथा उसको लेने से यों सिद्ध होगा कि प्रथम ये ईश्वर अर्थात् पृथ्वी के स्वामी नहीं थे, अब हुए हैं। अतः अनीश्वरत्व की आपत्ति न आवे, इसलिए आप स्वयं राज्य नहीं करते हैं, किन्तु ईश्वरत्व तो आप में सिद्ध ही है॥१३॥

आभास—तर्हि मया कथं ग्राह्यं शापादीनां तुल्यत्वात् सामर्थ्याभावाच्चेति चेत्तत्राह '**मयि भृत्य उपासीन**' इति।

आभासार्थ—यदि ययाति के शाप से राज्य ग्रहण नहीं करना चाहिए तो मैं उसको ग्रहण कैसे करूं ? मैं भी यादव हूं; क्योंकि शाप सब के लिए समान है और मुझ में उतनी सामर्थ्य भी नहीं है, जो शाप को मिटा सकूं । अथवा उसका दुष्परिणाम हटा सकूं, इसके उत्तर में भगवान् यह 'मयि भृत्य' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः ।
बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः ।।१४।।

श्लोकार्थ—मुझ सेवक के उपस्थित होते हुए देवता आदि भी नम्र होके आपको भेटें अर्पण करेंगे तो दूसरे राजाओं की तो बात ही क्या ? ।।१४।।

सुबोधिनी—अवश्यं हि साधारणत्वं भजता कश्चित्प्रभुः स्वीकर्तव्यः । स च कंसः स्थितः, तस्य पुत्राभावात् पितापुत्रयोरैक्यात् अग्रे अनुवृत्त्यभावात् पितरि समागतः, अतः स्थित एवानूद्यते, अतो ग्रहणदाने नाप्यपेक्ष्येते । क्रौर्याभावे नाङ्गीकरिष्यन्तीति चेत्तत्राह **मयि भृत्ये उप** समीपे **आसीने** सति **भवतः** भवते **विबुधादयोऽपि बलिं** हरिष्यन्ति । ये मेर्वादिभूसंबन्धेन भोगं प्राप्नुवन्ति। **अन्ये नराधिपाः** ये केवलं भूसंबन्धिभोक्तारः ते **किं** वक्तव्याः, **अवनता** इति नम्रा न तु प्रसादरूपेण प्रसन्नाः सन्तः, नरास्तु भूमिष्ठा एव स्थूलसंघाताभिमानिनः, देवास्तु सूक्ष्मेन्द्रियाद्यधिकारिणः, भगवान् 'भर्ता सन् भ्रियमाण' इति श्रुतेः भरणीयोऽपि भवति । साधारणयादवत्वस्य क्रीडायां स्वीकृतत्वात् राजनि भृत्यत्वमुपपद्यते । यतः पुत्रत्वं वसुदेवे, लौकिक्येषा भाषा, सर्वथा भगवान् गोप्य इति फलिष्यति । मन्निमित्तं वा यो भृत्यः मदभिप्रेते स्थाने उपासीनो भवति तस्मै तुभ्यं विबुधादयोऽपि हरन्तीति वास्तवोर्थः । एवं स निरुद्ध एव, अन्यथा अतिविरक्तः कदाचित् ज्ञानार्थं वा प्रयत्नं कुर्यात् ।।१४।।

व्याख्यार्थ—साधारण जन को अवश्य किसी को भी अपना रक्षक करना आवश्यक है, वह अभी तक कंस ही था, उसके पुत्र नहीं है, पिता पुत्र एक ही रूप है, अतः यदि पुत्र न हो तो पिता में वह रक्षकत्व आता है, अतः जो राजापन आपमें स्थित है; वही हम कहते हैं इसलिए यहां यह शङ्का ही नहीं है कि मैंने राज्य लिया और आपको देता हूँ, वह तो आपका ही है. यदि उग्रसेन कह दे कि मुझे में क्रूरता नहीं है इसलिए मुझे राजा के रूप में नहीं मानेंगे, तो उसके उत्तर में कहते है कि आप निश्चिन्त रहो मैं भृत्य आपके पास बैठा हूं तो देवता भी आपको भेटें देते रहेंगे, जो देव मेरु आदि के संसर्ग से भोग करते हैं दूसरे राजा लोग जो केवल पृथ्वी के सम्बन्ध से भोग भोगते है, उनकी तो बात ही क्या है ? वे तो नम्रतापूर्वक आकर भेटें देंगे । यों भी न समझना कि वे प्रसन्न होकर भेटें देकर आपके ऊपर अनुग्रह करते हैं । मनुष्य तो पृथ्वी पर रहनेवाले स्थूल शरीराभिमानी हैं, किन्तु देवता तो सूक्ष्म इन्द्रियों के अधिकारवाले हैं । यद्यपि भगवान् सर्व के आधार हैं, तो भी अन्य को आधार बनाते हैं, जैसा कि क्रीड़ा के लिए उन्होंने साधारण यादवत्व को आधार बनाया है । भगवान् भरण कर्ता होते हुए भी भरेण्य[1] बनते हैं, जैसा कि श्रुति कहती है कि 'भर्तासन् भ्रियमाणो

१- भरण करने के योग्य

भवति' इति श्रुतिः जैसे साधारण यादवत्व स्वीकार किया है, वैसे ही यहां राजा का भृत्य बन जाना भी बन सकता है, जिससे वसुदेव का पुत्रत्व, यह लौकिकी भाषा है। इस प्रकार क्रीड़ा करने से भगवान् स्वयं गोप्य रहेंगे। मेरे लिए जो भृत्य[2] बनता है, मेरे अभिप्राय के अनुसार जो उस स्थान पर बैठ कर सेवा[3] करता है, वैसे आप राजा को भी देव आदि सर्व भेंट (कर) देंगे। इस प्रकार उग्रसेन का निरोध किया। यदि ऐसा न करते तो वह अति विरक्त होने से कदाचित् ज्ञान के लिए प्रयत्न करते; इसलिए उनका भगवान् ने निरोध किया ॥१४॥

आभास—अतो भगवान् स्वार्थमेव तं स्थापितवानिति भगवदर्थमेवेति निरोधः सिद्धः। सर्वेषां साधारणं नरोधमाह '**सर्वानि**'ति पञ्चभिः।

आभासार्थ—भगवान् ने उग्रसेन को अपने स्वर्थ के लिए राजसिंहासन पर बिठाया, यह कार्य भगवान् के लिए ही है, इस प्रकार निरोध किया। सर्व का साधारण निरोध 'सर्वान्' इस श्लोक से पांच श्लोको में कहते हैं—

श्लोक—**सर्वान्स्वाञ्ज्ञातिसंबन्धान्दिग्भ्यः कंसभयाकुलान्।**
यदुवृष्ण्यन्धकमधुदाशार्हकुकुरादिकान् ॥१५॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपने भक्त, ज्ञातिवाले तथा सम्बन्धी, कंस के भय से व्याकुल होकर दूसरी दिशाओं में चले गए थे और इसी प्रकार जो यादव, वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्ह और कुकुर आदि कुल के थे, उन* सबको बुला कर मथुरा में अपने-अपने घरों में बसाया ॥१५॥

सुबोधिनी—**स्वा** भक्ता, ज्ञातयः गोत्रिणः, संबन्धिनो विवाह्याः, स्वशब्देन भ्रातरो वा बहव एव वसुदेवपुत्राः पित्रादयश्च, एते त्रिविधाः सात्विकादयः **दिग्भ्यः** समाहूय स्वगेहेषु न्यवासयदित्युत्तरेण सम्बन्धः। दिक्षु वा कंसभयाद्गतान्, दिग्भ्य इति चतुर्थी वा, भयेन दिश एवोद्दिश्याः। अनेन पुनरागमनाभाव उक्तः। यत्र हेतुः **कंसभयाद्गतानि**ति। कंसो ह्यतिक्रूरात्मा तथैव लोके प्रसिद्धः। अत एव नन्द आह '**योवधीत्स्वस्वसुस्तोकानि**'ति। **सर्वेषामेकमेव** भयम्, षड्विधा यादवा अपि गणिताः। **यदुवृष्ण्यन्धके**ति, आदिशब्देनान्येऽपि बहवस्तद्भेदाः सन्तीति ज्ञापितम्। तत्संबन्धिनो वा ॥१५॥

२- सैर आधिभौतिक सद्रूप जगत् का भृत्य
३- मेरे सत् रूप जगत् की सेवा
* १६ श्लोक से अन्वय है

व्याख्यार्थ—'स्व' शब्द से भक्त, 'ज्ञाति' शब्द से गोत्रवाले, कहे हैं। 'सम्बन्धी' शब्द से वे समझने जिनसे कन्या का लेनदेन का सम्बन्ध है। अथवा 'सम्बन्धी' शब्द भ्रातृगण समझने। कारण कि वसुदेव के बहुत पुत्र थे और पिता आदि भी बहुत थे। ये तीन प्रकार[1] के थे, पृथक् पृथक् दिशाओं में गए हुए थे। उनको वहां से बुलाकर अपने[2] घरों में ठहराया। कंस के भय से यह विचार कर चले गए कि पुनः यहां लौटना ही नहीं है। इसलिए देश का नाम न कहकर 'दिक्' शब्द दिया है। वैसा विचार क्यों किया ? तो कहते हैं कि यह लोक में प्रसिद्ध ही है कि कंस बहुत क्रूर स्वभाववाला है, अतः नन्दजी ने भी कहा है कि, 'जिसने अपनी बहिन के छोटे बच्चों को भी मार डाला, इसी लिए सब को यह एक ही भय है। यादव छः प्रकार के गिने जाते हैं। जैसे यदु, वृष्णि, अन्धक आदि। आदि शब्द से दिखाया कि यादवों के अन्य भी बहुत भेद हैं अथवा उनके सम्बन्धी हैं ॥१५॥

आभास—न केवलमाकारणमात्रेण पूर्वसिद्धदानं किन्तु अधिकमपि दत्तवानित्याह **'सभाजितानि'**ति :

आभासार्थ—बुलाकर केवल पूर्व सिद्ध ही नहीं दिया, किन्तु अधिक भी दिया जिसका वर्णन 'सभाजितान्' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**सभाजितान्समाश्वास्य विदेशावासकर्शितान् ।**
न्यवासयत्स्वगेहेषु वित्तैः संतर्प्य विश्वकृत् ॥१६॥

श्लोकार्थ—विदेश में रहने के कारण दुर्बल हुओं को धन देकर प्रसन्न किया और आदरपूर्वक विश्वास कराके अपने घरों में लाकर निवास कराया ॥१६॥

सुबोधिनी—**सभाजिताः** सत्कारं प्रापिताः, अयं तेषां मानसो ह्यधिकः, ततः समाश्वासनं वाचनिकम्, ततः कायिकं वक्तुं तेषां श्रममाह। **विदेशावासेन** परदेशस्थित्या **कर्शितान्** दुर्बलान् धनाद्यभावेन दीनान्वा। केवलगृहेस्थित्यापि सुखं न भविष्यतीत्याशङ्क्य परदेशस्थित्या गतं धनादिकं ततोऽप्यधिकं सर्वेभ्यो दत्तवानित्याह**वित्तैः संतर्प्ये**ति। ननु राज्यस्थितं सर्वमेव द्रव्यं भक्षितं नाशितमिति कुत एतावद्दत्तवानित्याशंक्याह **विश्वकृ**दिति। स विश्वमेव कर्तुं समर्थः किं तेभ्योऽल्पदाने वक्तव्यमित्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—कंस के भय से विदेशों में गए हुए यादवों के तीन प्रकार के दुःखों को भगवान् ने निवृत्त किए, उनका सत्कार कर मानस दुःख दूर किए। आश्वासन देने से वाणी के दुःखों को मिटाया तथा विदेश में रहने से धन आदि से दुर्बल दीन बने हुए यादवों को आगे से भी विशेष धन देकर कायिक दुःख नष्ट कर अपने २ घरों में बसाया। राज्य में स्थित धन तो खाने से नष्ट हो गया फिर

१- सात्त्विक, राजस और तामस २- १६वें श्लोक से अन्वय है

कहां से इतना धन दिया ? यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आप 'विश्वकृत' हैं, उनको थोड़ा सा, धन देने में क्या है ? कुछ नहीं, अर्थात् सब कुछ दे सकते हैं ।।१६।।

आभास—एवं भगवत्कृतं दुःखाभावसुखभेदेन द्वयं निरूपितम्, अधुना तेषां प्रपञ्चविस्मृतिर्भगवदासक्तिश्च वक्तव्या, यतः स्वरूपे समागताः । स्वस्था हि सर्वे सर्वत्राधिकृता भवन्ति । एते गृहा भगवद्दत्ता इति पूर्वं संबन्धस्त्याज्यः, स तु चिन्तात्मक इति पूर्वं तदभावो निरूप्यते । राजसा हि विषयैरेव तदासक्ता भवन्ति । अतः प्रथमं तेषां भगवद्दत्तो विषयभोगो निरूप्यते । इयमेव प्रपञ्चविस्मृतिः, तस्य तथात्वं निरूपयता भगवदासक्तिस्ततो निरूप्यते । तस्य च फलं कालातिक्रम इति राजसत्वात् फलमपि निरूप्यते । परमैहिकम्, तत्र प्रथममाह '**कृष्णसंकर्षणभुजैरि**'ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने दुःख मिटाया और सुख दिया, इन दोनों का निरूपण हुआ । अब उनकी प्रपञ्च विस्मृति और भगवान् में आसक्ति कहनी है, कारण कि स्वरूप में आगए हैं अर्थात् वे अब सर्व प्रकार सुखी हो गए हैं । स्वस्थ ही सर्वत्र अधिकारी होते हैं । उनके ये घर अब आगे वाले लौकिक नहीं रहे हैं, किन्तु भगवान् के दिए हुए हैं, अतः अलौकिक हैं । वे लौकिक घर तो चिन्ता उत्पन्न करने वाले थे । अब इन घरों में चिन्ता नहीं, राजस विषयों से ही आसक्त होते हैं । अतः प्रथम उनको भगवान् के दिए हुए विषय भोग का वर्णन करते हैं । यह ही प्रपञ्च की विस्मृति है, उसका तथात्व (वैसा ही पन) निरूपण करने के पश्चात् भगवदासक्ति निरूपण की जाती है और जिसका फल काल का अति क्रम है । यों राजस होने से फल भी निरूपण किया जाता है; किन्तु वह फल लौकिक है, जिसका प्रथम 'कृष्ण संकर्षण' श्लोक से वर्णन करते है—

श्लोक— **कृष्णसंकर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः ।**
गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामागतज्वराः ।।१७।।

श्लोकार्थ—बाहर से बुलाए गए यादव श्रीकृष्ण एवं बलरामजी से सुरक्षित होकर सर्व प्रकार से सिद्ध मनोरथ हुए । श्रीकृष्ण तथा राम के मिलने से उनके सब दुःख मिट गए, जिससे वे आनन्दित होकर घरों में रमण करने लगे ।।१७।।

सुबोधिनी—कृष्णसंकर्षणयोर्भुजाः, एकः फलात्मा, अन्यो जीवं ब्रह्मणि सम्यगाकर्षति इति साधनरूपः, तयोः क्रियाशक्तयः सर्वपुरुषार्थसाधिकाः, ता हि नियतफलाः, अतस्ते सर्वे **गुप्ता लब्धमनोरथाश्च** जाताः दुःखाभावपूर्वकं सुखं प्राप्तवन्तः । अग्रेऽपि भयाभावाय गोपनम् । अन्यथानुभूतभयाः, कंससम्बन्धिनां जरासन्धादीनां विद्यमानत्वात् । अतो निश्चिन्ता अन्तर्बहिःखेदरहिता **गृहेषु रेमिरे** । इदं रमणं मुक्त्युत्तरकालीनमिव । तदाह **सिद्धा** इति । तत्तत्कामनया पीडितास्तथा रमणं कृतवन्त इतिपक्षो निवारितः । चिन्ताभावायाह **कृष्णरामाभ्यां** सर्वतो **विगतज्वरा** आध्यात्मिकादितापा मुक्तानामपि भवन्तीति तदर्थमुक्तं सिद्धानां तापाभावलक्षणम्।

कृष्णरामौ फलसाधनभूतौ। अथवा तेषां संसारे भगवद्दत्ते आपाततो रमणमुक्त्वा निषेधति निरोधार्थम्। कृष्णरामाभ्यां कृत्वा आगतः अगतो वा ज्वरो येषाम्, गोपिकावत्सर्व एवैते विरहातुरा सर्वदा भवन्तीति, तासां तु गुणैरपि रमणं भवति। एतेषां तु तदपि नास्तीत्युभयोर्ग्रहणम्। ॥१७॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण फल रूप हैं और बलरामजी जीव को ब्रह्म की तरफ खींचते हैं । अतः वह साधन रूप हैं, उन दोनों की क्रिया शक्तिएँ सर्व फल को सिद्ध करने वाली होने से नियम से फल देने वाली हैं। अतः वे सब रक्षित तथा पूर्ण मनोरथ वाली हैं अर्थात् उनके दुःख मिट गए और उनको सुख की पूर्ण प्राप्ति हुई। आगे भी भय न हो, इसलिए रक्षण है। यदि रक्षण न किया जावे तो अब भी भय का अनुभव हो रहा है, क्योंकि कंस के सम्बन्धी जरासंघ आदि विद्यमान[1] हैं।

भगवान् से रक्षित होने के कारण निश्चिन्त[2] बन घरों में रमण करने लगे। यह रमण, मुक्ति मिलने के अनन्तर मिलने वाले सुख के समान है, इसलिए कहा है कि 'सिद्ध' है अर्थात् उनका यह रमण निष्काम है। कामनाओं से पीड़ित होकर रमण नहीं करते हैं। इनको सिद्ध इसलिए भी कहा है कि जो आध्यात्मिक ताप मुक्तों को भी होता है, वह भी इनको नहीं होता है, कारण कि इनके ये ताप कृष्ण तथा राम ने नष्ट कर दिए हैं। कृष्ण और राम फल तथा साधन रूप हैं, अथवा भगवान् के दिए हुए संसार में उनका रमण कह कर फिर निरोध के लिए उनका निषेध करते हैं। उनमें कृष्ण और राम के मिलने के लिए ज्वर[3] उत्पन्न हुआ है, शेष ज्वर नष्ट हो गए हैं। ये भी गोपिकाओं के समान विरह से सदैव आतुर रहते हैं। गोपिओं का तो गुणों द्वारा भी रमण होता है। इनको तो वह भी नहीं है, इसलिए दोनों का ग्रहण है ॥१७॥

आभास—एतदेव साधयितुं भगवदासक्तिमाह '**वीक्षन्त**' इति।

आभासार्थ—इसको सिद्ध करने के लिए भगवान् की आसक्ति का निरूपण 'वीक्षन्तो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम्।
नित्यं प्रमुदितं श्रीमत्सदयस्मितवीक्षणम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—नित्य आनन्द से पूर्ण, शोभा युक्त, दया सहित मंद हास्यपूर्वक दृष्टि वाले श्रीकृष्णचन्द्र के मुख कमल को देखने से प्रसन्न हो गए हैं ॥१८॥

१- मौजूद, २- अन्दर और बाहर दोनों प्रकार से चिन्ता रहित,
३- ताप

सुबोधिनी—अहरहः प्रतिदिनं **मुकुन्दवदनाम्बुजं वीक्षन्तः** प्रमुदिता जाताः, प्रतिक्षणमपूर्वेव प्रीतिः, अतः परमार्थज्ञानाभावेऽपि वस्तुसामर्थ्यादेव भगवन्मुखारविन्ददर्शनं **नित्यमुदितं** प्रीतिमुत्पादयति **नित्यनूतनं** नित्यनूतनाम्। वस्तुतस्तु रसस्यैवायं स्वभावः। आदौ प्रीतिस्तु आकाङ्क्षावशादिति वस्त्वरसभूतमेव विषयबलाज्जायमाना तु प्रीतिः सर्वदैव जायते अत एव लौकिकोपाख्याने सूपकारविद्यायां तथा रसः प्रसिद्धः, 'रसो वै सः रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवती'ति श्रुतेश्च, हीति युक्तता लोकवेदसिद्धा। अन्यथा आनन्दमेव प्राप्यानन्दीभवतीति वक्तव्यं स्यात्। अत एव कामशास्त्रोपयोगश्च। सहजश्च कामः इन्द्रियवदाकाङ्क्षारूपः न पुरुषार्थं साधयति। ननु विषयत्वेनात्रासक्तौ बन्धः स्यात् इत्याशङ्क्य **मुकुन्द** इति। तस्य रसरूपस्य मुखारविन्दस्य कदाचित्तिरोभावे प्रीता न भविष्यन्तीति आशङ्क्य नित्यप्रमुदितत्वमाह तर्हि **रसपुरस्सरमेवानन्दं जनयतीति** रूपाद्यपेक्षार्थमन्यासक्तिः स्यात्। यद्यपि विषया दत्ताः तथापि कामः समुद्र इति समुद्र इव हि कामः नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्येति श्रुतेः। अत आह **श्रीमदिति**। तल्लक्ष्मीयुक्तं सर्वविषयरूपम्, तथापि सर्वलौकिकसिद्धावपि धर्मार्थं भक्त्यर्थं ज्ञानार्थं च अन्यासक्तिरवश्यमपेक्षितेत्याशङ्क्याह **सदयस्मितवीक्षणमिति**। दया धर्मस्थानीया तदात्मको धर्म इति, स्मितं भक्तिस्थानीयम्, वीक्षितं ज्ञानरूपम्, त्रितयमपि मुखारविन्दे वर्तत इति काण्डत्रयार्थमपि अन्यापेक्षा न युक्तेत्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—प्रति दिन श्रीकृष्ण के मुख कमल को देखते हुए प्रसन्न होते हैं। कारण कि प्रतिक्षण नवीन आनंद प्राप्त होता है, अतः वास्तविक ज्ञान के अभाव होते हुए भी वस्तु सामर्थ्य से ही भगवान् के मुखारविन्द का दर्शन नूतन नूतन रस उत्पन्न करता है। वह रस नित्य नूतन है, अतः प्रीति भी नित्य नूतन ही होती है। निःसन्देह[1] रस का ही यह स्वभाव है। प्रथम तो चाह के कारण प्रीति होती है। वस्तु में कोई रस नहीं, विषय के बल से उत्पन्न प्रीति सर्वदा ही होती है, इससे ही लौकिक में पाचक की विद्या में रस प्रसिद्ध हो है। 'रसो वै सः रसँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवती' इति श्रुतेः वह निश्चय रस है, रस को प्राप्त कर आनन्दवाला होता है। श्रुति में 'हि' शब्द देने का भाव यह है कि लोक तथा वेद में यह बात सिद्ध ही है कि 'रस' से आनन्द प्राप्त होता है। यदि यों न हो तो जो श्रुति कहती है कि 'आनन्दमेव प्राप्य आनन्दी भवति' आनन्द को प्राप्त कर आनन्द वाला होता है, इस कारण से ही काम शास्त्र का उपयोग होता है। सहज काम तो इन्द्रियों के समान केवल आकाङ्क्षा वाला होता है, जो किसी प्रकार पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता है।

यों भी शङ्का नहीं करनी कि यहां विषयपन के कारण आसक्ति होने से—वह बंधनकारक होती है, इस पर कहते हैं कि बन्धन कारक नहीं होगी, क्योंकि 'मुकुन्दः' मुक्ति देने वाले हैं।

यह भी शङ्का नहीं करनी कि कदाचित् मुखारविन्द जो रस रूप है, वह रस रूप तिरोहित हो जावे तो फिर आनन्दित न होंगे, कारण कि वह (मुखारविन्द) नित्य रस से प्रमुदित रहता है, अतः रस पूर्वक आनन्द देता है, तो फिर रूप आदि की अपेक्षा से अन्य में आसक्ति होगी। यद्यपि भगवान् ने विषय दिए, किन्तु श्रुति कहती है कि काम समुद्र है। समुद्र के समान काम है, जिससे

१- बिना संशय अर्थात् सचमुच

जैसे समुद्र का अन्त नहीं होता है वैसे काम का भी अन्त नहीं होता है। जिसके उत्तर में कहते हैं कि रूप आदि की अपेक्षा से भी अन्यासक्ति न होगी, क्योंकि आप लक्ष्मी युक्त होने से सर्व विषय रूप हैं; जिससे अन्यासक्ति न होगी, सर्व लौकिक सिद्धि हो जावे तो धर्म, ज्ञान और भक्ति के लिए अन्य की आसक्ति की अवश्य अपेक्षा रहती है, इस प्रकार की शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आप का मुखारविन्द सदा ही दया, मन्दहास्य, वीक्षण युक्त है। जिससे दिखाते हैं कि मुझ में दया है;वह धर्म रूप है, 'मन्दहास्य' भक्ति रूप है, 'वीक्षण' ज्ञान रूप है, ये तीनों मुखारविन्द में हैं। अतः कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों की सिद्धि के लिए भी दूसरे की अपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् सर्व की सिद्धि मेरे मुखारविन्द से हो जाती है तो दूसरे की अपेक्षा क्यों की जावे ॥१८॥

आभास—एवं निरुद्धानां कालातिक्रममाह '**तत्र प्रवयस**' इति।

आभासार्थ—इस प्रकार निरुद्धों के 'कालातिक्रमण' का वर्णन इस 'तत्र प्रवयसो' श्लोक में करते है।

श्लोक—**तत्र प्रवयसोऽप्यासन्युवानोऽतिबलौजसः।**
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः ॥१९॥

श्लोकार्थ—वहाँ मुकुन्द के मुख कमल की सुधा को बार-बार आँखों से पीते हुए, बूढ़े भी जवान और अतिशय बलवान बन गए ॥१९॥

सुबोधिनी—अग्रे कालातिक्रमो न भविष्यतीति न वक्तव्यमेव,योऽपि विषयः कालेन भक्षितः सोऽपि तस्य मुखात् निष्कास्यते। तदाह **ये प्रवयसः स्थिताः वृद्धाः**, वार्धक्ये बहिः शरीरकान्तिः अन्तर्बलं च गच्छति, तदुभयमाह **युवानो**ऽपि जाताः **अतिबलीयसश्चे**ति। अलौकिकसामर्थ्यात् तथात्वमाशङ्क्याह **पिबन्तोऽक्षैरि**ति। **मुखाम्बुजसुधां** पिबन्त एव तथा जाताः। ननु सुधाया अपि न तथा साधकत्वम्, यतस्त्रिदशाः कालेन च ग्रासं प्राप्नुवन्ति। अत आह **मोक्षदातुर्मुकुन्दस्ये**ति। यो हि आत्मस्वरूपं प्रयच्छति स कालातिक्रमं कारयत्येव, तत्रापि तस्य मुखं प्रधानभूतम्, तत्राप्यम्बुज परमशान्तं सर्वतापनाशकं स्वभावत एव तादृशधर्मयुक्तम्, तत्रत्या च सुधा अलौकिकी भवत्येवेति कालेन भक्षितपदार्थानामपि पुनरुद्गमन युक्तमेव, तत्रापि **मुहु**रिति। अनेन तेषाममृतमयत्वमेव युक्तं कियदेतद्यदतिबलिष्ठत्वादि। ॥१९॥

व्याख्यार्थ—आगे काल का अतिक्रम न होगा, यों कहना ही नहीं चाहिए। जिस विषय को काल ने ग्रस लिया है; उसको काल के मुख से निकालते हैं, उसको कहते हैं कि जिन पुरुषों के अन्दर का बल और शरीर की कान्ति को काल ने ग्रस कर उनको वृद्ध बना दिया था उनको पुनः बल तथा कान्ति देकर युवा बना दिए। यों यह अलौकिक बल से किया होगा ? तो कहते हैं कि नहीं, वे बूढे से युवा कृष्ण के मुख कमल की सुधा को आंखों से पीकर हो गए हैं। इस पर यह शङ्का होती है कि सुधा भी काल से छुड़ा नहीं सकता है, क्योंकि अमृत पीने वाले देव गण भी काल के ग्रास होने ही हैं। इस शङ्का को भी मिटाने के लिए कहते हैं कि 'मुकुन्द' श्रीकृष्ण मुक्ति दाता है,

जो मुक्ति में अपने स्वरूप का दान करते हैं वह काल का अतिक्रम कराता ही है। उसमें भी आपका 'मुख' मुख्य है, उसमें भी वह अम्बुज[1] होने से सर्व तापों का नाशक है। स्वभाव से ही वैसे धर्म वाला है,वहां[2] रही हुई 'सुधा' अलौकिक ही है,इसलिए सुधा से काल ने जिनको ग्रस लिया है, उनका फिर उत्पन्न होना युक्त ही है। फिर उसमें भी उस सुधा का बार बार पान करना तो उनका अमृत मय बनाना योग्य ही है। जो सुधा अमृत मय बना देती है, वह सुधा अति बलिष्ट युवा बना दे तो कुछ बड़ी बात नहीं है ॥१९॥

आभास—एवं सर्वेषां निरोधमुक्त्वा नन्दादीनां प्रस्थापनेन तामसानामप्युत्कर्षार्थं राजसप्रकरणे विशेषमाह '**अथ नन्दमि**'ति षड्भिः।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्व का निरोध कहकर नन्द आदि को व्रज में रवाना करते, तामसों के भी उत्कर्ष कहने के लिए राजस प्रकरण में 'अथ नन्द'श्लोक से छः श्लोकों में विशेष वर्णन करते हैं।

श्लोक—**अथ नन्दं समासाद्य भगवान्देवकीसुतः।**
संकर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! फिर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी नन्दरायजी के निकट आ, आलिङ्गन कर यह कहने लगे ॥२०॥

सुबोधिनी- भगवतैव षड्गुणैस्ते व्यावर्तिताः | अतिबलेन। अन्यथा अव्यावृत्ता एव भवेयुरिति।

व्याख्यार्थ भगवान् ने ही छः गुणो से उनको जबर्दस्ती से रवाना किया, यों नहीं करते तो वे गोकुल नहीं जाते।

कारिका—**संभाषणार्थमुद्योगः पूर्वस्थापनमेव च**
निराकृतिश्च बाधानां प्रेषणाज्ञापनं ततः।
दानं च प्रीतिसंसिद्धयै गमनं चापि रूप्यते ॥

कारिकार्थ—संभाषण के लिए उद्योग,पुत्रत्व की स्थापना, दुःखों का निराकरण, जाने की आज्ञा, प्रेम की सिद्धि के लिए दान और गमन; इनका निरूपण किया जाता है ॥१॥

१- कमल, २- मुख में

सुबोधिनी—**अथे**ति भिन्नप्रक्रमे, प्रामाणिकत्वं दासत्वं स्वामित्वं च निरूपितम्। पुनः संस्थानतासिद्धयै नन्दसामीप्यमागतौ। सम्यगासाद्य पूर्ववदेव भगवदिच्छाया बलिष्ठत्वात् पुत्रप्रतीतिदृढोत्पादितेति। अन्यथाशङ्काभावात् सम्यगेवासाद्य **भगवान्** सर्वसमर्थः प्रत्यक्षदृष्टमप्यन्यथाकर्तुं समर्थ, प्रेषणार्थं **संकर्षणश्च**, उभौ मिलित्वेदमूचतुः। उभयोरप्यन्यपुत्रत्वेन तुल्यत्वात् समानभावं च ख्यापितवन्तौ। नन्वेवं किमिति कृतवान् कथं गोकुलपर्यन्तं न गत इति चेत्तत्राह **देवकीसुत** इति। तर्हि बलभद्रः कथं न गत इत्याशङ्कयाह **संकर्षण** इति। चकारात्सोऽपि **देवकीसुतः**। तर्हि कथं रोहिणीसुत इत्याशङ्कय तदुदरापादकं धर्मं सूचयितुं संकर्षण इत्याह। **राजेन्द्रे**ति महामन्त्रयुक्तानां राज्ञामयं धर्म इति बोधयति। परिष्वङ्गः विरहाभावाय स्वधर्मस्थापनार्थः। बालो हि दूरादागत्य पितरमालिङ्गते। **इदं** वक्ष्यमाणम्॥२०॥

व्याख्यार्थ—अन्य विषय का प्रारम्भ होता है, अतः 'अथ' शब्द श्लोक के प्रारम्भ में दिया है। पूर्व में प्रामाणिकत्व, दासत्व स्वामित्व का निरूपण किया, पश्चात् सम्यक् प्रकार से स्थान की सिद्धि के लिए नन्द के समीप दोनों भाई आए। भगवान् की इच्छा बलिष्ठ होने के कारण, सुन्दर रीति से आकर पूर्व की तरह पुत्र की प्रतीति दृढ बनाई, क्योंकि वैसा न करते तो नन्द के मन में शङ्का रह जाती, वह न रहे, इस लिए यों मनहर ढंग से आकर पुत्र प्रतीति दृढ़ बनादी। प्रत्यक्ष देखते हुए भी शङ्का कैसे मिटी ? तो कहते हैं कि 'भगवान्' अन्यथा करने में समर्थ हैं, अतः वसुदेव को पिता समझ उसके पास जा रहे हैं। यह प्रत्यक्ष देखकर भी नन्द की शङ्का मिट गई। वही पूर्ववत् पुत्र की प्रतीति होने लगी। नन्दराय जी को गोकुल रवाना करना है,इसलिए संकर्षण को साथ लाए हैं। दोनों अन्य के पुत्र होने से समान ही हैं अतः भाव भी समान ही दिखाने लगे। इस प्रकार क्यों किया ? गोकुल पर्यन्त साथ क्यों न गए ? इस पर कहते हैं कि यह कृष्ण तो देवकी के पुत्र हैं वह कैसे जाए ? बलभद्र क्यों न गया ? वह सङ्कर्षण है अर्थात् देवकी पुत्र है, योगमाया देवकी के गर्भ से खींचकर वहां स्थापित कर आई थी, इसलिए श्लोक में 'च' शब्द दिया है। इसको रोहिणी सुत क्यों कहा जाता है ? इस पर कहते हैं कि रोहिणी के गर्भ में देवकी के गर्भ से खींचकर स्थापित किया गया था। इस धर्म की सूचना करने के लिये 'संकर्षण' नाम यहां दिया गया हैं। राजा को राजेन्द्र' ! यह संबोधन यह जताने के लिए दिया है कि महती मन्त्रणा करने वाले राजाओं का यह धर्म है। आलिङ्गन करने का भाव कहते हैं १-विरह मिट जावे, २-अपने धर्म नन्द में स्थापित हो जावें, बालक दूर से पिता को देखता है, तो त्वरा से आकर आलिङ्गन करता है, 'इदं' पद का जो आशय है, वह आगे कहना है ॥२०॥

आभास—तदेवाह **'पितरि'**ति त्रिभिः।

आभासार्थ—वह ही 'पितर्युवाभ्यां' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—रामकृष्णावूचतुः—**पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम्।**
पित्रोरप्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि ॥२१॥

श्लोकार्थ—राम और कृष्ण कहने लगे कि हे पिता ! आपने स्नेह के साथ चिर काल तक हमें पाला और पोषा, अपने पुत्रों पर माता-पिता जैसी प्रीति रखते हैं,उससे अधिक प्रीति आपने हम पर रखी है ।२१॥

सुबोधिनी—आदौ पूर्वकृतस्य परिपालनस्याभिनन्दनमाह । **पितरिति** संबोधनं पूर्ववत् तस्योपकारमनुवर्दति । **स्निग्धाभ्यां युवाभ्यां** यशोदानन्दाभ्यां **भृशं पोषितौ लालितौ** च आवां । यथा जनकः तथैव पोषकः । तद् वक्ष्यति । धर्मार्थमपि पालनं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं **स्निग्धाभ्यामिति** । पोषणमात्रं स्नेहेनापि भ्रात्रादिष्वपि संभवति एतदर्थमाह **लालिताविति** । अल्पलालनं बालत्वाद्भ्रातृपुत्रादावपि भवति ततः आह **भृशमिति**। स्वशरीरापेक्षयाप्यधिकं लालितौ, एतच्च लालनं पुत्र एव भवति । **किञ्च**, न केवलं लालनं बाह्यमान्तरः स्नेहोप्यसाधारणः आवयोः कृत इति **पित्रोरप्यधिका प्रीतिरिति**,**आत्मनोप्यधिकात्मजेषु** पित्रोरेव भवति । क्षेत्रजादिव्यावृत्त्यर्थमात्मजेष्वित्युक्तम् । 'प्रजाह्यात्मनोन्तरतरे'पि श्रुतेः लोकेऽपि स्वानिष्टं परं वाञ्छन्ति न पुत्रस्य,तदाह **ह्रीति** ॥२१॥

व्याख्यार्थ—प्रथम, जो पहले पालन किया है उसके लिए नम्र प्रार्थना पूर्वक प्रशंसा करते हैं । हे पिता ! इस प्रकार के संबोधन से पूर्व की तरह उपकार को प्रकट करते हैं । हम दोनों को आप दोनों (नंद-यशोदाजी) ने अच्छी तरह से प्रेम पूर्वक पाला है और दुलार किया है, क्योंकि आप स्वयं प्रेमी हो । जैसा जन्म देने वाला वैसा ही पालन करने वाला पिता है । उसका विवेचन करते है कि धर्म के लिए भी पालन होता है अर्थात् मैं पिता हूँ; इसलिए मेरा धर्म है कि पालन करना; यों समझ पालन किया. किन्तु आपने तो स्नेह पूर्वक पालन किया, धर्म समझकर नहीं किया । यदि आप कहो कि स्नेह से पालन तो भ्राता आदि का भी होता है, तो जिसके उत्तर में कहते हैं कि आपने केवल पालन नहीं किया; किन्तु पुत्र समझ लाड़ भी लड़ाया । लाड़ तो भ्राता के पुत्रों को भी लड़ाया जाता है, इस पर कहते है कि वह लाड़ लड़ाना अल्प होता है, हमको तो आपने बहुत दुलार से लाड़ लड़ाया हैं, यहां तक कि अपने शरीर से भी विशेष लाड़ हमको लड़ाया । इस प्रकार का दुलार वा प्यार पुत्र से ही होता हैं । किञ्च आपने यह लालन केवल बाहर दिखावटी नही किया है, किन्तु आन्तरिक प्रेम से पिता से भी अधिक लालन किया है । अपने से भी विशेष प्रीति (प्रेम), माता पिता की पुत्रों में ही होती है । श्लोक में 'आत्मजेषु' पद देकर यह बताया है । इसी प्रकार का प्रेम क्षेत्रज पुत्रों में नहीं होता है, कारण कि श्रुति कहता है कि 'प्रजा अन्तरतर आत्मा हैं' जिससे पिता माता अपना अनिष्ट हो उसको परवाह नहीं करते हैं, किन्तु प्रजा का किञ्चित् मात्र अनिष्ट न हो यही चाहते हैं, इसलिए श्लोक में 'हि' शब्द देकर कहा है कि यह निश्चय ही है ॥२१॥

आभास—ननु सहजे पुत्रे एतदुचितं न तु कृत्रिम इत्याशङ्क्याह **'स पिता सा च जननी'**ति ।

आभासार्थ—यदि आप कहो, कि जो कुछ कह रहे हो वह सहज पुत्र में स्नेह आदि होते हैं किन्तु 'कृत्रिम' में नहीं होते हैं, तो उसके उत्तर में मेरा यह कहना है, वह वर्णन 'स पिता सा च जननी' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् ।
शिशून्बन्धुभिरुत्सृष्टानकल्पैः पोषरक्षणे ॥२२॥

श्लोकार्थ—पालन करने में असमर्थ बान्धव[1], जिन बालकों का त्याग कर देते हैं, उन बालकों का जो प्रेम से पालन करते हैं; वे ही सच्चे माता-पिता हैं ॥२२॥

सुबोधिनी--पितृत्वं पुत्रत्वं वा अन्नविकारत्वात् आत्मत्वेन परिगृहीतान्तःकोशो भवति । तदन्नं साधारणम्, तत्र यद्यन्य एवाभिमानं कुर्यात् तादृशं तदा तस्यैव भवति, अन्नस्य साधारणत्वात्, अन्यथा अन्योद्भवे भर्तरि भार्यायां च स्वाधिकस्नेहो न स्यात् । स्नेहश्च कालीयप्रसङ्गे परीक्षितः । न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम । अतः सिद्धमेव पुत्रत्वं च स्नेहानुभवाभ्याम् । ननु लोके तथा न प्रसिद्धिः । पुत्र एव परं तथा स्नेहाभावेऽपि प्रसिद्धिः, तत्राह **यौ स्वपुत्रवत् पुष्णीताम्** । लोकेऽपि स एव पिता सैव जननी इति प्रसिद्धिः । एकेन परिपालने उपचारोपि भवेत् न तु उभाभ्याम्, बहुभिरप्युपचारः, तत्रापि पोषणे बाह्याभ्यन्तर्भाव पुत्र एव भवति चेत्तदा लोक इव स्वहृदयेऽपि सम्भवति । तत्रापि विशेषः **बन्धुभिः** सर्वैरेव **उत्सृष्टान्पुष्णीतः**, परित्यागेन दानरूपं परित्याजनं किन्तु **पोषरक्षणे**, पोषणं रक्षणं च एकवद्भावेन निरूपितम् । अन्यतरसामर्थ्यनिराकरणाय, तत्रासमर्थैः सर्वथा ॥२२॥

व्याख्यार्थ – पितापन वा पुत्रपन ये दोनों अन्न के विकार हैं । आत्मापन से ग्रहण किया हुआ अन्तः कोश है । अन्न तो साधारण कारण है । उसमें[2] यदि दूसरा कोई अभिमान करे अर्थात् दूसरा कोई अपना अधिकार कहे तो वह उसका अन्न खिलानेवाले का हो सकता है । अन्न साधारण कारण है, यदि वैसा न होवे तो अन्य से उत्पन्न भर्ता में एवं पत्नी में परस्पर अपने से अधिक प्रेम न हो, किन्तु होता है । आपका मुझ में कितना विशेष स्नेह है, जिसकी परीक्षा कालीयदमन लीला में हो गई है । जो आंखों देखी है, उसमें कुछ भी शङ्का नहीं हैं । स्नेह तथा अनुभव से हम में पुत्रत्व सिद्ध ही है । शङ्का नहीं करनी कि यदि तुम पुत्र हो तो लोक में प्रसिद्धि क्यों नहीं है ? पुत्र की तो स्नेह के अभाव में भी प्रसिद्धि है, क्योंकि लोक में वह भी प्रसिद्ध है, जो स्नेह से स्वपुत्रवत् जिसका पालन करते हैं वे ही उसके माता तथा पिता हैं । एक पालन करे तो सेवा आदि कहा जावे, किन्तु दो या बहुत करें तो वह उपचार नहीं कहाता है । जिसमें भी पालना करते समय भीतर तथा बाहर का भाव, लोक जैसा पुत्र में ही देखता है, वैसा अपने हृदय में होता है । तात्पर्य यह है कि पोषण कर्ता जिस भीतर तथा बाहर के भाव से पालन करता है उसका प्रभाव पुत्र पर, लोक पर एवं पालन कर्ता के हृदय पर वैसा ही दीखता है । उसमें भी विशेषता यह है कि सर्व बान्धवों से हम त्यागे हुए हैं । उनका आपने पालन पोषण किया है, यह त्याग, दान रूप है । यहां पोषण और रक्षण साथ में ही कह दिए हैं । वे बान्धव एक भी करने में सर्वथा असमर्थ थे । न पोषण और न रक्षण कर सकते थे, वैसी अवस्था में आपने दोनों किए हैं, अतः आप हमारे माता पिता हैं ॥२२॥

१– पिता, माता और भ्राता आदि, २– शरीर में

आभास—एवं पूर्वसिद्धं पितृत्वं स्थापयित्वा सर्वस्वं च निवेद्य आज्ञापयति **'यात यूयमि'**ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार नन्दजी का पूर्व ही सिद्ध पितापन स्थापन कर और सब कुछ अर्पण कर पश्चात् इस श्लोक 'यात यूयं' में जाने की आज्ञा देते हैं ।

श्लोक—**यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान् ।**
ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—हे तात! आप सब व्रज को पधारें, हम भी स्नेह से दुःखित जातिवालों को तथा आपको देखने के लिए इन बान्धवों को सुख देकर वहाँ आवेंगे ॥२३॥

सुबोधिनी—यूयं सर्वे गोपालाः **व्रजं यात,वयं च** कार्यार्थं यास्याम इति **चकारार्थः** । भवन्तः कुत्र गमिष्यन्तीत्याशङ्क्य देवगुह्यत्वात् परोक्षेणाह **ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्याम** इति । गोपेष्वात्मभावः प्रापित इति सर्वात्मकता तेषु सिद्धा, अतस्त एव ज्ञातयो भवन्ति ये यादवगोत्रजाः । अथवा । वयमिति अस्मत्संबन्धिनः पुत्रादयोऽपि सर्वे भवतामेवेति । वयं सर्वे भवतामेव ज्ञातयः । भवन्तश्चास्माकमयमधिको वरो दत्तः, अत एवाद्यापि गोकुलसम्बन्ध्येव भगवान् कीर्त्यते । विवाहादिष्वपि बलादेव विवाहः, भगवदिच्छयैव सर्वलोकानामपि तथा प्रतीतिः, अत एव रुक्मिवचनं गोपाला इति, तथैव श्रुतावुपासनाकाण्डेऽपि मन्त्राः । तस्माद्भवन्त एव ज्ञातयः, तथाप्येतेऽपि **सुहृदः**, अतस्तेषां **सुखं विधाय** पश्चादागमिष्यामः, **ज्ञातीनेव द्रष्टुं** न तु गोकुल इत्यपि, अत एव भगवान् वक्ष्यति 'गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचेतस इति' । आगमने हेतुः **स्नेहदुःखितानिति** । नत्वन्यद्भयं भविष्यतीति भावः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—आप सब गोप व्रज में जाओ, हम कार्य के लिए अन्यत्र जावेंगे यह 'च' का आशय है । आप कहाँ जावेंगे वैसी शङ्का के उत्तर में गुप्त प्रकार से कहते हैं, क्योंकि देव सदा ही परोक्ष प्रिय होने से गुह्य ही कहते हैं । हमारे जो आप जातिवाले हो, उनको देखने के लिए आवेंगे, यों कहकर गोपों में आत्मभाव स्थापन किया है । जिससे उनमें सर्वात्म भाव की सिद्धि की है, अतः वे ही जाति वाले होते हैं; जो यादव कुल में जन्मे हैं, अथवा 'वयम्' कह कर यह बताया कि हमारे पुत्र आदि सब आपके ही हैं, हम आपके ही जातिवाले हैं, आप हमारी जाति के हैं, यह विशेष वर दिया। इस कारण से ही भगवान् आज तक 'गोकुल के' कहे जाते हैं । विवाहादि भी बल से ही होते हैं । भगवान् की इच्छा से सर्व लोक में भी इस प्रकार की प्रतीति हो रही है । रुक्मी ने भी हमारे लिए कहा है कि आप 'गोप' हैं, उपासना काण्ड में भी 'वैसे ही' मन्त्र हैं, इस कारण से आप ही जातिवाले हैं, तो भी ये भी सुहृद हैं, इसलिए इनको सुख देकर पीछे आऊंगा । जातिवालों को देखने केलिए ही आऊंगा, न कि गोकुल में आऊंगा जिसका वर्णन भगवान् 'गतांश्चिरायीतान् शत्रु पक्ष क्षपण चेतसः श्लोक में करेंगे । हमारे आने का कारण केवल यह है कि स्नेह से आपको मेरे विरह से दुःख होगा, जिसको मिटाने के लिए ही मैं आऊंगा, न कि अन्य कोई भय होगा, यह भाव है ॥२३॥

आभास—एवं त्रयमुक्तं अलौकिकम्। लौकिकमपि बहु दत्तवान् इत्याह '**एवं सान्त्वय्ये**'ति।

आभासार्थ—इस प्रकार तीन अलौकिक कहे, लौकिक भी बहुत दिए। जिसका वर्णन 'एवं सान्तवय्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**एवं सान्त्वय्य भगवान्नन्दं सव्रजमच्युतः।**
वासोलङ्कारकुप्याग्रैरर्हयामास सादरम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार भगवान् ने व्रज सहित नन्दरायजी को सान्त्वना दे, वस्त्र, आभूषण, काँसे-पीतल आदि के बर्तन देकर आदर सहित उनकी पूजा की ॥२४॥

सुबोधिनी—भगवानित्यङ्गीकारे सामर्थ्यम्। ननु कथमेवं पूर्वमर्थं स्थापितवान्। लीलार्थमेव हि तत्र गतः, सेवकाश्च ते, कस्तेषामनुरोध इति चेत्तत्राह **अच्युत** इति। स हि सर्वदा च्युतिरहितः, पूर्वधर्मपरित्यागे धर्मतश्च्युतिः स्यात्। न केवलं गोपालानेवार्हयामास किन्तु **सव्रजमि**ति, स्त्रीणां पुरुषाणां च सर्वेषामेवार्थे वस्त्राण्याभरणानि च दत्तवान्। **कुप्याग्रा**णि व्यवहारपात्राणि सुवर्ण-रजतातिरिक्तधातुमयानि। **सादरमि**ति प्रत्येकं नामग्रहणेन गृहस्थवत्, न तु महाराजवत् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—'भगवान्' विशेषण देकर बताया है कि यह अङ्गीकार करने में समर्थ है। इतना जो द्रव्य दिया वह प्रथम कहाँ रखा था? वे तो खेल के लिए वहां गए थे, वे और सेवक साथ थे, उनके पास स्वामी की अभिलाषा पूरी करने की इच्छानुरूप सामग्री कैसे आई? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अच्युतः। आप अच्युत हैं, आप में कभी भी, किसी धर्म की भी च्युति¹ नहीं होती है। यदि आप पूर्व धर्म का त्याग करें तो धर्म से च्युत हो जावें। आपने केवल गोपों की पूजा नहीं की, किन्तु सारे व्रज का सत्कार किया। स्त्री और पुरुष सब के लिए वस्त्र तथा आभरण दिए एवं सोने, चांदी, पीतल आदि के पात्र जो घर के काम में आने लायक थे वे सब आदर के साथ एक एक का नाम लेकर दिए जैसे गृहस्थी दहेज में देते हैं वैसे दिए राजा की तरह नहीं दिए ॥२४॥

आभास—दानानन्तरं गताविति शङ्कां वारयितुमाह '**इत्युक्त**' इति।

आभासार्थ—दान के पश्चात् वे चले गए? इस शङ्का+ को मिटाने लिए 'इत्युक्त' यह श्लोक कहा है।

१- कमी

+ यों कहने का आशय यह है कि जनता इस प्रकार शङ्काशील न होवे कि नन्दजी प्रेम के कारण नहीं रुके थे, किन्तु दान लेने के लिए रुके थे।

श्लोक—**इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः ।**
पूरयन्नश्रुभिर्नेत्रे सहगोपैर्व्रजं ययौ ॥२५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार के भगवान् के वचन सुनकर प्रेम से व्याकुल हुए नन्दरायजी नेत्रों से आँसूओं की धारा बहाते हुए उन दोनों को आलिङ्गन कर गोपों के साथ व्रज को पधारे ॥२५॥

सुबोधिनी—**तौ** कृष्णरामौ **परिष्वज्य नन्दः प्रणयविह्वलः** भगवद्दत्तसर्वार्थैः पूर्णः किञ्चिदपि वक्तुमसमर्थः, ततः **अश्रुभिः नेत्रे पूरयन् गोपैः** सह **व्रजं ययौ** । भगवता गोपाला अपि प्रस्थापिताः न तु मित्राणीव केचित् स्थापिताः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—राम और कृष्ण दोनों का आलिङ्गन कर नन्दजी प्रेम विभोर होगए । भगवान् के दिए हुए सर्व प्रकार के पदार्थों से पूर्ण होने से कुछ भी बोल न सके । पश्चात् आँसुओं से नेत्रों को भरते हुए गोपों के साथ व्रज को सिधारे । भगवान् ने गोपों को भी रवाना किया, किसी को भी मित्र की भांति वहां नहीं रखा ॥२५॥

आभास—एवमेषां निरोधमुक्त्वा वेदेन भगवतोऽपि निरोधमाह **'अथे'**ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार इनके निरोध का वर्णन कर वेद से भगवान् का भी निरोध 'अथ' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**अथ शूरसुतो राजन्पुत्रयोः समकारयत् ।**
पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद्द्विजसंस्कृतिम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! फिर वसुदेवजी ने पुरोहित और ब्राह्मणों को बुलाकर पुत्रों का वेद की विधि के अनुसार यज्ञोपवीत संस्कार कराया ॥२६॥

सुबोधिनी—यावदध्यायपरिसमाप्ति । तत्र प्रपञ्चविस्मृतिं पञ्चभिराह । शिष्टैर्वेदार्थासक्तिर्वक्तव्या । **अथ** सर्वकार्यसिद्ध्यनन्तरं शिशिरे **शूरसुतो** वसुदेवः । **राजन्निति** क्षत्रियाणामवश्यकर्तव्य इति ज्ञापनार्थम् । **पुत्रयोः** सम्यगकारयत्, **पुरोधसा** गर्गेण, अन्यैश्च **ब्राह्मणैः** । क्षत्रियाणां पुरोहित एवोपदेष्टा । उपनयने मातामहप्राधान्यव्यावृत्त्यर्थं **शूर**पदम् । **यथावत्** स्वगृह्योक्तानुसारेण । **द्विजसंस्कृतिं** येन द्विजो भवति,चूडाकरणसंस्कारः पूर्वमेव जातः 'काकपक्षधरावि'ति वचनात्, उपनयनसंस्कारस्त्वत्र कृतः । 'द्वादशे पशुकाममि'ति संवत्सरविचारेण तु एकादश एव भवति । काम्यपक्ष एवात्राश्रयणीयः, सप्रायश्चित्तमित्यन्ये ॥२६॥

व्याख्यार्थ—उपनयन संस्कार का विषय सम्बन्धी वर्णन, अध्याय समाप्ति पर्यन्त चलेगा, जिसमें प्रपञ्च विस्मृति को पांच श्लोकों से कहते हैं, बाकी बचे हुए श्लोकों में वेदार्थ में आसक्ति कहनी चाहिये।

सर्व कार्य सिद्ध हो जाने के बाद शूरसेन के पुत्र वसुदेवजी ने शिशिर ऋतु में पुत्रों का उपनयन संस्कार अच्छी तरह कराया; कैसे और किन से कराया ? वह कहते हैं कि अपने पुरोहित गर्ग और अन्य ब्राह्मणों से कराया। क्षत्रियों को उपदेश करनेवाला पुरोहित ही होता है। वसुदेव न कहकर 'शूरसुत' कहने का भावार्थ यह है कि 'शूरसेन' जो पितामह है, उसकी प्रधानता दिखाने से मातामह की प्राधनता कम कर दी है। यह संस्कार विधि के अनुसार अर्थात् अपने 'गृह्यसूत्र' में कही हुई विधि के अनुसार कराया। यज्ञोपवीत संस्कार को द्विज संस्कार कहा जाता है, क्योंकि इस संस्कार से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्ण को 'द्विज' पदवी प्राप्त होती है, जिससे वैदिक कर्म करने का अधिकार होता है। चूड़ाकरण संस्कार तो पूर्व ही हो गया है;यह 'काक पक्ष धरौ' इस वचन से ज्ञात होता है। उपनयन संस्कार अब किया है, 'द्वादशे पशु कामं' इस वचनानुसार संवत्सर का विचार किया जावे तो एकादश ही होता है अत: यहां 'काम्य का अतिक्रम हो जाने के कारण से प्रायश्चित कराके 'संस्कार' कराया गया है, किन्तु प्रायश्चित कराके संस्कार कराया गया इसको आचार्य श्री स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान् हैं ।।२६।।

आभास—ततस्तेभ्य उत्सवार्थं दक्षिणार्थं च दानानि दत्तवानित्याह '**तेभ्य**' इति।

आभासार्थ—इसके बाद ब्राह्मणों को उत्सव के कारण तथा कर्म की दक्षिणा के लिए दान दिया, जिसका वर्णन 'तेभ्योऽदाद्दक्षिणा' 'या: कृष्ण' श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—**तेभ्योऽदाद्दक्षिणा गावो रुक्ममाला: स्वलङ्कृता:।**
स्वलङ्कृतेभ्य: सम्पूज्य सवत्सा: क्षौममालिनी: ।।२७।।

या: कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामति:।
ताश्चाददादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृता: ।।२८।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों को अच्छी तरह से अलंकृत कर पूजन किया और उनको सुवर्ण की माला आदि से अलंकृत कर बछड़ों वाली रेशमी वस्त्र से आच्छादित गौं, जो वसुदेवजी ने श्रीकृष्ण तथा राम के जन्म के समय मन से सङ्कल्पित की हुई थी और जिनका कंस ने अधर्म से हरण किया था, उनको दक्षिणा के साथ दान में दे दीं ।।२७-२८।।

सुबोधिनी—गवादय एव दक्षिणा विहिता वा। **रुक्ममालायुक्ताः सुष्ठु अलङ्कृताश्च**। **स्वलङ्कृतेभ्यश्च** विप्रेभ्यः **सम्पूज्य** विधानपूर्वकं अयुतद्वयम् ॥२७॥

भगवज्जन्मनि रामजन्मनि च तावदन्यथा वा **या मनोदत्ताः**। **महामतिरिति** स्मरणे पूर्वमेव सेत्स्यतीति, दाने वा **ताः अनुस्मृत्य** ब्राह्मणेभ्यो**दात्**। नन्वेतावत्यो गावः कुत्रत्या वसुदेवस्येति चेत्तत्राह **कंसेन** गृहलुण्ठनसमये **हृताः** ॥२८॥

व्याख्यार्थ—गौ आदि दक्षिणा दी अथवा जो दक्षिणा गौ दान करने पर दी जाती है वह भी दी, वे गौएँ सुवर्ण की मालाओं से तथा अन्य आभूषणों से एवं वस्त्रादि से अलंकृत की गईं थीं। इसी प्रकार ब्राह्मण भी भूषण तथा वस्त्र आदि से सुशोभित कर पूजे गए। अनन्तर वे २०,००० बीस हजार गौएँ विधि पूर्वक देदीं। क्यों दी ? जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि राम और कृष्ण के जन्म समय में और दूसरे समय में भी जो गौ देने के लिए महामना वसुदेवजी ने मन से सङ्कल्प किया था, उसको स्मरण कर वे ब्राह्मणों को दान में दीं। वसुदेवजी ने इतनी गौएँ अब कहां से लाकर दीं? इसके उत्तर में कहते है कि कंस ने जब वसुदेवजी का घर लूटा था, उस समय वसुदेवजी की गौएँ भी ले गया था। अब कंस के नाश हो जाने पर फिर वे वसुदेवजी को मिल गईं, अतः २०,००० बीस हजार गौएँ दे दीं ॥२७-२८॥

आभास—ततोन्येन निरोधे कारितेऽपि स्वतोऽपि कर्तव्यमिति व्रतात्मकं नियमं पूर्वसिद्धत्यागापरपर्यायं स्वयं कृतवन्तावित्याह **'ततश्चे'**ति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—उसके बाद अन्य से निरोध कराया, तो भी स्वतः[1] भी करना चाहिए; इसलिए पूर्व जो सिद्ध उन सबका त्याग रूप व्रतात्मक नियम आप दो ही करने लगे, जिसका वर्णन दो श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ ।
गर्गाद्यदुकुलाचार्याद्गायत्रं व्रतमास्थितौ ॥२९॥

श्लोकार्थ—दोनों भाई उपनयन संस्कार से द्विज बन कर यदुकुल के आचार्य गर्गजी से दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य नियम पालन के साथ गायत्री व्रत में स्थित हुए।२९।

सुबोधिनी—ग्रहणसमर्थनभेदेन, तदनन्तरमेव संस्कारदिनं परित्यज्य दिनत्रयं मासषट्कं संवत्सरमात्रं वा **सुव्रतौ** शोभनवेदव्रतयुक्तौ ब्रह्मचर्यनियमयुक्तौ वा। यदुकुलस्यैवाचार्यो **गर्ग** इति। **गायत्रं** व्रतं सावित्रापरपर्यायं **व्रतमास्थितौ** जातौ ॥२९॥

१- अपने आप

व्याख्यार्थ—ग्रहण और समर्थन भेद से दो प्रकार के जो संस्कार हैं, उनको कर और उनके बाद संस्कार के दिन को छोड़, तीन दिन, छः मास अथवा संवत्सर पर्यन्त वेद व्रत का अथवा ब्रह्मचर्य नियमों का पालन करने लगे। यदुकुल के ही आचार्य 'गर्गजी' थे, इसलिए उनसे गयात्री व्रत की दीक्षा लेकर उसमें स्थित हुए। २९॥

आभास—नन्वेतस्य व्रतस्य काम्यत्वं यथा सरस्वतीस्फूर्तिर्भवति, तदत्र प्रकृते नोपयुज्यत इति किमिति व्रतमास्थितावित्याशङ्कायामाह '**प्रभवावि**'ति।

आभासार्थ—यह गायत्री व्रत काम्य है, क्योंकि इससे सरस्वती की स्फूर्ति होती है, किन्तु यहां वह काम्यत्व अनुपयोगी है तो फिर व्रत में क्यों स्थित हुए ? इस शङ्का के होने पर यह 'प्रभवौ' श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।**
नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितैः ॥३०॥

श्लोकार्थ—दोनों भाई सर्व विद्याओं को उत्पन्न करने वाले तथा सर्वज्ञ एवं जगदीश्वर हैं, तो भी मनुष्य लीला करने के कारण स्वतः सिद्ध स्वच्छ ज्ञान को गुप्त रखते थे ॥३०॥

सुबोधिनी—यद्यपि **सर्वविद्यानां प्रभवौ**, विद्यापेक्षाभावेऽपि स्वतोपि **सर्वज्ञौ**, मास्तु वा ज्ञानं, **जगदीश्वरौ** कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थौ, क्रियाशक्तिरेव सर्वोत्कृष्टेत्यर्थः। तथाप्यनन्यसिद्धं स्वतः सिद्धमेव ज्ञानं **नरेहितै**र्मानुषलीलाभिः **गूहमानौ** गोप्यं कुर्वाणौ गायत्रं व्रतमास्थिताविति पूर्वेणैव सम्बन्धः। सर्वज्ञता ब्रह्मविदामिव कृत्रिमापि भवतीति **नान्यसिद्धे**त्युक्तम् ॥३०॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि 'दोनों भाई' समस्त विद्याओं के उत्पत्ति के स्थान हैं, अतः उनको विद्या की अपेक्षा नहीं है, कारण कि स्वतः सर्वज्ञ हैं। ज्ञान न भी हो, तो भी ये जगदीश्वर हैं, कर्तुं, अकर्तुं, तथा अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं। उनमें क्रिया शक्ति सब से उत्कृष्ट है। वैसे भी इनमें जो ज्ञान है, वह दूसरों से सिद्ध नहीं है, किन्तु स्वतः सिद्ध हैं तो भी उसको गुप्त रखते हैं। कारण कि मनुष्य लीला का नाट्य कर रहे हैं, जिससे ही गायत्री व्रत में स्थित हुए हैं। ब्रह्मचर्य के नियम पालते हैं। सर्वज्ञता ब्रह्मज्ञानियों की तरह कृत्रिम भी होती है। इसकी निवृत्ति के लिए अर्थात् वह दिखाने के लिए कि इन दोनों में सर्वज्ञता कृत्रिम नहीं है श्लोक में 'न अन्य सिद्धा' पद दिया है, जिसका भावार्थ है कि इनमें जो सर्वज्ञता है वह दूसरों के द्वारा सिद्ध नहीं है; किन्तु सहज है ॥३०॥

आभास—एवं प्रपञ्चविस्मरणात्मकं निरोधमुक्त्वा आसक्त्यात्मकं निरोधमाह '**अथो**' इति विंशत्या। ततो द्वाभ्यां प्रत्यापत्तिर्वक्ष्यति। अन्यथाग्रे क्रियमाणो निरोधः कर्तृरहितः स्यात्, आत्मैकविंश इति नखस्थानीया एते धर्मा भगवतो निरूपिताः।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रपञ्च की विस्मृति कराने वाला निरोध कह कर अब आसक्ति रूप निरोध 'अथो' इस श्लोक से लेकर बीस श्लोकों में कहते हैं।

श्लोक—अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः ।
काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—अनन्तर गुरुकुल में वास चाहते हुए दोनों भाई उज्जैन के वासी सांदीपनि नाम गुरु के पास गए, जिसको काश्य भी कहते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—अवश्यं हि गुरुकुल एव विद्याग्रहणम्; अतो **गुरुकुले वासमिच्छन्तौ** जातौ, तत ईश्वरत्वात्कश्चिद्गुरुः स्वयमुपस्थितः भगवता वा कल्पित इति शङ्कां वारयितुं **अथ जग्मतु काश्यमिति । सान्दीपनिरिति ।** सन्दीपनस्यापत्यं सान्दीपनिः अत इञ् । पितृनाम्नैव तस्य प्रसिद्धिः । **काश्य** इति एकदेशग्रहणेन काश्यपगोत्रजः, काश्यो वा स्वतन्त्रः गोत्रप्रवर्तकः, 'काश्यः कुत्सो गृत्समद' इति गृत्समदात् शौनकः, तथा काश्यस्यापि ब्रह्मवंशजनकत्वम्, यद्यपि विशेषतो नोक्तं तथाप्यवगम्यते । केचन ऋषयः पितृनाम्नैव प्रसिद्धा इति सन्दीपन एव निरुक्तः । सम्यग् दीपनं बुद्धेर्यस्मादिति अवन्तीपुरं तु शैवं महाकालस्थानम्, तत्रापि यथा मुक्तिर्भवति, सोपि तीर्थवासेन विरक्तो महान् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—गुरुकुल में रहकर अवश्य विद्या ग्रहण करनी चाहिए, अतः गुरुकुल में रहने की इच्छा वाले हुए। आप ईश्वर थे, इसलिए गुरु वहां आकर उपस्थित हो गए वा भगवान् ने किसी की कल्पना कर ली, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा कि 'काश्यं जग्मतुः' काश्य गोत्र में अथवा काश्यप गोत्र में उत्पन्न संदीपन ऋषि के पुत्र सांदीपनि के पास अवन्ती नगरी में गए। 'काश्य' को एक देश में ग्रहण करने से 'काश्यप गोत्र में उत्पन्न' अर्थ होता है, अथवा 'काश्यः' स्वतन्त्र गोत्र प्रवर्तक ऋषि, 'काश्यः कुत्सो गृत्समदः' इससे गृत्समद शौनक है, वैसे 'काश्य' से भी ब्रह्मवंश का जन्म हुआ है, जो कि विशेष स्पष्ट यहां नहीं कहा है तो भी विचार करने से यों समझा जाता है। कितने ही ऋषि पिता के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, अतः यहां संदीपन को निरुक्ति की गई है कि जिससे बुद्धि का दीपन अर्थात् उद्बोधन[1] अच्छा होता है। 'अवन्तीपुरी' शैव है, क्योंकि यह 'महाकाल' भगवान् का स्थान है, अतः वहां भी काशी की तरह मुक्ति होती है। सांदीपनि उस तीर्थ पर रहने से महान् वैराग्य वाले हो गए थे ॥३१॥

आभास—तत्र गत्वा यथा गुरुवृत्तिः कर्तव्या तथैव कृतवन्तौ । नत्वैश्वर्येण धनादिना वा विद्याग्रहणमित्याह **'यथोपसाद्ये'**ति ।

१- जागरण

आभासार्थ—वहां जाकर जिस प्रकार गुरु के पास रहना चाहिए वैसे रहने लगे। ऐश्वर्य अथवा धन देकर विद्या ग्रहण नहीं करनी चाहिए यह 'यथोपसाद्य' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम् ।
ग्राहयन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवादृतौ** ॥३२॥

श्लोकार्थ—योग्य रीति से गुरुजी के पास जाकर दोनों ने इन्द्रियों को संयम में रख, गुरु में अनिन्दित वृत्ति धारण की और देव की तरह भक्ति श्रद्धा से गुरुजी का आदर करते हुए विद्या ग्रहण करने लगे ॥३२॥

सुबोधिनी—अरिक्तहस्ततया, 'ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्वे'त्यादिवाक्यात्, **उपसाद्य** निकटे गत्वा, आवश्यकधर्मपरिग्रहणार्थमाह **दान्ताविति**। नन्वेवं किमर्थं कृतवन्तौ तत्राह **गुरौ वृत्तिमनिन्दितां ग्राहयन्तौ**। लोके गुरावेवं गुरुशुश्रूषयैव नीचतयैव विद्या ग्राह्येति शिक्षयितुम्, निन्दिता वृत्तिर्धनादिना, अत एव **उपेतौ स्म**, यतः उपनीतौ; गुरुणा समीपे आनीतौ, अत्र प्रमाणं न वक्तव्यं, गुरुः कथमेवं धाष्ट्र्यं कृतवानित्यपि नाशङ्कनीयम्, यतः **स्मेति प्रसिद्धम्**, भगवदिच्छा तत्र युक्तिः। ततो ग्रहणानन्तरं विहित**भक्त्या** परमादरयुक्तौ, प्रेम बहिरपि, भक्तिधर्मोपि पदद्वयेनोक्तः। **देवमिव** आराध्येष्टदेवतामिव उपेतौ स्म। बहिरन्तश्च समीपं गतौ स्मेत्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—शास्त्रों में 'ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व' कह कर बताया है कि गुरु के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। गुरु के पास जाकर इन्द्रिय संयम धारण करते हुए आवश्यक धर्म की शिक्षा ग्रहण की। गुरु के पास से जो विद्या ग्रहण की वह अनिन्दित प्रकार की वृत्ति से ग्रहण की। वह प्रकार बताते है कि गुरु की सेवा कर, उनके पास दीन बन कर जो विद्या ग्रहण की जाती है, अर्थात् इस प्रकार ली हुई विद्या सफल और यशस्वी होती है। आपने इस प्रकार विद्या ग्रहण कर अन्यों को शिक्षा दी है और जो विद्या, धन आदि देकर ली जाती है, वह निन्दित है, वह न फलीभूत है और न यशस्वी बनाती है।

दोनों भ्राताओं ने यज्ञोपवीत धारण किया था, अतः दोनों ही गुरु के पास लाये गये और वहां रहने लगे। इसमें प्रमाण कहने की आवश्यकता नहीं है। गुरुजी ने वैसी धृष्टता क्यों की ? यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है। इसलिये श्लोक में प्रसिद्धि वाचक 'स्म' अव्यय दिया है। इसमें युक्ति यह है कि 'भगवान्' की इच्छा वैसी ही थी। पश्चात् विद्या ग्रहण के अनन्तर शास्त्र में कहे अनुसार श्रद्धा पूर्वक गुरु में अत्यन्त आदर करते थे, बाहर से भी प्रेम प्रकट दिखाया तथा भक्ति धर्म भी दिखाया। गुरु के पास इस प्रकार रहे और भक्ति की जैसे अपने इष्ट देव में भक्ति करने के लिये उसके समीप रहते हैं, बाहर तथा अन्तः करण से भी गुरु के समीप गये, अर्थात् वहां रहने लगे।३२॥

आभास—ततो गुरुकर्तव्यमाह **'तयोरि'**ति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—अनन्तर गुरु के कर्तव्य का निरूपण 'तयोः' श्लोक से लेकर दो श्लोकों में करते है।

श्लोक—**तयोर्द्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः ।**
प्रोवाच वेदानखिलान्साङ्गोपनिषदो गुरुः ।।३३।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों में श्रेष्ठ गुरु शुद्ध भाव से की हुई उनकी सेवा से प्रसन्न हुए। जिससे छः अङ्गों सहित सम्पूर्ण चारों वेद तथा उपनिषद् विद्या उनको पढ़ाई ।।३३।।

सुबोधिनी—स हि **द्विजवरः** ब्राह्मणश्रेष्ठः सर्वधर्मज्ञः प्रथमतस्तत्स्वरूपमज्ञात्वापि **तयोरनुवृ**त्तिमेव दृष्ट्वा सन्तुष्टो जातः। तत्रापि शुद्धेन भावेन सहिता अनुवृत्तिः; अत्र भावशुद्धिः अलोलुपत्वादिः प्रसादातिरिक्तकामनाभावश्च। ततो विद्यार्थमागताविति आदौ सर्वानेव **वेदान् प्रोवाच**, चत्वारो वेदा बहुशाखाविततः, ततोऽङ्गानि षट्, **उपनिषदश्च** ब्रह्मप्रतिपादिकाः, यतो **गुरुरुपदेष्टा**, नत्वीश्वरः। ।।३३।।

व्याख्यार्थ—वह गुरु ब्राह्मणों में श्रेष्ठ थे तथा सर्व धर्मों को जाननेवाले थे। प्रथम उनके स्वरूप को नही जानते तो भी उनकी की हुई निष्कपट सेवा देखकर प्रसन्न हो गये। निष्कपट की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि किसी प्रकार का भी लोभ अथवा कामना रखकर सेवा नहीं की; किन्तु केवल सेवा से गुरु की कृपा हो इतना ही चाहते थे। गुरु ने समझ लिया कि ये यही कृपा चाहते हैं कि गुरु हमको विद्या पढा दे। यों समझ छः अंगो सहित समग्र ४ वेद तथा ब्रह्म स्वरूप प्रतिपादन करने वाले उपनिषद भी पढ़ा दिये। गुरु केवल उपदेश देने वाले हैं, ईश्वर नहीं हैं ।।३३।।

आभास—अन्या अपि विद्या उक्ता इत्याह '**सरहस्यमि**'ति।

आभासार्थ—अन्य प्रकार की विद्याएँ भी पढ़ाईं, जिसका वर्णन 'सरहस्यं' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मान्न्यायपथांस्तथा।**
तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम् ।।३४।।

श्लोकार्थ—सांगवेद तथा उपनिषद् पढ़ाने के अनंतर रहस्य के साथ धनुर्वेद, धर्म शास्त्र; साम आदि न्याय के मार्ग, सांख्य योग आदि आत्म विद्या और छः प्रकार की राजनीति पढ़ाई ।।३४।।

सुबोधिनी—रहस्यमन्त्रसहितं **धनुर्वेदं** पाठितवान्। क्षत्रियाणामिदं दृष्टोपयोगि उपवेदेषु नान्ये, **धर्मान्** धर्मशास्त्रम्, **न्यायपथान्** न्यायमार्गान् सामादीन्, **आन्वीक्षिकी** आत्मविद्या साङ्ख्ययोगादिरूपा। **राजनीतिरन्या**, सा **षड्विधा** सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसंश्रयाख्या ।।३४।।

व्याख्यार्थ—मन्त्रों के रहस्यों को समझाकर धनुर्वेद पढाया। क्षत्रियों के लिये यह वेद प्रत्यक्ष उपयोगी है; अन्य के लिये नहीं है। धर्मशास्त्र, साम आदि न्याय के मार्ग, साङ्ख्य योग आदि आत्म विद्या और छः * प्रकार की राजनीति भी सिखलाई ॥३४॥

आभास—एतावतीं विद्यां कियता कालेन पठितवन्तावित्याह **'सर्वं तदमरश्रेष्ठा-वि'ति** ।

आभासार्थ—इतनी विद्या कितने समय में पढ़ी जिसका वर्णन 'सर्वं तदमरश्रेष्ठौ' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**सर्वं तदमरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ ।**
सकृन्निगदमात्रेण तौ सञ्जगृहतुर्नृप ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! देवों में श्रेष्ठ, समस्त विद्याओं के प्रवृत्त करने वाले उन दोनों भ्राताओं ने गुरुजी के एक बार कहते ही वह सब ग्रहण कर लिया ॥३५॥

सुबोधिनी—यावद्गुरुणोक्तं तावत्सकृन्निगदमात्रेणैव एकवारश्रवणेन **सञ्जगृहतुः** सम्यग् गृहीतवन्तौ, यावता कालेनानध्यायादिपरिपालनेन गुरुस्तावतीं विद्यां उच्चारितवान्, तावता कालेन गृहीतवन्तौ। **नृपेति** सावधानार्थं संबोधनम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—गुरुजी पढाते समय एक बार ही बताते थे। गुरुजी एक बार जितना पढाते थे, उसको ये भी उतने समय में याद कर लेते थे। गुरुजी अनध्याय[1] के दिन पढाते नहीं थे, तो ये भी उन दिनों में पढते नहीं थे। पढने के दिनों में सुनते ही याद कर लेते थे। राजा को 'नृप' यह सम्बोधन ध्यान से सुनने के लिये दिया है ॥३५॥

श्लोक- **अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयतौ तावतीः कलाः ।**
गुरुदक्षिणयाचार्यं छन्दयामासतुर्नृप ॥३६॥

श्लोकार्थ—दिन तथा रात्रि को मिला कर 'अहोरात्र' कहते हैं। इस प्रकार ६४ अहोरात्र में ६४ कलाएँ सीख लीं थीं। उस समय में इन्द्रियों का संयम रखा था। हे नृप ! विद्या पढ़ने के अनन्तर गुरुजी की मनचाही दक्षिणा उनको (गुरुजी को) दी ॥३६॥

---

* १ सन्धि, २. विग्रह, ३. यान, ४. आसन, ५. द्वैधीभाव और ६. आश्रय।

१- प्रतिपदा अष्टमी आदि तिथियें जिनमें पढ़ने पढ़ाने का निषेध है।

सुबोधिनी—चतुःषष्टिसङ्ख्यायुक्तै रहोरात्रैः **संयतौ** नियतौ **तावतीः कलाः** चतुःषष्टिकलाः सञ्जगृहतुरिति संबन्धः। एकस्यां कलायां बहवः प्रकारा बहवो ग्रन्थाः शिक्षा च महती, तथाप्येका कला एकस्मिन्नेव दिवसे शिक्षिता, ताः कलाः **शैवतन्त्रोक्ता** लिख्यन्ते। गीतं, वाद्यं, नृत्यम्, नाट्यं, आलेख्यम्, विशेषकाच्छेद्यम्, तन्दुलकुसुमबलिविकाराः, पुष्पास्तरणम्, दशनवसनानां गणाः, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनम्, उदकवाद्यमुदकाघातः, चित्रा योगाः, माल्यग्रथनविकल्पाः, शेखरापीडयोजनम्, नेपथ्ययोगाः, कर्णपत्रभङ्गाः, गन्धयुक्तिः, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजालाः, कौचुमारयोगाः, हस्तलाघवम्, शित्रं शाकयूश्च, भक्षविकारक्रियाः, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवानकर्म, सूत्रक्रीडा, वीणाडमरुकवाद्यानि, प्रहेलिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगाः, पुस्तकवाचनम् नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्, पत्रिकाचित्रवाचनविकल्पाः, तर्ककर्माणि, तक्षणम्, वास्तुविद्या, रूपरत्नपरीक्षा, धातुवादः, मणिरागज्ञानम्, आकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगाः, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः, शुकसारिकाप्रलापनम्, उत्सादनम्, केशमार्जनकौशलम्, अक्षरमुष्टिकाकथनम्, म्लेच्छितकलिकल्पाः, देशभाषाज्ञानम्; पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानम्, यन्त्रमातृकाः, धारणमातृकाः, सम्पाद्यम्, मानसीकाव्यक्रिया, अभिधानकोशः, छन्दोज्ञानम्, क्रियाविकल्पाः, एताश्चतुःषष्टिकलाः। तत्र गीतं गानशिक्षा गीतकरणं रागभेदाः तानमात्रादिरचनाप्रकाराः साधकबाधकतानानां परिज्ञानं च। एवमेकस्य गीतस्य। तथैव वाद्ये चतुर्विधे वादनसामर्थ्यं ज्ञानम्, तदाधाररचनम्। तद्भेदानां करणज्ञाने साधकबाधकज्ञानं च। पञ्च पञ्च प्रकाराः सर्वत्र। नृत्यमभिनयमात्रम्। नाट्यं ग्रन्थरूपम्। आलेख्यं चित्रकर्म, तत्र ये विशेषाः के कुत्सिता भ्रामकाश्च, सर्वे कप्रत्ययेन सङ्गृहीताः, तेषां छेद्यं यथा छेदनप्रकारेण छिन्ने वैचित्री भवति, तथा चणकद्विदले हस्तिशतलेखनम्। तन्दुलानां कुसुमानां च आरात्रिकाकारेण बलिविकाराः, पूजायां वा स्थापनप्रकाराः। पुष्पास्तरणं स्पष्टं शय्यादौ। दशनवसनानां गणा भेदाः। अधरोष्ठयोः लक्षणपरिज्ञानम्, रसार्थमेषा परीक्षा। मणिभूमिकाकर्म यथा मणयो यत्र यादृशा अपेक्ष्यन्ते, तत्र यादृशी भूमिः तत्क्रियारचनम्। शयनं शय्यास्थानं तस्य रचनम्। उदकवाद्यं यथा स्वत एवोदके नाना शब्दा भवन्ति, उदकाघात उदकस्याघातो यथा आहतमुदकमुपरि गच्छति अधो गच्छति विपरीतं च गच्छति। चित्रा योगाः विचित्राः प्रकाराः सर्वत्र। माल्यानां पुष्पाणां रचने विविधाः प्रकाराः। शेखरस्य शिरसः केशबन्धस्यापीडयोजनं केशादीनां पुष्पाणां मुकुटस्य वा योजनप्रकाराः। नेपथ्ययोगाः। नटशालादिनिर्माणप्रकाराः। कर्णपत्राणां कर्णाभरणपत्राणां भङ्गा अनेके भेदाः। गन्धयुक्तिश्चन्दनादेः पुष्पवस्त्राद्याकारेण निर्माणं नानासुगन्धनिर्माणं वा। भूषणानां योजनप्रकाराः। ऐन्द्रजालाः मायादर्शनप्रकारा यासु मायासु कल्पिका युक्तिर्न संभवति। विंशतिभेदा एते। कौचुमारयोगा बहुरूपप्रकाराः। हस्तलाघवं स्पष्टम्। शित्रं शाकयूश्चेति प्रायेण स्थौल्यसङ्कोचौ। भक्षविकाराणां क्रिया। पानकानां ये रसाः रागाश्च तेषामासवता मादकता। भावप्रधानो निर्देशः। पानकानां रसानां आसवानां रागाणां योजनप्रकाराः। सूचीवानकर्म सूच्या वानं सीवनमिव परिवयनम्। तत्र नानाप्रकाराः। सूत्रक्रीडा सूत्रैर्नानाविधा क्रीडा। यथा भ्रमरादिभ्रामणं सूत्रोपरि चलनं च बन्धप्रकारो वा। वीणाडमरुकवाद्यानां वादनप्रकाराः। प्रहेलिका कूटवाक्यपरिज्ञानम्। प्रतिमाला सर्ववस्तूनामनुकरणम्। दुर्वाचकयोगाः चतुरक्षरादिप्रकाराः। पुस्तकवाचनं, अतिशीघ्रमविद्यमानानपि वर्णान् योजयित्वा वाचनम्। नाटकाख्यायिकादर्शनम्। दीपव्यवधायके पटे नाटकाख्यायिकाया नाटकस्थितकथायाः प्रदर्शनम्। वस्त्रादिनिर्माणे वा नाटकस्थकथायाः प्रदर्शनम्। काव्ये अविद्यमाने पदे तस्यैव पदस्य पूरणं कविकर्मानुसारेण

वा समस्यापूरणम् । पत्रिकाचित्रवाचनविकल्पाः नानाविधाः पत्रिका व्यस्तसमस्ताः मेषयुद्धादिप्रकाराः तत्र विविधाः कल्पाः । तर्ककर्मणि तर्केणैव सर्वपदार्थज्ञानं कृतिश्च । तक्षणं चन्द्रावर्तादिप्रकारेण शिल्पभेदाः । वास्तुनिर्माणं वास्तुविद्या गृहनिर्माणप्रकाराः । रूपरत्नपरीक्षा रूपाणां रत्नानां च परीक्षाः । इति विंशतिः । धातुवादः प्रसिद्धः । मणिरागज्ञानं मणिषु रागनिर्माणज्ञानम्, आकरज्ञानं राशिं दृष्ट्वैव एतावदस्तीति । वृक्षाणामायुर्वेदयोगाः, वृक्षाणां जीवनप्रकारः, फले निर्बीजकरणम्, वृक्षान्तरात्फलान्तरोत्पादनमित्यादि । मेषाणां कुक्कुटानां लावकानां युद्धप्रकाराः । शुकसारिकादीनामशिक्षितानामपि प्रकर्षालापनप्रकाराः । उत्सादनं यस्य कस्यचिदुद्वेगोत्पादनेनान्यत्र गमनप्रकारः । केशमार्जनकौशलं स्पष्टम् । अक्षरमुष्टिकाकथनं अक्षराणां परदृष्टानां मुष्टिकादीनां च मुष्टिकास्थितपदार्थानां कथनम् । म्लेच्छितकलिकल्पाः म्लेच्छितकल्पाः कलिकल्पाश्च । यथा शत्रुर्म्लेच्छितो भवति, सर्वैः सह कलिं च करोति, तथोपायाः । देशभाषाज्ञानं सर्वदेशेषु भाषापरिज्ञानम् । पुष्पशकटिका पुष्पैरेव शकटविमानादिरचनाप्रकारः । निमित्तज्ञानं काकादिभिरन्यैर्वा भाव्यर्थपरिज्ञानम् । यन्त्रमातृका प्रतिमादिचालनं भाषणादिप्रकाराः करपल्लवी वा । धारणमातृका वर्णादिपदार्थधारणमेव । आदिमध्यान्तवर्णभेदेन मातृकावर्णपरिज्ञानं भवति । संपाद्यमभेद्यस्यापि हीरकादेः द्वैधीकरणप्रकारः । मानसीकाव्यक्रिया मानसिकसमस्यापूरणम् । अभिधानकोशः अन्योच्चारितानां सर्वेषामेव पदार्थानां क्रमेण पुनरुच्चारणसामर्थ्यम् । पुरुषं दृष्ट्वैव तस्य छन्दोज्ञानमयमेवंवृत्त इति । कामिन्यादीनां मनोज्ञानं वा । क्रियाविकल्पाः सर्ववस्तुषु या प्रक्रिया पूर्वसिद्धा, तामनादृत्य अन्यैरेव प्रकारैस्तन्निर्माणम् । विंशतिः । कामादिसान्त्वनम्, उद्बुद्धानां शमनम्, तदुद्बोधः । शत्रुमित्रकरणम्, सर्ववस्तूनामन्यथा करणम्, प्रतिभानेन च तत्र उक्ताः । पूर्वोक्तेषु वा अवान्तरभेदाः क्वचिद्ग्राह्याः । ततो 'गुरवे तु वरं दत्वे'ति स्मृतेः **गुरुदक्षिणा** देयेति दक्षिणार्थं मनस्यभीष्टा दक्षिणा ग्राह्येति **छन्दयामासतुः** । स्वाच्छन्द्यं संपादयामासतुः । विद्यासमाप्त्यनन्तरं या दक्षिणा गुरवे दीयते, तया कृत्वा स्वाच्छन्द्यम् । 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः। सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षत' इति । यद्यप्युभौ वरद्वयं न दास्यतः, तथापि उभयोः कर्तव्यमिति स्वच्छन्ददानं निरूप्यते । **नृपे**ति । तादृशा राज्ञः स्थाने समागत्य कृतार्था भवन्तीत्यनुभवार्थम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—६४ अहो रात्र में इन्द्रियों का निग्रह कर विद्या ग्रहण करने लगे । जिससे उतनी ६४ कलाएं सम्यक् प्रकार ग्रहण करलीं । एक एक कला में बहुत प्रकार हैं, बहुत ग्रन्थ हैं और महती शिक्षा है, तो भी प्रत्येक दिन में एक एक कला सीख गये । वे कलाएँ शिवतन्त्र में लिखीं हैं, जिसमें से यहां लिखी जाती हैं ।

१. गीत-गीत के अनेक भेद हैं, जैसे कि गीत बनाने, रागों के भेद, तान, मात्रा आदि रचने एवं कहने की रीति, साधक बाधक तानों का पूरा ज्ञान, वैसे एक गीत के भेद हैं ।

२. वाद्य-इसी प्रकार चार प्रकार के वाद्यों के, बजाने का ज्ञान प्राप्त करना, उनके आधार का ज्ञान, उनके भेदों के कारण का ज्ञान, साधक तथा बाधक का ज्ञान, इस प्रकार सब में पांच प्रकार समझने ।

३. नृत्य-केवल अभिनय +करना, ४. नाद्य-ग्रन्थ में सर्व क्रिया बता देना । ५. आलेख्य चित्रकर्म, उसमें विशेषता यह है कि कोई चित्र कुत्सित और कोई भ्रामक होते हैं, वे सब प्रकार सीख गये, यहाँ 'क' प्रत्यय ग्रहण किया है ।

६. आछेद्य उनमें छेद कर अनेक प्रकार की जाली बनाना, जैसे चने की दाल पर एक सौ हस्ती के चित्र बनाने ।

७. चावल तथा पुष्पों की अनेक प्रकार से आरती बनानी तथा पूजा में स्वस्तिक आदि बनाने ।

८. फूलों के बिछाने से शैय्या आदि सुशोभित करना ।

९. दशन और बसन के रंगने आदि के भेदों का ज्ञान, एवं अधर तथा ओष्ठों के लक्षण✻का ज्ञान, यह परीक्षा रस के ज्ञान के लिये है ।

१०. मणिओं से भूमि को सुन्दर बनाने के कर्म का ज्ञान, अर्थात् यहां इस प्रकार की मणियों के लगाने से यह स्थान विशेष सुन्दर होगा, इस प्रकार के कर्म का ज्ञान ।

११. शयन स्थान में शैय्या आदि की सुन्दर रचना करना ।

१२. उदक वाद्य-जल का बाजा बनाना, जैसे जल में स्वतः अनेक शब्द होने लगे ।

१३. उदकाघात-उदक में इस प्रकार चोट लगाने की क्रिया करनी जिससे जल ऊपर आवे, नीचे जावे, अथवा वक्र होकर जावे, इसका ज्ञान ।

१४. चित्रा योगा-विचित्र प्रकार की बनावट को सर्वत्र समझना ।

१५. माल्य ग्रथन विकल्प-पुष्पों को गूँथने के अनेक प्रकार के ज्ञान ।

१६. शेखरापीडयोजनम्-शिर की भांति भांति की वस्त्र तथा पुष्पों की पगड़ी तथा टोपी बनाने की विद्या का ज्ञान एवं केशो में (चोटी में) फूलों को गूँथना तथा गालों पर पत्र रूप से चिपकाना आदि क्रिया का ज्ञान ।

१७. नेपथ्य योगाः-नाटक की शाला के पर्दे वेश आदि से नाटक घर सजाना ।

१८. कर्णपत्र भङ्गा-कर्णफूल आदि कान के गहने की विद्या ।

१९. गन्ध युक्ति-अत्तर आदि सुगन्धी वाले पदार्थ बनाने की विद्या ।

२०. भूषण योजनम्-गहने बनाने की विद्या ।

२१ ऐन्द्रजालाः-जादू के प्रयोग जिनमें बनावट वा युक्ति देखने में न आवे, ये बीस प्रकार के हैं।

२२. कौचुमार योग-अनेक प्रकार के रूप बनाने की तरकीबें अर्थात् बहुरूपिया बन जाने की विद्या ।

+शरीर की चेष्टा द्वारा मन के भीतरी भावों को 'नृत्य' द्वारा प्रकट कर दिखाना ।

✻जिन लक्षणों से मनुष्य के स्वभाव आदि पहचान लिये जाय ।

२३ हस्तलाघव-हाथ की चालाकी से वस्तुओं को छिपाना लाना आदि का ज्ञान।

२४. शित्रंशाकयू-स्थूल और संकुचित करने का भेद जानना।

२५. भक्ष विकार क्रिया-भक्ष विकारों की क्रिया, अनेक प्रकार की रसोई बनाने की विधि का ज्ञान।

२६. पानकरसरागासव योजनम्-पानी के रस वाले पदार्थ बनाने, जिनको आसव कहते हैं और जिनमें मादकता[1] होती है।

२७. सूचीवान कर्म-सिलाई के कर्म का ज्ञान, जिसके बहुत प्रकार हैं।

२८. सूत्र क्रीड़ा-सूत्र की डोरी से अनेक प्रकार की क्रीड़ा, डोरी पर चलना और उसके बाँधने के प्रकार आदि।

२९. वीणाडमरूक वाद्यानि-वीणा डमरू के बजाने के प्रकार की शिक्षा।

३०. प्रहेलिका-पहेलियों की विद्या।

३१. प्रतिमाला-सर्व वस्तुओं का अनुकरण करना।

३२. दुर्वाचक योगा: चार+अक्षरों के समझ लेने का ज्ञान।

३३. पुस्तकवाचनम्-प्रस्तक का शीघ्र और शुद्ध पाठ करना। जहां अक्षर टूटा हुआ हो, उसको भी मिलाकर शुद्ध पढ़जाना।

३४. नाटकाख्यायिका दर्शनम्-नाटक में कहीं हुई कथा * को करके दिखाना।

३५. काव्य समस्या पूरणम्-कविता की समस्या की पूर्ति करना।

३६. पत्रिका चित्र वाचन विकल्पा-फटे हुए पत्रों के टुकड़ों को जोड़ कर उसको पूर्ण रीति से पढने की कला, भेड़ आदि लड़ाने के प्रकारों का ज्ञान।

३७. तर्क कर्माणि-तर्क से ही सर्व पदार्थों का ज्ञान और कृति का ज्ञान।

३८. तक्षणम्-बढई आदि की शिल्प विद्या का ज्ञान।

३९. वास्तु विद्या-गृह बनाने की विद्या।

४०. रूप रत्न परीक्षा-रूप और रत्नों की परीक्षा करने की कला, ये दूसरी बीस तरह की कलाएँ हुईं।

४१. धातुवाद-पृथ्वी● में से धातुओं के निकालने का ज्ञान।

+ गुप्त भाव वाले-वा मिट गये अक्षरों के,

* (१) अंधेरे में कपड़े पर नाटक की कथा को कर के दिखाना। सिनेमा कला।
(२) वस्त्र आदि के बना के नाटक कथा दिखाना।

● इस पृथ्वी में यह धातु है, उसको जानना।

१-नशा,

४२. मणिरागज्ञानम् — मणियों पर तरह-तरह के रंग लगाने की विद्या।

४३. आकरज्ञानम् खान की पहचान, मिट्टी का ढेर देख कर मिट्टी से पहचान जाना कि इस के भीतर यह वस्तु है, यह कला।

४४. वृक्षायुर्वेद योगा:—वृक्षों के रोग मिटाने की कला तथा उसमें नवीन पत्ते आदि प्रकट करने की विद्या।

४५. मेष कुक्कुट लावक युद्ध विधि:—भेड़, मुर्गी और लावा पक्षियों के लड़ाने की विधि का ज्ञान।

४६. शुक सारिका प्रलापनम्—तोता और मैना को बोलना सिखाना।

४७. उत्सादन—इस प्रकार के शब्द बोलने, जिससे श्रोता के मन में क्षोभ हो और उस क्षोभ से वह वहाँ से चला जावे, यह कला।

४८. केशमार्जन कौशलम्—केशों को साफ कर उनको गूँथना आदि का ज्ञान।

४९. अक्षरमुष्टिका कथनम्—एक अक्षर से उसमें छिपी हुई वस्तु को पहचान कर कहना, जैसे मुट्ठी में रखी हुई वस्तु बता देना।

५०. म्लेच्छित कलिकल्पा:—जिससे शत्रु की बुद्धि भ्रष्ट हो और वह सबसे लड़ता ही रहे, ऐसे तरीकों का ज्ञान।

५१. देशभाषा ज्ञानम्—देश की भाषाओं का ज्ञान।

५२. पुष्पशकटिका ज्ञानम्—फूलों से रथ आदि बनाने का ज्ञान।

५३. निमित्त ज्ञानम—काक आदि पक्षियों की भाषा आदि से भविष्य को जान लेने की कला।

५४. यन्त्रमातृका—पृथक्-पृथक् यन्त्र बनाने, जिससे मूर्ति[1] चलने लगे अर्थात् एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान पर पहुँच जावे। इसी प्रकार यन्त्र द्वारा शब्द[2] दूर तक पहुँच जावे आदि यन्त्र बनाने की कला।

५५. धारणमातृका—दूसरे के कहे हुए विषय को सुनते ही स्मरण कर लेना, फिर वही अक्षरशः सुना देने की कला।

५६. सम्पाद्यम्—जो हीरे आदि के दो टुकड़े नहीं हो सकते हैं तो उनके भी दो टुकड़े करने की कला।

५७. मानसीकाव्य पूरणम्—दूसरे के मन[3] की बात बता देने की कला।

५८. अभिधानकोष:—दूसरों से कही हुई सारी कहानी या पदार्थ क्रमपूर्वक फिर कहने की कला।

५९. छन्दोज्ञानम्—पुरुष या स्त्री को देख कर ही बताना कि ये इस प्रकार की वृत्ति वाले हैं, इस प्रकार की कला का ज्ञान।

१– रथ आदि २– रेडियो ३– मनोविज्ञान

६०. क्रिया विकल्पाः—सर्व वस्तुओं की क्रिया जो पहले ही सिद्ध है, उनका अनादार कर दूसरे प्रकार से उनका निर्माण करना, यह तीसरे बीस प्रकार हैं; अब ये ६० कलाएँ बताईं।

६१. काम आदि को शान्त करने की कला, जगे हुए काम को शान्त करना।

६२. शान्त हुए काम को जगा देने की कला।

६३. शत्रु को मित्र बनाने की कला।

६४. सर्व प्रकार की वस्तु के स्वरूप को बदल देने की कला।

ये कलाएँ प्रतिमान से कही हैं, यहाँ जो कलाएँ कहीं हैं, वहाँ अवान्तर भेद भी लेने। इसके पश्चात् अर्थात् विद्याओं के पढ़ लेने के अनन्तर 'गुरवे तु वरं दत्वा' इस स्मृति वाक्य के अनुसार गुरुजी को दक्षिणा देनी चाहिए, किन्तु वह दक्षिणा गुरु के मन की इच्छा के अनुरूप होनी चाहिए, अर्थात् गुरु जिस प्रकार की दक्षिणा माँगे, वह दक्षिणा दी जावे; इसलिए श्लोक में 'छन्दयामासतुः' कहा है। शिष्य गुरु को दक्षिणा देने के अनन्तर ही स्वच्छन्द हो सकता है, अतः गुरु की मन चाही दक्षिणा देने का निश्चय किया। आचार्य, गुरु उसको कहा जाता है, जो यज्ञोपवीत पहना कर शिष्य को अङ्गों सहित तथा रहस्यों सहित वेद पढ़ावे। जैसा कि कहा है 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्विजः। स रहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षते।' हालांकि दोनों दो वर नहीं दे सकते हैं, तो भी दोनों का कर्त्तव्य है, इसलिए स्वच्छन्द दान का निरूपण है। हे नृप! यह सम्बोधन देकर यह सूचित किया है कि वैसे लोग राजा के पास जाकर ही कृतार्थ होते हैं, जिसका आपको अनुभव है ॥३६॥

आभास—गुरुस्तु बहूनेवाध्यापयामास नैवंविधौ कदाचिद् दृष्टौ, अत एताभ्यामलौकिकमपि दातुं शक्यत इति निश्चय कृतवान्, 'पत्नी च कदाचिद्गां दुहन्ती दोहनपात्रं विस्मृत्य सन्ध्यावन्दनार्थं नियमेनोपविष्टं भगवन्तं प्रार्थितवती तदा भगवान् नियमोल्लङ्घने गुरुपत्नीवाक्योल्लङ्घने च दोषं दृष्ट्वा उपविश्यैव हस्तं प्रसार्य दोहनपात्रं दत्तवान्, तदा अनुत्थितं भगवन्तं स्वनिकटे दोहनपात्रं च दृष्ट्वा विस्मिता आसीदि'ति पुराणान्तरप्रसिद्धिः। अत उभयोरपि भगवन्माहात्म्यपरिज्ञानादलौकिकमेव याचनीयमिति निश्चित्य तथा याचितवानित्याह **'द्विज'** इति।

आभासार्थ—गुरुजी ने बहुत शिष्य पढ़ाए हैं, किन्तु इस प्रकार के शिष्य कभी नहीं देखे, अतः ये अलौकिक भी दे सकेंगे, यह मन में निश्चय किया। गुरु तथा गुरु पत्नी दोनों को आपके माहात्म्य का पूर्ण ज्ञान हो गया था। जैसा कि पुराणान्तर की कथा है कि एक दिन गुरु पत्नी गो दोहने के लिए गौ के पास बैठ गई थी, किन्तु दोहिनी लेना भूल गई थी, तब उसको ले आने के लिए भगवान् को कहा। उस समय भगवान् सन्ध्यावन्दन कर रहे थे। यदि उठ कर दोहिनी लाते हैं तो नियम भङ्ग होता है और दोहिनी नहीं देते हैं तो गुरु पत्नी की आज्ञा का उल्लङ्घन होने का दोष लगता है। तब भगवान् ने अपनी अलौकिक शक्ति से बाहु को लम्बी कर दोहिनी गुरु पत्नी को दे दी। गुरु पत्नी ने देखा कि भगवान् यहीं बैठे हैं और दोहिनी मेरे पास आ गई है, यह देखकर विस्मित हो गई। इस प्रकार से दोनों को भगवान् की अलौकिक शक्ति का ज्ञान हो गया था, इसलिए दोनों ने निश्चय किया कि इनसे कुछ अलौकिक ही माँगना चाहिए। उस निश्चय को 'द्विजस्तयो' श्लोक में प्रकट करते हैं—

श्लोक—द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं
संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम् ।
सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं
बालं प्रभासे वरयांबभूव ह ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! ब्राह्मण (गुरु) उनकी इस अद्भुत महिमा को जानकर और मनुष्य बुद्धि से परे चमत्कारी बुद्धि देखकर पत्नी से सलाह करके प्रभास क्षेत्र में समुद्र के जल में डूब कर मरे हुए पुत्र को लाकर देने की वर रूप दक्षिणा माँगी ॥३७॥

सुबोधिनी—**स** हि यज्ञादीन् चिकीर्षुः, पुत्रवांश्चाधिकारी, तस्मिन्नुपहृते स्थगितः विचार्य च वंशकर्तृत्वेन तथोत्पादितः, ईश्वरकृपाव्यतिरेकेण कालेन तदुपहृतम्, तथापि वेदप्रामाण्यात् ईश्वरेच्छामज्ञात्वा कालं प्रतीक्षन्नेव स्थितः। अतस्तस्य तदावश्यकमिति ज्ञापयितुं **द्विज** इत्युक्तम् तृतीयजन्मापेक्षितम्। **तयो** रामकृष्णयोः तदलौकिकं **महिमानं** श्रुतं च दृष्टं च। **अद्भुतश्च** महिमा दृष्टः। तौ पाठयन् स्वयं ज्ञातवान्, न हि पूर्वमयमेतादृशः स्थितः, अन्यथा ऋषिभ्योऽप्यधिकः स्यात्, अतस्तौ पाठयन् स्वयमेव पठितवान्, वैपरीत्यमेवाद्भुतत्वं संलक्षयति। स ह्यूहापोहकुशलः स्वस्य पश्चात् पूर्णज्ञानं भगवत्कृतमेवेति निश्चित्य लौकिकन्यायेन भगवदिच्छयैव गुरुत्वं स्थापयितुं **महार्णव** एव **मृतं** पुत्रमयाचतेति संबन्धः। **राजन्निति** क्लिष्टत्वादादरेण सम्बोधनं विश्वासार्थं च। किञ्च। **मतिरप्यलौकिकी**, नत्वलौकिक एव भावः मन्त्रादिष्विव, अतः असाध्यमपि ज्ञास्यति करिष्यतीति निश्चित्य दृष्टादृष्टस्य साधनस्य विद्यमानत्वात् **पत्न्या** च यज्ञकर्मयोग्यया **सम्मन्त्र्य** एतदेव प्रार्थनीयमिति। यतः **स** प्रसिद्धः तदाकाङ्क्षी तदुपपादितम्। **महार्णवे** न तु सागरे **मृतम्**। ते प्रभासयात्रायां बहव एव गताः। तत्र सकुटुम्बगमने अग्निकुण्डे बालको निमग्नः। ननु कोऽयं निर्बन्धः, मृत्युकालादीनां सत्यतापि स्यात्, तत्राऽऽह **बालमिति**। तत्रोत्पन्नः स्नेहः स न निवृत्त इति। **प्रभासे** मृतः पुनर्नायातीति मन्त्रादिनापि तदानयनमशक्यं **वरयाम्बभूव** वरत्वेन याचितवान्। 'गुरवे तु वरं दद्यादि'ति वरदानमावश्यकमिति। **हे**त्याश्चर्यम्। विदितसर्वतत्त्वः 'किं प्रजया करिष्याम' इति श्रुतिवशात्प्रजाव्यतिरेकेणापि कार्यसिद्धेः, तथापि याचितवानिति। निरोधो भगवता तस्यापि कर्तव्य इति तथैव याचितवान्। ॥३७॥

व्याख्यार्थ—वह गुरु यज्ञ करने की इच्छावाला था, यज्ञ करने का अधिकार पुत्रवाले को है, इसलिए पुत्र उत्पन्न किया था। अब उसके मरने से यज्ञ कर्म रोक दिया। ईश्वर की कृपा के सिवाय कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है, अतः काल ने पुत्र को छीन लिया, तो भी वेद के प्रमाण से ईश्वर की इच्छा न जानकर समय की राह देखने लगा; क्योंकि उसने समझ रखा है कि यज्ञ करना आवश्यक है, जिसके न करने से मेरा द्विजत्व व्यर्थ है और द्विज होकर तीसरा जन्म लेना है। अर्थात् यज्ञ से शुक्लत्व प्राप्त होता है। यदि पुत्र न होगा तो वह तीसरा जन्म न हो सकेगा। राम और कृष्ण की अलौकिक महिमा सुनी और देखी और अद्भुत महिमा देखी है। महिमा की अद्भुतता दिखाते हैं कि इन दोनों को जब पढ़ाने लगे तब ही आप भी उसको समझने लगे; इससे पहले यह गुरु वैसा नहीं था

अन्यथा[1] ऋषियों से भी श्रेष्ठ हो जाता, अतः उनको पढ़ाते हुए स्वयं ही पढ़ता था। यह विपरीतता ही अद्भुतता प्रकट करती है। वह गुरु तर्क वितर्क करने में प्रवीण था, अतः समझ गया कि प्रथम मुझे पूर्ण ज्ञान नहीं था, अब जो मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया है यह भगवान् ने ही कृपा की है। यह निश्चय कर लौकिक न्याय के अनुसार और भगवदिच्छा से ही उनमें गुरुत्व स्थापन किया। अर्थात् शिष्य के सत्य स्वरूप को समझ समुद्र में मरे हुए पुत्र की उनसे गुरु दक्षिणा में याचना की। हे राजन्! क्लिष्ट होने से यह सम्बोधन आदर से और विश्वास के लिए दिया हैं और बुद्धि भी अलौकिकी है। जैसे मन्त्रादि में अलौकिक भाव होता है, वैसा ही केवल अलौकिक भाव नहीं है। मैं जो माँग रहा हूँ, वह असाध्य जानेंगे तो भी करेंगे। यह मन में निश्चय कर दृष्ट और अदृष्ट साधन के विद्यमान होने से यज्ञ कर्म के योग्य पत्नी से इस विषय की सलाह की। पत्नी ने भी कहा कि यही माँगना चाहिए; क्योंकि पत्नी ने समझा कि मेरा पति यज्ञ करने के लिए पुत्र को आकांक्षावाला है; अतः इसने भी यही राय दी। पुत्र महान् अर्णव में मरा है नहीं कि सागर में मरा। किस प्रकार मरा? उसका स्पष्टीकरण करते हैं कि वे कुटुम्ब सहित प्रभास क्षेत्र को यात्रा करने गए थे। वहाँ अग्निकुण्ड में बालक डूब गया। वह वहाँ से लाकर दो, इस प्रकार का आग्रह क्यों किया जाता है? मृत्यु और काल आदि की सत्यता मिटानी योग्य नहीं है। इस पर कहते हैं कि 'बालः' अल्प अवस्थावाला पुत्र था; अतः उसमें जो स्नेह स्थिर हो गया था, वह अब तक मिटा नहीं है, इसलिए यह आग्रह है, यद्यपि प्रभास में जो मरता है, वह लौटकर नहीं आता है। मन्त्र आदि से भी उसको लाना मुश्किल है; अतः वह वर रूप से दक्षिणा माँगो है। 'गुरवे तु वरं दद्यात्' इस प्रमाण के अनुसार वरदान देना आवश्यक है। जिसने सर्व तत्त्व जान लिया हैं, उसको तो 'किं प्रजया करिष्यामः' इस श्रुति के अनुसार प्रजा के बिना भी कार्य की सिद्धि करनी चाहिए तो भी 'पुत्र' माँगा, यह आश्चर्य है, इसलिए श्लोक में 'ह' शब्द आश्चर्य प्रकट करने के लिए दिया हैं। भगवान् को इसका भी निरोध करना है, अतः गुरु ने 'पुत्र' माँगा है, वैसी बुद्धि भगवान् ने निरोधार्थ दी है ।।३७।।

आभास—भगवान् पुनः अलौकिके दत्ते स्वात्मानं ज्ञास्यतीति गोपनार्थी प्रवृत्तोपि कालादिमर्यादापि दूरीकर्तव्येति कदाचिन्न करिष्यतीत्याशङ्क्याङ्गीकारमाह 'तथे'ति।

आभासार्थ—भगवान् ने सोचा कि इसने जो वर माँगा है, वह अलौकिक है। उसके देने से मेरे स्वरूप को गुरुजी जानेंगे, जिसको गुप्त करने का विचार किया, किन्तु उस वरदान के पूर्ण करने में कालादि मर्यादा तो दूर करनी पड़ेगी। वह कृष्ण करेगा या नहीं? वैसी शङ्का गुरु को न हो; तदर्थ 'तथेत्यथारुह्य' श्लोक में वरदान को अङ्गीकार करते हैं—

श्लोक—तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं
प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ ।
वेलामुपव्रज्य निषीदतुः क्षणं
सिन्धुर्विदित्वार्हणमाहरत्तयोः ।।३८।।

१- यदि वैसे जानकार होता तो

श्लोकार्थ—गुरु की आज्ञा शिरोधारण कर कहने लगे कि आपको 'पुत्र' लाकर दक्षिणा के रूप में देंगे। यों कह कर दोनों महारथो और महापराक्रमी रथ में बैठकर प्रभास में आए। वहाँ समुद्र के किनारे पर क्षण मात्र बैठे। समुद्र को मालूम हुआ तो वह पूजा की सामग्री लेकर आया और पूजा की ॥३८॥

सुबोधिनी—ॐमिति वक्तव्ये आकृतिरेव तुल्येति समानरूपं सङ्घातान्तरमेवानेष्यतीति शङ्काव्यावृत्त्यर्थं य एव सङ्घातः यादृशस्तथैवानेतव्य इति **तथेति** प्रतिज्ञोक्ता। एतच्च शिष्यभावे न संभवतीति ऐश्वरं भावमाश्रित्य भिन्नप्रक्रमेण तदर्थं गतावित्याह **अथेति**। महारथं सर्वगामिनं स्वयमपि **महारथौ** रथशिक्षायां निपुणौ एकमेव **रथं समारुह्य** पर्यायेण सारथित्वं सम्पादयन्तौ शीघ्रमेव **प्रभासमासाद्य**। समुद्रादपि भयाभावायाह **दुरन्तो विक्रमो** ययोरिति। ततः समुद्रवेला**मुपव्रज्य** ज्ञापयन्ताविव **क्षणमुपसेदतुः**। ततः सिन्धुर्भगवन्तं जामातरं गृहपतिं बन्धकं च ज्ञात्वा **अर्हणं पूजां तयोराहरत्**। त्रेधा हि तस्य बालकविनियोगः, वियोजनं प्राणापानयोः समुद्रेण कृतम्, शारीरभागः पञ्चजनेन गृहीतः, अन्यश्च सङ्घातः कर्मवशात् पूर्वसूक्ष्मावस्थया सहितः सजीवः यमपुर्यां तिष्ठति, भगवता च तावती भूमिः समुद्रात् पृथक्कर्तव्या च। लीलौपयिकं भवति न वेति विचारणीयम् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'तथा' शब्द कहा है, जिसका भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् गुरु को यह विश्वास दिलाते हैं कि आपने जो पुत्र खोया है,[1] वही पुत्र लाकर दूंगा, नहीं कि वैसा कोई दूसरा लाऊंगा। वही देह और वही आयु रूप आकृति वाला आपका पुत्र लाता हूं। इसके लिये केवल 'ॐ' वा 'अस्तु' स्वीकार वाचक शब्द नहीं कहे हैं, यह कार्य शिष्य भाव वाले से कैसे होगा? इस शङ्का को मिटाने के लिये ऐश्वर्य भाव दिखाने के लिये 'अथ' शब्द से जुदा उपक्रम करते हैं। खुद महारथी हैं, रथ की शिक्षा में अर्थात् रथ चलाने में निपुण हैं, एवं रथ भी साधारण नहीं, किन्तु महारथ है, जो सर्व स्थानों पर जा सकता है। उसी एक ही रथ में बैठ कर प्रभास में आये। समुद्र से भयभीत होने वाले नहीं है क्योंकि आपका पराक्रम महा अनन्त है। पश्चात् समुद्र के तट पर आकर क्षण मात्र आराम करने लगे तथा समुद्र को अपने आने का ज्ञान कराया। उसके बाद समुद्र अपने घर भगवान् तथा जामाता, एवं मुझे बाँधने वाले गृह के मालिक आये हैं अतः उनकी पूजा करने आये और पूजा की। उस बालक का विनियोग[2] तीन प्रकार से हो गया था। (१) समुद्र ने प्राण और अपान वायु को पृथक् किया। (२) शरीर का भाग पंचजन दैत्य ने लिया। (३) दूसरा 'सङ्घात' कर्मवश पहली सूक्ष्म अवस्था सहित जीव के साथ यम के पुरी में थी, इतनी भूमि को भगवान् समुद्र से पृथक् करनी चाहिये, किन्तु वह लीलोपयोगी होगी वा नहीं, यह विचारणीय है ॥३८॥

आभास—अतः समुद्रं प्रति भगवान् किञ्चिदुवाचेत्याह '**तमाहे**'ति।

१- गँवाया है २- प्रयोग, काम में लगाना

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् ने समुद्र को कुछ कहा जिसका वर्णन तमाह श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम् ।**
योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोर्मिणा ।।३६।।

श्लोकार्थ—भगवान् ने समुद्र को कहा कि गुरु पुत्र शीघ्र दो, जिसको तूं ने बड़ी लहरों से ग्रस लिया है; क्योंकि वह बालक था ।।३६।।

सुबोधिनी—ननु पूजया तत्सापेक्षः सङ्कोचं च प्राप्य कथमेवमाज्ञां दत्तवानित्याशङ्क्याह **भगवानिति**। स हि सर्वेश्वरः सेवके च कः सङ्कोच इति तथैवाज्ञां दत्तवान्। **आशु गुरुपुत्रः प्रदीयता-मिति**। मम स्थाने क्वेति न वक्तव्यम्, आधिदैविकं रूपं प्रदर्शयन्नाह **योऽसाविति**। असौ यः अभिज्ञानार्थं प्रदर्शनम्। कया क्रियया मयि समागत इत्याशङ्कायामाह **त्वया ग्रस्त** इति। ननु ब्राह्मणः कथं ग्रासमर्हति तत्राह **बालक** इति। अनुपनीतः, ग्रासश्च न बुद्धिपूर्वक इत्याह **महतोर्मिणेति**। महता तरङ्गेण, तस्मान्न दण्ड्यः। ।।३६।।

व्याख्यार्थ—समुद्र ने भगवान् की पूजा की, फिर भी भगवान् ने विना संकोच के उसको आज्ञा कैसे की ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भगवान्' है, वह सर्व का ईश्वर है। सेवक से आज्ञा करने में क्या सङ्कोच है ? इसलिये आज्ञा दी है। आज्ञा को कहते हैं 'जल्दी गुरु पुत्र दो' मेरे स्थान में कहां है ? यों न कहना, आधिदैविक स्वरूप दिखाते कहते हैं कि 'यः असौ' 'जो यह' है, इस प्रकार उसकी पहचान देते हैं। मैंने किस क्रिया से उसको लिया, वह कहते हैं कि 'त्वया ग्रस्त' तू ने उसको ग्रस लिया है। ब्राह्मण को कैसे ग्रसेंगे ? इसलिए कहते हैं कि 'बालः' बालक है, उसका यज्ञोपवीत संस्कार भी नहीं हुआ है, तुमने बुद्धि से उसको नहीं ग्रसा है, किन्तु 'लहरों नें' उसको ग्रसा है, अतः तू दण्ड के योग्य नहीं है।।३६।।

आभास—प्रत्युत्तरमाह समुद्रो '**नैवाहार्षमि**'ति।

आभासार्थ—समुद्र 'नैवाहार्षम्' इस श्लोक में उत्तर देता है।

श्लोक—समुद्र उवाच-**नैवाहार्षमहं देव दैत्यः पञ्चजनो महान् ।**
अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः । ४०।।
आस्ते तेनाहृतो नूनं

श्लोकार्थ—समुद्र ने कहा कि हे कृष्ण ! हे देव ! मैंने उसका हरण नहीं किया है। शङ्ख रूपी महान् असुर पञ्चजन नामधारी दैत्य जल के भीतर रहता है, सो निश्चय ही उसने उसको लिया है और वह उसके पास है ।।४०$\frac{1}{4}$।।

सुबोधिनी—शरणागतः पञ्चजन इति भगवता ऐक्यात्समुद्र एव निरुक्तः **त्वया ग्रस्त** इति। स तु स्थित्यर्थमेवाहं प्रयोजकः न तु तत्कृतगुणदोषयोरिति तं पृथक्कृत्य आत्मनो दोषाभावमाह त **नाहमहार्षम्**। ऊर्मयः कराः भवन्ति। न हि कराः हरणे साधनत्वेन समागताः। किन्तु स्वभावत एव निमित्तत्वं प्राप्ता इति भगवद्वाक्यम्। अन्यथा दूराज्जलचरं दृष्ट्वा बालकः पलायनमपि कुर्यात्। अर्थान्निमित्तत्वं जातमिति न दोष इति समुद्राभिप्रायः। साक्षात्कर्तारं निर्दिशति **दैत्यः पञ्चजन** इति। अत्र विश्वासार्थं **देवे**ति संबोधनम्। प्रत्यक्षेणापि सर्वं पश्यति। स कथं न निराकृत इत्याशङ्कायां **दैत्य** इत्याह दैत्या हि बहवो बलिष्ठाश्च। तत्राप्ययं **पञ्चजनः**, वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति पञ्चजनानामयमेक एवानुकल्प इति पञ्चजनरूपः। पञ्चसंवत्सरात्मको वा दैत्यरूपः। पञ्चपर्वाऽविद्यारूपो वा। तत्रापि **महान्**, मयापि मारयितुमशक्यः, तमसाध्यं निरूपयितुं स्वरूपमुक्तवान्। स्थानं निरूपयति **अन्तर्जलचर** इति। जलमध्य एव चरति न कदाचिदपि बहिरायाति। रूपमात्रं दृष्ट्वा भीतः सन् परमन्यथा वदति, न तु स्वरूपं जानातीति शङ्कां वारयितुमाह **कृष्णे**ति। परिज्ञानार्थमाकृतिमाह **शङ्खरूपधर** इति। अन्यथापि स वध्य इति वक्तुं तद्दोषमाह **असुर** इति सुरप्रतिपक्षी। यदि पश्चात्सोपि मृतः स्यातदापि व्याजत्वं संभवेत् तन्निवृत्त्यर्थमाह **आस्त** इति। जीवतीत्यर्थः। **तेनैवाहृतः**। तत्र प्रविश्यान्यो मारितवानिति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह **नूनमिति**। नयनमात्रं निषिद्धमिति, संयोगविभागः अनेनैव कृत इति एतस्मात्संयोगः, बलं च गृहीतम् ॥४०½॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने शरण आये हुए पञ्च जन और समुद्र का एकीकरण कर श्लोक में कहा है कि तू ने 'ग्रस' लिया है। जिसके उत्तर में समुद्र कहता है कि मैं उसको अपने पास रहने में ही प्रयोजक हूं, उसके गुण तथा दोष का नहीं हूँ, इसलिये उसको अपने से अलग कर कहता कि मेरा दोष नहीं है, क्योंकि मैंने उसको नहीं ग्रसा वा नहीं लिया है। 'लहरें' हाथ हैं, वे भी स्वतः उसको लेने नहीं गई, किन्तु स्वभाव से ही वे निमित्त बनी हैं, यह भगवान् के वाक्य हैं, नहीं तो दूर से जलचरों को देखकर बालक भाग कर भी जावे, अर्थात् लहरें निमित्त मात्र हुई, जिससे हमारा दोष नहीं है। समुद्र के कहने का यह अभिप्राय है कि इसको साक्षात् लेजाने वाला 'पञ्चजन' दैत्य है। 'देव' संबोधन देकर सूचित किया है कि मेरे कहने पर आप विश्वास कीजिये। बालक को ले जाते तुमने देखा, तब उसको क्यों नहीं रोका? जिसके उत्तर में समुद्र कहता है कि दैत्य महान् बलवान् होते हैं। उनको रोकना अशक्य है, फिर उनमें भी यह पञ्चजन है अर्थात् वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत इन पांचों के समान यह एक ही बलधारी है; अथवा यह पञ्चसंवत्सरात्मक[1] दैत्य रूप है, वा पञ्चविद्या रूप है। उनमें भी महान् है, अतः मैं इसके मारने में अशक्त हूँ। वह असाध्य है, यह बताने के लिये उसका स्वरूप बताया है। अब उसके रहने का स्थान बताता है। जल के भीतर ही रहता है। कभी भी बाहर नहीं निकलता है। यह भी शङ्का नहीं करनी कि मैं उसका केवल रूप देखकर डर कर अन्यथा कह रहा हूं। हे कृष्ण! वह शङ्ख के रूप वाला है जिसको देखने से भय उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु वह असुर है, देवताओं का शत्रु है, इसलिये भी यह वध के योग्य है। यों

१- पाँच वर्ष का ही है

भी नहीं विचारना कि वह पीछे मर गया है, किन्तु मैं अपनी रक्षा के लिये वह वध्य है यों कह रहा हूं। वह असुर अभी तक जीवित है। उसने ही इस बालक को मारा है। वैसा भी नहीं समझना कि दूसरे किसी ने इसमें प्रवेश कर बालक को मारा है। मैं निश्चय से कहता हूं कि इसी ने ही मारा है। बालक को केवल लेकर नहीं गया है, किन्तु संयोग का विभाग कर इसने ही शरीर का भाग ले लिया। अर्थात् संयोग तथा बल इसने ही लिये हैं। ४०½।।

श्लोक—श्री शुक उवाच—**तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः ।**
जलं प्रविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ।।
तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत् ।।४१।।

ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम् ।।
गत्वा जनार्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः ।।४२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि समुद्र के ये वचन सुनकर तुरन्त ही प्रभु ने जल के अन्दर घुस कर उसे मारा, उसका पेट फाड़कर देखा तो पेट में बालक नहीं हैं, तब उसका अङ्ग रूप शङ्ख लेकर जहाँ रथ था; वहाँ आ गए। पश्चात् यम की प्यारी संयमनीपुरी में जाकर बलराम के साथ भगवान् ने वह शङ्ख बजाया ।।४१-४२।।

सुबोधिनी—कालादीनां परिणामहेतूनां प्रतिलोमतया निवेशनार्थं उत्तरं कार्यं भगवान् गृह्णातीत्याह **तच्छ्रुत्वा** दूरे मा गच्छत्विति शीघ्रमेव समर्थत्वात्स्वयमेकाकी समुद्रजलं **प्रविश्य** पलायमानं तं शङ्खोद्धारे **हत्वा** तदुदरे तं बालकं प्राणेन्द्रियजीवसङ्घातरूपं **नापश्यत्**। ततः कर्मवशादन्यत्र गत इति। ननु गच्छत्येवान्यत्र किमिति जिज्ञासया दृष्टः हतो वेत्याशङ्क्याह **अर्भकमिति**। बालकत्वात् न कर्माधीनो भविष्यतीत्याशङ्क्य दर्शने हेतुः। मारणे तु **तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय**ेति। अत एव भगवतः शङ्खः पाञ्चजन्यः। तत्र स्थितान् सूक्ष्मानवयवान् प्रतिलोमतया मज्जनक्षणस्थितपर्यन्तान्विधाय तान्पुनः यमलोके स्थितदेहे निवेश्य तत्र स्थितान् प्रतिलोमतया पुनरुत्क्रमणावस्थास्थितान्कर्तुं **रथमागच्छत्** यत्र बलभद्रः ।।४१।।

ततः संयमनीं सम्यग्यमयति सर्वानिवेति मृत्युदेवतायाः पुरीं **नामे**ति प्रसिद्धाम्, यद्भयात्सर्व एव सन्मार्गरता भवन्ति। यद्यपि **यमस्य** बहूनि स्थानानि सन्ति, तथापि सा **दयिता**। अभयार्थमाह **जनार्दन** इति, जनामविद्यामेव यत्रार्दयति, तत्र कान्यवार्ता, तत्रापि **सहलायुधः** पातालस्यापि पतिः ।।४२।।

व्याख्यार्थ—वस्तु के परिणाम के कारण जो काल आदि हैं, उनको विपरीत क्रम से बनाकर सिद्ध करने के लिये भगवान् प्रथम उत्तम कार्य को ग्रहण करते हैं, जिसका वर्णन करते हैं।

समुद्र के वचन सुनकर भगवान् ने विचारा कि वह (शङ्खासुर) दूर चला न जाए इसलिये शीघ्र ही समर्थ होने से अकेले प्रभु आप समुद्र के जल में प्रविष्ट हुए और देखा कि शङ्खासुर भागता

है । उसको पकड़ कर शङ्खोद्धार में मारकर देखा कि उसके उदर में, प्राण, इन्द्रिय, जीव और सङ्घात रूप बालक नहीं था । तब समझ लिया कि कर्म वश से दूसरे स्थान पर गया होगा । शङ्खासुर भागने लगा तब उसको पकड़ कर मारा क्यों ? और उदर फाड़ कर क्यों देखा ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि भगवान् को उसके उदर में बालक को देखना था, बालक कर्माधीन नहीं होता है और शङ्ख को लेना था । इन दो कारण से पकड़ के मारा और उदर फाड़ा, अतः भगवान् का शङ्ख पाञ्चजन्य है अर्थात् पञ्चजन से प्राप्त होने से उसका नाम पाञ्चजन्य है । उसमें स्थित सूक्ष्म अवयवों को प्रतिलोम की भांति डूबने के समय तक जैसे थे वैसे सिद्ध कर, उनको फिर यमलोक में स्थित देह में प्रविष्ट किये । फिर वहां (देह में) स्थितों को प्रतिलोम रीति से उत्क्रमण अवस्था में लाने के लिये, जहां बलभद्रजी बैठे थे, वहां रथ के पास आये ।।४१।।

पश्चात् जहां सब को दण्ड मिलता है, वैसी मृत्यु देव की प्रसिद्ध प्यारी संयमनीपुरी में जाकर बलदेवजी के साथ वह शङ्ख बजाया । जिस यम के भय से सर्वलोक धर्म में रत रहते हैं, हालांकि यम के बहुत स्थान हैं किन्तु यह पुरी यम को प्यारी है । भगवान् को वहां जाते कोई भय नहीं हुआ, क्योंकि स्वयं 'जनार्दन' है, अविद्या को भी जो पीड़ित करता है, अर्थात् नाश कर सकता है तो वहां दूसरों की बात ही क्या ? वे अविद्याग्रस्त भगवान् का क्या कर सकेंगे ? कुछ नहीं, विशेष साथ में 'हलायुध' बलरामजी है। जो पाताल के भी पति हैं ।४२ ।

आभास—ततः समुद्रवद्यमस्यापि कृत्यमाह '**शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्ये**'ति ।

आभासार्थ—पश्चात् समुद्र की भांति यम का भी कर्तव्य (शङ्खनिर्ह्राद) श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**शङ्खनिर्ह्रादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः ।**
तयोः सपर्यां महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहिताम् ।।४३।।

श्लोकार्थ—प्रजा को नियम में रखनेवाले यम ने शङ्ख की ध्वनि सुनते ही (वहाँ आकर) भक्ति युक्त हृदय से उन दोनों की महती पूजा की ।।४३।।

सुबोधिनी—शङ्खनादनं तु सर्वप्रबोधनार्थम्, तत्रत्यावयवानां प्रेरणार्थं च, प्रजानां **संयमन** इति । स्वाधिकारयावृत्त्यर्थं च भीतः सन् **तयोः** महतीमेव **सपर्यां** पूजां वैष्णवत्वात् **भक्त्युपबृंहितां** **चक्रे** ।।४३।।

व्याख्यार्थ—शङ्ख तो सब को जागने के लिये बजाया तथा उसमें स्थित अवयवों को प्रेरणा देने के लिये बजाया । वह सुनकर यम डरे कि मेरा अधिकार चला न जावे, इससे उन दोनों की महती पूजा की । यम वैष्णव है इसलिये वह पूजा भक्ति बिना हृदय से की ।।४३।।

आभास—स हि कृतार्थः सन् आत्मानं कृतकृत्यं मन्यमानः सन् कार्यविशेषार्थमागत इति विज्ञाय स्वापराधनिवृत्तये तत् पृच्छति '**उवाचे**'ति ।

आभासार्थ—यम भगवत्पूजा करने से कृतार्थ हो गया तथा अपने को धन्य समझने लगा। भगवान् किसी कार्यवश पधारे हैं, यों समझ प्रथम अपने अपराध की निवृत्ति के लिए 'उवाच' श्लोक से पूछता है।

श्लोक—**उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम्।**
लीलामनुष्य हे विष्णो युवयोः करवाणि किम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—यम नम्र होकर सर्व भूतों के अन्तर्यामी श्रीकृष्ण को कहने लगा कि लीला-से मनुष्य रूप हे विष्णो! मुझे क्या आज्ञा है? मैं आपकी क्या सेवा करूँ? ॥४४॥

सुबोधिनी—नम्रः सन् **कृष्णं** सदानन्दं कारणार्थमागतं वा भयाभावार्थमुक्तम्। ज्ञात्वैव पृच्छतीति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह **सर्वभूताशयालयमिति**। सर्वभूतानामाशयेष्वन्तःकरणेषु आलयो गृहं यस्य। अज्ञात्वा कथनं व्यावर्तयति **लीलामनुष्येति**। वस्तुतस्तु विष्णुरेव भवान्। एवं सति **युवयोरहं** किङ्करः **किं करवाणि**। करवामेति वा सर्वानात्मतया परिगृह्य ॥४४॥

व्याख्यार्थ—यम नम्र होकर सदानन्द कृष्ण से पूछता है कि आप किस कार्य के कारण पधारे हो? इस प्रकार पूछने का भीतरी कारण यह भी है कि श्रीकृष्ण मुझे दण्ड देने जैसे कार्य के लिए तो नहीं आए हैं? यह शङ्का न करनी कि मैं जानकर भी पूछता हूँ। कारण कि आप सर्व जीवों के अन्तःकरण में विराजमान हैं। सबके चित्त में क्या है? वह जानते ही हैं, जानने के सिवाय पूछता हूँ यों भी नहीं है। मैं जानता हूँ कि आप वास्तविक विष्णु सर्व व्यापक हैं,किन्तु अब लीला से मनुष्य रूप धारण किया हैं, इस प्रकार होने से मैं आप दोनों का किङ्कर हूँ। आप आज्ञा करें कि मैं क्या करूँ? किसी पुस्तक में 'करवाम' बहुवचन है, तदनुसार अर्थ इस प्रकार होगा कि यम सबको अपना ही समझ कर बहुवचन से कहता है कि हम क्या करें? ॥४४॥

आभास—मर्यादां बाधकत्वेन वक्ष्यतीति भगवानीश्वरवाक्यमाह **'गुरुपुत्रमिहानीतमि'ति**।

आभासार्थ—यम को गुरु पुत्र ले आने के लिए कहूँगा तो यम के लिए मर्यादा बाधक होगी; इसलिए भगवान् ईश्वर रूप से 'गुरुपुत्र' श्लोक में आज्ञा देकर उस बाधक की निवृत्ति करते हैं।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम्।**
आनयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः ॥४५॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि गुरु पुत्र को उसके कर्मानुसार आप यहाँ ले आए हैं। हे महाराज! उसको हमारी आज्ञा मान कर हमारे पास ले आओ ॥४५॥

सुबोधिनी - निजकर्मैव नितरां बन्धनं यस्य, स्वतः कर्माधीनम्, अतस्त्वया स्वार्थं नानीतः, भाविज्ञानेऽप्यतो नापराधः। आज्ञामाह आनयस्वेति। कथं मर्यादा मया त्यक्तव्येति शङ्कायां महाराजसम्बोधनम्, स हि कदाचित्पुष्टिमपि स्वीकरोतीति, विशेषमप्याह मर्यादातिक्रमे मच्छासनपुरस्कृत इति। मम शासनमाज्ञैव पुरस्कृतं येन। ॥४५॥

व्याख्यार्थ—अपना कर्म ही उसके बन्धन का कारण है, इसलिये आप अपने स्वार्थ के लिये उसको नहीं लाये हो, किन्तु स्वतः कर्म के अधीन होकर बन्धन में आकर पड़ा है। इसलिये यद्यपि आपको भावि ज्ञान है, तो भी लाने में आपका अपराध नहीं है। अब उसको मेरे पास ले आओ। यों कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि मैं 'मर्यादा कैसे छोड़ूं' ? क्योंकि आप महाराजा हो, वह कभी अनुग्रह भी करता है। अब तो मेरी आज्ञा को मानकर उसको ले आओ, मर्यादा त्याग का कारण मेरी आज्ञा समझलो ॥४५॥

आभास—एवमधिकारवशादीश्वराज्ञया च निरूपितेर्थे तदर्थं निस्सन्दिग्धं प्रवृत्त इत्याह '**तथेती**'ति।

आभासार्थ—ईश्वर की आज्ञा से अपने अधिकारानुसार कार्य करने के वश होने से, जो भगवान् ने आज्ञा दी, उसको यम निःसन्देह होकर करने लगा, जिसका वर्णन तथेति' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**तथेति तेनोपानीतं गुरुपुत्रं यदूत्तमौ।**
दत्वा स्वगुरवे भूयो वृणीष्वेति तमूचतुः ॥४६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि यम भगवान् को कहता है कि जो आपकी आज्ञा, वह करूँगा। यों कह कर यम ने गुरु पुत्र लाकर दिया। उसको लेकर राम कृष्ण दोनों ने आकर गुरु को दक्षिणा रूप में अर्पण किया और फिर गुरुजी को कहने लगे कि फिर भी जो चाहिए, वह कह दीजिए ॥४६॥

सुबोधिनी—तथैव करिष्यामीति तेनानीय दत्तं **गुरुपुत्रं** भगवत्कृपया पूर्वावस्थां प्राप्तं प्रतिसङ्क्रमेण दृष्टद्वारैव नत्वलौकिकप्रकारेण समानीय, यादवश्रेष्ठौ, **यदुरपि** धर्मपरायणः, अतो गुरूक्तं तथैव कृतवन्तौ। ततः **स्वगुरवे दत्वा भूयो वृणीष्वेत्यूचतुः**! अयं तु तव सुतो न दक्षिणारूपः किन्तु तेषामेव तेभ्यो दत्तमिति प्रतिबन्धनिवर्तकत्वेनाज्ञाकारी जातः ॥४६॥

व्याख्यार्थ—आपने जो आज्ञा की है वैसे ही करूँगा, यों कहकर यम ने गुरुपुत्र को लाकर दिया, गुरुपुत्र के स्वरूप का वर्णन करते कहते हैं कि भगवान् की कृपा से दृष्ट द्वारा ही प्रति संक्रमण रीति से पूर्व अवस्था को प्राप्त हो गया था, अर्थात् जैसा रूप आदि पहले था वैसा ही हो गया था। मध्य में जो समुद्र, शङ्ख और कर्म द्वारा सर्व संघात आदि पृथक् हो गये थे, वे अब मिलकर पहली अवस्था

में आ गये थे जिससे अब किसी प्रकार का भेद न रहा है। अतः अलौकिक प्रकार के रूप आकृति वाला लाकर नहीं दिया, किन्तु जैसा पिता के पास था, वैसा ही लाकर दिया। राम कृष्ण यादवों में श्रेष्ठ हैं। यदु धर्मात्मा था, अतः ये भी उस कुल में उत्पन्न होने से धर्म परायण थे। जिससे गुरु ने जैसी आज्ञा दी वैसी आज्ञा का पालन कर अपनी धर्म परायणता तथा यदुश्रेष्ठता प्रकट कर दिखाई है। अपने गुरु को पुत्र देकर कहने लगे कि फिर भी चाहिये वह कहिये। यह तो आपका पुत्र है, अतः यह दक्षिणा नहीं है। यह आपका ही आपको दिया है, आप से पृथक् कराने में जो रुकावटें थीं उनको हटाकर आपको लाकर दिया है, इससे केवल आपकी आज्ञा का पालन करने वाले हुए हैं ॥४६॥

आभास—द्वितीयवारं वरो न याचनीय इति तस्य बुद्धचा स एव वर इति लोकबुद्धचा अप्रार्थयन्निव प्रार्थयति '**सम्यक् सम्पादितो वत्सावि**'ति।

आभासार्थ—गुरु की बुद्धि में यह है कि दूसरी बार वर न माँगना चाहिये, अतः कहते हैं कि यह ही वर पर्याप्त है। लोक बुद्धि से मानो प्रार्थना नहीं करता है, किन्तु प्रार्थना है, जिसका वर्णन 'सम्यक्सम्पादितो' श्लोक में करता है।

श्लोक—गुरुरुवाच—**सम्यक्सम्पादितो वत्सौ भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः।**
को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते ॥४७॥

श्लोकार्थ—गुरुजी कहने लगे कि हे वत्स! आपने गुरु दक्षिणा बहुत अच्छी दी है। आपके समान जिसके शिष्य हैं उस गुरु को किस कामना की पूर्ति नहीं हो सकती है? अर्थात् सब कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं ॥४७॥

सुबोधिनी—भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः गुरोः प्रत्युपकाररूपो दक्षिणात्मकः **भवद्भ्यामेव सम्यक् सम्पादितः** नत्वन्यः असाध्यं कर्तुं शक्तः। एवं सति शास्त्रप्रामाण्यात् शिष्याद्गुरुर्महान् भवतीति भगवत्कृपयैव महत्त्वे सिद्धे **युष्मद्विधस्य गुरोर्मम कामानां** मध्ये **कः कामोवशिष्यते** यः प्रार्थनीयः स्यात् ॥४७॥

व्याख्यार्थ—आपने गुरु को प्रत्युपकार रूप दक्षिणा बहुत श्रेष्ठ दी है। वैसा असाध्य कार्य दूसरा कोई नहीं कर सकता है। यों तो शास्त्र प्रमाण से शिष्य से गुरु महान् है, परन्तु भगवत्कृपा से आप जैसे असाध्य को साध्य करने वाले शिष्य मिलने के कारण मेरा महत्व और भी बढ़ गया है। अतः मेरी कामनाओं में से कौनसी कामना अपूर्ण है, जिसकी याचना करूँ ॥४७॥

आभास—परमेतदेव कर्तव्यमिति अभ्यनुज्ञारूपं द्वयं प्रार्थयति '**गच्छतो**'ति।

आभासार्थ—परन्तु इतना ही करना, इस प्रकार आज्ञा रूप दो बात की प्रार्थना करते हैं।

श्लोक—**गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिर्वामस्तु पावनी ।**
छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्विह परत्र च । ४८॥

श्लोकार्थ—आप दोनों घर जाओ, वीर बनो, आपकी पवित्र कीर्ति हो, वेद सदैव इस लोक और परलोक में आपको स्मरण कर सफल होवें ! ॥४८॥

सुबोधिनी—**स्वगृहं गच्छतं वीरौ** भवतम्, गार्हस्थ्येन स्थातव्यम्, सर्वदा जय एव भवत्विऽयर्थः । **कीर्तिश्च** सर्वलोक**पावनी** भवतु, आशीर्वादो वा वरो वा यथाधिकारं ज्ञातव्यः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—अपने घर जाओ, वीर बनो, गृहस्थी हो के रहो, सर्वदा आपको जय हो, और आपकी कीर्ति सर्व लोक को पवित्र करने वाली हो, यह आशीर्वाद है, जैसा अधिकार हो उसके अनुसार समझना ॥४८॥

आभास—एतदपि गुरुवाक्यं कृतवन्ताविति वदन् प्रत्यापत्तिमाह **'गुरुणैवमनुज्ञाता-ताविं'**ति ।

आभासार्थ—गुरु का यह वचन भी पूर्ण किया, यों कहते हुए कर्तव्य का 'गुरुणैव' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**गुरुणैवमनुज्ञातौ रथेनानिलरंहसा ।**
आयातां स्वपुरं तात पर्जन्यनिनदेन वै ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे तात ! गुरु की इस प्रकार की आज्ञा पाकर, मेघ के समान शब्द करते, पवन के समान वेग वाले रथ में बैठ कर अपने पुर को लौटे ॥४६॥

सुबोधिनी—भगवदिच्छानुसारेणैव **गुरुणा** उक्तौ, क्षणमात्रेणैव **अनिलरंहसा रथेन स्वपुरं** पुनरायातां आगतौ वा, स्वपुरत्वेन प्रत्यापत्तित्व-मुक्तम् । दूरादेव तापनाशकत्वाय पर्जन्यवन्निनदो यस्येत्युक्तम् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—गुरु ने जो कुछ कहा, वह भगवान् की इच्छा से ही कहा । क्षण मात्र में ही वायु वेग वाले रथ से अपने नगर में वापिस आये । अपना पुर कहने से प्रत्यापत्तित्व कहा हैं, मेघ के समान ध्वनि करते हुए आये, जिसका भावार्थ है कि जैसे मेघ गर्जना के अनन्तर वर्षा कर ताप मिटाता है वैसे ही मैं भी आपको सान्त्वना देता हूँ, मैं भी आपका ताप मिटाने के लिये आ रहा हूँ ॥४६॥

आभास—भगवन्तं पूर्ववदुक्त्वा तत्संबन्धिनोपि पूर्ववदेव जाताः भगवति निरुद्धा वेत्याह **'समानन्दन्नि'**ति ।

आभासार्थ—भगवान् को पूर्व जैसे कहकर उनके सम्बन्धी भी पूर्व जैसे हो गये, अथवा भगवान् में निरुद्ध हुए, जिसका वर्णन 'समानन्दन्' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**समानन्दन्प्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ ।**
अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव ॥५०॥

श्लोकार्थ—राम और कृष्ण को देख कर सब प्रजा प्रसन्न हो अभिनन्दन करने लगी; क्योंकि बहुत दिनों से दर्शन नहीं हुए थे। अतः जैसे किसी मनुष्य को गया हुआ धन मिलने से प्रसन्नता होती है, वैसे ही समस्त प्रजा प्रसन्न हुई ॥५०॥

सुबोधिनी—**सर्वाः** विद्यानधिकारिणोपि, विद्यया तेजोनुभावौ भगवता प्रकटिताविति तदर्थमाह **दृष्ट्वा रामजनार्दनाविति**। सामान्यतोपि दर्शनाकाङ्क्षामाह **अपश्यन्त्य** इति। **बह्न्येव** दिनानि वर्षत्रयचतुष्टयात्मकानि **अपश्यन्त्यः** सत्यः दृष्ट्वा परमानन्दयुक्ता जाताः, पूर्वापेक्षया अधिकत्वमाशङ्क्य। तथा सति प्रमाणबलं भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं दृष्टान्तमाह **नष्ट** अदृष्टः क्वचित् लीनः **पुनर्लब्धश्चेत् धनादिश्चे**त्तदा पूर्ववदेव जायमानमपि सुखं विशिष्टमिव भवतीति भगवत्यपि तथा जातमित्यर्थः ॥५०॥

व्याख्यार्थ—राम तथा कृष्ण को देखकर सब प्रजा परम आनन्द को प्राप्त हुई। जिनमें विद्या नहीं थी उनमें भी भगवान् ने विद्या से तेज और सामर्थ्य प्रकट कर दिया। सामान्य प्रकार से भी सब को दर्शन की चाह थी। कारण कि तीन चार वर्ष बिना देखे हो गए थे, अतः स्वाभाविक दर्शन की चाह होती ही है, जिससे देखकर परम आनन्द में मग्न हो गई। पूर्व की अपेक्षा से विशेष आनन्द हुआ होगा। यदि विशेष हुआ हो तो उसमें प्रमाण बल चाहिये। वह नहीं है, यह सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे कहीं चला गया धन जो देखने में न आवे और वह किसी दूसरे के पास हो, अथवा किसी स्थान पर लीन हुआ हो, वह लौट कर फिर मिल जावे, तो उसके मिलने से जो विशेष प्रसन्नता होती है; वह भगवान् के मिलने पर प्रजा को भी विशेष प्रसन्नता हुई ॥५०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे द्विचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४२॥

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४२वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण का वीर्य निरूपक तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४६वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४३वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

"चतुर्थ अध्याय"

उद्धवजी की व्रज यात्रा (भ्रमर गीत प्रारम्भ)

कारिका—**त्रिचत्वारिंशकेऽध्याये स्वस्थित्यैव निरोधनात् ।**
यशोदानन्दयोश्चैव ह्युक्तोऽपि विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् ने यशोदा व नन्द के यहाँ रहकर जो उनका निरोध किया है, वह पूर्व में कहा गया है फिर भी यहाँ ४३वें अध्याय में यशोदा, नन्द और गोपादि का आगे कहा हुआ निरोध निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—**गोपिकानां ततो वाच्यस्तेनोक्तं च समर्थितम् ।**
राजसत्वं च संसिद्धं गुणोत्कर्षश्च रूपितः ॥२॥

कारिकार्थ—इस अध्याय के आगे आने वाले ४४वें अध्याय में गोपिकाओं के

निरोध कहने से 'ज्ञाति, बाँधव और तुमको देखने आऊँगा' इन वचनों का समर्थन हुआ है और राजसपन सिद्ध हुआ एवं गुणों के उत्कर्ष का निरूपण भी हुआ है ।।२।।

प्रकाश तथा लेख के अनुसार कारिकाओं में कहे हुए पदों का भावार्थ –

नन्द यशोदा आदि का निरोध तामस प्रकरण में कहा गया है, फिर यहां क्यों कहते हैं ? 'स्वास्थित्य' कहकर इस शङ्का का निवारण करते हैं, तामस प्रकरण में जो निरोध किया है जिसके प्रकार और अब जो निरोध वर्णन करते हैं, उसके प्रकार में भिन्नता है । तामस प्रकरण में भगवान् ने बाहर प्रकट दर्शन देने, लीला करने का निरोध किया है, अब भगवान् व्यूह सहित मथुरा पधार गए हैं, अतः रसात्मा पुरुषोत्तम स्वरूप का आधार रूप वासुदेव व्यूह भी यहाँ नहीं है, जिसमें स्थित होकर बाहर भी दर्शन देवें । इसलिए अब रसात्मा पुरुषोत्तम का आधार भक्त-हृदय ही व्रज में है अर्थात् भगवान् अब व्रज में भक्तों के हृदय में विराजमान होकर अनुभवानन्द देकर निरोध करते हैं, इस भेद के कारण यहां पुनः निरोध का वर्णन है । तामस का विषय राजस में क्यों कहा ? जिसका उत्तर 'तेनोक्त' पद से दिया है । भगवान् ने कहा है कि 'ज्ञाति बाँधव * तथा आपको देखने के लिए आऊँगा' ये वचन राज स्वभाव के हैं । उनका यहां समर्थन हुआ है, इसलिए यह निरोध लीला राजस होने से राजस प्रकरण में कही गई है तथा राजस भाव में विकलत्व,अस्वास्थ्य आदि भाव रूप विक्षेप होता है, वह अब सिद्ध हुआ है । ये आगे सिद्ध नहीं हुए थे, अतः यह निरोध राजस होने से राजस प्रकरण में कहा है । राजस प्रकरण में इस निरोध को कहने का दूसरा हेतु कहते हैं कि यहां यद्यपि भगवान् लौकिक रीति से पधारे हैं, तो भी उसका बीज भक्ति है । जिससे गुण, भगवदीय कृपा तथा उनके प्रेम का तामसत्व से विशेष उत्कर्ष हैं, अतः यहाँ राजस प्रकरण में फिर निरोध कहा है ।

इति कारिकाशयः

आभास—पूर्वाध्याये 'ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो' नन्दं प्रति भगवता निरूपितम्, तेषामेव च सम्बन्धः पुत्रत्वादिरूपः स्थापितः, तत्र मध्ये विद्याग्रहणेन विलम्बो जात इति स्वस्यापि गमनं कार्यस्यावश्यकत्वात् न संभवतीति विद्यातः समागत्य नन्दादीनां सान्त्वनार्थमुद्धवं प्रेषयतीति निरूप्यते । तत्र सन्ति त्रिविधाः, प्रकटसन्देशयोग्या यशोदानन्दप्रभृतयः, मित्रभूता गोपा अल्पगोप्याः, गोप्यस्त्वतिगोप्याः । अत एतादृशेर्थे निपुणेन दूतेन भाव्यमित्युद्धवं प्रेषणार्थं वर्णयति '**वृष्णीनां प्रवर**' इति ।

आभासार्थ—भगवान् ने नन्दजी को'ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो'पिछले अध्याय के श्लोक २३ में कहा है कि मैं आपको तथा ज्ञाति वालों को देखने के लिए आऊँगा, यों कहकर भगवान् ने उनसे पुत्रत्व आदि सम्बन्ध स्थापना किया है । आप यहां विद्या ग्रहण करने लगे, जिससे आपको जाने में विलम्ब

---

* 'ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्याम' 'आयास्य' इति

हो गया। पढ़ कर आने पर भी आपका जाना आवश्यक+ कार्य होने से हो नहीं सकता था, अतः नन्दादि को सान्त्वना के लिए उद्धवजी को भेजते हैं, इसका निरूपण करते है। जिनकी सान्त्वना करानी है वे वही तीन प्रकार के हैं-(१) वे हैं, जिनको प्रकट रूप से संदेश कहा जा सकता है, नन्द यशोदा आदि (२) मित्र बने हुए गोप, जिनको संदेश जो भेजा जावे उसमें रहस्य विषय प्रकट न हो, अतः वे अल्प गोप्य हैं। (३) गोपीजन, जिनको अति गोपनीय रहस्य संदेश में कहलाना है; अतः वैसे कार्य के लिए दूत निपुण 'चतुर' होना चाहिए। वैसे उद्धवजी हैं, यों जानकर उनको भेजने के लिए उनके गुणों का वर्णन श्री शुकदेवजी 'वृष्णीनां प्रवरो' श्लोक में प्रकट करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।**
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि वृष्णियों के श्रेष्ठ मन्त्री, श्रीकृष्णचन्द्र के प्यारे सखा, बृहस्पति के साक्षात् शिष्य, अत्यन्त श्रेष्ठ बुद्धि वाले उद्धवजी हैं ॥१॥

सुबोधिनी—कुलीनः सर्वकर्मसु प्रशस्तः। तत्रापि स्वगोत्रजः, तत्रापि महानिति प्रेषणे स्वरूपयोग्यता निरूपिता। दौत्यार्थं सहकारियोग्यतामाह **मन्त्रीति**। स हि मन्त्रं न प्रकाशयति। तद्ध्युचितमेव वदेन्नानुचितमिति भगवदुक्तमपि न वदेदतो गुह्यार्थे प्रेषणमयुक्तमित्याशङ्कयाय **कृष्णस्य दयित** इति। दयितोऽत्यन्तं प्रियः, यद्यनभिप्रेतधर्मवान् भवेत् तर्ह्यत्यन्तं प्रीतिविषयो न स्यात्. गुर्वादिरप्येतादृशो भवतीति पितृव्यत्वाच्च तथात्वे गुह्यं न वक्तव्यमित्याशङ्कयाह **सखेति**। भगवतः समानशीलव्यसनवान्। तथाप्यनीतिज्ञश्चेत् देशकालप्रकरणादिनिरपेक्षतया वदेत्, ततश्च यथार्थमपि भाषितं फलाय न भवेदित्यत आह **बृहस्पतेः** देवगुरोः शिष्य इति। नीतिस्तत्रैव (प्रतिष्ठिता) तिष्ठति। **साक्षादिति** न ग्रन्थद्वारा। साक्षा**दुद्धवो** वा उत्सवात्मक, दूरे गतस्य बन्धोः, पुनरागमनज्ञापकः परम्परयोत्सवहेतुर्भवति अयं तु साक्षात्। एनं दृष्ट्वैव जानन्ति भगवद्दर्शनेनेव च सुखिता भवन्ति, तथापि यावदुक्तार्थग्रहणसामर्थ्यं मृग्यत इति तादृशो वक्तव्य इत्यत आह **बुद्धिसत्तम** इति। बुद्धयात्यन्तं सन्, बुद्धिमत्वेऽपि कार्यसिद्धौ स्वत्वोऽपि छायया गोकुलवासिनां दुःखदूरीकरणसमर्थ इति तथोक्तम् ॥१॥

व्याख्यार्थ—जो श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुआ है वही सर्व कर्मों में प्रशंसनीय होता है। उसमें भी यदि वह अपने गोत्र में उत्पन्न हुआ हो तो वह दौत्य कर्म[1] करने में स्वरूप से भी योग्य जानना चाहिए। दौत्य कर्म में सहकार करने की योग्यता वाला होना आवश्यक है। वह योग्यता भी इसमें

+ कृष्ण को मथुरा के निवासियों के उद्धार का कार्य आवश्यक था, यदि गोकुल जावें तो वहां के अर्थात् गोकुल के निवासियों की दशा देखकर वहीं रुकना पड़े तो यह उद्धार का कार्य रुक जावे अतः उद्धव को भेजना योग्य समझा।

१- दूत का काम

है, कारण कि यादवों का मन्त्री है, अतः वह गोप्य मन्त्रणा को प्रकट नहीं करेगा। वैसे गुणवाले होने से जो सुनाने योग्य समझेगा, वही कहेगा, अयोग्य प्रकट नहीं करेगा। यदि यों है तो भगवान् जो गुह्य सदेश इसको कहेंगे वे भी नहीं बताएगा, इस भ्रम को मिटाने के लिए कहते है कि कृष्ण का प्रेमी अत्यन्त प्यारा सखा है, जो रुचिकर धर्मवाला न हो तो बहुत प्यारा न हो, यह अत्यन्त प्यारा है। जिससे इसमें वैसे रुचिकर धर्म हैं, जिनके कारण इसको गोप्य भी कहा जा सकता है। फिर अन्य विशेषता इसमें यह है, कि गुरु है, अर्थात् पितृव्य है। इसलिए गुरु को रहस्य की बात नहीं बताई जा सकती है, किन्तु यह गुरु होने के साथ सखा भी है, इसलिए रहस्य बताने में कुछ आपत्ति नहीं है। सखा में भी यह भगवान् के समानशील व्यसनवाला सखा है। इतने गुण होने पर भी यदि नीति न जानता हो तो देश, काल तथा प्रकरण आदि के अनुकूल कहने की बुद्धि न होगी, जिससे यथार्थ कहे तो भी उसका परिणाम कुछ न निकलेगा। इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'बृहस्पति' का शिष्य है, जिससे बृहस्पति नीति प्रतिष्ठित है, यह उद्धव बृहस्पति से ग्रन्थ द्वारा पढ़कर नीतिज्ञ नहीं हुआ है, किन्तु 'साक्षात्' अर्थात् प्रत्यक्ष में बृहस्पतिजी से नीति शिक्षा प्राप्त की है तथा 'उद्धव' उत्सवात्मक हैं। वह भी कैसा, दूर गये बन्धु के आगमन की हर्षित सूचना देने वाला, तो परम्परा से उत्सव का कारण है, किन्तु यह स्वयं साक्षात् 'उत्सव' है, अर्थात् आनन्द को उत्पन्न करने वाला है। इसको देखकर ही भगवान् के दर्शन के समान प्रसन्न होते हैं। इतना सब होते हुए भी जो गोप्य कार्य कहता है, जिसको समझने की सामर्थ्य वाला दूत होना चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'बुद्धिसत्तमः' अत्यन्त बुद्धिमान है। जिससे कार्य - सिद्धि हो जाती है, तो भी अपने आप एवं छाया+से भी गोकुल वासियों का दुःख दूर करने में समर्थ है, इसलिए उद्धव को 'बुद्धिसत्तमः' कहा गया है॥१॥

आभास—एवं दूतगुणानुक्त्वा तादृशे भगवन्नियोगमाह '**तमाहे**'ति।

आभासार्थ—इस प्रकार दूत के गुणों को कहकर वैसे दूत को 'तमाह' श्लोक में भगवान् आज्ञा करने लगे।

श्लोक—**तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।**
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः॥२॥

श्लोकार्थ—शरणागतों की आर्ति हरने वाले भगवान् ने हाथ से अपने प्यारे एकांत भक्त उद्धवजी का हाथ पकड़ कर एकान्त में इस प्रकार कहा॥२॥

सुबोधिनी—तेन कार्यं सेत्स्यतीति ज्ञानार्थमत्यनुरोध्येषु स्वागमनार्थं च प्रेष्ठेत्यन्तं प्रियः अतः स्वसमान इति प्रतिनिधित्वात्प्रेषणीयः। तथापि स्त्रीषु विक्रियां प्राप्स्यतीत्याशङ्क्याह **भक्तमिति**। स्त्रीकृतस्तथा भविष्यतीत्याशङ्क्याह **एकान्तिनमिति**। एकान्ते स्थातुं योग्यम्, उभयेषां विका-

+ उद्धव भगवान् की छाया ही है, अतः भगवान्सदृश है—लेखकाराः

रानालम्बनमिति, **क्वचिदेकान्ते** यत्र कोपि न पश्यति तत्र **पाणिना पाणिं गृहीत्वा** आहेति संबन्धः। एवं निर्बन्धेन कथने को हेतुस्तत्राह **प्रपन्नार्तिहर** इति। शरणागता गोकुलवासिनः, तेषामार्तिर्हर्तव्येति सहज एव धर्मस्तस्य तादृश इति न तद्धर्मपरित्यागः ॥२॥

व्याख्यार्थ—उद्धव के गुणों से भगवान् ने निश्चय किया कि उससे यह कार्य पूर्ण हो सकेगा, अतः पूर्ण निरुद्ध व्रजवासियों को ज्ञान देने के लिए और अपने न जा सकने के कारण अपने प्रेष्ठ+ अत्यन्त प्रिय अर्थात् अपने समान उद्धवजी को अपना प्रतिनिधि कर भेजना चाहिए, यह पुरुष है, स्त्रियों में विक्रिया पैदा होगी, इस भ्रम को मिटाने के लिए कहते हैं कि यह 'भक्त[1]' है। यह भक्त है, इसमें काम न भी हो, किन्तु स्त्रियों में तो काम होगा? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'एकान्तिन' स्त्रियों के साथ एकान्त में बैठने योग्य है अर्थात् एकान्त में स्त्रियां भी बैठी हो तो यह ऐसा भक्त है जिससे दोनों में काम की इच्छा उत्पन्न न होगी। भगवान् उद्धवजो को एकान्त में जहां कोई भी न देखे वहां हाथ में हाथ लेकर कहने लगे, इस प्रकार आग्रहपूर्वक कहने का क्या कारण है? इस पर कहते हैं कि भगवान् शरणागतों की आर्त्ति को हरण करने वाले हैं, गोकुलवासी भगवान् के शरण आए हुए हैं, उनकी आर्त्ति हरण करनी चाहिए, आर्ति को हरण करना भगवान् का सहज स्वाभाविक धर्म है, जिसका त्याग भगवान् कभी नहीं करते हैं ॥२॥

आभास—भगवद्वाक्यान्याह चतुर्भिः '**गच्छोद्धवे**'ति।

आभासार्थ—'गच्छोद्धव' से लेकर चार श्लोकों से भगवान् के वाक्य कहते हैं।

श्लोक—**गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।**
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥३॥

श्लोकार्थ—हे उद्धव! हे सौम्य! आप व्रज में जाओ, मेरे माता-पिता को प्रसन्न करो और गोपियों को जो मेरे वियोग का सन्ताप है, उनका वह सन्ताप मेरे सन्देशों से शाँत करो ॥३॥

कारिका—'**प्रमाणं च प्रमेयं च उपपत्तिश्च बाधकम्।**
चत्वारोत्रैव वक्तव्या अन्यथा प्रेषणं न हि' ॥१॥

+ उद्धव को 'प्रेष्ठ' कहने का तात्पर्य है कि वह अन्तरङ्ग ज्ञान देने के योग्य है; इसलिए ज्ञान देने वास्ते अपने प्रिय को भेजते हैं, वह कार्य सिद्ध कर सकेगा—लेखकार

१- भक्त काम रहित होते हैं

कारिकार्थ—प्रमाण[1], प्रमेय[2], उपपत्ति[3] और बाधक[4]; ये चार यहाँ ही कहने चाहिए। यदि न कहे जावें, तो भेजना ही व्यर्थ है ॥१॥

सुबोधिनी:—आदौ नियोगमाह हे **उद्धव व्रजं गच्छ**। सौम्येति सम्बोधनान्नान्यः प्रेषयितुमुचित इति सूचितम्। गत्वा कर्तव्यमाह **पित्रोः** यशोदानन्दयोः **नौ** आवयोः उभाभ्यां तस्मिन्नेव पितृत्वं स्थापितमिति तदुपपादितम्। अतो यथैव प्रीतिर्भवति अस्मादागमनेनेव तथा **प्रीतिमावह**, अयं प्रकटः सन्देशः। गुप्तमाह **गोपीनां मद्वियोगाधिमिति**। मम वियोगेन य आधिः मनःपीडा तां **मत्सन्देशैः** मत्पत्रलिखितैः तत्र प्रकटीकृतैः **विमोचय**, आधिग्रस्तास्ताः यथा तद्ग्रासो गच्छति तथोपायं कुरु ॥३॥

व्याख्यार्थ—पहिले श्लोक में आज्ञा करते हैं। हे उद्धव व्रज में जाओ उद्धवजी को 'सौम्य' विशेषण देकर यह सूचित किया कि दूसरा कोई इस कार्य करने के योग्य नहीं है। जाकर वहां क्या करना है। वह बताते हैं। यशोदा और नन्द जिनको हम दोनों ने माता पिता माना है, अतः जिससे वे प्रसन्न हों, वैसा कर्म करो। वे उस काम से ऐसे प्रसन्न होवे मानो हम उनसे आकर मिले हैं। यह सन्देश तो प्रकट है, अब गुप्त सन्देश देते हैं 'मेरे वियोग से उनको जो विरह आधि सता रही है उस मन की पीड़ा को मैंने जो पत्र में सन्देश लिखे हैं, वे वहां प्रकट करने से मिटाओ, 'आधि' मन की पीड़ा ने उनको ग्रस लिया है। वह ग्रसना जैसे मिट जावे वैसा उपाय करो ॥३॥

आभास—ननु तासु को विशेष इत्याशङ्क्य तासां स्वरूपमाह अस्मत्कथने प्रमेयबलत्वेन '**ता मन्मनस्का**' इति।

आभासार्थ—गोपियों में कौनसी विशेषता है? जिसको बताने के लिए उनका स्वरूप 'ता मन्मनस्का' श्लोक में कहते हैं। वह स्वरूप आप मेरे कहने से स्वरूप बल द्वारा समझ सकेंगे।

श्लोक—**ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।**
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम् ॥४॥

श्लोकार्थ—उनका मन मुझ में है, प्राण भी मुझ में है, मेरे लिए देह धर्म छोड़

१- प्रथम श्लोक में 'व्रजं गच्छ' व्रज में जाओ! यह आज्ञा भगवान् ने की है, अतः वेद रूप होने से 'प्रमाण' है।

२- द्वितीय श्लोक में 'ता मन्मनस्का' गोपियों का स्वरूप, यह '**प्रमेय**' है।

३- तृतीय श्लोक में '**मयिताः**' यह उपपत्ति है, भेजने में हेतु है।

४- चतुर्थ श्लोक में 'धारयन्त्यति' यदि न भेजा जावे तो बाधक हो; क्योंकि वे दुःखी हैं।

दिए है तथा लोक धर्म एवं वेद धर्म को भी त्याग दिया है; वैसी गोपियाँ हैं, जिनको मैं सर्व प्रकार पालता हूँ ॥४॥

सुबोधिनी—प्राणिनामात्मा मदीय एव सर्वसाधारणः स च सिद्धत्वात्, ज्ञातेऽपि तथा नादरणीयः किन्तु देहेन्द्रियमनांस्यन्यपराण्येवोत्पत्तिशिष्टानि तानि चेन्मत्पराणि स्युस्तदा तत्सङ्घाता मदीया भवन्ति । तदाह **'मय्येव** मनो यासां मय्येव प्राणा इन्द्रियाणि च मदर्थमेव जीवन्ति मय्येव सति जीवन्ति सर्वाणीन्द्रियाणि मद्विषयकमेव कुर्वन्ति, देहमपि मदर्थमेव कुर्वन्ती'-त्येतदर्थमाह **मदर्थे त्यक्तदैहिका** इति । दैहिका हि देहोपयोगिनस्तेषु विद्यमानेषु न भगवदर्थमेव देहो भवेत् । अतस्ते त्यक्तव्याः । ननु तेषां त्यागे देहनिर्वाहो न भवेत् तत्राह **ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थ** इति । **त्यक्तः लोकधर्मो** वैदिकश्च यैः चकारात्सर्वे लौकिकधर्माः वेदैश्च परिगृहीताः, एतादृशानहं **बिभर्मि** यथा मद्धस्तस्थितपदार्थः केनापि नोपहन्यते तथा त इत्यर्थः । अतस्तेषां न कोऽप्युपद्रवः किन्तु मद्विरहः स संदेशैर्निराकर्तव्यः ॥४॥

व्याख्यार्थ—यह तो सिद्ध ही है कि प्राणियों को सर्व साधारण आत्मा मेरी ही है । यह जानते हुए भी उसको उस प्रकार से आदर से देखते नहीं; कारण कि देह, इन्द्रियाँ मन उत्पन्न होते ही अन्य[1] के परायण हो गए हैं । वे जब मेरे परायण बनें, तब सङ्घात मेरे होते हैं । इन्होंने मेरे परायण किए हैं, जिनको स्पष्ट कर कहते हैं कि उनका मन, प्राण और इन्द्रियाँ मेरे में हैं । तात्पर्य यह है कि वे मेरे लिए जीती हैं, मेरे रहते हुए जीती हैं, सब इन्द्रियों को मेरे सम्बन्ध की करती हैं, देह भी मेरी कर रखी है, इसलिए सर्व देह धर्म मेरे लिए ही त्याग दिए हैं । जब तक देह धर्म देह के ही उपयोग में आते रहते है, तब तक देह भगवदर्थ हो नहीं सकती है, अतः देह धर्म छोड़ने योग्य है । यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि उनके त्याग से देह का निर्वाह कैसे चलेगा ? क्योंकि जिन्होंने लौकिक, वैदिक* आदि सर्व धर्म मेरे लिए छोड़ दिए हैं, उनका पालन-पोषण इसी प्रकार करता हूँ । जैसे मेरे हाथ में धरी हुई वस्तु को कोई भी नहीं छीन सकता या बिगाड़ सकता है अर्थात् मैं उनकी ऐसी रक्षा करता हूँ कि जिससे उनको किसी प्रकार का दुःख न हो, अतः इनको मेरे विरह के सिवाय अन्य कोई दुःख नहीं है । इसके लिए आप जाकर वह विरह दुःख मेरे संदेशों से मिटा दो ॥४॥

आभास—ननु फलसाधकत्वात् भक्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थ इति किमिति निराक्रियते तत्राह **'मयि ता'** इति ।

आभासार्थ—भक्ति मार्ग में विरह ही फल को सिद्ध करने वाला पुरुषार्थ है, तब उसका निराकरण क्यों किया जाता है ? जिसके उत्तर में 'मयि ता' श्लोक कहते हैं ।

१- लौकिक सम्बन्ध वालों के

* वैदिक धर्म कहने का भाव है कि इन्होंने आत्मारामत्व और व्यापकत्व आदि धर्म छोड़ दिए हैं—प्रकाश

श्लोक—**मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।**
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यकातराः ।।५।।

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! गोकुल की स्त्रियों का प्यारे से प्यारा मैं दूर बैठा हूँ, अतः वे विरह के मारे उत्कण्ठित होती हुई दीन बन गई हैं, ऐसी अवस्था में मेरा स्मरण करते हुए मूर्च्छित हो जाती हैं ।।५।।

सुबोधिनी—**ता विमुह्यन्ति** क्षणे क्षणे मूर्च्छां प्राप्नुवन्ति **कातरा** दीनाश्च भवन्ति । प्राणरक्षा दैन्यं च दूरीकर्तव्यम् । ननु मूर्च्छायां को हेतुः ज्ञानस्य मानसव्यापारस्य वा घातकत्वाभावात् । प्राणघाते हि मूर्च्छा भवति तत्राह **ता मयि दूरस्थे** सति **गोकुलस्त्रियः** विचारचातुर्यादिरहिताः **प्रेयसामतिप्रियाणां** सर्वेषामेव मध्ये **प्रेष्ठे**तिप्रिये प्राणादप्यधिकप्रिये दूरे विद्यमाने सति **स्मरन्त्य** एव **विमुह्यन्ति** । स्मरणमात्रमेव मूर्च्छाहेतुः । **अङ्गे**ति संबोधनं तासु स्नेहात् तदर्थं प्रेषणीयेऽपि स्नेहसूचकम् । मरणमनेनैव भवत्यनेन नेति किञ्चिदुपपन्नमस्ति,यथा महाभयात्प्राणोत्क्रमणम्, अतिक्रूरदर्शनाच्च, यथा वा पुत्राद्यपगमश्रवणे तथा तासामपि प्राप्तिसंभावनारहिते मयि सति मत्स्मरणमात्रेणापि । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । भगवत्प्राप्तिसंभावनाभावसहिता भगवत्स्मृतिः महाप्रहार इव मूर्च्छाहेतुः । प्रेष्ठत्वात्स्मरणमावश्यकम्, अतोऽचिकित्स्यदोषात् निरन्तरं मूर्च्छैव । **किञ्च,** पूर्वमनुभूतस्यार्थस्य साम्प्रतमभावो विरहः तेन तासामुत्कण्ठा महती अत औत्कण्ठ्येन कातरा दीनाश्च मत्स्मरणे मूर्च्छा मद्धर्मस्मरणे तु कातरत्वमिति उभयं मत्सन्देशो निवारयिष्यति ।।५।।

व्याख्यार्थ—वे क्षण-क्षण में मूर्च्छित हो जाती हैं और विह्वल तथा दीन हो रही हैं, अतः उन के प्राणों की रक्षा करनी चाहिए तथा उनकी दीनता निवारण करनी चाहिए । ऐसा ज्ञान व मन का व्यापार भी नहीं है, जो प्राणों का घात कर सके, प्राणों के घात होने पर ही मूर्च्छा होती है, ऐसा न होते हुए भी मूर्च्छा क्यों होती है ? उसका क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि विचार तथा चतुराई से शून्य, गोकुल की स्त्रियों का प्रेमियों में भी अति प्रियों से श्रेष्ठ, सभी मैं जो प्राण प्रिय दूर बैठा हूँ । उसके स्मरण करते ही मूर्च्छित होती हैं, तात्पर्य यह है कि उनकी मूर्च्छा का कारण मेरा स्मरण है । उद्धवजी को 'अङ्ग' विशेषण देने का हेतु यह है कि उनको जिनके पास (जहाँ) भेजना है, उनमें मेरा प्रेम है, जिससे वहाँ स्नेही ही भेजना चाहिए, इसलिए 'अङ्ग' विशेषण से बताते हैं कि उद्धवजी ! आप भी मेरे स्नेही हैं, अतः आपको भेजना ही योग्य तथा आवश्यक है । विरह में जो स्मरण होने पर मूर्च्छा होती है, जिससे मरण हो या न हो, यह कोई निश्चय नहीं है । जैसे महान् भय से, अति क्रूर के दर्शन से, पुत्रादि प्रिय के चले जाने के श्रवण से प्राण निकल जाते हैं या नहीं भी निकलते हैं, वैसे उनके प्राण भी मेरे वहाँ जाने की सम्भावना न जान, मेरे होते हुए भी मेरे स्मरण से कदाचित् प्राण निकल भी जाए । यों भी नहीं समझना चाहिए कि जिसका दर्शन हुआ है, उसके विरह में स्मरण से मूर्च्छा होने पर यों न होगा, अर्थात् प्राण नहीं निकलेंगे । यह भगवान् की स्मृति महान् प्रहार[1] जैसी होती हैं; क्योंकि भगवान् की प्राप्ति की सम्भावना न रहने से यह होता

१– चोट

है। भगवान् प्यारे हैं; इसलिए स्मृति अवश्य होगी। अतः भगवान् का न पधारना इसका कोई उपाय न देखने से निरन्तर[1] मूर्च्छा ही होती है।

जिस पदार्थ का प्रथम अनुभव किया है, वह पदार्थ अब प्रत्यक्ष नहीं है; जिसको 'विरह' कहते हैं। अर्थात् गोकुल की स्त्रियों ने भगवत्स्वरूप के आनन्द का अनुभव किया है। वह अब नहीं है, अतः उन को विरह है। जिससे उनको महती उत्कण्ठा[2] है, उससे वे कातर हैं और दीन हो गई हैं। मेरे स्मरण से मूर्च्छित होती हैं, मेरे धर्मों का स्मरण करती हैं, तब वे उससे कातर बन जाती हैं[3]; मेरा सन्देश इन दोनों का निवारण करेगा ॥५॥

आभास—तर्ह्येवं मूर्च्छायां जीवने का प्रत्याशेत्याशङ्कायामाह **धारयन्त्यतिकृच्छ्रेणेति।**

आभासार्थ—इस प्रकार मूर्च्छा होती है तो जीवित होने की आशा कैसे? इसके उत्तर में 'धारयन्ति' श्लोक कहते हैं।

श्लोक—**धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथञ्चन।**
प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥६॥

श्लोकार्थ—वे(गोपीजन) मुझ में ही आत्मा वाली होने से, मेरे आगमन के संदेशों के भरोसे से ही अति कष्ट से प्राणों को धारण कर रहीं हैं ॥६॥

सुबोधिनी—अतिकष्टेन प्राणान् धारयन्ति। बह्व्यो मृता इति प्रायग्रहणम्। देहेन्द्रियान्तःकरणानि तु विकलान्येव प्राणान् केवल धारयन्ति। तत्र का उपपत्तिरित्याशङ्कायामाह **कथञ्चिदिति।** न काप्युपपत्तिः प्रसिद्धा। वस्तुतस्तु मरणमेवोचितम्। जीवनमस्तीति। किञ्चित्साधनं परिकल्प्यते अप्रसिद्धत्वात्कथञ्चिदित्युक्तम्। **प्रमेयबलेनेति।** **भगवदिच्छयेति** जीवनमात्रम्। प्रमेयबलस्यापि दुःखदूरीकरणे न सामर्थ्यम् किन्तु धारणात्मकं भूत्वा कथञ्चिद्धारयति। तर्हि सन्देशेन किं कर्तव्यं तत्राह **प्रत्यागमनसन्देशैरिति।** भगवान् प्रत्यागमिष्यतीति यो ममैव सन्देशः आयास्य इति तज्जीवने साधनं तत् कालेन जीर्णं चेत् मरणमेवेति तदर्थमुपायान्तरं कर्तव्यम्। स उपायः पत्रे स्पष्टो भविष्यतीति भावः। ननु स्त्रीणां स्थाने तत्रापि गुह्यसन्देशे कथं पुरुषाः प्रेष्यन्ते तत्राह—**वल्लव्यो मे** इति। त्वयि न सन्देहः ताः पुनः **मे** मदीयाः न हि मदीयानामन्यत्र मनो भवति, मत्सम्बन्धस्यैव तथा सामर्थ्यात्। वल्लवीपदेन चैतज् ज्ञापयति वल्लवानां गोपानां स्त्रियः अहोरात्रं च गोपाः स्त्रीणां वलयप्राया इति ता आवेष्ट्यैव तिष्ठन्तीत्यतिकामुकाः नित्यं स्त्री-

---

१– लगातार। २– फ़िक्र अर्थात् प्यारा मिले, उसके लिए चिन्ता।
३– घबरा जाती हैं।

सुखदातारस्तादृशानामपि स्त्रियो भूत्वा तान्परित्यज्य मत्पराश्चेदन्यस्मिन् शङ्कैव नोदेति। ननु ममैव यदि तास्वन्यथाबुद्धिर्भवेत् तदा का गतिरित्याशङ्कायामाह मदात्मिका इति। अहमेवात्मा यासां मत्स्वरूपास्ता अतस्तव तासु मद्बुद्धिरेव भविष्यतीति न काचिच्चिन्तेत्यर्थः ॥६॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'प्रायः' शब्द है, जिसका आशय कहते हैं कि बहुत तो मेरे विरह में मर गई हैं। शेष जैसे-तैसे केवल प्राणों को धारण कर रही हैं। उनकी देह, इन्द्रियाँ और अंतःकरण तो घबराए हुए हैं। इसमे कौन सी हेतुपूर्वक युक्ति है ? युक्ति तो कुछ भी प्रसिद्ध नहीं है, वास्तव में तो मरण ही योग्य है। यदि जीवन है, तो कोई न कोई साधन किया जाएगा, यह अप्रसिद्ध होने से ही 'कथञ्चन' कहा है। अर्थात् भगवान् के प्रमेय बल से अथवा भगवान् की इच्छा से ही जैसे-तैसे कुछ गोपियाँ प्राणों को धारण कर रही हैं, उनका दुःख तो प्रमेय बल भी नहीं मिटा सकता है, किन्तु वह प्रमेय बल धारण कराने वाला होकर रहा है, जिससे किसी तरह कठिनाई से प्राणों को धारण कर रही हैं। जब यों हैं, तो सन्देश भेजने से क्या होगा ? भगवान् आयेंगे, इतना मेरा सन्देश ही उनके जीवन अर्थात् प्राण बचाने का साधन है। वह साधन यदि पुराना हो जाएगा, तो अवश्य मरण ही होगा, अतः यों न होवे; इसके लिए दूसरा उपाय करना चाहिए। वह उपाय पत्र में स्पष्ट होगा अर्थात् पत्र पढ़ कर वे उस उपाय को समझ जाएंगी, जिससे उनका दुःख दूर होगा तथा प्राण भी नहीं जाएँगे। स्त्रियों के पास और उसमें भी फिर गुप्त सन्देश कहना, वैसे कार्य के लिए पुरुष कैसे भेजे जाते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे गोपियाँ मेरी हैं, तुझ में तो मेरा सन्देह नहीं है और वे भी जो मेरी हैं और मेरी होने से उनका मन दूसरे में कभी नहीं जाता है,कारण कि मेरे सम्बन्ध का यह ही सामर्थ्य है। ये मेरी जो हैं, वे गोपों की स्त्रियाँ हैं। गोप अत्यन्त कामी होते हैं, जिससे वे सदैव स्त्रियों को कङ्कण की तरह दिन रात चारों तरफ घेरा कर बैठते हैं। नित्य स्त्रियों को सुख देते हैं। वैसे गोपों को भी त्याग कर जो मेरे पास आई हैं, वे दूसरों के पास कभी जाने की इच्छा भी न करेंगी। इस प्रकार की शङ्का भी उदय नहीं होती है। ठीक है, वे वैसी हैं, किन्तु मेरी ही उनमें अन्यथा बुद्धि हो जावे तो फिर मेरी कैसी गति होगी ? जिसके उतर में भगवान् कहते हैं कि मैं ही जिनकी आत्मा हूं, वैसी वे हैं। अर्थात् वे मेरा ही रूप हैं, अतः उनमें मेरी ही बुद्धि होगी अर्थात् उनको तूं मेरा ही रूप देखेगा, इसलिए तुम पुरुष हो और वहां जाते हो तो कोई चिन्ता नहीं है ॥६॥

आभास—एवमुपपत्तिपूर्वकं व्रजगमनार्थमाज्ञप्तस्तथा कृतवानित्याह **इत्युक्त** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी को युक्ति पूर्वक व्रज जाने की आज्ञा दी, आज्ञानुसार उद्धवजी ने कार्य किया जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्युक्त' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इत्युक्त उद्धवो राजन्सन्देशं भर्तुराहृतः।**
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥७॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा—हे महाराज ! भगवान् ने उद्धवजी को इस

प्रकार कहा। उद्धवजी ने स्वामी की आज्ञा को आदरपूर्वक मान लिया। तदनुसार रथ में बैठ कर नन्द के गोकुल को रवाने हुए ॥७॥

सुबोधिनी--राजन्निति। ईश्वराज्ञा सेवकैरवश्यं कर्तव्येति ज्ञापनार्थम्। स हि उत्सवात्मकः यत्रैव गच्छति तत्रैवोत्सवः। भर्ता हि स्वामी, अनेन पातिव्रत्यं तस्योक्तम्, तेन निन्दास्तुतिः लोकातिक्रमः परलोकादिबाधो वा सर्वमविगणय्य भर्तुः **सन्देशमेवादाय नन्दस्य गोकुलं प्रययौ।** तत्राप्यादरपूर्वकं परमपुरुषार्थं प्राप्त इव, भगवत्स्मरणेन मार्गे वैकल्ये गमनं बाधितं भविष्यतीति रथेन प्रययौ ॥७॥

व्याख्यार्थ—शुकवदेजी ने परीक्षित को हे राजन्! यह संबोधन देकर यह बताया है कि सेवकों को ईश्वर की आज्ञा अवश्य माननी चाहिए। वह[1] उत्सव रूप[2] हैं, जहां भी जाते है वहां उत्सव होता है। 'भर्ता'[3]कहते हैं स्वामी को यह पद देकर उद्धवजी का पतिव्रत धर्म सिद्ध किया है और उससे यह बताया है कि जिससे उद्धवजी निन्दा अंग स्तुति, लोकातिक्रम और परलोक की बाधा आदि की परवाह न कर स्वामी का सन्देश लेकर गोकुल गए। उसमें भी ऐसे आनन्द और आदर के साथ गए कि जैसे किसी को कोई परम पुरुषार्थ की ही प्राप्ति हुई हो। भगवत्स्मरण से विकलता के कारण मार्ग में जाते हुए कोई रुकावट हो जाए तो वहां पहुँच न सकूंगा, इसीलिए रथ में गए ॥७॥

आभास—गमनदिवसे सन्देशो वक्तुमशक्य इति आदौ नन्दश्च वक्तव्य इति स्मारकेण तासां विरहोधिको भविष्यतीति सन्ध्यायां गत इत्याह **प्राप्त** इति।

आभासार्थ—जाने के दिन ही संदेश कहना अशक्य है और प्रथम नन्दजी को कहना अतिअशक्य है। उनको भगवत्स्मरण से विशेष विरह दुःख होगा, इसलिए सन्ध्या के समय गोकुल गए जिसका वर्णन 'प्राप्तो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान्निम्लोचति विभावसौ।
छन्नयानः निविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥८॥

१- उद्धवजी, २- सबका विस्मरण होकर आनन्द ही आनन्द हो।

३- १. महान् होकर साधारण (दूत) कार्य करे, तो अज्ञ निन्दा करेंगे।
२. अस्तुति—यह काम उद्धवजी के योग्य नहीं है, इस प्रकार 'अस्तुति'।
३. लोकातिक्रम—यह उद्धव भी वैसा ही है, इस प्रकार लोक का किया हुआ।
४. परलोक बाध—लोक भगवान् में दोषों का आरोपण करे, तो उन दोषों को सुनना, परलोक में रुकावट होए तथा आदि पद से यह भक्ति मार्ग में बाधा करे।

यह सर्व उद्धवजी ध्यान में नहीं लाए; क्योंकि भगवान् स्वामी हैं; इसलिए उनकी आज्ञा में आदर होने से उद्धवजी गोकुल गए; ये आशय 'भर्ता' पद के हैं—'लेख'

श्लोकार्थ—सूर्यास्त होते ही श्रीमान् उद्धवजी नन्दजी के व्रज में पहुँचे। उस समय पीछे आते हुए पशुओं के खुरों की रज से उनका रथ आच्छादित हो गया था ॥८॥

सुबोधिनी—**नन्दस्यैव व्रजं** गतः, विशेषाकारेण कालस्य तथात्वात् अतिथिप्रकारेण गमनमाशङ्क्य निराकरोति **श्रीमानिति** सर्वसम्पत्तियुक्तः। **विभावसौ** सूर्ये **निम्लोचति** अस्तं गच्छति सति, विशेषेण भाः कान्तिरेव धनं यस्येति योगप्राधान्यात् सूर्यवाचकोग्निवाचकश्च। अनेन सर्वेषां लौकिकवैदिककर्मणि वैयग्र्यात् स्वाज्ञानं सूचितम्। **किञ्च। निविशतां पशूनां खुररेणुभिश्छन्नयानः** आछन्नरथः। प्रवेशे पशूनां वेगो भवति ॥८॥

व्याख्यार्थ—नन्द के ही व्रज + में पहुँचे, विशेष आकार के काल* के कारण वैसी शङ्का हो सकती थी कि कोई अतिथि[१] आया है, किन्तु वह उस रूप[२] में नहीं है इसलिए श्लोक में 'श्रीमान्' विशेषण दिया है अर्थात् वह आने वाला सर्वसम्पत्ति युक्त है। जिससे सुन्दर वेशभूषा धारण किए हुए है। सूर्य के अस्त होते हुए वहां पहुँचे। 'विभावसु' शब्द का अक्षरार्थ होता है विशेष प्रकाश ही जिस पदार्थ का धन है, वह विभावसु है। अतः इस अर्थ से सूर्य वा अग्नि का ग्रहण किया जा सकता है, इससे यह बताया है कि गोकुलवासी अपने २ लौकिक और वैदिक⁂ कार्य में लगे हुए हैं। अतः उद्धवजी ने बताया है, कि इस समय पहुँचने के कारण मेरे आने का ज्ञान किसी को भी न हुआ और विशेषतया इसलिए भी ज्ञान नहीं हुआ, जो मेरा रथ व्रज में आते हुए पशुओं के खुरों की रज से आच्छादित हो गया था। व्रज में आने के समय पशु वेग से आते हैं जिससे खुरों से रज जोर से उड़ती है, उस रज ने रथ को ढक दिया था ॥८॥

आभास—भगवद्रहितत्वात् पञ्चधा वर्णयति गोकुलम्। ऐश्वर्यरहिता अन्ये गुणाः सन्ति, वीर्यं कामे प्रतिष्ठितमिति। तत्र पशूनां कामलीलामाह **वासितार्थ** इति।

आभासार्थ—व्रज में भगवान् के प्रकट न रहने से ऐश्वर्य गुण❉ के सिवाय शेष पांच गुण हैं, जिससे गोकुल का पांच प्रकार से वर्णन करते हैं। वीर्य काम में स्थित है; अतः 'वासितार्थ' श्लोक से पशुओं की काम लीला कहते हैं।

\+ लेखकार कहते हैं कि सन्ध्या समय होने से नन्द के व्रज में जाना ही उचित था, कारण कि उस समय गोपियाँ मिलती नहीं; क्योंकि भगवान् के आने का समय है।

* प्रकाशकार कहते हैं कि विशेष आकार काल कहने का आशय है कि भगवान् के आने का समय था।

१- अभ्यागत; २- अतिथि रूप।

⁂ लेखकार कहते हैं कि सूर्य अस्त के समय लोग अपने कार्य में व्यग्र होते हैं। यदि 'विभावसु' शब्द अग्निवाचक है; तो उस समय अग्निहोत्री वैदिक कर्म में व्यग्र रहते हैं।

❉ लेखकार कहते हैं कि गोकुल में भगवान् भक्तों के हृदय में विराजते हैं, इसलिए वहाँ ऐश्वर्य गुण प्रकट नहीं है।

श्लोक—वासितार्थेऽभियुद्धयद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः ।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान् ॥९॥

इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः ।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥१०॥

श्लोकार्थ—रज वाली गायों के वास्ते मदोन्मत्त बैल आपस में लड़ते हुए नाद कर रहे हैं । दूध से भर जाने के कारण भारी हुए थनों के भार से चलने में असमर्थ होते हुए भी गाय अपने बछड़ों को न देख, उनके लिए दौड़ रही हैं । इधर-उधर कूदते-फांदते गायों के सफेद बछड़ों से शोभित और गौओं के दोहन के शब्द की ध्वनि से तथा वेणु की ध्वनि से शोभित ॥९-१०॥

सुबोधिनी—शुष्मिभिर्मत्तवृषैर्नादितम् । तेन पितरोऽपि तृप्यन्तीति प्रसिद्धिः । स च नादो जयपूर्वक इति वक्तुं युद्धमाह **युद्धयद्भिरिति** । **वासिता** भोगयोग्या गौः यथा ऋतुकाले स्त्री, सा विरलैव भवतीति तदर्थं बहवो वृषा युद्धं कुर्वन्ति। वृषभाणामुक्त्वा गवामाह **धावन्तीभिरिति** । **वास्राः** सद्यःप्रसूता धेनवः सवत्साः ताः पुनः इतस्ततो धावन्ति वत्सादर्शनात् । अथवा वास्राभिर्धेनुभिश्च नादितं ऊधसो भारेण धावनमशक्यमिति, तथापि धावनं प्रेमाधिक्यात्, तद्वीर्यमेव स्त्रीपुरुषैर्निरूपितम् । **सवत्सकानन्यान्** स्थूलान्विलङ्घद्भिः **गोवत्सैर्विशेषेण** लङ्घद्भिर्मण्डितम्, वत्सकान् प्रति धावद्भिर्धेनुभिर्मण्डितम्, तानेव विलङ्घद्भिः **गोवत्सैश्च मण्डितम्** । **इतस्तत** इति **श्रीवर्णनम्**, श्वेतगोवत्सैः शोभातिशयो भवतीति, गोदोहशब्देन अभितो रवो यत्र । **वेणूनां निःस्वनेन च** मण्डितम्, स्वरूपतः शोभा धनं श्रीकार्यं च वीणादिवादनवद् वेणुवादनमपि श्रीकार्यमेव । चकाराद्वीणादिवाद्यान्यपि ॥९-१०॥

व्याख्यार्थ मदोन्मत्त बैल नाद करते है, जिससे पितर भी तृप्त+होते हैं यों प्रसिद्धि है। वह नाद जय होने से करते हैं, अतः युद्ध का वर्णन करते हैं । जिस प्रकार ऋतुकाल में स्त्री भोग योग्य होती है वैसे भोग योग्य अर्थात् रज वाली गौ स्वल्प होती है, बैल बहुत होते है इस कारण से परस्पर लड़ते है इस प्रकार बैलों का वर्णन कर गायों का वर्णन करते हैं, ताजा ब्याई हुई बछड़े वाली गायें बछड़ों को न देखकर उनसे मिलने के लिए इधर उधर दौड़ती हैं और ध्वनि करती हैं, जिससे व्रज नादित हो रहा है । यद्यपि थनों में भरे दूध के भार से दौड़ना अशक्य सा है तो भी बछड़ों में प्रेम होने से दौड़ रही है । स्त्री[1] और पुरुष[2] दोनों का वर्णन करने से 'वीर्य' गुण का वर्णन किया हैं ।

+ लेखकार का आशय—यह 'वृषोत्सर्ग' प्रकरण में कहा है । यह काम लीला धर्म से विरुद्ध नहीं है; क्योंकि धर्मानुकूल काम विभूती रूप है; जैसे कहा है कि 'धर्मा विरुद्ध' ।

१- गाय; २- वृष (साण्ड) ।

बछड़ों सहित अन्य स्थलों का भी उल्लङ्घन करने वाले बछड़ों से व्रज सुशोभित हो रहा है बछड़ों की तरफ दौड़ती गौओं से शोभित, उनका भी उल्लङ्घन करने वाले अन्य बछड़ों से गोकुल सुशोभित है। जहां तहां वैसी शोभा कहने से श्री गुण का वर्णन किया है। गौओं के सफेद बछड़ों से विशेष शोभा हो रही है। जिस गोकुल में चारों तरफ गौओं के दोहन की ध्वनि सुनी जाती है और वेणु का मधुर अव्यक्त स्वर सुनने में आता हैं, जिनसे गोकुल सुशोभित है। स्वरूप से जो शोभा है, वह धन तथा श्री का कार्य है। वीणा आदि वादन की भाँति वेणु का वादन भी श्री का कार्य ही हैं। यहां 'च' का आशय है कि यहाँ वीणा आदि वाद्य भी शोभाजनक बजते हैं ।।६-११।।

श्लोक—गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ।
स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ।।११।।

श्लोकार्थ—सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित गोपियाँ तथा गोप राम और कृष्ण के माङ्गलिक चरित्र गाते थे, जिससे भी गोकुल नगरी शोभा वाली हो रही थी ।।११।।

सुबोधिनी—गायन्तीभिश्चेति । बलकृष्णयोः शुभानि कौतुकलीलाकर्माणि, गोकुलवासिनामुत्सवनिरूपणार्थं कर्मणां शुभत्वं निरूपितम्, त्यक्त्वा गत इत्यपि कर्म भवति, तथापि स्वस्य हितकरं न भवति तद्व्यावृत्त्यर्थं वा, गानं च यशोरूपं स्त्रियश्चेद्गायन्ति । अन्यथा भगवद्गुणगानस्य विहितत्वात् धर्मत्वमेव स्यात् । अतो गोपा(न्) गोपीश्च वर्णयति, स्वलङ्कृताभिः गोपीभिः गोपैश्च स्वलङ्कृतैः सुष्ठु विराजितमिति ।।११।।

व्याख्यार्थ—बलराम और श्रीकृष्ण के शुभ कर्म अर्थात् जो-जो कौतुक लीलाएँ उन्होंने की हैं; वे सब शुभ हैं। कारण कि गोकुलवासियों को ये आनन्द देने वाली हैं। गोकुल को छोड़ मथुरा गए, यह भी कर्म है; तो भी अर्थात् जाने से वियोग हुआ है; किन्तु वह कर्म जब गोपियाँ गाती हैं, तब परम आनन्द देता है और वह गान यदि स्त्रियाँ गाती हैं, तो यश रूप* हो जाता हैं। यदि स्त्रियाँ नहीं गावें, तो भगवद्गुणगान करना यह शास्त्र की आज्ञा है; अतः वह धर्म रूप ही होता है। गोप और गोपियाँ जो गुणगान करती हैं; वे कैसे रूप से करती हैं ? जिसका वर्णन करते हैं कि गोप-गोपी दोनों ने अपने को सुन्दर वस्त्र तथा अलंकारों से अलंकृत कर फिर प्रेम से भगवत् लीलाओं का गान करते थे। इस प्रकार गोकुल पाँच प्रकार से मण्डित हो रहा था, जिस समय कि उद्धवजी पधारे थे ।।११।।

आभास—ज्ञानार्थी धर्ममाह प्रवृत्तिस्वभावमेव ज्ञानं उपयोगीति, अग्न्यर्कातिथीति ।

---

* लेखकार कहते हैं कि स्त्रियाँ गाती हैं तो यश रूप होता है और पुरुष तो गुणगान धर्म बुद्धि से भी करते हैं। अर्थात् स्त्रियाँ धर्म समझकर नहीं गाती हैं; अतः वह यश रूप ही होता है—अनुवादक

आभासार्थ - ज्ञान के लिए धर्म को कहते हैं। ज्ञान वह उपयोगी + है; जो प्रवृत्ति स्वभाव वाला हो; जिसका वर्णन 'अग्न्यर्का' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।**
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—गोकुल में अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण, पितर और देवताओं का सम्मान हो रहा है तथा धूप, दीप, माला आदि से गोपों के घर मनोहर हो गए हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—**अग्नयः** अग्निहोत्रादिना पूज्यन्ते। **अर्कः** सन्ध्यावन्दनादिभिः, **अतिथयः** पूज्यन्त एव, **गावो** व्रतादौ दाने च, तथा **विप्राः**,**पितृऋणां देवतानां** च नैमित्तिके **अर्चनम्**, अनेन श्रौतः स्मार्तश्च धर्मस्तत्र वर्तत इति निरूपितम्, देवता हविर्मन्त्राश्च श्रौते निरूपिताः। **पितरो देवा स्मार्ते** श्राद्धे होमे च। तान्त्रिकधर्मोऽपि तत्र वर्तत इति ज्ञापयितुमाह **धूपदीपैश्च माल्यैश्चे**ति, अर्चनायामन्वितैर्धूपादिभिर्विराजितं मनोहरं वा, व्रजस्य गृहाः सुन्दरा न भविष्यन्तीति धर्मप्रस्तावे आधारत्वेन निरूपितम्। **गोपानामावासै**रुत्तमगृहैः **मनोरमं** सर्वेषामेव मनोरतिजनकम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—अग्निहोत्र आदि से अग्नि का पूजन हो रहा हैं। सन्ध्यावंदन आदि से सूर्य पूजे जाते हैं। अतिथियों की पूजा हो रही है, व्रत तथा दान के समय गौ पूजी जाती है। इस प्रकार ब्राह्मण भी पूजे जाते हैं। पितर और देवों की पूजा किसी निमित्त होने पर होती है। इससे सिद्ध होता है कि गोकुल में श्रौत और स्मार्त दोनों धर्म होते हैं। देवता, हवि और मन्त्र ये तीन श्रौत धर्म में निरूपित हैं पितर तथा देवता, स्मार्त कर्म जो श्राद्ध और होम है; उसमें आते हैं। वहाँ तान्त्रिक धर्म भी है, जिसका निरूपण करते कहते है कि पूजन में धूप, दीप, पुष्प आदि लाए जाते हैं, जिनसे गोपों के घर मनोहर लगते हैं। साधारण रीति से गोपों के घर सुन्दर नहीं होते हैं, अतः वहाँ इस प्रकार धार्मिक प्रस्तावों के होने से वे गोप गृह भी सबके मन को रञ्जन करने वाले हुए हैं ॥१२॥

आभास—वैराग्यं निरूपयन् गृहे उद्वेगे बहिर्निर्गतस्य महत्सौख्यं तत्रेति वदन् आह **सर्वतः पुष्पितवनमिति ।**

आभासार्थ—वैराग्य का निरूपण करते हुए कहते हैं कि घर में उद्वेग होने पर जो बाहर निकल आता है, उसको वहाँ महान् आनन्द की प्राप्ति होती है; जिसका वर्णन 'सर्वतः' श्लोक में करते हैं।

+ लेखकार कहते हैं कि उपयोगी का भावार्थ है 'ये सब भक्ति में उपयोगी हैं'।

श्लोक—**सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम् ।**
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मखण्डैश्च मण्डितम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—चारों तरफ फूल खिले हैं, जिनमें वैसे वन हैं; जिन वनों में पक्षी कूज रहे हैं और भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं और कमलों के वन में हँस और कारण्डव पक्षी व्याप्त हो रहे हैं, जिससे वह शोभित है ॥१३॥

सुबोधिनी—**सर्वतः** पुष्पितानि **वनानि** यत्र । अत्र वनशब्देन उपवनप्रायाणि वनानि जलानि चोच्यन्ते । पुष्पाणामत्युत्कृष्टत्वाय तद्गन्धरसाभिज्ञान्निरूपयति **द्विजानामलीनां च कुलैर्नादित**मिति, जलस्थानामुत्कर्षं वक्तुं विशेषमाह **हंसैः कारण्डवैराकीर्ण**मिति । मुख्यानि पद्मानीति **पद्मखण्डैः** पद्मसमूहैः **मण्डित**मिति ॥१३॥

व्याख्यार्थ—चारों तरफ फूलों से युक्त वन हैं यहाँ 'वन' शब्द से अधिक उपवन वाला और जल प्रायवन कहा है । वन के पुष्प बहुत सुन्दर तथा गन्धवाले हैं । जिनकी पुष्टि में कहते हैं कि उनके गन्ध के रस जानने वाले पक्षी वहाँ कलरव करते हैं तथा भ्रमर गुञ्ज रहे हैं । जल के स्थानों की विशेषता दिखाने के लिए कहते हैं कि हँस और कारण्डव पक्षी वहाँ सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं । मुख्य पद्म से, पद्म खण्डों से और पद्म समूहों से वन सुशोभित हैं ॥१३॥

आभास—एवं व्रजं वर्णयित्वा तादृशे गतस्य पूजादिकमाह **तमागतमिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार व्रज का वर्णन किया, वैसे व्रज में गए हुए उद्धवजी का पूजादि से सत्कार किया, जिसका वर्णन 'तमागतं' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ।**
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत् ॥१४॥

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम् ।
गतश्रमं पर्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—नन्दजी श्रीकृष्ण के अनुचर तथा प्रिय उद्धवजी को आते देख, उनके सामने आए तथा प्रसन्न होकर उनका आलिङ्गन किया, अनन्तर वासुदेव मेरे घर पधारे हैं, इस बुद्धि से उनका पूजन किया । सुन्दर व्यंजन खिलाए, पश्चात् सुखपूर्वक पलङ्ग पर बैठाया । पाँव दाबने से जब उनकी थकावट दूर हुई, तब उनसे पूछने लगे ॥१४-१५॥

सुबोधिनी—सम्यगासाद्याग्रे गत्वा । तत्र हेतुद्वयं कृष्णस्यानुचरम् । पूर्वमपि प्रियमिति । अतो नन्दः आगमनेनैव प्रीतः अनेन स्वशेषत्वमुक्तम् । परिष्वज्येति स्वसमानत्वम् । वासुदेवधिया भगवत्सेवके भगवद्बुद्धिः कर्तव्येति तद्बुद्ध्या अर्चयति 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति वाक्यात् ।।१४।।

विजातीयत्वात् परमान्नेन पायसेन भोजनमिति केचित्, वस्तुतस्तूत्कृष्टेनान्नेन । ततः कशिपौ पल्यङ्के तूलिकायां सुखमुपविष्टमित्युपलक्षणतया राजोपचारा निरूपिताः । ततो गतश्रमं स्वयमन्येन वा पादसंवाहनादिभिः कुशलं पर्यपृच्छत् तस्य तु कुशलं स्वामिकुशलेनैवेति भगवन्तं पृच्छन् आदौ स्वमित्रं वसुदेवं पृच्छति, परिशब्दार्थः । ।।१५।।

व्याख्यार्थ - नन्दजी उद्धवजी के आते समय उनके (आदरार्थ) स्वागत के लिए पास गए । उसके दो करण है, एक वे श्रीकृष्ण के अनुचर[1] हैं और दूसरे उनके प्रिय मित्र हैं, अत: नन्दरायजी ने उनके आने की प्रसन्नता प्रकट करने से यह सूचित किया कि मेरे लिए पधारे हैं, जिससे समानता जानकर आलिङ्गन किया । उनकी पूजा वासुदेव की बुद्धि से करने लगे, कारण कि भगवान् के सेवक में भगवद्बुद्धि करनी चाहिए, इस शास्त्रीय सिद्धान्त को नन्दजी जानते हैं, जैसा कि कहा है (यो यच्छ्रद्धः स एव सः) जो जिसमें जैसी श्रद्धा रखता है, उसके लिए वह वैसा ही हो जाता है, इसलिए उद्धवजी में नन्दराय ने कृष्ण बुद्धि की, तो, उसके लिए वह कृष्ण ही हो गया, अतः पूजा की ।।१४।।

पूजा के बाद सुन्दर अन्नादि से बनाए पक्वान्नों का भोजन कराया । किसी की राय है कि उद्धवजी दूसरी जाति अर्थात् क्षत्रिय थे और नन्दजी वैश्य थे इसलिए दूध की बनी वस्तुओं से भोजन करवाया था । पश्चात् कोमल आस्तरण[2] किए हुए पलङ्ग पर बैठाया जिससे यह सिद्ध हुआ कि नन्दजी ने उद्धवजी का आदर राजाओं के समान किया है । अनन्तर स्वयं नन्दजी ने अथवा दूसरे के द्वारा पांव दाब कर उनकी थकावट दूर की, इत्यादि प्रकार से सत्कार कर पीछे कुशल पूछने लगे । उसका कुशल तो स्वामि के कुशल पूछने में ही पूछा माना जावेगा । भगवान् की कुशलता पूछने के पहले अपने मित्र वसुदेव को कुशल पूछते हैं । यह भावार्थ 'परि' शब्द का है, यदि केवल भगवान् को कुशल ही पूछनी होती तो श्लोक में 'अपृच्छत्' कहते किन्तु 'परि' शब्द से उनके सम्बन्धियों की भी कुशल पूछनी आवश्यक है ।।१५।।

आभास—तदेवाह **कच्चिदङ्गेति ।**

आभासार्थ—वही 'कच्चिदङ्ग' श्लोक से कहते हैं, अर्थात् वसुदेवजी की कुशल पूछते हैं—

श्लोक—कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः ।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः ।।१६।।

१- दास, भक्त । २- बिछौना ।

श्लोकार्थ—हे परम प्रिय ! हे महाभाग ! हमारे मित्र शूरसेन का पुत्र वसुदेव वहाँ रहता है, वह बन्धन से छूट पुत्र आदि बाँधवों के साथ कुशल तो है ? ॥१६॥

सुबोधिनी—हे **अङ्ग** परमस्निग्ध भगवद्भक्तत्वात् **महाभाग नः सखा** शूरस्य **नन्दनः** वसुदेव **अपत्याद्यैर्युक्तः** बन्धनान्मुक्तः सुहृद्भिश्च **वृतः कुशल्यास्त** इति । अनेन रोहिण्याद्यास्तत्रैव गता इति ज्ञापितम् । अन्यतोपि समागताः पुत्रादयश्चेत्यपि पृष्टम् । स्वस्य सखित्वेन पुत्रस्थापनकन्यानयनादिभिः वैमनस्यं परिहृतं परमानन्दः प्रापित इति । **शूरनन्दन** इति पितृनाम्ना तस्य स्वतो महत्वमुक्तम् । **मुक्त** इत्यनुवादोपि सर्वचिन्ताव्यावृत्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ -नन्दजी कहते हैं कि हे उद्धवजी ! आप कृष्ण के परम प्यारे मित्र हो और भगवान् के भक्त हो अतः भाग्यवान् हो । बताइये, हमारे मित्र शूरसेन के पुत्र वसुदेवजी पुत्र आदि से युक्त बन्धन से छूटने के बाद बान्धवों के साथ कुशल तो हैं ? यो कहने से रोहिणी आदि वसुदेवजी के यहां गई है, यह बताया है । अन्य स्थानों पर जो पुत्र आदि सम्बन्धी थे वे भी आगए हैं, अतः उनकी भी कुशल पूछी है । वसुदेव अपना मित्र है, अतः यहाँ पुत्र को स्थापना करके और कन्या को ले जाने से मन की चिन्ता दूर कर मुझे परमानन्द दिया है । वसुदेव शूर का पुत्र है, इसलिए ही उसका महत्व हैं । बन्धन से 'मुक्त' हुए इसका पुनः कहना भी समस्त चिन्ता को निवृत्ति के लिए है ॥१६॥

आभास—अतः परं भगवत्कुशलं पृच्छन् आदौ प्रातीतिकं दोषं परिहरति **दिष्ट्या कंस** इति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर भगवान् की कुशल पूछने से प्रथम प्रतीत होने वाले दोष का निवारण 'दिष्टयाकंम' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ।**
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा ॥१७॥

श्लोकार्थ—प्रसन्नता है कि पापी कंस अपने भाईयों के साथ अपने पाप से ही नाश हुआ, जो धर्मात्मा यादवों से सदा वैर रखता था ॥१७॥

सुबोधिनी—**कंसो** यो **हतः** सानुगो भ्रातृसहितः **तद्दिष्ट्या**, आमयरूप इत्यशक्य इति च इन्द्रादीनामप्यशक्य इति । मातुलो भगवता हत इति । तदर्थमाह **स्वेन पाप्मना हत** इति। भगवतापि मारणपक्षे दोषाभावाय **पाप** इति । तस्योत्कटं पापमाह **साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टी**ति । षष्ठ्या तत्सम्बन्धि सर्वमेव द्वेष्टीति निरूपितम् । **साधूनामिति** ज्ञानमार्गोत्कर्षः **धर्मशीलानामिति** कर्ममार्गे, **यदूनामिति** भक्तौ, अतः सन्मार्गमात्र एव तस्य द्वेष्य इति ! उत्कटं पापं तद्वधश्च युक्त एवेति निरूपितम् । कार्यवशात् कादाचित्को द्वेषः नात्यन्तं विगीत इति **सदेति** । ॥१७॥

व्याख्यार्थ—कंस, जो भाईयों के साथ मरा, यह प्रसन्नता है। वह रोग के समान था, इस से नष्ट होना कठिन था। इन्द्र आदि से भी, जिसका मारना अशक्य[1] था। भगवान् ने मामे को मारा, किन्तु वास्तव में वह अपने पापों से ही मरा है। भगवान् ने मारा इस पक्ष में भी दोष के अभावार्थ श्लोक में कंस का विशेषण 'पापः' देकर बताया है कि वह पापी होने से मरा है। भगवान् तो काकतालीयन्यायवत् मारक हुए हैं। साधारण पापी नहीं था, किन्तु महान् पापी था, क्योंकि साधु स्वभाव वाले, धर्मात्मा और यादवों का शत्रु था, अर्थात् ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों का द्वेषी था। साधु कहने से ज्ञान मार्ग का उत्कर्ष बताया, ऐसे का शत्रु था। धर्म शील पद से कर्म मार्ग की श्रेष्ठता बताई, उसका भी द्वेषी था और यदु शब्द से भक्ति का गौरव कहा। वैसे भक्ति का भी वैरी था, जिससे यह प्रकट हुआ कि वह समस्त सन्मार्गों का ही शत्रु था। उत्कट पापी था, अतः उसका वध योग्य ही था, इसलिए वैसा निरूपण किया है। किसी कार्य से किसी समय किसी से द्वेष हो वह अत्यन्त निन्दनीय नहीं है किन्तु यह सदा ही सन्मार्गों का वैरी था जिससे निन्दनीय तथा मारणीय है ॥१७॥

आभास—एवं दोषं परिहृत्य भगवद्गुणान्नवभिर्वक्तुं तस्य भक्तरक्षा तद्गुणानामाधिक्यं पराक्रमाश्चोच्यन्ते। एवं सति दशभिर्गुणातीतेन सह कुशलमुक्तं भवति। तत्र प्रथमं अस्माभिर्निरन्तरं स्मर्यते तत्स्मारकाणां बहूनां विद्यमानत्वात्तथापि किं स स्मरति न वेति स्मारकाभावात् पृच्छति **अपीति**।

आभासार्थ—इन दोषों का परिहार कर अब भगवान् के भक्तों की रक्षा, गुणों की उत्तमता और पराक्रम आदि गुणों का वर्णन नौ श्लोकों में करते हैं। एक में दोषाभाव[2] का वर्णन किया, इस प्रकार दश श्लोकों से गुणातीत के साथ कुशल कहा है। उनमें प्रथम कहते हैं कि हम निरन्तर स्मरण कर रहे हैं क्योंकि यहाँ उनके स्मरण कराने वाले बहुत है। वह याद करता है या नहीं? क्योंकि वहां कोई भी ऐसा नहीं जो हमारी याद करावे, इसलिए पुछते हैं और उसका विवरण 'अपि स्मरति' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन्।
गोपान्व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—भला कभी कृष्ण हमको याद करते हैं? तथा माता, सुहृत्, सखा, गोप, आप ही जिसके नाथ हैं, वैसे व्रज, गौ, वृन्दावन और गोवर्द्धन पर्वत; उनको भी याद करते हैं? ॥१८॥

१- मुश्किल,

२- 'दिष्ट्या कंसो हतः' श्लोक में दोषा भाव का वर्णन हैं।

सुबोधिनी – **अपि**: सम्भावनायाम् **नः** अस्मान् । **कृष्णे**ति स्नेहेन नामग्रहणम् । स्मारकाभावात् कथं स्मरणमित्याशङ्क्य सम्बन्धानाह **मातर**मिति । **आदिपदै**श्चिन्तात्र संस्कारोद्बोधिका निरूपिता । **मातरं** यशोदाम्, **नः** इति पूर्वं स्वात्मानमुक्तवान्, बहुवचनं तु सर्वापेक्षम्, **सुहृदः** अस्मानन्यांश्च उपनन्दादीन्, **सखीन्** मित्राणि गोपालान्, **व्रजं** स्थानम्, तस्य स्मरणे हेतुः **आत्मनाथ**मिति । आत्मैव नाथो यस्येति । पाल्यमानत्वाद्**गावः** गा इत्यर्थः । क्रीडास्थानं **वृन्दावनं** विशेषलीलाधारो गोवर्द्धन इति **गिरिम्** एवमष्टौ स्मरणहेतवः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—यहां 'अपि' शब्द का अर्थ 'सम्भावना[1]' में है कि शायद कृष्ण हमको याद करते हैं ? 'कृष्ण' यह नाम स्नेह से ग्रहण किया है । कृष्ण स्मरण करते हैं ? यों इसीलिए पूछा जाता है कि वहां कोई ऐसा नहीं है जो हमारा स्मरण करावे । स्मरण कराने वाले के सिवाय स्मरण नहीं होता है । यों कहकर फिर यहां वालों के साथ श्रीकृष्ण का तो सम्बन्ध है, वह बताते हैं । जैसे कि माता यहां है यह सम्बन्ध तो स्मारक है । सदृश, अदृष्ट और चिन्ता आदि की वस्तुएं स्मारक होती है । उनमें से यहां सदृश का अभाव है । अदृष्ट भगवान् में होता नहीं है । शेष चिन्ता यहां स्मारक हो सकती है, कृष्ण हमारी याद करे, उसके आठ हेतु है । वे इस प्रकार दिखाये जाते है-(१) माता यशोदा, (२) हम, पहले अपने को कहा और बहुवचन कहकर सर्व की अपेक्षा कह दी, अर्थात् सब की तरफ से मैं कह रहा हूं, इसलिए बहुवचन दिया है । (३) सुहृद[2], (४) सखा गोप, (५) व्रज (रहने का स्थान), (६) गौ, (७) वृन्दावन और (८) गोवर्द्धन पर्वत । व्रज के कहने से सर्व व्रजवासी का भाव प्रकट किया है । उसके स्मरण में यह विशेष हेतु हैं कि आप उसके स्वामी हैं । गायों के स्मरण में मुख्य कारण यह है कि उनके पालक आप हैं । वृन्दावन क्रीड़ा का स्थान है और गोवर्द्धन गिरि विशेष लीलाओं का आधार[3] है । ये सब कृष्ण के चिन्ता के पदार्थ हैं, इसलिए ये स्मारक हैं । अतः शायद वे याद करते होंगे, इसलिए 'अपि' संभावना में दिया है ॥१८॥

आभास—स्मरतीत्युत्तरं प्राप्याह **अप्यायास्यती**ति ।

आभासार्थ—उद्धवजी ने कहा कि याद करते हैं, इस पर यह श्लोक कहकर पूछते हैं कि 'अप्यायास्यति' ।

श्लोक—**अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान्सकृदीक्षितुम् ।**
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—भला कृष्ण एक बार भी स्वजनों को देखने के लिए आवेंगे ? जो आवेंगे तो आपके सुन्दर नासिका वाले तथा सुन्दर, स्मित[4] एवं नेत्रों वाले मुखारविंद को देखेंगे ॥१६॥

१- हो सकता है, २- सम्बन्धी-उपनन्द आदि, ३- स्थान,
४- मन्द हास्य ।

सुबोधिनी—यो हि यत्स्मरति सर्वदा स तदभिलाषी सन् तत्र गच्छति, अतोत्रापि सम्भावना। नन्वत्र गुणभाव: तत्र च राज्यमिति कथमागमनमिति चेत्तत्राह **गोविन्द** इति। देवादिभि: सर्वैरेवात्रेन्द्रत्वेन स्थापित:। किञ्च। **स्वजनानिति**। स्वजना हि द्रष्टव्या:, यद्यपि बहुधैवागमनमुचितं सकृदप्यायास्यतीति परमोभिलाषो द्योतित:। आयास्यतीत्युत्तरे मनोरथमाह **तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रमिति**। ईश्वरप्रेरणाभावात् आज्ञाभावाच्च गमनमसम्भावितम्, यतस्ते निरुद्धा:, आगमनमेव हि निरोधज्ञापकम्। **सुनसमिति** सौन्दर्यं निरूपितम्। **सुस्मितसहितमीक्षणं** यत्रेति तस्य सर्वे कृपादिभावा निरूपिता:। नित्यं निरीक्षितमिति प्रेमाधिक्यात् कामितमिव जातम् ।।१९।।

व्याख्यार्थ– जो जिसको याद करता है, उसको उसकी अभिलाषा होती है। जिससे स्मरण कराने वाला उसके पास जाता है अत: यहां भी ऐसी संभावना है, अर्थात् आवेंगे, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि यहां गुण भाव[1] है। वहां तो राज्य है, इसलिए कैसे आना होगा ? यहां भी राज्य है, क्योंकि समस्त देवों ने यहां आपको 'इन्द्र' पदवी दी है। जिससे आप 'गोविन्द' कहलाते हैं। इसके अलावा यहां स्वजन रहते हैं, उनको देखना चाहिए। यद्यपि उन्हें कई बार आना चाहिए अन्यथा एक बार भी आएंगे तो सही, इस प्रकार नन्दजी ने अत्यन्त अभिलाषा प्रकट की है। आवेंगे, ऐसा उत्तर मिलने की आशा से अपने मन के भाव प्रकट करते हैं कि जब पधारेंगे तब उनके मुखारविन्द के दर्शन होंगे।

ईश्वर की प्रेरणा तथा आज्ञा के अभाव से गमन की संभावना नहीं दीखती है। कारण कि वे निरोध किए हुए है। आगमन ही निरोध का ज्ञापक है, जो निरूद्ध हैं, उनको भगवदिच्छानुसार ही सब कुछ करना चाहिए। 'सुनस' शब्द से भगवान् की सुन्दरता का वर्णन किया है। 'सुस्मितेक्षणम्' शब्द से सर्व कृपा आदि भाव बताए है' वैसे मुखारविन्द का अधिक प्रेम से नित्य देखने के कारण कामित्[2] के समान वे हो गए हैं+ ।।१९।।

आभास—अस्माकं तु तत्स्मरणं सर्वदैव स्मारकाणां बहुत्वादिति वक्तुं भगवत्कृतोपकारान्निर्दिशति **दावाग्नेरिति**।

आभासार्थ—यहां स्मरण कराने वाले बहुत हैं, अत: हमको तो उनका सदैव स्मरण होता रहता है। यह बताने के लिए भगवान् ने लीलाऐं कर जो जो उपकार किए उनको 'दावाग्ने:' आदि श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक—**दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिता:।**
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्य: कृष्णेन सुमहात्मना ।।२०।।

१- यहाँ गायों को चराता हैं, २- कामना से प्राप्त वस्तु।

\+ लेखकार 'नित्य' शब्द का भाव प्रकट करते हैं कि 'मुखारविन्द' में निरीक्षित भी प्राप्त ही है।

श्लोकार्थ—देखो महात्मा कृष्ण ने दावानल, वायु सहित वर्षा, अरिष्टासुर, सुदर्शन सर्प और अन्य अनेक दुरत्यय मृत्यु से हमारी रक्षा की है ॥२०॥

सुबोधिनी—साक्षान्नन्देन यावद्दृष्टं तावद्गणयति विशेषतः। **दावाग्निः** कालियन्हृदे। **वातवर्षाद्** गोवर्द्धनोद्धरणे **वृषोरिष्टः सर्पः** सुदर्शनः। **चकारात्सर्वे** श्रुताः सङ्गृहीताः। द्वितीयचकारेण वरुणाद्युपद्रवात्। किंबहुना **दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः** ये मृत्यवोऽप्रतीकार्याः कंसादयो दावानलादय एव वा। **कृष्णेन सुमहात्मनेति** फलरूपेण साधनरूपेण च, आत्मत्वादुपकारानपेक्षत्वं महत्वाद्बहूपकारत्वम्। एवमप्यप्रार्थितमपि सर्वमेव हितं करोतीति सुष्ठुत्वम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—नन्दजी ने जो देखे बहुत कर उनकी गणना करते हैं। कालीय हृद पर दावाग्नि से, गोवर्द्धन के उठाने के समय, अरिष्ट, सुदर्शन सर्प और 'च' शब्द से अन्य जो भी सुने हैं वे भी ग्रहण कर लिए जाय, दूसरे 'च' शब्द से वरुण आदि के उपद्रव से, विशेष क्या कहें जो भी मृत्यु दुरत्यय[1] है, अथवा कंस और दावानल आदि मृत्यु कर्ता हैं, उन सर्व संकटो से, महात्मा कृष्ण ने अपने फल रूप तथा साधन रूप से रक्षा की है। आप हमारी आत्मा ही हैं, उपकार की अपेक्षा नहीं की है तथा महान् हैं, जिससे बहुत उपकार किये हैं। महात्मा शब्द के पूर्व 'सु' शब्द का भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि प्रार्थना करने के सिवाय भी सर्व प्रकार हित ही करते हैं, इसलिये आप उत्तम हैं ॥२०॥

आभास—तर्हि कथं न गम्यत इत्याशङ्क्याह **स्मरतामिति**।

आभासार्थ—जब इस प्रकार उन्होंने उपकार किये हैं, तब क्यों नहीं आप वहां जाते हैं? यों शङ्का हो तो उसका उत्तर 'स्मरतां' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।**
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ॥२१॥

श्लोकार्थ—हम श्रीकृष्ण का पराक्रम, लीला से कटाक्ष सहित देखना, हँसना तथा भाषण आदि का स्मरण करते हुए क्रियामात्र करना भूल जाते हैं; अतः नहीं जा सकते हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—**कृष्णवीर्याणि स्मरतामप्यस्माकं सर्वाः क्रियाः शिथिला** भवन्ति। भगवतः स्थाने गमनं प्रेम्णा भवति अस्मदीयो भगवान् किमिति तत्र तिष्ठति गत्वा समानेय इति, तत्र वीर्याणि स्मृत्वा एतावन्तमुपकारं भगवान् कृतवान् किमस्माभिः कृतं के वा वयं कथं चैतद् धाष्ट्र्यमिति

१- टाले नहीं जा सकते हैं।

शैथिल्यं भवति। सुखार्थं चेत् कृष्णत्वात् सदानन्द इति स्मृत एव सुखं प्रयच्छति। अत उभयथापि गमनं बाधितम्। अथेन्द्रियसुखार्थं भगवान् द्रष्टव्य इति चेत्तत्राह **लीलापाङ्गनिरीक्षितमिति** लीलया यदपाङ्गनिरीक्षणं तत् स्मरतामिति, भगवतो दृष्टिश्चेद्भाव्यते तावतैव पश्यतीति बुद्धया चक्षुः शाम्यति। लीलापूर्वकं पश्यतीति लीलादर्शनेन प्राणास्तृप्यन्ति, अपाङ्गेन यत्पश्यति तेनैश्वर्यं प्रकटीभवद् धाष्ट्र्यं दूरीकरोति। **हसितेन** च मोहयति, **भाषितेन** श्रोत्रादि सुखं सम्पादयति, अतः सर्वार्थं प्रयत्नाद् दूरीकरोति नास्माकं गमनसामर्थ्यमिति भावः। **चकारात्सर्वं भगवच्चरित्रम्।** **अङ्गे**त्यप्रतारणाय, **सर्वा** दैहिक्यो मानसिक्यो लौकिक्यो वैदिक्यश्च, तदर्थमुद्योगे तत्स्मरणमावश्यकम्, स्मरणे च गमनासम्भवः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण के किये हुए पराक्रमों को केवल याद करते हुए भी हमारी सर्व क्रियाऐं शिथिल हो जाती हैं। भगवान् के पास जाने के लिये शिथिलता न हो तो प्रेम से जाना हो सकता है। मन में यह विचार होता है, कि भगवान् हमारे हैं, वहां क्यों रहते हैं? चल कर वहां से ले आवें, किन्तु इस प्रकार विचार करते आपके पराक्रमों का जब स्मरण आता है तब विचार आता हैं कि भगवान् ने तो इतना उपकार किया है, किन्तु हमने क्या किया है?हम कौन हैं?और यह हमारी कैसी धृष्टता हैं, इस प्रकार के विचारों से शिथिलता आ जाती है। हम वहां जाकर उनको अपने सुख के लिये ले आवें। यदि आप यों कहो तो भी वहां जाना निरर्थक है, क्योंकि कृष्ण तो सदानन्द रूप होने से स्मरण मात्र करने से ही सुखदान कर देते हैं। अतः दोनों प्रकार गमन का बाध होता है। यदि कहो कि इन्द्रियों को सुख हो, तदर्थ वहां जाकर दर्शन करना चाहिये, तो यह कहना भी तत्त्व वाला नहीं है। कारण कि उनकी लीला से जो कटाक्ष द्वारा ईक्षण है, उसके स्मरण से ही इन्द्रियों को आनन्द प्राप्त हो जाता है।

यदि बुद्धि से भगवान् के दृष्टि की भावना की जाए तो इससे चक्षु को आनन्द प्राप्त हो जाता है। भगवान् लीला कर रहे हैं,इस भावना से देखा जाए तो उस लीला के दर्शन से प्राण तृप्त हो जाते हैं। उस लीला में जब भगवान् अपाङ्गों[1] से देख रहे है और वैसे दर्शन होते हैं तब तो धृष्टता[2] दूर हो जाती है और सर्व में ऐश्वर्य प्रकट हो जाता है। आपका हास्य मोहित करता है। आपका भाषण श्रोत्र आदि को सुख देता है,अतः सर्व प्रकार के अर्थ प्रयत्न से ही पूर्ण कर हमको दूर रखना चाहते हैं। जिससे हममें गमन की समर्थता नहीं रहती है। श्लोक में 'च' इसलिये दिया है कि यह सब भगवान् का ही चरित्र (लीला) है। हे अङ्ग! यह सम्बोधन इसलिये है कि यह जो कुछ कहा जाता है वह प्रतारणा[3] के लिये नहीं कहा जाता है, किन्तु यह सत्य ही है। देह, मन, लौकिक और वैदिक सम्बन्ध वाली क्रियाएँ है। उन सर्व के उद्योग करने में उनका स्मरण आवश्यक है। स्मरण होने से गमन असम्भव है, क्योंकि उससे सर्वथा आनन्द प्राप्ति होने पर जाने की शक्ति ही नहीं रहती है ॥२१॥

१- कटाक्षों से,

२- मथुरा जाने की ढिठाई—ईश्वर की भाँति अपने घर में ही लीला रस का अनुभव लेना-लेखकाराः

३- धोखे

आभास—किञ्च । क्षणे क्षणे वयं मुक्ताश्च भवाम इत्याह **सरिच्छैलेति** ।

आभासार्थ—हम क्षण क्षण में मुक्त हो जाते हैं, जिसका वर्णन (सरिच्छैल वनोद्देशान्) श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुन्दपदभूषितान् ।**
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् ।।२२।।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के चरण चिन्हों से अलंकृत नदी, पर्वत और वन के प्रदेश एवं जो उनके क्रीड़ा के स्थल हैं, उनको जब हम देखते हैं, तब हमारा मन तद्रूप हो जाता है ।।२२।।

सुबोधिनी—यत्र यत्र भगवता स्वानुभावः स्थापितः तद्दर्शनेनैव **मनस्तदात्मतां** भगवदावेशमेव प्राप्नोति तेन सुतरामेव गमनाभावः। **सरित्** यमुना **शैला** गोवर्द्धनादयः, **वनोद्देशाः** वृन्दावनभूमयः। एतेषु भगवदनुभावार्थमाह **मुकुन्दस्य** मोक्षदातुः **पदैर्भूषितानिति** । अनभिप्रेतेष्वपि कदाचित्पदानि भवन्तीति तेषु भगवतस्तात्पर्यार्थमाह **आक्रीडानिति** आसमन्तात् क्रीडास्थानभूतान्। **ईक्षमाणानामिति** नैकस्याद्दर्शनमावश्यकम्, ईक्षणमेव च मनसस्तदात्मकत्वे हेतुः ।।२२।।

व्याख्यार्थ—जहां जहां भगवान् ने अपना समर्थ्य स्थापित किया है, उसके दर्शन से ही मन में भगवदावेश हो जाता है अर्थात् मन तद्रूप हो जाता है जिससे निपट ही जाने का अभाव हो जाता है। प्रभाव वाले स्थान कहते हैं, यमुना, गोवर्द्धन आदि पर्वत, वृन्दावन आदि वनों की भूमि । इनमें मुकुन्द भगवान् ने चरणों द्वारा, अपना प्रभाव स्थापित किया है। जिन स्थानों को पादों से प्रभावित करने की इच्छा नहीं थी, वे भी कभी पदारविन्दों से विभूषित हो गये, क्योंकि खेलते खेलते वहां चरण धरे गये अतः श्लोक में क्रीडास्थान भी कहे हैं। ये सब निकट हैं अतः दर्शन आवश्यक हैं अर्थात् दर्शन स्वतः भी हो ही जाते हैं, वह दर्शन ही मन के तद्रूप होने में हेतु है ।।२२।।

आभास—ननु कथमेवं सामर्थ्यमवगतं विपरीतबुद्धेर्द्दृढत्वादित्याशङ्क्याह **मन्ये कृष्णं च रामं चेति**।

आभासार्थ—जब विपरीत बुद्धि भी दृढ है, तब रामकृष्ण के सामर्थ्य को आपने कैसे जान लिया? जिसका उत्तर 'मन्ये कृष्णं च रामं च' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ ।**
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ।।२३।।

श्लोकार्थ—गर्गाचार्यजी के वचनानुसार मैं मानता हूँ कि सुरों में उत्तम राम और

कृष्ण देवताओं के बड़े कार्य करने के लिए यहाँ पधारे हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—महत्वाद्वस्तुसामर्थ्येनैव मनस्तदात्मकं भवतीति श्रुतमपि कदाचिदसम्भावनया प्रतीतिं न गृह्णाति, ममत्वनुभवः प्रतीतिं गृह्णातीति **मन्य** इत्याह **कृष्णं च रामं चे**ति चकारद्वयं सर्वदेवगणसमुच्चयार्थम् । ननु तादृशयोः सुरोत्तमयोर्ब्रह्मादेरप्यधिकयोरिहागमने को हेतुरित्याशङ्कयाह **सुराणां महत्कार्यार्थ**मिह स्वयमेव समागतौ नतूत्पन्नौ येन विना तत्कार्यं न भवति । ननु तर्को न प्रमाणमिति कथं निर्णेतुं शक्यते तत्राह **गर्गस्य वचनं यथे**ति । गर्गस्य तथैव वचनं अतः प्रमाणानुभवाभ्यां देवोत्तमत्वं सिद्धमिति माहात्म्यज्ञानं युक्तमेव ॥२३॥

व्याख्यार्थ—महान् होने से तथा वस्तु की सामर्थ्य से मन तद्रूप हो जाता है, वैसा सुना गया है तो भी कभी असम्भावना[1] से वैसी प्रतीति को मन नहीं ग्रहण करता है: किन्तु नन्दजी कहते हैं कि मुझे तो अनुभव है, अतः मेरा मन प्रतीति को ग्रहण करता है । इसलिए मैं मानता हूँ कि राम और कृष्ण दोनों सर्व देवों से श्रेष्ट हैं । इसलिये दो बार 'च' दिये हैं, यदि वे सर्व ब्रह्मा आदि देवों से भी उत्तम हैं तो उनके यहां आने का क्या कारण है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि देवताओं के महान् कार्य सिद्ध करने के लिए यहां स्वयं ही आए हैं न कि उत्पन्न हुए हैं, आपके आए बिना देवों का कार्य सिद्ध नहीं हो सकता था । यदि कहो कि यह आपका तर्क ही है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, प्रमाण के विना कैसे निर्णय किया जावे ? इस पर कहते हैं कि प्रमाण है, गर्गाचार्य ने जैसा कहा है वैसा मैं भी मानता हूँ, अतः गर्गाचार्य के वचन प्रमाण और मेरा अनुभव दोनों, से सिद्ध है कि ये सकल देवों में उत्तम हैं, इनका माहात्म्य, ज्ञान योग्य ही है ॥२३॥

आभास—सामर्थ्येनापि तन्निश्चीयत इत्याह **कंसमिति त्रिभिः ।**

आभासार्थ—सामर्थ्य से भी उसका निश्चय किया जाता है जिसका वर्णन 'कंस' श्लोक से लेकर तीन श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—**कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा ।**
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः ॥२४॥

श्लोकार्थ—जैसे सिंह पशुओं को मारता है, वैसे ही उन्होंने दस हजार हाथियों के बल वाले कंस को तथा दो मल्ल एवं कुबलयापीड हस्ती को लीला से ही मारा है ॥२४॥

१- यों कैसे हो सकेगा ? इस प्रकार की दोष बुद्धि ।

सुबोधिनी—सात्त्विकी राजसी तामसी च लीला क्रमेण निरूपिता, **नागायुतस्य** हस्तिनां दशसहस्रस्य यावद्बलं तावान् **प्राणो** बलं यस्य, **मल्लावपि तथा** चाणूरमुष्टिकौ **नागायुतप्राणौ, गजपतिः** कुवलयापीडस्**तथा** । वस्तुतोयमपि नागायुतप्राणः, चाणूरस्तु स्वापेक्षया हीनत्वं युद्धार्थं वदन् तथोक्तवान् । दशसहस्राणां वा द्विपानां सत्त्वं बिभर्तीति तत्र योजनीयम् । अन्यथात्र **तथे**तिवचनमसङ्गतं स्यात् । ततश्चतुर्णां बलं चत्वारिंशत्सहस्रगजपरिमितं भवति, एतादृशानपि **लीलयैवावधिष्ट्राम्** । तर्हि मन्त्रादिसामर्थ्येन हतवानित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **पशूनिव मृगाधिप** इति । सिंहः स्वभावत एव पशून् हन्ति, गजो हि तस्य प्रतिपक्ष्यपि भवति न तु पशवो गवादयः, अतस्ततोनन्तगुणं सामर्थ्यं भगवतः सूचितम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—सात्विकी. राजसी और तामसी लीलाएं क्रम से कही । अब सामर्थ्य बताते हैं, हैं, जिस कंस में दश हजार हाथियों का बल है वैसे कंस को, वैसे चाणूर और मुष्ठिक मल्ल भो दश हजार हाथियों समान बल वाले थे उनको, एवं दश हजार हाथियों के समान बल वाला एक कुबलयां पीड हस्ती[1] था, जिसको भी, इन सब में चालीस हजार हाथियों का बल था, जिनको भी, लीला से ही नष्ट कर दिया, यों तो नहीं कि मन्त्र आदि के बल से नष्ट किया ? इस शङ्का के निवारण के लिये दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे सिंह पशुओं को स्वभाव से ही नष्ट कर देता है अर्थात् सिंह में वैसी शक्ति स्वभाव से ही है । उसी प्रकार भगवान् में भी स्वभाव से उससे अनन्त गुणा सामर्थ्य है । अतः मन्त्र आदि से वध नहीं, किन्तु स्वाभाविक शक्ति के कारण लीला से वध किया हैं, यह बताया हैं; सिंह का गज ही विरोधी होता है, गौ आदि पशु नहीं ॥२४॥

आभास—राजसीं लीलामाह **तालत्रयमिति** ।

आभासार्थ—राजसी लीला का वर्णन 'तालत्रयं' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट् ।**
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्गिरिम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—तीन सौ हाथ लम्बे, तीन ताल वृक्ष के समान लम्बे, अनम्र तथा विस्तार वाले धनुष को जैसे हाथी गन्ने को तोड़ता है, वैसे ही एक हाथ से तोड़ दिया और एक हाथ से सात दिन तक गोवर्द्धन गिरि को धारण किया हैं ॥२५॥

१- यह आशय 'तथा' शब्द का है, नहीं तो 'तथा' शब्द निरर्थक हो जाता—श्री सुबोधिनी

सुबोधिनी—तालवृक्षस्य शतत्रयहस्तपरिमितस्य यावान् विस्तारः, **तालानां त्रयं** यत्रेति । **महासारमिति** । अतिदृढम् । **धनुर्यष्टिमिति** । धनुरेव यष्टिरूपमनम्रम् । अनम्रस्य भङ्गः सुतरामेवाशक्यः, अत्रापि प्रकारान्तरेण भङ्गाभावाय दृष्टान्तः **इवेभराडिति** । यष्टिमिव वा इभराडिति । यष्टिरपि इक्षुः । 'यथेक्षुदण्डं मदकरी'ति वाक्यैकवाक्यतया; तत्रापि **एकेनैव हस्तेन बभञ्ज** । एकेनैव हस्तेनेत्यग्रेऽपि सम्बध्यते । **सप्ताहमदधाद्गिरिमिति** ।।२५।।

व्याख्यार्थ– तीन सौ हाथ विस्तार वाले, तीन ताल वृक्ष के समान, अनम्र तथा महान् दृढ धनुष को एक लकड़ी समझ कर जैसे हस्तिराज गन्ने को तोड़ देता वैसे ही एक ही हाथ से तोड़ दिया, जैसे कहा कि 'यथेक्षुदण्डं मदकरी'[1] इससे एक वाक्यता से सिद्ध कर दिखाई है तथा गन्ने के दृष्टान्त से यह भी सिद्ध किया कि भगवान् को यों तोडने में कुछ भी परिश्रम नहीं हुआ है । एक हाथ से इसका सम्बन्ध आगे से भी है, अतः कहा है कि 'सात दिन तक गोवर्द्धन गिरि' को भी एक हाथ से धारण किया है ।२५।

आभास—तामसीमाह **प्रलम्ब** इति ।

आभासार्थ—तामसी लीला का वर्णन 'प्रलम्ब' इस श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः ।**
दैत्याः सुराऽसुरजितो हता येनेह लीलया ।।२६।।

श्लोकार्थ—देव तथा असुरों को जीतने वाले, प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त और बक आदि दैत्यों को जिसने लीला से मारा है ।।२६।।

सुबोधिनी—नात्र क्रमो विवक्षितः; आदिशब्देन वत्सादयः सर्व एव **दैत्याः** मानुषैरवध्या ! **किञ्च** । **सुरासुरजितः**, सुरा असुराश्च जिता यैः, ते सर्वे अस्मत्समक्षमेव **लीलयैव** हताः । अतः सामर्थ्येनापि देवोत्तमत्वमेवेति निर्द्धारः ।।२६।।

व्याख्यार्थ—यहां क्रम कहने की इच्छा नहीं समझी है । आदि शब्द कह कर जिनके नाम नहीं लिए गये हैं । वे वत्सादि सब दैत्य ऐसे हैं, जिनको मनुष्य मार नहीं सकते हैं । इतना ही नहीं किन्तु इन्होंने सुर और असुरों को भी जीत लिया है । वैसों को भी हमारे सामने लोला से मारा, अतः वैसी सामर्थ्य के कारण ये देवों में उत्तम है, वैसा निर्णय है ।।२६।।

आभास—एवं स्निग्धस्य भगवद्गुणानुवर्णने यद्भाव्यं तज्जातमित्याह **इतीति** ।

१- मस्त हाथी जैसे गन्ने के दण्ड को,

आभासार्थ - इस प्रकार प्रेमी के गुणों के वर्णन करने से जो होता है वह नन्दजी को भी हुवा जिसका वर्णन 'इति संस्मृत्य' श्लोक में करते हैं।

श्लोक— श्रीशुक उवाच—**इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।**
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥२७॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि श्रीकृष्णचन्द्र में प्रेमासक्त बुद्धि वाले नंदजी इस प्रकार स्मरण करते-करते बहुत उत्कण्ठा से प्रेम बढ़ जाने से विह्वल हो गए, जिससे चुप हो गए अर्थात् आगे कुछ भी नहीं कह सके ॥२७॥

सुबोधिनी—अयमर्थः । नोद्धवो बोधितः किन्तु पदार्थस्मरणाभिलाष एवेत्युत्तमाधिकार बोधयितुं **संस्मृत्य संस्मृत्येत्युक्तम**, न तूक्त्वोक्त्वा । यत्रैव स्मरणानन्तरं वचने असामर्थ्यं बुद्धेरनुरागः मनस उत्कण्ठा तत्रैव **तूष्णीं** स्थित इति । स्मरणातूष्णीं भावयोर्मध्ये भावद्वयमवान्तरव्यापाररूपमुत्पन्नमित्याह **कृष्णानुरक्तधीरत्युत्कण्ठ** इति । चित्तस्य स्मरणं बुद्धेरनुरागः मनस उत्कण्ठा, मनश्च वाचः पूर्वरूपम्, तत्र अनुरक्तबुद्धया, औत्कण्ठ्येन च ज्ञानक्रियारूपाभ्यां शब्दोत्पत्तिप्रतिबन्धात्**तूष्णीमभवत्** । तर्हि तयोः प्रतिबन्धकत्वेन न पुरुषार्थपर्यवसायित्वमित्याशङ्क्य तयोः स्वतन्त्रकार्यमाह **प्रेमप्रसरेण** प्रेमप्रचारेण **विह्वलो** जात इति ॥२७॥

व्याख्यार्थ— यह भाव उद्धवजी को भी मालूम नहीं कराया किन्तु 'संस्मृत्य' इन दो पदों को कहकर श्री शुकदेवजी ने यह बताया है कि भगवान् नन्दजी को याद करते हैं, अतः नन्दजी को भी उनके स्मरण की अभिलाषा हुई है। जिससे नन्दरायजी उत्तमाधिकारी हैं। यदि उत्तमाधिकारी नन्दजी न होते तो श्लोक में 'संस्मृत्य-२' के स्थान पर 'उक्त्वा उक्त्वा' कहते जहां स्मरण के अनन्तर कहने की सामर्थ्य न रहे, बुद्धि का अनुराग तथा उत्कण्ठा हो, वहां बोलना बंद हो जाता है। स्मरण तथा तूष्णी भाव के मध्य के समय में दो दूसरे भाव उत्पन्न हो जाते है। वे दो भाव कहते हैं, एक कृष्ण में प्रेमासक्त बुद्धि और दूसरी मिलने की चाहना। चित्त से स्मरण, बुद्धि से अनुराग और मन से उत्कण्ठा, और मन, वाणी का पूर्व रूप हैं। वैसी दशा मैं अनुरक्त बुद्धि तथा उत्कण्ठा से शब्द की उत्पत्ति में रुकावट उत्पन्न हो गई, जिससे नन्दरायजी बोल न सके। इस प्रकार प्रतिबन्ध होने से पुरुषार्थ की फल सिद्धि तो नहीं हुई ? इस शङ्का का समाधान करने के लिये कहते हैं कि अनुराग और उत्कण्ठा ने स्वतन्त्र कार्य किया जिससे प्रेम उत्पन्न हुआ और प्रेम से नन्दरायजी विह्वल हो गए। अर्थात् प्रेमानन्द रूप में मग्न हो गए। इस प्रकार पुरुषार्थ रूप फल की सिद्धि हो गई ॥२७॥

आभास—एवं यशोदापि जातेत्याह **यशोदेति** ।

आभासार्थ—यशोदाजी भी वैसी ही हुई जिसका वर्णन 'यशोदा' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक— **यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।**
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत्स्नेहस्नुतपयोधरा ॥२८॥

श्लोकार्थ—यशोदाजी ने ज्यों नन्द वर्णित पुत्र के चरित्र सुने, त्यों उसके आँसू बहने लगे और स्नेह से स्तनों से दूध टपकने लगा ।।२८।।

सुबोधिनी—नन्देनैव **वर्ण्यमानानि** भगवत-**श्चरितानि श्रृण्वन्ती च**कारात्स्मरन्ती च अन्तः प्रेमपूर्णा **अश्रूणि नेत्रयोरस्राक्षीत्** विरहव्याकुला जाता। अन्तर्भगवदावेशेन दृढप्रेम्णा **स्नुतपयोधरा** जाता। यथा नन्दे आवेशो विरहश्च एवमस्यामपि द्वयं वर्णितम् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—नन्द द्वारा वर्णित पुत्र के चरित्रों को सुनने से और स्वयं स्मरण करने से यशोदा-जी के अन्तः करण में प्रेम उमड़ आया। जिससे नेत्रों में से आंसू बहने लगे एवं विरह से व्याकुल हो गई। उस प्रेम के कारण अन्तः करण में भगवदावेश से एवं दृढ प्रेम से स्तनों से दूध टपकने लगा। जिस प्रकार नन्दजी में आवेश और विरह था, उसी प्रकार इनमें भी दोनों कहे हैं ।।२८।।

आभास—उभयेनापि अनुराग एव भगवति परमप्रेमात्मको निरूपितो भवति। परमयं लौकिकः, अयं च ज्ञानेनालौकिकः कर्तव्यः तत्कर्तुं प्रेषित उद्धव इति तदुपयोगि सर्वमाहेत्याह **तयोरित्थमिति**।

आभासार्थ—यशोदा और नन्दजी दोनों का भगवान् में परम प्रेम रूप अनुराग का वर्णन किया, किन्तु यह अनुराग लौकिक था। भगवान् की इच्छा इस अनुराग को ज्ञान से अलौकिक बनाने की थी। इसलिये उद्धवजी को भेजा, अलौकिक करने के लिए जो उपयोगी है, वह सर्व कहा, जिसका क्रमशः वर्णन करते हुए 'तयोरित्थं' श्लोक में उद्धवजी नन्द यशोदाजी के स्नेह का अभिनन्दन करते हैं।

श्लोक—**तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।**
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ।।२९।।

श्लोकार्थ—नन्द और यशोदाजी का भगवान् कृष्ण में इस प्रकार का प्रेम देख उद्धवजी हर्ष से नन्दजी को कहने लगे ।।२९।।

सुबोधिनी—उभयोरपि, भक्तौ मुख्यत्वान्नन्द-स्य प्रथमतो नन्दग्रहणम्, सहजः सम्बन्धो लौकिको नास्तीति न यशोदायां विशेषः। **नन्द-यशोदयोः भगवति कृष्णे** आविर्भूते सदानन्दे **परममनुरागं** सर्वक्रियात्याजनपूर्वकसर्वभावभग-वद्ग्रहणात्मकं **वीक्ष्य,** यशोदा कदाचिल्लज्जिता भविष्यतीति **नन्दमाह** यतः स **उद्धवः** उत्सवात्मकः तस्मिन्नागते शोकांशेन न भाव्यमिति **मुदेति**। भगवद्भक्तान् दृष्ट्वा सम्भाषणेनाहमपि कृतार्थो भविष्यामीति वा ।।२९।।

व्याख्यार्थ—भगवान् में प्रेम दोनों का है, तो भी नन्दजी का नाम प्रथम इसलिये दिया है कि

भक्ति में नन्दजी की मुख्यता+ है। भक्ति से जो सम्बन्ध होता है वह सहज अर्थात् स्वाभाविक होता है। लौकिक नहीं होता है, इससे यशोदाजी में कुछ विशेषता नहीं है । जब सदानन्द भगवान् कृष्ण प्रकट हुए, तब नन्द यशोदाजी दोनों सर्व कार्य छोड़ सर्व भाव से भगवान् को ही प्रेम करने लगे, अतः उद्धवजी इसका अभिनन्दन करते नन्दजी को कहने लगे, क्योंकि उद्धवजी ने सोचा कि यशोदाजी कदाचित् लज्जित हो जाए, अतः नन्द को कहना ही युक्त है। उद्धवजी उत्सव रूप है, उनके आने पर किसी प्रकार शोक का अंश भी न रहना चाहिए, इसलिए श्लोक में 'मुदा' पद दिया है। अर्थात् 'आनन्द' से कहने लगे. अथवा 'मुदा का भावार्थ यह भी है कि भगवद्भक्तों के दर्शन तथा उनसे संभाषण करने से मैं भी कृतार्थ बनूँगा ॥२९॥

आभास—स्नेहमभिनन्द्य विषयस्यालौकिकत्वं बोधयति येन माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सर्वतोधिकः स्नेहो भवति । **युवामिति**।

आभासार्थ—स्नेह का अभिनन्दन[1] कर अब विषय की अलौकिकता का बोध कराते हैं, जिससे माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सर्व से अधिक स्नेह होता है, जिसका वर्णन 'युवां' श्लोक से उद्धवजी करते हैं।

श्लोक—उद्धव उवाच—**युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ।**
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥३०॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी ने कहा कि हे मान देने वाले ! आप दोनों निश्चय ही सब प्राणियों में सराहने योग्य है; क्योंकि समस्त जगत् के गुरु नारायण में आपने ऐसी दृढ़ अनुराग वाली भक्ति की है ॥३०॥

सुबोधिनी—प्रथमतोभिनन्दनं **देहिनां** मध्ये तत्रापीह भूमौ **युवां** यशोदानन्दौ **श्लाघ्यतमौ**; सत्कर्मणा श्लाघ्या भवन्ति । ततोपि ज्ञानेन ततोपि भक्त्या, भक्तावपि परमप्रेम सर्वोत्कृष्टम्, प्रमाणात्तु प्रमेयबलमधिकं तेन स्वतन्त्रभक्त्यपेक्षयापीयं प्रमेयभक्तिः रसाला, अत आह **नूनमिति**। **मानदेति** सम्बोधनं मह्यं मानं प्रयच्छसीति मद्वाक्यमपि सत्यतया स्वीकुर्वित्यर्थः। ननु पुत्रस्नेहोऽतिशयः कथं स्तूयते तत्राह **नारायण** इति, अयं हि नारायणो मूलपुरुषः। नारायणशब्दोत्र पुरुषोत्तमवाची। **अखिलगुराविति**, प्रमाणरूपोपि। सर्ववेदवक्ता नारायणः पुरुषोत्तम एवेति। अतः सर्वशास्त्रार्थरूपे प्रमेयबलवति **यद्यस्मात्कारणाद्** एतादृशी **मतिः कृता**। देवोत्तमत्वं तु नन्देनोत्कटकोटिकसम्भावनया ज्ञातमेव, तस्मादसम्भावना न भविष्यतीति तत्र पुरुषोत्तमत्वं बोधितवान्।३०।

+ प्रकाश—वर नन्द ने माँगा था; इसलिए नन्द मुख्य है, जिससे समास में नियमानुसार यशोदा का नाम पहले चाहिए, तो भी पीछे इसलिए दिया है कि भक्तों में नन्दजी को वर लेने से मुख्यता है।

१— प्रशंसा,

व्याख्यार्थ— प्रथम उनको अभिनन्दन देते हुए कहते हैं कि इस पृथ्वी पर जितने देहधारी हैं, उनमें से आप ही दोनों अतीव बखान के योग्य हैं। जो सत्कर्म करते हैं वे बखाने जाते हैं। उससे भी जो ज्ञानी हैं, वे विशेष बखाने जाते हैं। भक्ति में भी परम प्रेमी भक्त सब से ज्यादा अत्यन्त बखान के पात्र हैं। प्रमाण से प्रमेय बल अधिक है, जिससे स्वतन्त्र भक्ति की अपेक्षा से भी यह प्रमेय भक्ति रसाल अर्थात् रसवती है। इसलिये श्लोक में 'नून'[1] पद दिया है, नन्दजी को 'मानद' संबोधन देकर यह बताया है कि आप मुझे मान देते हो, इसलिये जो मैं कह रहा हूं, वह सत्य समझ स्वीकार करो। नन्दजी कह दें कि यह अतिशय स्नेह पुत्र में है, इसलिये क्यों इतनी प्रशंसा कर रहे हो ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आपका यह स्नेह जिसमें है वे मूलपुरुष नारायण हैं। यहां श्लोक में जो नारायण शब्द है, वह 'पुरुषोत्तम वाचक' है.इसलिये उसका विशेषण 'अखिल गुरौ' दिया है। जिसका भावार्थ है कि वह प्रमाण रूप भी हैं। सर्व वेदों को कहने वाले नारायण पुरुषोत्तम ही हैं। सर्व शास्त्रों के अर्थ रूप और प्रमेय बल वाले पुरुषोत्तम में आपने जिस कारण से ऐसी बुद्धि की है अतः आप अत्यन्त ही सब से विशेष अत्यधिक बखानने के योग्य हैं।

नन्दजी ने कृष्णचन्द्र को उत्कट कोटि की संभावना से देवों में उत्तम जाना ही है, इससे नन्दजी को असम्भावना तो कभी न होगी,इसलिये उद्धवजी ने पुरुषोत्तमत्व का ज्ञान कराया है ।।३०।।

आभास—अतः परं तस्मादधिको विषयो नास्ति भक्तेरप्यधिकं कर्तव्यं नास्तीति वक्तव्यम्। तत्र प्रथमं भगवतः सकाशादन्यो महान्नास्तीत्याह **एतौ हीति** द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—ऊपर जो वर्णन किया गया है, जिससे अधिक कोई विषय नहीं है तथा भक्ति से अधिक अन्य कोई कर्तव्य नहीं है, जो कहा जाय। अब **उद्धवजी** यह कहते हैं कि भगवान् से अधिक कोई अन्य महान् नहीं है, जिसका वर्णन 'एतौ हि' श्लोक में उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं और 'यस्मिञ्जनः' श्लोक से धर्म की उत्कर्षता का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी**
रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य
ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ।।३१।।

श्लोकार्थ—ये राम और कृष्ण दोनों जगत् के बीज तथा योनि रूप हैं तथा प्रधान एवं पुरुष रूप भी ये ही हैं। भूतों में प्रविष्ट होकर विलक्षण ज्ञान के ईश हैं, तदपि ये दोनों पुराण पुरुष हैं ।।३१।।

१- निश्चय,

सुबोधिनी—धर्म्युत्कर्षेण धर्मोत्कर्षेण च माहात्म्यं द्विविधमिति । तत्र प्रथमं स्वरूपोत्कर्षमाह । एक एव ताभ्यां ज्ञात इति आवेशिनमपि ज्ञापयितु तुल्यतया सम्बन्धं च दूरीकतु कृष्णरामौ निर्दिशति । **एतौ हि** निश्चयेन **विश्वस्य बीजयोनी** समवायिकारणं निमित्तकारणं **च** । बीजं हि समवायिकारणं, तत्र भगवत्सामर्थ्येन सजातीयत्वमापद्यमाना: भूम्यवयवा: पुष्णन्ति, ततो वर्धते, सजातीयैव योनिरपि मृग्यते, विजातीयायां नोत्पद्यते, उत्पन्नमप्यन्यथा स्यात्, एतदुभयमेर दृष्टं कारणम् । अन्यत्तु जलान्नादिकं साधनपोषकत्वेन । तत्र यद्येकप्रकारेण भवेतां वृद्धिह्रासौ आविर्भावतिरोभावौ न सङ्गच्छेयाताम्, ततो भगवानुभयात्मको भवति । लोके तु उभयो: साधका अन्येपि मृग्यन्ते, अत्र भगवानेवेति तदेकप्रयोजनाय च तथाजात इति न सहकार्यपेक्षा । अत एव ब्रह्म प्रथमं प्रकृतिपुरुषरूपेण भवति । एवं सति युक्तिर्ब्रह्मणि सङ्गच्छते । ब्रह्मवादे तु तदेव सर्वशक्तियुतं क्रमेणैवाभिव्यक्तो भविष्यामीति प्रथमसृष्टौ तादृशमुत्पाद्य क्षयवृद्ध्यनपेक्षं वा तादृशमेवोत्पाद्य पश्चाल्लोके बहूपकारसिद्ध्यर्थमेवैकैकस्य बहुधोपयोगाय शक्तिसमूहं विभज्य, बीजयोन्यादिभावेन वस्तूनि परिकल्प्य स्थापितवानिति विशेष: । उभयथापि पश्चात् प्रकारद्वयं सिद्धमिति मन्तव्यम् । अनुभवसिद्धत्वात् । तथात्रापि मोक्षसृष्ट्यादिचतुर्विधपुरुषार्थान् साधयितु सर्वस्यापि सर्वं मा भवत्विति स्वशक्ति विभज्य मोक्षभक्त्यो: स्वयं बीजं योनिश्च राम: । सृष्ट्यादौ तु विपरीतमिति । उभावपि योनिबीजभावेन सर्वलोकानां हितार्थमवतीर्णौ । अत एकस्यैव हितार्थत्वेन ग्रहणे न कोपि पुरुषार्थ: सिद्ध्येत् । अत एव सर्वत्राभ्युदयफलेषु रामस्य प्राधान्यम्, भगवत: सहभावमात्रम् । क्वचिद्रामस्य प्राधान्यं प्रथमनिर्देशेन । साक्षान् महती शक्ति: कृष्ण एवेति न क्वापि सहभावो निरूपित: । नि:श्रेयसे तु रामस्य सहभाव: साधारण्ये द्वयोस्तुल्यतया निरूपणमिति सर्वत्रैव विमर्श: । अतो भगवतो जगत्कारणत्वं मोक्षदातृत्वं च निरूपयन् एवं निरूपयति । एषा युक्तिर्हिशब्देनोच्यते । एतौ कृष्णरामौ विश्वस्य बीजयोनी उभावपि । तौ गणयति **रामो मुकुन्द** इति । नाम्नाऽभ्युदयनि:श्रेयसफलं ज्ञापितम् । **एताविति** भक्त्या प्रादुर्भूतौ प्रदर्शयन्निवाह 'द्रष्टुमेष्याव' इत्यनेन सत्यं निरूपितम् । द्विरूपता किमर्थेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमिव वदन् स्वरूपद्वयं निर्दिशति **पुरुष: प्रधानमिति** । अनयो: प्रकृते विशेषमाह **अन्वीय** सर्वेषु **भूतेषु विलक्षणस्य** वि: काल एव लक्षणं यस्य तस्याभ्युदयस्येशानौ । तथा **ज्ञानस्य** च मोक्षसाधकस्य विलक्षणत्वं प्रापञ्चिकाद्वलक्षण्यं चकाराद्भक्तेरपीशाते समर्थौ भवत: । एतदर्थमेवैतौ प्रादुर्भूतावित्यर्थ: । एवं हि सति ब्रह्म भगवान् कार्यमिव एतत्प्रयोजनकावेतावाविर्भावितावविति शङ्का स्यात् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **इमौ पुराणाविति** । एतावेवंभूतौ पूर्वसिद्धावेवानन्त मूर्तित्वाद्भगवत: ।।३१।।

व्याख्यार्थ – भगवान् का माहात्म्य दो प्रकार से जाना है । एक धर्मी के उत्कर्ष से, दूसरा धर्म के उत्कर्ष से, उनमें प्रथम धर्मी (स्वरूप) के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं । नन्द यशोदाजी ने एक ही जाने, कारण कि राम भी आवेशी होने से वही है । यों जतानेके लिए दोनों को एक हो करके जाना । लौकिक पुत्रत्वादि सम्बन्ध की यहां गणना न कर दोनों को समान रूप समझ कृष्ण और राम कहे हैं । ये दोनों निश्चय जगत् के समवायी तथा निमित्त कारण हैं । बीज समवायी कारण है, उसमें भगवान् सामर्थ्य से सजातीय पन को प्राप्त हुए । भूमि के अवयव पुष्ट होकर बढते हैं । योनि,[1] भी

———

१– निमित्त कारण,

सजातीय होनी चाहिये विजातीय योनि होगी तो वृद्धि न होगी । यदि उत्पन्न हो भी जाय तो वह बीज के योग्य नहीं होती है । ये दोनों प्रत्यक्ष कारण हैं, दूसरे[1], जल और अन्न आदि पोषण आदि के साधन रूप हैं । यदि विश्व में एक प्रकार से होवे तो यह जो विश्व में आविर्भाव तथा तिरोभाव होता है, वह नहीं होगा । इस कारण से भगवान् उभयविध[2] होते हैं । लोक में तो दोनों[3] को सिद्ध करने वाले दूसरे भी पदार्थ खोजे जाते हैं वा माने-जाते हैं । यहां[4] तो भगवान् ही, अर्थात् भगवान् एक ही, उस प्रयोजन के लिये वैसे[5] हुए हैं । इसलिये दूसरे सहकारी की अपेक्षा नहीं है । इसलिये ही ब्रह्म प्रथम प्रकृति पुरुष रूप से प्रकटे हैं । यों समझने से युक्ति ब्रह्म में ही बन सकती है । ब्रह्मवाद में तो वह ही सर्व शक्तिवान् है । क्रम से प्रकट हूंगा, इस इच्छा से प्रथम सृष्टि में वैसा प्रकट कर, अथवा क्षय एवं वृद्धि की उस सृष्टि में अपेक्षा न कर सृष्टि प्रकट की, किन्तु पश्चात् लोक में बहुत उपकारों की सिद्धि के लिये ही एक एक का बहुप्रकार से उपयोग हो,इसलिये शक्ति समूह का विभाग कर बीज तथा योनि आदि भाव से वस्तुओं की कल्पना कर स्थापना की है इतना ही विशेष है । दोनों प्रकार से भी, दो प्रकार पीछे हुए हैं, यों मानना चाहिये, यह अनुभव से सिद्ध है, उसी प्रकार

मोक्ष, सृष्टि आदि चतुर्विध पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिये 'सर्वस्यापि सर्व मा भवतु' सब को भी सर्व न हो,इस इच्छा से अपनी शक्ति का विभाग कर,मोक्ष तथा भक्ति के आप स्वयं बीज[6]बने और राम रूप से योनि[7] हुए । सृष्टि आदि में उससे विपरीत है, दोनों ने ही योनि बीज भाव से सर्व लोक के हितार्थ अवतार लिया है । अतः एक से ही हित होगा, यों मान लेने से कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध न होगा, इसलिये ही सर्वत्र अभ्युदय[8] के फलों में राम की प्रधानता है । भगवान् का केवल सहभाव है । कहीं कहीं इस प्रकार राम की प्रधानता है, यों राम का नाम प्रथम कहकर बताया है । साक्षात् बड़ी शक्ति तो कृष्ण ही है, इसलिये कहीं भी राम का सहभाव मिला, यों नहीं कहा है । निःश्रेयस[9] में तो राम का सहभाव जो कहा है, वह साधारणतया दोनों की समानता दिखाने के लिये है । यों सब जगह विचार करना चाहिये, अतः भगवान् का जगत् कारणत्व तथा मोक्षदातापन निरूपण करते हुए इस प्रकार निरूपण करते हैं । 'हि' शब्द से यह युक्ति कही जाती है कि ये दोनों विश्व के बीज और योनि हैं । उनके नाम राम और मुकुन्द कहकर यह बताया कि ये अभ्युदय और निःश्रेयस रूप फल हैं । यों कहने से यह दिखाया है कि ये दोनों भक्ति से प्रकट हो गये हैं । जिससे, 'द्रष्टुं एष्यामः' जो कहा था वह सत्य है । दो रूप से क्यों प्रकटे हैं ? इस शङ्का का निवारण करते हुए दृष्टान्त की तरह दो स्वरूप बताते हैं । ये दो स्वरूप इसलिये प्रकटे हैं, जो एक पुरुष दूसरा प्रधान रूप हैं । प्रकृत[10] विषय में विशेष कहते हैं कि वे सर्व में अनुस्यूत होकर[11], काल हा है । लक्षण जिसका वैसे अभ्युदय के स्वामी हैं, इसी प्रकार मोक्ष साधक ज्ञान भी प्रपञ्च के ज्ञान से विलक्षण है । उसके तथा 'च' से भक्ति के भी ईश हैं, अर्थात् ये दोनों इसलिये ही प्रकटे हैं, जो यों है तो ब्रह्म भगवान् कार्य रूप हुए, जिसके प्रयोजक ये दो प्रकट हुए, वैसी शङ्का के निरास[12] के लिये ये दोनों सनातन हैं, इस प्रकार प्रकट हुए, ये दोनों पूर्व से ही सिद्ध है कारण कि भगवान् अनन्त मूर्ति हैं ॥३१॥

१- अप्रत्यक्ष, २- बीज तथा योनि अर्थात् समवायी और निमित्त कारण
३- आविर्भाव तथा तिरोभाव, ४- सृष्टि में, ५- बीज और योनि रूप, ६- समवायी कारण,
७- निमित्त कारण, ८- उन्नति, ९- कल्याण, निःश्रेयस का अर्थ भक्ति भी है,
१०- स्वाभाविक ११- मिलकर, १२- मिटाने ।

आभास—एवं स्वरूपोत्कर्षमुक्त्वा धर्मोत्कर्षमाह **यस्मिञ्जन** इति ।

आभासार्थ—इस 'यस्मिञ्जन:' श्लोक में धर्म से उत्कर्ष कहते हैं ।

श्लोक—**यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले**
क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥३२॥

श्लोकार्थ—मनुष्य प्राण त्यागने के समय क्षण मात्र भी अपना शुद्ध मन जिसमें रखकर कर्माशय को त्याग शीघ्र ही अर्क[1] समान वर्ण वाला ब्रह्म रूप हो, तो परम गति को पाता है ॥३२॥

सुबोधिनी—यद्यपि परःसहस्रं भगवद्धर्माः सन्ति, तेषां माहात्म्यं च भगवत एव, धर्मधर्मिणोरभेदात् भगवानेव धर्मरूपेण भवतीति सिद्धान्तात्, सिद्धान् धर्मान् परित्यज्य प्रमाणबलेन भावकेन मनसा परिकल्पितं भगवद्रूपं सर्वेषां स्वाधीनं मत्वा तस्य माहात्म्यमाह । **यस्मिन्** मानसे रूपे **जनः** प्राणी **प्राणवियोगकाले क्षणं मनो विशुद्धं समावेश्य कर्माशयं निर्हृत्य** परां गतिं याति । साधनान्तरनिरपेक्षत्वज्ञापनाय **यस्मिन्** मानसे रूप इत्युक्तम् । **जन** इति सामान्यतः, न तु ब्राह्मण ऋषिर्वा । तत्रापि **प्राणवियोगकाले** सर्वेन्द्रियविकले अशुद्धावस्थायां **क्षणं** चित्तं **समावेश्य**, न तु बहुकालम्, नापि वाग्देहयोरनुवृत्तिः । तदपि रूपं सर्वफलसाधकमिति **विशुद्धमित्युक्तम्** । अन्यथा कामनायां तदेव फलिष्यतीति । विशेषेण शुद्धिः कामनाभाव एव । ननु 'यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुतेः कामनाभाव एव पुरुषार्थसिद्धौ निष्कामं सदात्मगात्म्येव भवतीति ज्ञानेपि सिद्धे किं भगवद्धर्ममाहात्म्यमिति चेत् । सत्यम् । नात्र निष्कामता साधनान्तरेण भवतीति निरूप्यते, येनान्यथासिद्धं स्यात्, किन्तु क्षणं सम्यगावेशनेनैव **मनो** विशुद्धमपि भवति । ततः **कर्माशयं** कर्माण्याशरतेस्मिन्निति बीजात्मकं सङ्घातं च निवर्त्य स्वाभिमानपरित्यागेन मृतमिव तदिति ज्वालनमिव तं कारणभूतमपि सङ्घातं दग्ध्वा उत्तरत्र गमने साधनान्तरमप्यनपेक्ष्य **परां गतिं** स्वरूपेणैव **याति** । तत्रापि न सायुज्यार्थं जीवभावेन गमनम्, किन्तु **ब्रह्ममयः** 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'त्येषागतिर्भवति । तत्रापि भगवद्धर्माणामपि सर्वेषां स्फूर्तिर्भवतीति ज्ञापयितुं **अर्कवर्ण** इति । तस्माद्यावान् पुरुषार्थः सर्वैरेव ज्ञानादिभिर्भवति क्रमेणापि साध्यं सकृदेव च भवतीति भगवद्धर्माणां माहात्म्यमुक्तम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि भगवान् के अनेक धर्म हैं, उनका माहात्म्य भी भगवान् का ही माहात्म्य है, कारण कि धर्म, तथा धर्मी में अभेद है । शास्त्र सिद्ध यह सिद्धान्त है कि भगवान् ही धर्म रूप

१- सूर्य,

होते है। सिद्ध हुए धर्मों को छोड़ कर, प्रमाण के बल से अथवा भावना से मन में जिस स्वरूप की कल्पना साधक करता है, वह भगवद्रूप सब साधक भक्तों के स्वाधीन हो जाता है। यों मानकर, उसका माहात्म्य कहते हैं, प्राणी जिस मानसी मूर्त्ति में प्राण त्याग के समय क्षण मात्र भी, शुद्ध मन को स्थिर करता है, तो कर्म वासना को क्षय कर उत्तम गति को पाता है। मानसी मूर्ति में मन स्थिर करने वाले को दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं है । जन अर्थात् साधारण कोई भी प्राणी हो, ब्राह्मण हो वा ऋषि हो, जिसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है, उसमें भी प्राण निकलने के समय; जब कि सब इन्द्रियां विकल हो जाती हैं, अचेत होने से अशुद्ध अवस्था हो जाती है, उस समय एक क्षण चित्त को उसमें स्थिर कर न कि बहुत समय तक तथा देह वा वाणी योग की भी (उस समय) आवश्यकता नहीं हैं। वह भी रूप फल को देने वाला है, इसलिये कहा है कि 'विशुद्ध' केवल मन शुद्ध भाव वाला हो। उससे बीज रूप सङ्घात[1] को नष्ट कर, स्वत्व का अभिमान त्यागने से, वह मानो मर गया अथवा जल गया, उसकी तरह, उस कारण रूप सङ्घात को भस्मकर उत्तरोत्तर जाने में दूसरे साधन की भी अपेक्षा नहीं है। इससे ही परागति को स्वरूप से ही पा लेता है। वहां भी सायुज्य मुक्ति के लिए जीव भाव से नहीं जाता है, किन्तु ब्रह्म रूप होकर जाता है । जैसा कि कहा है 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' ब्रह्मबन कर ब्रह्म को प्राप्त करता है ऐसी गति होती है। श्लोक में अर्कवर्णः कहा है जिसका भाव बताते हैं कि उस समय सर्व भगवद्धर्मों की भी स्फूर्ति होती है, जिससे उसका वर्ण सूर्यवत् प्रकाश वाला हो जाता है, जिससे यह भी बताया है कि सर्व ज्ञान आदि साधनों से क्रम से जो पुरुषार्थ सिद्ध होता है, वह इसको एक बार करने से ही हो जाता है, इस प्रकार भगवद्धर्मों का माहात्म्य कहा है ॥३२॥

आभास—एतादृशे च भगवत्स्वरूपे यैः सर्वात्मना सर्वदा सर्वभावेन मनो विहितम्, तेषां फले किं वक्तव्यमित्याह **तस्मिन् भवन्ताविति** ।

आभासार्थ— इस प्रकार के भगवत्सवरूप में जिन्होंने सर्व प्रकार के बाहर तथा भीतर के साधनों से सर्वदा सर्व भाव से मन धारण किया हैं, उनके फल प्राप्ति के विषय में कहना ही क्या है ? जिसका वर्णन 'तस्मिन्' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ
नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्
किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—उन सर्व के आत्मा, कारण रूप और कारण से जिन्होंने मनुष्य शरीर धारण किया है, ऐसे नारायण भगवान् में आप दोनों ने निरन्तर भाव स्थापन किया है। हे महात्मन् ! अब आपको कौनसा कृत्य शेष रहा ? अर्थात् कोई नहीं ॥३३॥

१- लिङ्ग शरीर को,

सुबोधिनी—यादृशं हि उपास्यं चिन्त्यं ध्येयं वा तादृश एव भवतीति सर्वजनीनम् । भगवांश्च सर्वफलरूपः । अतो नावशिष्यत इति वक्तुं सर्वहेतुत्वमाह **अखिलात्महेतावि**ति । अखिलानामाहेतुश्च, 'सर्वस्यात्मा भवति सवमस्यान्नं' भवतीति फलं सिध्यति । किञ्च । विकृतेऽपि हेतुरात्मेति च वक्तुं **नारायण** इत्याह । अयं पुरुषो नारायणः । किञ्च । कारणार्थं सर्वेषामुद्धारार्थमेव कपटवेशमपि कृतवान् । अनेन फलावश्यकत्व द्योतितम् । प्रायिकत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थम्, यतः 'लोकस्य व्यसनापनोदनपरो दासस्य किं न क्षम' इति सिद्धान्तो भवति । तत्रापि **नितरां भावं विधत्ताम्**, रसत्वव्यावृत्त्यर्थं भावपदम् । पुत्रत्वेपि देवत्वप्रतीतेः, तथापि फले स्वरूपयोग्यताप्यपेक्ष्यत इति यथा मर्यादायां ब्राह्मणानामेव मुक्तिः, पुष्टौ वा वैकुण्ठेषु पक्ष्यादिरूपत्वम्, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **महात्मन्नि**ति । महात्मत्वं भगवदागमनान्निश्चीयते । अतः युवयोः कृत्यं नावशिष्यते । अनेनेयमेवावस्था पुरुषार्थ इति ज्ञापितम् ॥३३॥

व्याख्यार्थ - जिस प्रकार के स्वरूप की उपासना की जाती है, वही स्वरूप चिन्तन तथा ध्यान ⁕में रहता है। जिससे वह चिन्तक एवं ध्यान करने वाला उसका ही रूप बन जाता है यह लोक में प्रसिद्ध ही है। भगवान् तो सर्व फल रूप हैं ही, जब सर्वफल रूप भगवान् की प्राप्ति हो गई तब शेष कुछ पाने के लिये नहीं बचता है, कारण कि समस्तों की आत्मा तथा हेतु है। श्रुति कहती है कि 'सर्वस्य आत्मा भवति, सर्वमस्यान्नं भवति' आप सर्व की आत्मा हैं और सब इनका अन्न है, जिससे आप फल[1] सिद्ध होते हैं और विशेष कहते है कि विकारे[2]+में भी कारण आत्मा है। यह बताने के लिये ही 'नारायण' नाम दिया है। यह पुरुष[3] नारायण है, किन्तु समस्तों का उद्धार करना है, इस कारण के लिये आपने मनुष्य का कपट* रूप भी धारण किया हैं, इस रूप के धारण करने से फल की आवश्यकता प्रकट की है, बहुत करके यों होगा। इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'जो समस्त लोकों के दुःखों को मिटाने में लगे हुए हैं, क्या वह दास के दुःख दूर करने में समर्थ नहीं है? दासों के दुख दूर करने में समर्थ है यह सिद्धान्त है। आप उसमें 'सदैव' भाव रखते हो, भाव शब्द से रसपन[4] को हटा दिया है, क्यों पुत्र होते हुए भी देवपन की प्रतीति हो रही है, तो भी फल प्राप्ति

⁕प्रकाश–लौकिक विषय के चिन्तक को लोक में 'चिन्त्य' कहते है। योग में ध्यान को चिन्त्य कहते है। भ्रमरी ध्यान करते हुए वह रूप हो जाती है यह प्रत्यक्ष लोक में देखा जाता है।

+लेखकार कहते हैं कि-अखिल शब्द से व्यष्टि रूप प्रपञ्च कहा है और विकार शब्द से समष्टि रूप विराट् कहा है, अर्थात् विराट् का तथा जीव मात्र का हेतु यह नारायण ही है।

१–श्रुति में कहा हुआ फल, २–विकृत फल में. ३–मोक्ष तथा भक्ति का बीज रूप, ४–रस समानता में होता है। यहां पुत्र में देवत्व असमानता है, इसलिये रस को हटाकर भाव कहा है 'प्रकाश'

*लेखकार कहते हैं कि यदि आप मनुष्य रूप धारण न करते तो सेवा नहीं हो सकती। जिसके बिना फल की प्राप्ति न होती, फल की आवश्यकता होने से ही आपने यह रूप धारण किया है। पुत्र में देवत्व की प्रतीति न भी होवे केवल पुत्र की प्रतीति हो तो भी भाव पद रसत्व की निवृत्ति के लिये कहा है क्योंकि 'रतिर्देवादि विषया भावः इसमें आदि शब्द से देव मुनि, गुरु, नृप और पुत्र आदि में जो रति है, वह भाव है, अतः यहां पुत्र में रति को भाव बताने के लिये रस का निवारण किया है।

में स्वरूप की योग्यता भी चाहिये। जैसे मर्यादा में ब्राह्मणों की ही मुक्ति होती है, किन्तु पुष्टि (अनुग्रह) में वा वैकुण्ठों में पक्षी आदि रूपपन होता है। उस पक्षी आदि रूपपन की निवृत्ति के वास्ते कहते हैं कि हे महात्मन्! भगवान् यहां पधारे हैं; इससे निश्चय होता है कि आप महान् आत्मा हैं। आपको पक्षी आदि रूप की प्राप्ति न होगी, अतः आप दोनों के लिये शेष कुछ कर्तव्य नहीं रहा है, इसलिये यह अवस्था ही पुरुषार्थ है, यों उद्धवजी ने बताया है ॥३३॥

आभास—एवं विषयं साधनं चाभिनन्द्य लौकिकभावेन खेदं वारयितुमाह **आगमिष्यतीति**।

आभासार्थ—इस प्रकार विषय तथा साधन का अभिनन्दन कर, अब लौकिक रीति से खेद मिटाने के लिये 'आगमिष्यति' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।**
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ॥३४॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र थोड़े समय में व्रज में पधारेंगे, यादवों के तथा भगवद्-भक्तों के पति यहाँ आकर माता-पिता का प्रिय करेंगे ॥३४॥

सुबोधिनी—**अदीर्घेणैव कालेन व्रजमागमिष्यतीति** यतः **अच्युतः** स्वरूपतो धर्मतश्च, अन्यथा वाक्यतश्च्युतः स्यात्। लौकिकभाषया बोधनमिति केचित्। शास्त्रार्थतः समागमिष्यतीत्यन्ये। भगवद्वाक्यानुरोधेन भगवदीयानां च 'कुरूनमधून्वे'ति वाक्याच्च 'पित्रो'रिति विशेषवचनाच्च 'गतांश्चिरायिता'नितिवाक्यविरोधाभावात् नन्दं द्रष्टुं समागत एव भगवान्परं यथा न गोपीकाप्रतीतिस्तथेत्यर्थादवगम्यते। आर्थिके विरोधाभावादिममर्थमेव ज्ञापयितुमाह **प्रियं विधास्ते पित्रोरिति**। यथैव प्रियं भवति, येन प्रकारेणागते, तथैव विधास्यति। एतादृशकरणे सामर्थ्यमाह **भगवानिति**। एवं गुप्ततयागमने हेतुमाह **सात्वतां पतिरिति**। यादवानां भगवद्भक्तानां च पतिः। यादवानुरोधान्मार्गानुरोधाच्च तथा समागमिष्यतीति भावः। 'प्रीतिमावहे'ति वाक्यादेवमुच्यते, अन्यथा शास्त्रार्थमात्रमेव कथयेत् ॥३४॥

व्याख्यार्थ – थोड़े ही दिनों में व्रज में पधारेंगे कारण कि आप अच्युत हैं, जिससे धर्म तथा स्वरूप से आपकी कभी च्युति नहीं होती है। यदि न आवें तो, जो वाक्य आने के कहे हैं, उन से च्युत हो जावेंगे, अतः आवेंगे। किन्हीं का मत है कि आऊंगा यह भगवान् का कहना लौकिकी[1] भाषा है। दूसरे कहते हैं कि यों कहना शास्त्रार्थ से है। भगवान् अपने कहे हुए वचनों के आग्रह से और

१- प्रकाशकार कहते हैं कि लौकिक भाषा होने से 'अच्युत' नाम में बाधा नहीं आती है, यह किन्हीं का मत है।

भगवदीयों के कहे हुए 'कुरून्मधून् वा' 'पित्रोः' इस विशेष वचन से तथा 'गतांश्चिरायितान्' इत्यादि वचनों का विरोध भी न हो, तदर्थ नन्द को देखने❀ के लिये पधारे ही हैं, किन्तु ऐसे पधारे हैं जैसे गोपियों को सुधि न हुई। यों अर्थ से जाना जाता है कि आर्थिक में विरोध न आए इसलिये इसी अर्थ को बताने के लिये कहते हैं कि भगवान् पधार कर माता पिता का प्रिय करेंगे। जिस प्रकार आने से उनको प्रिय अर्थात् आनन्द हो उसी प्रकार आकर कार्य करेंगे। अर्थात् भगवान् इस प्रकार पधारेंगे जैसे माता को प्रतीति हो कि आए हैं, जिससे वे प्रसन्न हों अपनी अभिलाषा पूर्ण करें, इस भांति करने की आप में सामर्थ्य है, क्योंकि 'भगवान्' षड्गुण सम्पन्न हैं। ऐसे गुप्त आने का कारण कहते हैं कि ये 'सात्वतां पतिः' यादव और भगवद्भक्तों के स्वामी हैं। यादवों के पति होने के अनुरोध से और भक्ति मार्ग के आग्रह से आवेंगे। कहने का+भाव यह है कि प्रीतिमावह' वाक्य से यों कहा जाता है, नहीं तो शास्त्रार्थ मात्र हो जाता ॥३४॥

आभास—ननु भगवानेवमायास्यतीत्यत्रावश्यकत्वे च किं प्रमाणमिति चेत् तत्राह हत्वेति।

आभासार्थ—भगवान् यहाँ इस प्रकार पधारेंगे, इसकी आवश्यकता में क्या प्रमाण है? इस पर 'हत्वा' यह श्लोक प्रमाण में कहते हैं।

❀ इस पर श्री हरिरायजी विवेचन कर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-वियोग दो प्रकार से होता है। एक धर्मी स्वरूप से वियोग और दूसरा धर्म स्वरूप से वियोग। इनमें से धर्मी रूप वियोग आगे आने वाले अध्याय में स्वामिनीओं को कहेंगे। इस अध्याय में धर्म रूप कहा जाता है। इसमें स्वरूप की रक्षा के लिये संयोगात्मक धर्मीरूप का पधारना आवश्यक है। यदि इस रूप से न पधारे तो वियोग से देहादि का अन्यथा भाव हो जावे[1], जैसे अग्नि के सम्बन्ध से काष्ट आदि पदार्थ जल जाते हैं, परन्तु यहां स्वरूप से ही पधारे हैं नहीं कि धर्म से इसलिये दर्शन नहीं हुए हैं, स्वामिनीओं को तो अलौकिक सामर्थ्य दान देकर उनके देह आदि विप्रयोग रूप बना दिये हैं, जिसको धर्मी रूप वियोग कहते हैं इस प्रकार धर्मीरूप वियोग होने से देहादि के वियोग से जलना अशक्य है। जैसे अग्नि से अग्नि का जलना असंभव है, इस कारण से स्वामिनियों की प्रतीति में भगवान् नहीं पधारे हैं। यदि संयोगात्माक प्रभु पधारे तो विरुद्ध फल हो जाए कारण कि स्वामिनियों को विप्रयोग होने से यदि पुनः सम्बन्ध होगा, तो सर्व दाह होगा। यह आगे के अध्याय में कहेंगे। पूर्वा पर प्रसंग को देखकर इस प्रकार व्याख्या की है।

+ लेखकार कहते हैं कि प्रकट रूप से नहीं पधारे, जिसका हेतु कहा और प्रकट में पधारे, जिसका भी कारण कहा हैं। यदि बिल्कुल न पधारते तो भक्त-रक्षा नहीं होती, जिससे भक्ति मार्ग की प्रवृत्ति रुक जाती, यों करने का यह भाव है।

१-जल जावे।

श्लोक—हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥३५॥

श्लोकार्थ—सर्व यादवों[1] के बैरी कंस को रङ्ग भूमि के मध्य में मार आपके पास आकर जो कृष्ण ने आपको कहा, वह सत्य करेंगे ॥३५॥

सुबोधिनी—कंसं हत्वा यदाह भगवान् वो युष्माकं स्थाने समागत्य तत्सत्यमेव करोतीति, कंसो व्याजेनैव मारणीय इति परोक्षवादेनापि तावत्पर्यन्तं वदति । अतो गोपिकाः प्रति समागमनकथा शास्त्रार्थत्वेनापि सङ्गच्छते । कंसमारणानन्तरं तु प्रयोजनाभावान्न परोक्षकथायां निमित्तमस्ति । कापट्ये हि शीघ्रं हतो भवत्यक्लिष्टकर्मा नान्यथेति । वधश्च शीघ्रमेव कर्तव्य इत्यत्र हेतुमाह प्रतीपं सर्वसात्वतामिति सात्वतां भक्तानां सर्वथा प्रतीपं प्रतिकूलम् । पूर्वमन्यथाकरणे ज्ञापकमाह रङ्गमध्य इति रङ्गस्थानं हि लीलायाः, न तु वधस्य । तत्राप्यनुरोधात् युष्मानागत्य तत्रापि कृष्णः फलरूपः सर्वनिरपेक्षः । अनेन हेतुवादे प्रयोजनाभाव उक्तः अतस्तत्सत्यं करोत्येव । वर्तमानप्रयोगेण साम्प्रतमपि तस्यागमनं सूचितम् । वर्तमानसमीपे वर्तमान प्रयोगः । अत आगमिष्यतीत्यप्यविरुद्धम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—कंस को मारकर, भगवान् ने आपके स्थान पर आकर जो आपको कहा है, वह सत्य ही करेंगे । कंस किसी भी बहाने से मारने के योग्य था, इसलिये यहां आने का तब तक परोक्षवाद से भी कहा है । अतः गोपिकाओं को आने का कहना तो शास्त्रार्थपन से भी हो सकता है । कंस के मारने के पश्चात् तो कोई प्रयोजन नहीं रहा है । परोक्ष कहने का कोई निमित्त कारण नहीं है । कापट्य होने पर ही कंस को जल्दी मारा । यदि वह कंस में न होता तो अक्लिष्ट कर्मा भगवान् उसको न मारते । उसका बध तो शीघ्र करना चाहिये, कारण कि वह संकल भक्तों का वैरी है । प्रथम मारने का कारण कहते हैं कि 'रङ्गमध्ये' यह स्थल क्रीड़ा का है, क्रीड़ा स्थान में वध नहीं होता है, किन्तु क्रीड़ा होती है, इसलिये वहां कंस का वध भी वध नहीं है, किन्तु एक वध क्रीड़ा है । यह क्रीड़ा से वध भी उपरोक्त कपट तथा भक्तों से शत्रुता के कारण से हुआ है । वहां भी आपके पास आकर अनुरोध से कहा, वह कहने वाले निरपेक्ष[2] फलरूप श्रीकृष्ण हैं । इससे यह बताया कि इस विषय में हेतुवाद[3] का प्रयोजन नहीं है । वह अपना वचन सत्य करते हैं, 'करोति' यह वर्तमान काल की क्रिया देकर यह बताया है कि अभी वे आये हुए हैं । समीप में वर्तमान काल का प्रयोग होता है, अतः 'आगमिष्यति' आवेंगे यह भी विरुद्ध नहीं है ॥३५॥

१- भक्तों के,

२- जिसको कोई अपेक्षा नहीं है,

३- तर्क आदि से बहस अथवा कपट से कहना ।

आभास—ननु यथेदानीमागतो न दृश्यते, तथाग्रेप्यागतो न द्रष्टव्य इति किमागमनेन सत्यवाक्येन वेत्याशङ्क्याह **मा खिद्यतमिति** ।

आभासार्थ—जैसे अब आए हुए नहीं दीखते हैं, उसी तरह फिर भी आये हुए दीखेंगे नहीं, तो फिर आने से एवं सत्य वाक्य से क्या लाभ ? ऐसी शङ्का हो तो उसको 'मा खिद्यत' दो श्लोकों से मिटाते हैं ।

श्लोक—**मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके ।**
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥३६॥

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः ।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे बड़े भाग वाले ! आप खेद मत करो । कृष्ण को अपने पास जल्दी देखोगे; क्योंकि काष्ठ में अग्नि के समान वे सर्व भूतों में विराजते हैं । वे अहंता रहित सम दृष्टि वाले हैं, उनको न कोई प्यारा है, न कोई बुरा है, न उत्तम है; न अधम है और न कोई विषम है ॥३६-३७॥

सुबोधिनी- भगवद्दर्शनार्थं खेदं मा कुरुतम् । दर्शने स्वरूपयोग्यो हेतुर्युवयोरस्तीत्याह । **महाभागाविति** प्रतीत्या, अनुमानेन च युवयोर्महद्भाग्यं प्रतीयते, तदवश्यं दर्शयिष्यतीति दर्शने न सन्देहः । योगज्ञानादिना दर्शनं वारयति **अन्तिक** इति । लौकिके भगवानेवापेक्ष्यत इति न रामग्रहणम् । तस्य प्रादुर्भावः सर्वत्रैव सुगम इति ज्ञापयितुं अन्तर्निरूपयति **अन्तर्हृदीति** । अन्यो भविष्यतीत्याशङ्कां व्यावर्तयति **स** इति । यो भवद्भिरपेक्ष्यते, स एव सर्वेषामन्तर्हृदये वर्तत इति । तत्र प्रमाणमाह **भूतानामिति** । अन्यथा ते कथं जाताः प्राणिनः । आधारव्यतिरेकेण अन्नादिक्रियाणां स्थित्यसम्भवात् । अतः सूत्रापेक्षयाप्याधारत्वेन सर्वत्रैव वर्तते । अन्तर्हृदीति प्रतीत्यर्थं विशेष उक्तः । जीवासन्ययोर्व्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह **ज्योतिरिवैधसीति** भूरुहत्वाविशेषेऽपि यथा घटादयो निमज्ज्यन्ते न ज्वलन्ति, तथा न काष्ठादयः, उत्पत्तावपि भूम्यंशान् स्वसमानान् न गृह्णन्ति, अतो ज्ञायते स्वभावत एव ते वन्ह्यात्मकाः, जलेन च पुष्टा भवन्ति, उभयोर्व्यवधायका मायेव सूक्ष्माः पृथिव्यवयवाः, उभयोरप्यपगमे यावद्भस्म तावन्मात्राः, अतो भूयानंशस्तेजस एव जलस्थानीयो ह्यासन्यः, पृथिव्यंशस्थानीयो जीव इति सर्वत्र भगवान् चेतनेषु उत्तम्भनचलनादिना वर्तत इत्यध्यवसीयते । अन्यथा मथनेनेव योगादिना न प्रादुर्भूतः स्यात् ॥३६-३७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् दर्शन देंगे वा नहीं, इस प्रकार खेद मत करो । आपका स्वरूप ही दर्शन देने में हेतु है, क्योंकि आप महान् भाग्य वाले प्रतीत हो रहे हैं, और अनुमान से भी जाना जाता है कि आप भाग्य शाली हो, इसलिये अवश्य दर्शन देंगे । उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । योग

और ज्ञानादि से जसे दर्शन होते हैं, वैसे नहीं होंगे, किन्तु आपके पास आकर दर्शन देंगे। यहां राम का नाम न लेकर केवल कृष्ण ही इसीलिये कहा है कि सर्व मनुष्य भगवान् के दर्शन की ही इच्छा करते हैं। उसका प्रादुर्भाव सर्वत्र ही सुगम है, कारण कि जिसके दर्शन की आपको इच्छा है वे सर्व प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान हैं। यदि वे उनमें भीतर विराजमान नहीं हैं तो ये प्राणी कैसे उत्पन्न हुए ? यदि कहो कि अन्न आदि से, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि आधार+के सिवाय किसी पदार्थ की स्थिति नहीं, अतः अन्नादि की क्रिया की स्थिति भी उस अन्तर्हृदय में स्थित हुए पर है। अतः सूत्र की अपेक्षा से भी सर्वत्र ही आधारपन से रहते हैं। कहां रहते हैं ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते है कि हृदय के भीतर रहते हैं। यह विशेष कहना प्रतीति के लिये ही है। जीव अथवा आसन्य की व्यावृत्ति[1] के लिये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे काष्ठ में अग्नि रहती है, पृथ्वी से घड़ा बनता है और लकड़ी भी पृथ्वी की ही पैदाइश है, दोनों पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, तो भी घड़ा जल में डूबता है और लकड़ी पानी पर तैरती रहती है। यह इसलिये कि दोनों उत्पन्न होते समय समान अंश ग्रहण नहीं करते हैं, अतः जाना जाता है कि वे अग्न्यात्मक हैं और जल से पुष्ट होते हैं। दोनों में अन्तर करानेवाली माया ही सूक्ष्म पृथ्वी के अवयव रूप है। दोनों के नष्ट होने पर भस्म[2] हो जाते हैं जितनी राख है उतने रूप में वे अवयव हैं। भस्म हो जाने से प्रथम काष्ठ है, दूसरा घड़ा हैं, यों कहा जाता है, अतः वे अधिकांश में उस प्रकाश के अंश हैं। विशेष अंश तेज का ही है, इस लिये यहां जल के स्थान पर 'आसन्य' है, पृथ्व्यंश के स्थान पर 'जीव' लिया है, इसी प्रकार सर्वत्र भगवान् सर्व चेतन पदार्थों में विद्यमान रहते हैं और खड़ा होने चलने आदि क्रिया कराते हैं, जिससे समझा जाता है कि भगवान् भीतर हैं। काष्ठ में जो अग्नि है,वह मथने से प्रकट होती है। वैसे ही भगवान् हृदयस्थ योग आदि से प्रकट हो हैं, अन्यथा[3] वे प्रकट नहीं होते ।।३६-३७।।

+लेखकार 'आधारव्यतिरेकेण' पंक्ति का स्पष्टी करण करते हुए कहते हैं कि (अन्नाद्भुतानि जायन्ते' अन्न से भूत उत्पन्न होते हैं, इस सिद्धान्त में भी अन्न आदि से जनन आदि किया होती है वह बिना आधार के नहीं है, अन्न से उत्पन्न होने में भी उत्पन्न होना धर्म हैं; जिससे यह सिद्ध ही है कि धर्म से प्रथम धर्मी होगा ही, अतः वह धर्मी का ही कारणत्व है, वह धर्मी भगवान् सर्वत्र सर्वदा ही सिद्ध है, जनन आदि धर्मो का वह आधार है।

प्रकाशकार-'आधार व्यतिरेकेण' पंक्ति कहने का आशय बताते हैं कि भगवान् के अभाव में भूतों का अभाव कैसे व क्यों होगा ? इस शङ्का के उत्तर में यह पङ्क्ति आचार्य श्री ने कही है जिसका आशय है कि बिना आधार के कोई भी वस्तु कार्य नहीं कर सकती है, अतः अन्न का भी आधार होना चाहिये वह शास्त्र प्रमाणनुसार 'भगवान्' है, जो सर्व के भीतर विराजमान है, इसलिये कहा है कि 'ह्योवान्यात् कः प्राण्यात् यदेश आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि से इस विषय को समझाया है;विशेष प्रकाश देखिये।

१-निवारण, २-खाक, ३-दूसरे उपाय से।

आभास—एवं प्रादुर्भावे सुलभतामुक्त्वा तथापि दुर्लभ इति वक्तुं लौकिकप्रयोजकान् सर्वानेव सम्बन्धान् वारयति न मातेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का प्राकट्य सुलभ होते हुए भी दुर्लभ है । यों कहने के लिये लौकिक को दिखानेवाले सर्व सम्बन्धों का निवारण 'न माता' इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।**
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥३८॥

श्लोकार्थ—उनके न माता, न पिता, न भार्या, न पुत्रादि, न अपना, न पराया, न देह और न जन्म है ॥३८॥

सुबोधिनी—अनेनासूयापि निवार्यते, न हि भगवान् कस्यचिदुपालंभ्यो भवतीति, तस्य सर्वान्तर्यामिणः कृष्णस्य यशोदाद्या मातृत्वेन प्रसिद्धा अपि ता **न मातरः**, तथा नन्दादयोपि **न पितरः**, न च सीताप्रभृतयो **भार्याः** । **न वा** कुशादयः **सुताः**,**आदि**शब्देन **न** भ्रातरः गदादयोपि,**आत्मीयः** स्वसत्तात्मकः, **परः** शत्रुः परकीयोपि पर एवेति न सम्बन्धी निरूपितः । चकारान्नोदासीनः, अयमर्थो निर्द्धारितः **इत्येव**कारः, नापि **देहः** यदर्थमेतेऽपेक्ष्यन्ते, तस्य कारणं **जन्मा**पि नास्ति । **एव**कारः पूर्ववत् । **वे**त्यनादरे । अनेन यत्किञ्चिदत्र सम्भावितं तदपि निषिद्धम् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कहने से यह सिद्ध करते हैं कि इनमें डाह भी नहीं हैं । जिससे भगवान् कृष्ण को कोई उपालम्भ[1] भी नहीं दे सकता है । कारण कि उनका किसी से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं हैं, जिसको स्पष्ट कर बताते हैं । उस सर्वान्तर्यामी कृष्ण की जो यशोदा आदि माताएँ प्रसिद्ध हैं, वे भी माताएँ[2] नहीं हैं । वैसे ही नन्द आदि पिता भी पिता नहीं है, सीता आदि स्त्रियां नहीं है । कुश आदि पुत्र नहीं हैं । आदि शब्द से गद आदि भाई भी नहीं है । अपने व पराये[3] भी कोई नहीं है । 'च' से यह बताया है कि उदासीन भी नहीं है । 'एव' शब्द से इस विषय का निश्चित रूप से निर्णय किया है जिसके लिये इनको अपेक्षा होती है । वह 'देह' ही नहीं है, उस देह का कारण जन्म है, वह जन्म भी नहीं है । श्लोक में 'एव' पूर्व की भांति निश्चय वाचक है । 'वा' शब्द अनादर वाचक है । इससे जिसकी कुछ भी यह सम्भावना दीखती है, उसका भी निषेध कर दिया है ॥३८॥

आभास—ननु कर्मसु विद्यमानेषु जन्मानुच्छेदात् कर्मणां च प्रसिद्धत्वात् कथं जन्माद्यभाव इत्याशङ्कयाह **न चास्येति** ।

१–उलाहना, २–उत्पन्न करनेवाली,
३–शत्रु ।

आभासार्थ—कर्मों के होते जन्म का अभाव नहीं होता है कर्म तो प्रसिद्ध हैं ही, फिर जन्म अभाव कैसे कहते हो ? जिसका उत्तर 'न चास्य कर्म' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।**
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥३६॥

श्लोकार्थ—इनका कोई भी वैसा कर्म नहीं है, जिससे जन्म लेवे; तो भी लोक में केवल भक्तों की रक्षा के वास्ते प्रकट होते हैं, यह प्रकट होना उनको क्रीड़ा है, वह क्रीड़ा ऊँच-नीच और मित्र योनि में प्रकट होकर करते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—नापि अस्यान्तर्यामिणो निर्लेपस्य अग्निवत्सर्वदाहकस्य **सदसन्मिश्रयोनिषु** उत्कृष्टापकृष्टमध्यभावेषु देवतिर्यङ्मनुष्यरूपेषु **अस्य कर्मापि न** । तत्रापि **वे**त्यनादरे जातेऽपि तेन न किञ्चित्कर्तव्यमिति । तर्हि किमर्थमेतावत्करोतीत्याशङ्क्याह **क्रीडार्थ** इति अयं सर्वोपि भगवद्भावः क्रीडार्थः । **सोपि** क्रीडाभावः **साधूनां परित्राणाय** तदपि नोद्देश्यं किन्तु **कल्पते** स्वयमेव समर्थो भवति । यथा सूर्ये समागते स्वयमेवान्धकारो नश्यति न तु तदर्थं प्रयत्नोऽपि कर्तव्यः । यथा महाराजे क्रीडार्थमप्यागते चौरभयनिवृत्तिः । ॥३६॥

व्याख्यार्थ—अन्तर्यामी, निर्लेप तथा अग्नि की भांति सर्वदाहक भगवान् का वैसा कोई कर्म नहीं है, जिससे देव, पशु, पक्षी एवं मनुष्य आदि रूपों में उन कर्मों के अनुसार जन्म लेवे । वहां भी 'वा' शब्द अनादर में कहा है । जन्म लेते हुए भी उनको कुछ कर्तव्य नहीं होता है, कारण कि उनको कर्म के अभाव से कर्म बन्धन नहीं है । यदि यों हैं, तो इतना करते क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं कि क्रीड़ा के लिये । यह सकल भगवद्भाव क्रीड़ा के लिये है । उस क्रीड़ा से भक्तों की रक्षा स्वतः हो जाती है । जैसे सूर्य उदय से अन्धकार आप ही नष्ट हो जाता है । अन्धकार नाश करने के लिये सूर्य को कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता है । दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि राजा क्रीड़ा के लिये भी आते हैं तो चोरों का भय स्वतः मिट जाता है । इस प्रकार भगवान् भी क्रीडार्थ पधारते हैं, तब स्वयं भक्तों की रक्षा हो ही जाती है । तदर्थ भगवान् को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, क्योंकि भगवान् का उद्देश तो क्रीड़ा है, किन्तु लोक स्वयं वैसी कल्पना करते हैं कि भगवान् सर्व समर्थ होने से यों करते हैं ॥३६॥

आभास—एतदप्यङ्गीकृत्योच्यते मतान्तरे तु तदपि नास्तीति वदन् पूर्वोक्ते चोपपत्तिमाह **सत्वं रजस्तम** इति ।

आभासार्थ—यह भी अङ्गीकार करके कहा जाता है, किन्तु दूसरे मत में यह भी नहीं है । प्रथम जो कहा हैं उसमें हेतु सहित युक्ति बताने के लिये 'सत्वं रजः' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥४०॥

श्लोकार्थ—आप निर्गुण हैं, तो भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों को धारण करते हैं । अक्रीड़क होते हुए भी क्रीड़ा करते हुए गुणों से जगत् को रचते हैं, पालते हैं और संहार करते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी– स्वयं निर्गुण एव मूलभूतानेतान् | **सृजत्यवति हन्तीति** ॥४०॥
क्रीडन् भजते । तेषां विशेषप्रयोजनमाह **तैः** |

व्याख्यार्थ—स्वयं निर्गुण ही मूल भूत इन गुणों से क्रीड़ा करते हुए इनको धारण करते हैं । इन गुणों के धारण करने का विशेष प्रयोजन बताते हैं कि इन गुणों से जगत् की रचना करते हैं और उसका संहार भी करते हैं ॥४०॥

आभास—यथा स्वयमजः स्वरूपतो न जायते, अन्यथा तु कार्यरूपेण जननमावश्यकमेवमात्मसृष्ट्यभावे गुणैरेव सर्गे जीवानामपि औपाधिकभेदेनैव भेदसम्भवात् कुत्राप्यात्मनः कर्तृत्वं नास्तीति निरूपयन् अन्तःकरणाध्यासेनैव कर्तृत्वं न स्वत इति दृष्टान्तेनोपपादयन् कैमुतिकन्यायेन भगवति कर्तृत्वनिषेधमाह **यथा भ्रमरिकेति** ।

आभासार्थ—भगवान् अज हैं, अतः आप स्वरूप से जन्म नहीं लेते हैं । यदि अज न होते तो स्वरूप से कार्य रूप जन्म अवश्य होता । जब आत्मसृष्टि+ नहीं होती है, तब सृष्टि गुणों* से ही होती है । उस सृष्टि में जीवों में भी औपाधिक भेद होने से वहां भी आत्मा का कर्तृत्व नहीं है, यह निरूपण करते हुए कहते हैं कि अन्तः करण के अध्यास से ही कर्तापन है, स्वतः नहीं है । यों दृष्टान्त से सिद्ध करते हुए कैमुतिक न्याय से भगवान् के कर्तृत्व का निषेध 'यथा भ्रमरिका दृष्ट्या' श्लोक से करते हैं ।

+भगवान् ही सृष्टि रूप हैं । 'सआत्मानं स्वयं अकुरुत' श्रुतिः–

*इस सिद्धान्त में जगत् गुणात्मक है, अर्थात् सत्वादि गुणों से बनने के कारण गुण रूप है । श्रौत सिद्धान्तानुसार ब्रह्म से उत्पन्न होने से ब्रह्म रूप जगत् माना जाता है, वह यहां नहीं है । जीव का ब्रह्म से अभेद है, अतः जीव के कर्तापन का निषेध करने से ब्रह्म के कर्तापन का भी निषेध किया गया है ।

श्लोक—यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते ।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः ॥४१॥

श्लोकार्थ—जैसे घूमते हुए पुरुष को अपनी फिरती दृष्टि से पृथ्वी फिरती हुई दीखती है, इस प्रकार चित्त के कर्त्तापन की बुद्धि से अध्यास के कारण आत्मा भी अपने को कर्त्ता समझती है ॥४१॥

सुबोधिनी—यो हि वात्यावद्भ्रमति तस्य दृष्टिर्भ्रमरिका भवति । तया दृष्ट्या भ्राम्यतीव मही ईयते, वस्तुतस्तु दृष्टिरेव भ्रमति, अन्यथा क्षणान्तरे अन्यैर्वा भ्रमणमुपलभ्येतेति । तथा चित्ते कर्तरि अहङ्कारे कर्तरि सति कर्तृत्वाभिमानस्यैव प्रयोजकत्वात् प्राप्ताप्राप्तविवेकेन अहङ्कार एव कर्ता भवति । तत्राहंधिया जीवोपि कर्तेव स्मृतः न तु वस्तुतः कर्ता, एवं केचिद् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन एकवाक्यतया योजयन्ति, वस्तुतस्तु दृष्टान्तद्वयं अन्तर्बहिर्भेदेन अन्यथा इवेत्यसङ्गतं स्यात् । दृष्टान्ते च विषये अन्यथाबुद्धिर्दार्ष्टान्तिके तु कर्तरीत्यसामञ्जस्यं च स्यात् अनुपयुक्तार्थश्च, न हि साक्षाद्भगवच्चरित्रे उपपद्यमाने प्रासङ्गिकत्वेन योजनमुचितम्, तत्र भगवान् ब्रह्मरूपः स्वयं तादृश एवाभिव्यक्तः नित्यस्वरूपगुणक्रियारूपः । क्रमेण परं पुरुषाणां दृष्ट्या गृहीतः, तत्र ग्राहिका दृष्टिः स्वधर्मं च तत्र योजयति । ततो ब्रह्मरूपमेव प्राकृतसम्बन्ध्येव तत्र तत्र परिदृश्यमानं तथा तथा कल्पयति, तस्माद्भगवति नैते धर्मा युक्ताः स्वभ्रमादेव सच्चिदानन्दे प्राकृतत्वप्रतीतेः । किञ्च । यथा स्मृतौ साङ्ख्यादिशास्त्रे चित्ते कर्तरि आत्मा कर्तेव दृष्टस्तदध्यासात्, तथा भगवति स्वसम्बन्धारोपात्तद्भावः प्रतीयते न तु वस्तुतो भगवांस्तथा भवति । ततः पूर्ण एव व्यापकः परिच्छिन्नदृष्ट्या तत्तत्पदार्थेषु अभिव्यक्त्या सूर्यवत्सम्बद्धस्तथा दृश्यते स्वधर्मारोपेण वा तथा मन्यते, वस्तुतो दृश्यतेऽपि न, अतः पूर्ण एव परमानन्दः परिच्छेदकदृष्ट्या तदिच्छया क्वचिदुपलभ्यते क्वचिन्नेति, यथेदानीं भगवदिच्छया मथुरावासिभिर्दृश्यते न तु भवद्भिः, यथा वा अस्मदादिभिर्दृश्यमानमपि भवन्तो वदन्ति नात्र भगवान् किन्तु मथुरायामिति । एवं भ्रमो भवदीयः, तस्मादिमं भ्रमं परित्यज्य सर्वत्रैव भगवान् ज्ञातव्य इत्यर्थः । साक्षात्कारस्तु तदिच्छया भविष्यति ॥४१॥

व्याख्यार्थ—जो पुरुष स्वयं आंधी की भांति फिरता है, उसकी दृष्टि भी फिरती रहती है । जिस फिरती हुई दृष्टि से वह पुरुष पृथ्वी को फिरती हुई देखता है । वास्तव[1] में पृथ्वी नहीं फिरती है, किन्तु दृष्टि ही फिर रही है । यदि यों नही होता तो थोड़े समय के अनन्तर[2] भी पृथ्वी घूमती हुई देखने में आवे । एवं अन्यों[3] को भी पृथ्वी घूमती नजर आवे । वैसा नहीं होता है, इस प्रकार जब चित्त में अहङ्कार उत्पन्न होता है, तब उसकी प्रेरणा से चित्त में कर्तापन आता है । अतः प्राप्त और अप्राप्त के विवेक से अहङ्कार ही कर्ता है । उसमें जीव की अहंबुद्धि होने से जीव भी कर्ता माना जाता है, न कि 'वह' वास्तविक कर्ता है । इस प्रकार कितने 'ही' दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक भाव से

१- सचमुच, २- दृष्टि का फिरना जब बन्द हो जावे तब,
३- जिनकी दृष्टि घूमती नहीं है ।

एकता सिद्ध करते हैं। सचमुच में तो ये दो दृष्टान्त अन्दर और बाहर के भेद समझाने वाले हैं। यदि यों न मानोगे तो 'इव' शब्द की कोई सङ्गति न बनेगी। दृष्टान्त और विषय में अन्यथा बुद्धि होगी, एवं दार्ष्टान्ति और कर्ता में भी सामञ्जस्य न होगा और अर्थ उपयोगवाला न होगा। जब ये दृष्टान्त भगवान् में घटित हो सकते हैं, तब प्रासङ्गिकता से उनकी योजना करनी उचित नहीं है। उसमें भगवान् ब्रह्म रूप है, स्वयं जैसे हैं वैसे हो प्रकट हुए हैं, क्योंकि उनके स्वरूप गुण और क्रिया नित्य ही हैं, किन्तु उनको, पुरुष की दृष्टि+ क्रम से ग्रहण करती है और वह ग्रहण करने वाली दृष्टि अपने धर्म को उनमें जोड़ती है। जिस कारण से ब्रह्मरूप ही वहां प्राकृत सम्बन्धी दीखने में आते हैं जिससे वैसी कल्पना करते हैं। इस कल्पना से ये धर्म भगवान् में नहीं हो जाते हैं, केवल अपने भ्रम से ही सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् में प्राकृतपन* की प्रतीति होती है और विशेष कहते हैं कि सांख्य के मत के स्मृति आदि शास्त्र में आत्मा का चित्त में अध्यास होने से आत्मा चित्त के कर्तापन से अपने को कर्ता समझती है। वैसे भगवान् में अपने सम्बन्ध के आरोप से वैसा भाव प्रतीत होता है। वास्तव में भगवान् वैसे नहीं हैं वे तो पूर्ण रूप से सर्वत्र व्यापक हैं। परिच्छिन्न दृष्टि से उन उन पदार्थों में अभिव्यक्ति[1] से सूर्य की तरह※ सम्बद्ध हो वैसे ही दीखते हैं। अथवा अपने धर्म के आरोप से मनुष्य यों मानते है। वास्तव में तो इन नेत्रों से दर्शन भी नहीं देते हैं, अत: वे पूर्ण परमानन्द हैं, तो भी परिच्छेद करने वाली दृष्टि से अथवा उनकी इच्छा से कहीं दीखते हैं, कहीं नहीं दीखते हैं, जैसे अब मथुरावासी दर्शन कर रहे हैं, आप नहीं करते हैं, अथवा जैसे हम यहां भी देख रहे है, किन्तु आप कहते हैं कि भगवान् यहां नहीं है, मथुरा में ही हैं यह आपका भ्रम है, इससे यह भ्रम मिटाकर निश्चय करलो कि भगवान् सर्वत्र हैं। साक्षात्कार दर्शन तो उनकी इच्छा से होगे ॥४१॥

आभास—ननु अस्माभिरयं पुत्रत्वेन एतावत्कालं व्यवहृत: कथमिदानीमपुत्रत्वं स्वस्य वा भ्रान्तत्वं मन्यामह इत्याशङ्क्याह **युवयोरेवेति**।

+यदि भगवान् की बाल्य पौगण्ड आदि लीलाएँ नित्य हैं तो सर्वदा क्यों नहीं दीखती है? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहा है कि क्रम से ग्रहण करती है, ज्यों ज्यों भगवत्कृपा आदि से योग्यता आती है त्यों त्यों दर्शन होते हैं।

* जिस प्रकार फिरने वाले की फिरती हुई दृष्टि से भूमि फिरती हुई उसको प्रतीत होती है वैसे ही मनुष्य को लौकिक दृष्टि भगवान् में लौकिक प्राकृतधर्म देखती है वास्तव में भगवान् में प्राकृत धर्म नहीं है।

※ जैसे जुदे जुदे स्थानों में स्थित पुरुष, वृक्ष की आड़ होने से सूर्य को परिच्छिन्न दृष्टि से देखते हैं वैसे लौकिक दृष्टि वाले पुरुष भगवान् को भी उसी प्रकार देखते हैं।

१- प्राकट्य से।

आभासार्थ—हम लोगों ने इतने समय तक उनको पुत्र समझा है अब कैसे माने कि वह हमारा पुत्र नहीं है और यों भी कैसे माने कि हम सब भ्रान्त थे ? इस शङ्का का उत्तर 'युवयोरेव' श्लोक में देते है—

श्लोक—युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥४२॥

श्लोकार्थ—ये भगवान् श्रीकृष्ण आप ही के पुत्र नहीं हैं, ये ईश्वर हैं; अतः सबके पिता, माता, पुत्र और आत्मा भी हैं ॥४२॥

सुबोधिनी—यद्भगवतो लीलया **भगवान्** पुत्रो जात इति तथैवाङ्गीक्रियत इति मतं तदा युवयोरेवैवंभूतो नान्येषामिति नास्ति किन्तु **सर्वेषामेवायमात्मजादिः**, सर्वात्मा ह्ययं तेषां पुत्रत्वाद्याकारेण यदि न भवेत् आधिदैविकप्रकारेण वा तदा संसारे प्राणिनामानन्दो न भवेदिति, 'कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति श्रुतेः' । यतोयं **हरिः** अकारणसर्वदुःखहर्ता, **भगवान्** समर्थः, यदि समर्थो भूत्वा न दुःखं दूरीकुर्यात् तदा अयुक्तं भवेदिति, अतो युक्तत्वादेव **सर्वेषामात्मजः**, **आत्मा** च सङ्घातरूपः, तथा **पिता** सङ्घातस्तु बीजम्, **माता** योनिः,**स** च जीवः, **ईश्वरो** नियन्ता अन्तर्यामी च, एतावद्रूपो भगवान् सर्वेषां भवतीति किमाश्चर्यं भवतां पुत्रत्वेन स्वात्मानं ख्यापितवानिति ॥४२॥

व्याख्यार्थ—जो भगवान् लीला से आपके पुत्र हुए हैं आपके इस कथन को मान लेते हैं तो भी ये आपके ही पुत्र हैं । दूसरों के नहीं हैं, यह बात नहीं है, कारण कि ये तो सर्व के आत्मज आदि हैं, क्योंकि ये सर्व की आत्मा हैं, अतः यदि उनके पुत्रत्व आकार से वहां प्रकट न होवे अथवा आदिदैविक प्रकार से प्रकट न होवे तो संसार में प्राणियों को आनन्द की प्राप्ति ही न होवे, आनन्ददाता तो आप ही हैं, जैसा कि श्रुति में भी कहा हैं 'को ह्येवान्यत्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' जिससे ये हरि होने से अकारण ही सर्व दुःख हर्ता हैं, भगवान् होने से समर्थ हैं । समर्थ होकर यदि दुःख दूर न करें तो अयोग्य कार्य होवे, अतः योग्यता प्रकट दिखाने के लिये ही सबों के पुत्र आत्मा, पिता, माता और जीव तथा ईश्वर अर्थात् अन्तर्यामी हैं । इतने रूप वाले जो भगवान् हैं, वे सबके हैं, इसमें क्या बड़ी बात है कि जिसने अपने को आपका पुत्र कहकर प्रसिद्ध किया ॥४२॥

आभास—ननु सर्वेषां तथात्वेऽपि न सर्वेषां तथा प्रतीतिः किन्त्वस्माकमेव इदं च भगवता लीलयैव तथैव कृतम्, अतः पुत्रोस्माकमेव न सर्वेषामिति चेत्तत्राह **दृष्टं श्रुतमिति** ।

आभासार्थ—यद्यपि भगवान् वैसे के वैसे हैं तो भी सर्व को वैसी प्रतीति नहीं है, जैसी हमको हुई है,यह प्रतीति भगवान् ने लीला से ही कराई है,अतः पुत्र हमारे ही हैं,न कि सबके, यदि यों नन्दजी कहें तो उसके उत्तर में 'दृष्टं श्रुतं' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्य-
स्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं
स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥४३॥

श्लोकार्थ—जो देखने और सुनने में आया है, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, स्थावर, जङ्गम, बड़ो, छोटी कोई भी वस्तु जो कहने में आती है, वह भगवान् बिना अन्य नहीं है, वे ही सर्व रूप और सब के परमार्थ रूप हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—भगवान् सर्वेषामेव सर्वरूपो भूत्वा तथात्वं बोधयति । तथा सति यदि कोपि न मन्यते तदा तेषामभाग्यम् । भवद्भिरपि भ्रमान्न मन्तव्यम्,किन्तु सर्वत्वेन पुत्रत्वमपि मन्तव्यमिति, न तु पुत्रत्वमेव । परिच्छिन्नदृष्ट्या तावदेव गृहीतमिति तत्रान्यथाबुद्धिर्न वक्तव्येति, **दृष्टं** प्रत्यक्षतः ऐहिकम्, श्रुतं श्रुत्यादिना पारलौकिकं च लौकिकमलौकिकं च भगवानेवेत्यर्थः । **भूतभवद्भविष्यदिति** त्रिविधकालपरिच्छेद्य उक्तः । अनेन कालपरिच्छिन्नमपि भगवानेवेत्युक्तम् । अनेन परिच्छेद्यापरिच्छेद्यविरुद्धसर्वधर्माश्रय इत्युक्तम् । परिछिन्नेप्यवान्तरभेदवानयमेवेत्याह । **स्थास्नुश्चरिष्णुरिति** । स्थावरं जङ्गमं च तत्रापि तृणमेरुभावो सिकताब्रह्माण्डभावौ वा मशकब्रह्मभावौ च भगवानेवेत्याह **महदल्पकं चेति** । एवं चतुर्द्धा भिन्नो भगवान् चतुर्मूर्तिः स्वयमेव यतः, अच्युतः, अन्यथा केनाप्यंशेन परिच्छेदे च्युतत्वं स्यात्,अतोऽच्युताद्विना अच्युतव्यतिरेकेण इतरद्वस्तु न, **न वाच्यम्**, किन्तु **स एव** समच्युतमिति । अच्युतविभक्तमपि न भवति अच्युताभिन्नमपि न भवति। नन्दस्य प्रथमाधिकारित्वात् आधिदैविकप्रकारेण विश्वासार्थं भगवतः सर्वत्वमाह **परमार्थभूत** इति। परमार्थो भगवान् भूतः आधिदैविकः, अपरमार्थः आध्यात्मिकः किन्त्वर्थो भवति, भौतिकस्त्वनर्थः अत एव ब्रह्मवादात् आधिदैविकवादः पूर्वमीमांसासिद्धः किञ्चिदपकृष्टः, ततोपि भेदवाद आध्यात्मिकरूपः । ततोऽपि मायावाद इति, बोधने उत्तरोत्तरमपकृष्टप्रकाराः,तत्राधिदैविको भौतिकः । मुक्तिश्च प्रमेयबलेनेति ॥४३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् सर्व में ही सर्व रूप होकर वैसा जनाते हैं। यों होने पर भी यदि कोई नहीं मानते हैं तो उनके अभाग्य हैं । आपको भी भ्रम से नहीं मानना चाहिये, किन्तु वे सर्व रूप है, यों मानकर, पुत्रत्व भी मानना चाहिये, न कि केवल पुत्रपन ही मान बैठो । आपने यदि परिच्छिन्न दृष्टि से इतना[1] ही ग्रहण किया है, तो भी उस में अन्यथा[2] बुद्धि नहीं करनी । प्रत्यक्ष में आपने लौकिक देख लिया, श्रुति आदि शास्त्र से उनका अलौकिक सुन लिया, अतः भगवान् ही लौकिक तथा

१– पुत्र रूप ही,
२– मनुष्य बुद्धि,

अलौकिक हैं। भूत + वर्तमान और भविष्यत् काल से आप परिच्छेद्य[३] भी हो सकते हैं, अतः काल से जो परिच्छिन्न होता है वह भी भगवान् ही है इससे यह बताया है कि भगवान् परिच्छेद्य तथा अपरिच्छेद्य होने से विरुद्ध धर्माश्रयी हैं। परिच्छिन्न में जो अवान्तर भेद हैं, वे भी भगवान् ही हैं। स्थावर और जंगम उसमें भी तिनके और मेरू के भाव, रेत और ब्रह्माण्ड के भाव तथा मच्छर और ब्रह्मा इत्यादि भी भगवान् ही हैं, बड़े और छोटे भी भगवान् ही हैं। इस प्रकार चार भेद से आप भगवान् चतुर्मूर्ति आप ही है, क्योंकि आप अच्युत न होवे तो किसी प्रकार भी परिच्छेद होने से च्युत हो जावे, अतः अच्युत के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है, किन्तु वही पूर्ण अच्युत हैं। इसलिये भगवान् विभक्त भी नहीं हैं और कोई वस्तु उनसे भिन्न भी नहीं है, नन्द प्रथमाधिकारी है, इसलिये आधिदैविक प्रकार से विश्वास उत्पन्न करने के लिये भगवान् सर्व रूप हैं। यों कहा जा सकता है कि वह परमार्थ रूप है। भगवान् आधिदैविक होने से परमार्थ हैं, आध्यात्मिक होने से अर्थ रूप हैं। भौतिक तो अर्थ रूप नहीं है; इस कारण से ही ब्रह्मवाद से आधिदैविकवाद जो पूर्व मिमांसा से सिद्ध है वह कुछ हीन है। उससे आध्यात्मिक रूप भेदवाद अधम है। उससे भी मायावाद बहुत अधम है, कारण कि मायावाद में मायाधीन कर्तृत्व होने से सब माया रूप हैं और पूर्व तथा उत्तर मीमांसाओं से यह सिद्धान्त विरुद्ध है, मुक्ति तो प्रमेय बल से होती है ॥४३॥

आभास—एवं नन्दोपदेशः समाप्तः रजनी च ततः समाप्तेत्याह **एवं निशेति**।

आभासार्थ—इस प्रकार वार्तालाप करते हुए नन्द का उपदेश तथा रात्रि दोनों की समाप्ति हो गई जिसका वर्णन 'एव निशा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन्।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ॥४४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि हे राजन्! नन्दरायजी और भगवान् के अनुचर उद्धवजी के वार्तालप करते हुए सारी रात बीत गई, गोपियाँ उठ कर, दीपक जगा कर और वस्तु का पूजन कर दही मथने लगीं ॥४४॥

+भगवान् जैसे अब, जिस जिस प्रकार से सर्व हो जाते हैं, वैसे पूर्व ही स्वतः सिद्ध थे, वे इन्द्रियादि के अधिष्ठादियों के नियामक होने से आधिदैविक हैं। इस आधिदैविक को मुख्य न कहने का तात्पर्य यह है कि वह अन्यों से उत्कृष्ट हैं, और आध्यात्मिक को अपरमार्थ कहने का भाव यह है कि पिघले हुए घृत के समान यह आध्यात्मिक रूप है, वह रूप भगवान् में हा 'उस रूप के' विद्यमान होने से आध्यात्मिक कहलाता है, भौतिक अनर्थ रूप इसलिये है कि वह आध्यात्मिक है, इस प्रकार मानने का कारण यह है कि ये उपरोक्त प्रकार के रूप होने से पूर्ण ब्रह्मरूपत्व नहीं है- (विशेष प्रकाश में देखिये-)

३- विभाग वाले, माप वाले।

सुबोधिनी—**सा निशा एवं ब्रुवतोरेव व्यतीता** यस्या मुखे समागत:, तत: परं भार्यया सह भगवद्गुणालापेनापि रात्रिर्गच्छतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं गणयति, **नन्दस्य कृष्णानुचरस्येति** नन्दो भगवद्भक्त: प्रसिद्ध एव । उद्धव: कदाचिदन्यदपि वदेदित्याशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थमाह **कृष्णानुचरस्येति** सेवको हि स्वामिकार्यमेव कर्तुमागत: स्वामिकथामेव करोति । **राजन्निति** तदभिज्ञत्वात्सम्बोधनम् । निशाप्रतियातेत्यत्र निदर्शनमाह **गोप्य: समुत्थायेति** सम्यगुत्थाय न तु रात्रावेव निमित्तवशादुत्थानम्, **निरूप्य दीपानिति** तासां सम्पत्तिरधिका निरूपिता । दीपानिति बहुवचनेन भगवतो मङ्गलारात्रिकमपि सूचितम् । **वास्तून् समभ्यर्च्येति** देहल्यादीनां सम्यगर्चनं कुलधर्मख्यापनार्थम्, भगवानत्रस्थित इति भक्त्या वा, **दधीनि** नानाविधानि प्रात:कृतानि मध्याह्नकृतानि सायंकृतानि च मथनं तूषस्येव । **लौकिको दोह**स्त्रिवारम्, वैदिको द्विवारं त्रिवारमित्येके । अनेन गोपिकानां सन्तोषार्थमयमागत: तासां सुखचरितेन तुष्यतीति नन्दातिथ्यवत् ताभि: कृतमातिथ्यं निरूपितम् ।।४४।।

व्याख्यार्थ—जिस रात्रि के प्रारम्भ में उद्धवजी आये थे वह रात्रि इस प्रकार वार्तालाप करते हुए समाप्त हो गई, स्त्री के साथ भी भगवद्गुणों की चर्चा करते हुए रात्रि व्यतीत हो जाती है, इस भ्रम के मिटाने के लिये कहते हैं कि नहिं, यह रात्रि तो नन्दजी जो भगवद्भक्त है और उद्धवजी श्रीकृष्णचन्द्र के सेवक हैं उन दोनों की भगवत्सम्बन्धी चर्चा होते हुए रात्रि समाप्त हो गई । नन्दजी भगवद्भक्त हैं, अत: उनको भगवान् के चरित्रों के सिवाय अन्य वार्ता सुनने में रुचि नहीं है तथा उद्धवजी श्रीकृष्ण के सेवक हैं । वे भी जिसके कार्य करने के लिये आये हैं, उसकी ही वार्ता करेंगे । जिससे कार्य सम्पूर्ण सिद्ध होवे, अत: भगवान् की ही कथा करते हैं । राजन् ! यह सम्बोधन देने का भावार्थ यह है कि परीक्षित को सावधान किया जाता है कि आप इस विषय को जानते हैं, रात्रि समाप्त हुई, इसमें प्रमाण क्या है ? जिसके प्रमाण में कहते हैं कि-गोपियां अच्छी प्रकार से जागृत होकर उठी हैं, यों नहीं है कि रात्रि में ही किसी कारण से उठी हैं उठकर दीपक जलाये, बहुत दीपक जलने से गोपियाँ अधिक सम्पत्ति वाली हैं । दीपों के बहुवचन देने से यह भी बताया, कि भगवान् की मङ्गल आर्ति भी गोपियों ने की है, गोपियों ने कुल धर्म के अनुसार देहली आदि का भी अच्छी प्रकार से पूजन आदि किया है, अथवा यह पूजन इसलिये भक्ति प्रेम से किया है कि भगवान् यहां स्थित हैं । प्रात: मध्यान्ह और सायंकाल की तैयारी हुई, दही का प्रात: काल में बिलोड़न किया जाता है, अत: प्रात:काल में दही मथने लगी । जिससे यह निश्चय से प्रमाणित हो गया कि रात्रि की समाप्ति होकर प्रात: काल हो गया है । गौओं का दोहन लौकिक में तीन वार होता है: वैदिक रीतिसे दो वार । कोई कहते हैं कि वैदक रीतिसेभी तीन वार होता है,इससे यह उद्धवजी गोपियोंको संतोष कराने के लिये आये हैं । उनके आनन्दमय चरित्र से वे (उद्धवजी) प्रसन्न हुए हैं । जैसे नन्दजी के आतिथ्य से प्रसन्न हुए थे, इस प्रकार गोपियों के किये हुए आतिथ्य का निरूपण किया ।।४४।।

आभास—यद्यपि स्वरूपस्थित्यैव सन्तुष्टो भवति तथापि तासामुत्कर्षमप्याह **ता दीपदीप्तै**रिति ।

आभासार्थ—यद्यपि गोपियों के स्वरूप की स्थिति से ही उद्धवजी प्रसन्न हो गये हैं; तो भी उनके उत्कर्ष का वर्णन 'ता दीपदीप्तै:' श्लोक से करते है—

श्लोक—**ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः ।**
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डलत्विष्यत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ॥४५॥

श्लोकार्थ—दीपों के प्रकाश से चमकती हुई मणियों से गोपियाँ सुशोभित हो रही थीं और अनेक कङ्कणों वाली भुजाओं से रज्जू को खींचती थीं, जिससे उनके नितम्ब, स्तन, हार और कुण्डल हिल रहे थे । उन हिल रहे हार तथा कुण्डलों की कान्ति से तथा कुँकुम से हुई लालास के कारण जिनके मुख विशेष शोभा दे रहे हैं, वैसी गोपीजन थीं ॥४५॥

सुबोधिनी—दीपैर्दीप्ता ये मणयः दीपप्रतिबिम्बग्राहिणस्तैर्विशेषेण **रेजुः** । स्वरूपापेक्षयापि अधिका कान्तिरिति भगवद्योग्यता निरूपिता भगवद्गुणगानयोग्यता वा । एवं स्वरूपं वर्णयित्वा क्रियाभिनिवेशेपि शोभातिशयमाह **रज्जूनां विकर्षयुक्तौ यौ भुजौ** तत्र **कङ्कणानां** स्रजो यासु । स्थूलकङ्कणपरिधानं भगवद्विरहात् क्षामत्वं वा बोध्यते । **चलनितम्बः स्तनौ** च तत्र **हाराः कुण्डले** च यासाम्, कुण्डलयोर्वा त्विट् कान्तिस्तद्युक्तौ कपोलौ **त्विष्यत्कपोलौ** सामान्यतस्त्विड्युक्तौ वा कपोलौ ताभ्यां कृत्वा **अरुणाः** कपोलयोर्वारुणाः अरुणकुङ्कुमयुक्तमुखा वा । सर्वाङ्गेषु सौष्ठवमाभरणान्युत्तमत्वं च निरूपितम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—दीपों के प्रकाश से चमकती हुई मणियों के प्रतिबिम्ब से गोपियां विशेष झलक रहीं थीं, जिससे उनकी स्वरूप से भी विशेष कान्ति हो रही थी, इससे यह दिखाया, कि उनमें भगवान् की सेवा करने की योग्यता है, अथवा गोविन्द के गुणगान की योग्यता है । इस प्रकार स्वरूप का वर्णन कर अब कार्य में लगी हुई हैं तो भी उनमें शोभा की अधिकता है, जिसका वर्णन करते हैं । जिन भुजाओं से दधि मन्थन करते हुए रज्जुओं को खींच रही हैं उन भुजाओं में कङ्कणों की मालाएँ पहनी हुई हैं । वे कङ्कण स्थूल देखने में आते हैं । उसका कारण कहते हैं कि भगवद्विरह से गोपियाँ दुर्बल हो गई हैं, जिससे कङ्कण स्थूल प्रतीत होते हैं । नितम्ब, स्तन, हार और कुण्डल सब हिल रहे थे, हिलते हुए कुण्डलों की चमक कपोलों पर पड़ रही थी, जिससे कपोल ललाई से सुशोभित हो रहे थे, अथवा कुंकुम लेप किये हुए मुख वाली गोपियों द्विगुणी शोभा पा रही थीं । इस प्रकार उनके सर्वाङ्गों में सुन्दरता तथा आभरणों की उत्तमता का वर्णन किया है ॥४५॥

आभास—एवं स्वरूपतो भगवद्योग्यत्वेनातिथ्यमुक्त्वा भगवद्गुणपरत्वेनापि तथात्वमाह **उद्गायतीनामिति** ।

आभासार्थ—इसी भांति स्वरूप से भगवान् के योग्य आतिथ्य को कहकर अब भगवद्गुणगान परायण होने से भी आतिथ्य की योग्यता 'उद्गायतीनां' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—भगवान् के गुणों का गान करती हुई व्रजाङ्गनाओं की ध्वनि स्वर्ग को छूने लगीं[1]। वह ध्वनि दही के मन्थन की ध्वनि से मिली हुई थी, जिससे दिशाओं के अमङ्गल नष्ट हो गए ॥४६॥

सुबोधिनी—धर्मबुध्यापि गानं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **अरविन्दलोचनमिति** स हि कमलनयनः कोटिकन्दर्पसुन्दरः । ननु कथं ब्रह्मत्वादिगुणा नोक्तास्तत्राह **व्रजाङ्गनानामिति** ता हि व्रजस्त्रियः सौन्दर्येणैव वशीकृताः किं ब्रह्मत्वादिना, प्रशस्तान्यङ्गानि यासामिति तावन्मात्रपरत्वे हेतुरप्युक्तः । अन्यथाङ्गप्राशस्त्यं व्यर्थं स्यात्, तासां लौकिकवैदिकनिरपेक्षत्वाय गाने विशेषमाह **उद्गायतीनां ध्वनिर्दिवमस्पृशदिति** । कार्यकारणसहितं गानं निरूपितम् । कारणाधिक्याल्लोकपरित्यागः, तथासति लोकविद्विष्टत्वात् अस्वर्ग्यत्वमाशङ्क्य तस्यैव स्वर्गसम्बन्धः कः सन्देहस्तत्फलस्येति । तेनैव चरितार्थत्वात् वैदिकनिरपेक्षता च । तासां भगवदीयत्वेनैव स्वर्गस्यानपेक्षितत्वात्, वाचनिककायिकयोरेव कर्मणोः स्वर्गसम्बन्धप्रतिपादनार्थं **दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रित** इत्युक्तम् । चकारात्कङ्कणानामपि रणत्कारेण मिश्रितः,भगवदीयानां गुणानां सम्बन्ध्यपि गोपिकानां गवां च सम्बन्ध्यपेक्षत इति भगवानिव भगवद्गुणा अपि तत्सापेक्षा इति तासां महत्त्वं सूचितम् । ननु सर्वधर्मपरित्यागे तासां पापं भवेदिति कथं तद्वर्णनेनातिथ्यं माहात्म्यं चेत्याशङ्क्याह **येन** ध्वनिना **दिशामेवामङ्गलं** निरस्यते किमुत तत्सम्बन्धिनाम् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'अरविन्दलोचनं' पद देकर यह भाव बताया है कि गोपियोंके धर्म से जो ज्ञान होता है, वह नहीं करती है, किन्तु धर्मी का गान करती हैं, कारण कि वे कमल नयन कोटि कन्दर्पों से भी सुन्दर हैं । इस गान में भगवान् के ब्रह्मत्व आदि गुण क्यों नहीं कहते है ? इस पर कहते हैं, कि ये गाने वाली व्रज की स्त्रियाँ हैं, इनको भगवान् ने अपने सौन्दर्य से ही वश किया है, इसलिये इनको ब्रह्मत्व आदि से क्या लेन देन है ? उस कोटि कन्दर्प लावण्य वाले के ही परायण में हेतु देते हैं कि उनके अङ्ग सर्व प्रकार प्रशस्त[2] हैं । यदि उनके परायण, ये न बनें तो इनके प्रशंसनीय अङ्गों की व्यर्थता हो जाए, इनको लौकिक अथवा वैदिक को कुछ अपेक्षा नहीं हैं, जिससे इनकी ध्वनि स्वर्गतक पहुंच गयी है, कारण कि यह गान, कार्य+ और कारण से युक्त है । कारण में अधिकता होने से लोक का परित्याग सिद्ध किया हैं, लोक के विद्वेष से गान अस्वर्ग्य होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि उस ध्वनि का स्वर्ग से सम्बन्ध हो गया है, तो फिर ध्वनि के फल स्वर्ग में

१- स्वर्ग तक पहुँच गई,

२- बखान के योग्य, प्रशंसनीय ।

+ प्रकाशकार कहते हैं कि-स्वर्ग का स्पर्श यह कार्य है और भगवान् में आसक्ति कारण है,

पहुँचे इसमें सन्देह कैसा ? उससे ही कृतार्थता हो गई है, इससे वैदिक की भी अपेक्षा नहीं, यह बता दिया । वे गोपियां भगवदीय हैं, अतः उनको स्वर्ग की कोई अपेक्षा नहीं है । वाचनिक और कायिक कर्मों का स्वर्ग से सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये, दधि के मन्थन वाले शब्द से उस शब्द का मिलाप कहा है । मूल में 'च' शब्द कहा है, जिसका आशय कहते हैं, कि कङ्कणों के रणत्कार शब्द से भी वह ध्वनि मिश्रित हुई है । भगवदीय गुणों के सम्बन्धी भी, गोपी और गायों के सम्बन्धी की चाहना करते हैं, इस प्रकार भगवान् को भाँति भगवान् के गुण भी उनकी अपेक्षा रखते हैं यों इनका महत्व बताया है । सर्व धर्म त्याग से तो इनको पाप लगेगा, तो फिर उनके वर्णन से आतिथ्य तथा माहात्म्य कैसे कहा जाता है ? जिसकी ध्वनि* दिशाओं का अमङ्गल मिटाती है, वह उनके सम्बन्धियों का अमङ्गल नष्ट कर देवे, इसमें कहना ही क्या है ॥४६॥

आभास—एवं तासां जिज्ञासापर्यन्तं निलोयेव स्थित इति वक्तुं जिज्ञासाप्रकारमाह **भगवत्युदित** इति ।

आभासार्थ - इस प्रकार उनकी जब तक जानने की इच्छा थी तब तक उद्धवजी छिपे रहे[1] थे, यह बताने के लिये 'भगवत्युदिते' श्लोक में जिज्ञासा के प्रकार कहते हैं—

श्लोक—**भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः ।**
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥४७॥

श्लोकार्थ—भगवान् सूर्य के उदय होते ही व्रज के द्वार पर सोने से मंढा रथ देख व्रज भक्त आपस में पूछने लगे कि यह रथ किसका है ? ॥४७॥

---

* लेखकार कहते हैं कि-भगवान् को गाने वाली व्रजाङ्गनों के गान की कारण भूत ध्वनि भी आत्मसुख देने वाली है तथा गान करने से ध्वनि का स्वर्ग को स्पर्श हुआ, यों न कह कर गाने वालियों की ध्वनि का स्पर्श हुआ । यों कहने का तात्पर्य यह है कि उनके स्वभाव से ही ध्वनि ने स्वर्ग का स्पर्श किया है, यह गान स्पर्श की कामना से नहीं किया है अतः जाना जाता है व्रजाङ्गनाओं को वैदिक फल की भी इच्छा नहीं थी । लौकिक की निरपेक्षता पहले कही वैदिक की अब कही यह आशय 'च' शब्द देने का है, गान वाचनिक है मथन कायिक है इन दोनों कर्मों का सम्बन्ध आत्म सुख से है, मानसी सेवा तो भगवदानन्द उत्पन्न करने वाली है ।

भगवदीय गुणों का सम्बन्धी जो गान है वह कर्ता है, गोपियों सम्बन्धी ध्वनि रूप वस्तु, कर्म है और गौओं का सम्बन्धी दधी मन्थन, कर्म है, इस प्रकार भगवद्गुण, स्वामिनियों की ध्वनि तथा दधि मन्थन का अपेक्षा वाले हैं,अतः दधि मन्थन के समय (भगवद्गुण) ध्वनि से गाये जाते हैं ॥४६॥

१- गोपियों की दशा जानने के लिये

सुबोधिनी—वाच्यार्थानुपयुक्ता कथा नोच्यत इति उद्धवस्य प्रातःकृत्यं नोक्तम्। तद्दिनसूर्यः भगवत्स्मारक इति गोपिकानामुद्धवस्य च परम-पुरुषार्थदायीति सूर्यस्य भगवत्त्वमुक्तम्। नन्दस्य राजगृहवद्भिन्न एव व्रज इति तद् द्वार्येव रथः स्थापित इति। मुख्यतया स्त्रियः किम्बहुना सर्व एव वृत्तान्तानभिज्ञाः। नन्दादीनां तत्सम्बन्धिनां चायं **रथो** न भवतीति **शातकौम्भत्वात्** सर्वतः सुवर्णेनालङ्कृतत्वात् निश्चित्य **कस्यायं** रथ इत्य-**ब्रुवन्**, चकाराद्विचारितवन्तः पृष्टवन्तश्च ।।४७।।

व्याख्यार्थ—जो बात कहने की है उसमें जिसका उपयोग न हो, वैसी कथा कहनी चाहिये। जिससे उद्धवजी के प्रातः काल के कृत्य का वर्णन नहीं किया है। सूर्य को भगवान् विशेषण इसलिए दिया है, कि उस दिन का सूर्य भगवान् का स्मरण कराने वाला हुआ। जिससे गोपियाँ तथा उद्धवजी को परम पुरुषार्थ देने वाला हुआ। नन्द का व्रज राजगृह के समान पृथक् ही है, अतः उसके द्वार पर ही रथ स्थापन किया। वहां ही रथ खड़ा देखा, रथ को मुख्यतया स्त्रियों ने देखा, विशेष क्या कहें सर्व ही इस हाल से अनजान थे। वे सर्व परस्पर विचारते हुए कहने लगे कि यह रथ नन्द आदि अथवा उनके सम्बन्धिओं का तो नहीं है? कारण कि सुवर्ण से चारों तरफ अलङ्कृत है, यह निश्चय कर पूछने लगे कि यह रथ किसका है? 'च' शब्द का भाव है कि पूछने लगे तथा विचार करने लगे ।।४७।।

आभास—ततः कस्यचित्पुरवासिनो राजकीयस्य सम्बन्धी रथ इति निश्चित्य, पूर्वमागतत्वात् अक्रूर एव लब्धस्वादुः पुनरागतः इति सम्भावनां कृतवन्तः, तदाह **अक्रूर आगतः किं वेति**।

आभासार्थ—विचार करने और पूछताछ करने के पश्चात् इस सिद्धान्त पर आये, कि यह रथ किसी नगर में रहने वाले राजकीय सम्बन्धी का होना चाहिये, कदाचित् जो पहले यहां का स्वाद ले गया है, वह अक्रूर ही पुनः आया होगा, यों सम्भावना[1] करने लगे, जिसका वर्णन 'अक्रूर' इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनं ।।४८।।

श्लोकार्थ—क्या अक्रूर तो नहीं आ गया है? जो कंस के कार्य को साधने वाला है, जो कमल नयन श्रीकृष्ण को मधुपुरी ले गया है ।।४८।।

१- अनुमान

सुबोधिनी--प्रायेणाक्रूरेणैवेयं भूर्दृष्टेति । अक्रूर एवागतः, तथापि प्रयोजनाभावात्तस्यागमनं न सम्भवतीति बाधकज्ञानात् सम्भावना । ननु सर्वेषु विद्यमानेषु सुतरां वसुदेवादिषु किमित्यक्रूर एव सम्भाव्यत इत्यत आहुः-**यः पूर्वं कंसस्य अर्थं** पुरुषार्थं साधितवान् । वितरीतोक्त्या वदन्ति वस्तुतस्तु परमपुरुषार्थं मोक्षं साधितवानेव । ननु भवतां तस्मिन् कोयं दोष इत्याशङ्कयाहुः **येन नीतो मधुपुरीमिति** । **कृष्णः** फलात्मा । **कमललोचनः** फलसाधनमैहिकफलरूपो वा ।।४८।।

व्याख्यार्थ—यह भूभाग, अक्रूर ने ही देखा है, इस लिये बहुतकर वह ही आया है । उसके आने का अब तो कोई प्रयोजन नहीं है, इस विचार के आने से कहते हैं कि यह कल्पना वा अनुमान है । मथुरा से यहां आने के योग्य वसुदेव आदि के मौजूद होते हुए अक्रूर की कल्पना क्यों करते हो ? इस पर कहते हैं, कि हमारा अनुमान इसलिये है कि जो प्रथम कस का कार्य सिद्ध कर गया था, यह कहना तो उसकी विपरीतता दिखाने के लिये है, किन्तु वास्तव में तो अक्रूर ने यहां से कृष्ण को ले जाकर, कंस का परम पुरुषार्थ-मोक्ष-सिद्ध किया है इससे आपको उसमें कौनसा दोष नजर आया ? उस दोष को स्पष्ट कर कहते हैं कि जो श्रीकृष्ण फलरूप हैं और कमल लोचन होने से फल का साधन ऐहिक फलरूप अर्थात् अब भी हमको आनन्द देने वाले हैं, वैसे श्रीकृष्ण को लेजाकर हमको आनन्द से वञ्चित किया है ।।४८।।

आभास—तर्हि तादृशस्य कृतकार्यस्य द्विष्टस्य च कथं पुनरागमनमिति चेत्तत्राह **किं साधयिष्यत इति ।**

आभासार्थ—जो द्वेषी अपना कार्य पूरा कर गया, वह फिर क्यों आवेगा ? इसके उत्तर में 'किं साधयिष्यत्यस्माभिः' यह श्लोक कहती हैं ।

श्लोक—**किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम् ।**
इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निकः ।।४९।।

श्लोकार्थ—क्या अपने मरे हुए स्वामी का छुटकारा हमारे माँस से करना चाहता है, जिसके लिए हमको लेने आया है ? यों स्त्रियों के कहते हुए उद्धवजी अपना नित्य कर्म कर आ गए ।।४९।।

सुबोधिनी—प्रायेणास्मान् गोपिकाः विशेषाकारेण नेतुमागतः, नीत्वा च **प्रेतस्य** कंसस्य **निष्कृतिं** करिष्यति, स हि स्वार्थं नीत्वा स्वपुरुषार्थमप्यसाध्य अस्मत्पुरुषार्थमपि नाशयित्वा जनैराकुष्टः तदपराधपरिहारार्थं कृष्णमत्र प्रेषयितुं असमर्थः, अस्मानेव तत्र नेष्यति तावता निष्कृतिर्भवति जनापवादः परिहृत इति । अन्ये तु मृतस्य कंसस्य दैत्यत्वाद्रुधिरमांसप्रियस्य मांसं दातुं सुतरां नरमांसमस्मान्नयति, तथा च सति यथा पूर्वमनोरथो विपरीतो जातः एवमयमपि भविष्यति ततो भगवानेनमेव बलिं दास्यति भ्रान्तोयं समागत इति उपहास मुक्तवन्त इत्याहुः तदेवाह **किं साधयिष्यति** न किञ्चिदिति । इदं विशेषाकारेण वचनं स्त्रीणामेवेति;वदन् पूर्वभाव-

मुपसंहरति इतिब्रीणामिति, वदन्तीनां सतीनां क्षणं विलम्बे शापमपि दद्युः। भयादागत इति पक्षं व्यावर्तयेति कृताह्निक इति। प्रातःकाल एव सर्वमाह्निकं कृतावानग्रे महती व्यावृत्तिरिति। उद्धवत्वादेव न भयम्, द्वितीयो भगवत्सन्देशः गोपीनां मद्वियोगाधिमिति सोग्रे प्रारम्भणीय इति पूर्वसमाप्तिः ॥४९॥

व्याख्यार्थ—कदाचित् बहुत कर, हम गोपियों को लेने आया है, हमको वहां लेजाकर मरे हुए कंस का छुटकारा करेगा। वह अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये कृष्ण को ले गया, किन्तु उससे न अपना पुरुषार्थ सिद्ध किया, और हमारा पुरुषार्थ भी नाश कर दिया जिससे मनुष्यों ने इसकी निन्दा की है, उसको मिटाने के लिये श्रीकृष्ण को यहां लाने में असमर्थ होने से, हमको ही वहां ले जावेगा, जिससे वह निन्दा मिटाएगा और स्वामी की गति भी करेगा। दूसरी कहने लगी, कि कंस दैत्य था इससे उसको रुधिर तथा मांस प्रिय था, अतः उसको मनुष्य मांस देना हैं, वह हमसे लेता है. जो इस मनोरथ से आया है, तो जैसे प्रथम मनोरथ निष्फल हुआ वैसे यह भी होगा। भगवान् इसकी ही बलि चढाएंगे, यह भ्रान्त होकर आया है, इस प्रकार हास्य से कहने लगी कि यहां आकर क्या सिद्ध करेगा ? कुछ नहीं। यह विशेष रूप से कहना स्त्रियों का ही है, इस प्रकार कह कर पूर्व भाव को समाप्त करता हैं। यों स्त्रियों के कहते हुए ही उद्धवजी आगये। यदि क्षण भी विलम्ब करते तो गोपियां शाप दे देती। गोपियों के शाप के भय से आ गये, इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते है कि भय से शीघ्र नहीं आये हैं, किन्तु अपना सारा दिन का कृत्य कर्म सम्पूर्ण कर आये हैं। प्रातःकाल ही सर्व आह्निक कर लिया कारण कि आगे बहुत कार्य करने हैं, जिससे आह्निक के लिये समय न मिलेगा ! आप स्वयं 'उद्धव' उत्सव रूप हैं, इसलिये उनको कोई भय नहीं, एक संदेश नंदरायजी को दे दिया, अब दूसरा संदेश गोपियों को 'मद्वियोगाधि' इस श्लोक से ४४ अध्याय में देंगे, इसलिये पूर्व की समाप्ति की है ॥४९॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे त्रिचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४३॥

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४३वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण का वीर्य निरूपक चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

कहाँ तें आए हौ द्विजराज !
सांचु कहो तुम कहाँ जाहुगे कहाँ बसोगे आज ॥
हम तौ थकित अस्त-उदयाकर रहे तलप इह्यँ साज।
इह बट बसत जु कारी भोगी कहत तिहारे काज ॥
गोकुल जाउ संकेत सबनि सों जाइ कहौ हरि ! लाज।
'परमानन्द' बछ डरत हमारे तुष्णि विप्र ! लेहु नाज ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४७वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ४४वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

"पञ्चमो अध्याय"

उद्धवजी और गोपियों की बातचीत (भ्रमर गीत)

कारिका—**चतुश्चत्वारिंशेऽध्याये गोपीनां ज्ञानदेशतः ।**
निरोधं सम्यगेवाह पूर्वस्माच्च विशेषतः ॥१॥

कारिकार्थ—४४वें अध्याय में भगवान् ने ज्ञान के संदेश द्वारा गोपियों का पूर्व से भी विशेष निरोध सिद्ध किया है ॥१॥

कारिका—**याते कृष्णे लोकरीत्या नैकट्याभावतः स्फुटम् ।**
न निरुद्धा इति प्रायः सर्वेषां च भवेन्मतिः ॥२॥

कारिकार्थ—भगवान् लोक रीति से मथुरा पधार गए, अतः अब गोकुल (व्रज)

में न होने से उनके (गोपियों के) निकट नहीं हैं। इसलिए अधिकतर सबकी राय वैसी हो गई है कि गोपियों का निरोध नहीं हुआ है ॥२॥

कारिका—**सेवकेनोपदेशेन प्रीत्या चैव निरोधतः ।**
ज्ञानेनापि निरुद्धास्ता आत्मत्वेनैव सर्वथा ॥३॥

कारिकार्थ—इस प्रकार के (गोपियों का निरोध नहीं हुआ है) भ्रम का निवारण करते हैं कि भगवान् ने इनके निरोध को सेवक द्वारा उपदेश देकर प्रीति से, निरोध से, ज्ञान से तथा अपनी आत्मीयता से पुनः विशेष दृढ़ किया है ॥३॥

कारिका—**वस्तुनो निश्चयः पूर्वमुपालम्भस्तथैव च ।**
व्याजोक्त्या दोषगणना निर्दोषो वर्ण्यते पुरा ॥४॥

कारिकार्थ—गोपियों ने प्रथम यह निश्चय कर लिया कि यह भगवान् का दूत है, अतः इसको उपालम्भ[1] भी जरूर देना चाहिए। अतः भ्रमर के बहाने से दोष कह बताए। पश्चात् दोषों का निवारण किया है ॥४॥

कारिका—**अन्यथा ज्ञानसन्देशो व्यर्थः स्यादिति निश्चयः ।**
बीजं भक्तिस्ततः स्तोत्रं उपदेशस्तथैव च ॥५॥

कारिकार्थ—यदि निर्दोष न कहें तो ज्ञान का सन्देश जो भगवान् ने भेजा है, वह निष्फल हो जाएगा। यह निश्चय जान ही निर्दोषता का वर्णन किया है। यों करने का बीज[2] गोपियों का भगवान् में प्रेम है, इसी कारण से स्तुति की है, पुनः उपदेश हुआ है ॥५॥

कारिका—**ततो दोषनिवृत्त्या च पूर्वस्नेहो निरूप्यते ।**
ज्ञानस्य च फल चैव कृतार्थत्वं ततस्तथा ॥६॥

कारिकार्थ—पीछे दोष निवृत्ति कही है। दोष निवृत्ति के बाद पूर्व स्नेह का वर्णन किया है, जिसके अनन्तर ज्ञान का फल कह कर उद्धवजी ने अपनी कृतार्थता का वर्णन किया है ॥६॥

———

१- उलाहना, २- मूल कारण।

कारिका—सप्तधा विनिरुद्धास्ता गुणैर्भगवतापि च ॥

कारिकार्थ—इस प्रकार छः गुणों से तथा भगवान् से वे सात प्रकार से विशेष निरुद्ध हुईं ॥६३॥

आभास—तत्र प्रथममुपालम्भ्यत्वेन उद्धव इति निर्द्धारं कृतवत्य इत्याह तं वीक्ष्येति त्रिभिः ।

आभासार्थ—गोपियों ने यह निश्चय किया कि प्रथम उद्धवजी उलाहने के योग्य हैं, उनको उलाहना देने का निश्चय किया। 'तं वीक्ष्य' श्लोक से तीन श्लोकों में श्री शुकदेवजी उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-तं **वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः**
प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् ।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं
लसन्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि श्रीकृष्ण के अनुचर जिनकी लंबी भुजाएँ हैं, नवीन कमल सदृश नेत्र हैं, शोभायमान मुखारविंद है, पीताम्बर पहिने हुए हैं, कमलों की माला धारण किए हुए हैं; वैसे उनको देख गोपियाँ कहने लगीं ॥१॥

कारिका—**आकृतिर्निश्चयश्चैव चेष्टया तु विशेषतः ।**
स्वार्थमेव ततो ज्ञात्वा मानाद्दोषद्वयं ततः ॥१॥

कारिकार्थ—उनकी आकृति से तथा विशेष रूप से, चेष्टा से निश्चय किया कि यह भगवान् का सेवक है। अपने कार्य के लिए ही भगवान् ने भेजा है। यों समझने से मान हुआ, जिससे उनमें दो दोष आए ॥१॥

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं मानार्थं भगवत्सारूप्यमुद्धवे गोपिकाभिर्दृष्टं वर्णयति **तमुद्धवम्**। आकृत्या कृष्णानुचरोयमिति **वीक्ष्य**, अथवा, नहि महतां चेतोऽधर्मे पततीतिवत् तस्य दर्शने शङ्कां वारयितुं कृष्णानुचरमित्युक्तम्। वस्तुत एव भगवत अनुचरः। तथापि महान्तं भूषितं दृष्ट्वा लज्जिता भवन्ति स्त्रियः। कथमयं दृष्ट इत्याशङ्क्याह **व्रजस्त्रिय** इति। (नागरीणामयं स्वभावो नान्यासाम्, वस्तुतस्तु तस्मान्मच्छरणमितिवाक्यात्केवलभगवदीयो व्रजस्तत्स्त्रीत्वेनैतास्तादृश्यः। अयं निर्दोषानन्दरूपस्य तस्यैवानुचरस्तेन मिथो दर्शनमावश्यकं निर्दोषतमं चेति भावः)। भगव-

त्सारूप्यत्वाय वर्णयति । **प्रलम्बबाहुमित्यादि-षड्भिः पदैः** भगवत्त्वाय । **स्त्रीणां** हि कामप्राधान्यात्तदुपयोगिषड्गुणा वक्तव्याः । **प्रकर्षेण** लम्बौ बाहू यस्य । स्मारकत्वेनास्यावयवा उपयुज्यन्ते, क्रियाशक्तिः परिरम्भोपयोगश्च सूचितः । **नवकमलवल्लोचने** यस्येति, सर्वतापहारिका ज्ञानशक्तिः कामोद्बोधिका च निरूपिता । एवं क्रियाज्ञानशक्ती निरूप्य मायाशक्ति निरूपयति । **अनावृतो रसो न भवतीति** । पीतमम्बरं यस्य, स वर्णो नीले अधिकां शोभामुत्पादयतीति सर्वत्रैव तद्वर्णनम् । **पुष्करमालिनं** कमलमालायुक्तम् । कीर्तिमत्त्वमुक्तम् । **लसन्मुखारविन्दं** यस्य । श्रीर्निरूपिता । **मणिभिर्मृष्टे** उज्ज्वले **कुण्डले** यस्येति, वैराग्यमिव शास्त्रीयकान्तिः सर्वाभरणीकृता निरूपिता ।।१।।

व्याख्यार्थ—वहां **प्रथम** गोपियों ने उद्धवजी की आकृति आदि भगवान् के समान देखी, जिससे उनको मान हुआ । अब उद्धवजी के स्वरूप का वर्णन करतीं हैं । आकृति से जाना जाता है, कि यह कृष्ण का अनुचर है । यों समझ अच्छी तरह देखने लगी । स्त्रियां होकर पुरुष को अच्छी तरह अर्थात् ध्यान देकर क्यों देखने लगीं ? इस शङ्का को मिटाते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि महान् आत्माओं का चित्त कभी भी अधर्म का कार्य नहीं करता है, इसलिए 'उद्धवं' वा पुरुष' न कहकर 'कृष्णानुचरं' कृष्ण का अनुचर कहा है । सचमुच ही कृष्ण का अनुचर है, तो भी बड़े को भूषित देखकर स्त्रियों को लज्जा होती ही है, तो भी व्रज की स्त्रियां है इसलिए भगवान् का अनुचर जान देखने लगी । भगवान् के अनुचर की भगवत्समानता छः विशेषणों से वर्णन करती हैं । जिससे यह दिखाती हैं कि इनमें भगवत्त्व है । स्त्रियां काम प्रधान होती हैं, इसलिए उनके उपयोगी छः गुण कहने चाहिए—

१ लम्बी बाहुवाले हैं, इनके अवयव भगवान् की स्मृति कराने वाले हैं । लम्बी बाहु कहने से क्रिया शक्ति तथा आलिङ्गन करने के योग्य हैं, यह सूचित किया ।

२ नव कमल जैसे नेत्र वाले हैं, जिससे यह बताया कि इनमें ताप नाश करने वाली ज्ञान शक्ति तथा कामको जगाने वाली शक्ति हैं ।

इस प्रकार क्रिया और ज्ञान शक्ति कहकर अब माया शक्ति को कहतीं हैं

३ इनने पीताम्बर धारण किया है । कारण, रस खुला नहीं रहता है । पीतवर्णश्याम पर विशेष शोभा देता है । इससे यह बताया कि भगवान् का वा उनके अनुचर का भी श्याम वर्ण है । इसलिए सर्वत्र उसका वर्णन है ।

४ चतुर्थ विशेषण 'कमलों की माला धारण किए हैं, जिससे कीर्त्तिमत्त्व बताते हैं ।

५ पांचवाँ विशेषण 'जिनका मुख चमक रहा है' जिससे 'श्री' का निरूपण किया ।

६ छठा विशेषण 'मणियों से उज्ज्वल कुण्डल धारण किए हैं' ? जिनसे वैराग्य का निरूपण किया है । अर्थात् इन कुण्डलों से यह बताया है, कि वैराग्य की भांति सर्वा भरणों से शास्त्रीय कान्ति का प्रकाश हो रहा है ।।१।।

आभास—एवं स्वरूपं वर्णयित्वा भगवत्सेवकोयमिति ज्ञातवत्य इत्याह **शुचिस्मित** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार स्वरूप का वर्णन कर यह भगवान् का सेवक है, यह जान लिया। जिससे उसका वर्णन 'शुचिस्मितः' श्लोक में करती हैं।

श्लोक—**शुचिस्मितः कोऽयमपीच्यदर्शनः**
कुतश्च कस्याच्युतवेशभूषणः।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुका-
स्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥२॥

श्लोकार्थ—यह सुन्दर रूपवान् पुरुष भगवान् सदृश बाना बनाए और वैसे अलङ्कार धारण किए कहाँ से आया और कौन है? ऐसे विचार कर उसे भगवान् के चरण कमलों का आश्रित जान उत्सुक हो उसको चारों तरफ से गोपियों ने घेर लिया ॥२॥

सुबोधिनी—शुद्धं व्याजलोभाद्यनुपहतं स्मितं यस्य। नैतादृशो गोकुले दृष्टो अक्रूरो वा, अतः **कोयमिति** जिज्ञासा, स्वमध्य एव कश्चिदुत्प्रेक्षकश्चेन् महान् भवेत् वदत्विति कथयन्त्य इवाहुः। **किञ्च**। विरुद्धोस्मिन् धर्मो दृश्यते, स्वरूपतोऽयं निष्कामः। एतस्य च **दर्शनमपीच्यं** स्त्रीणां प्रियम्, अतो विरुद्धधर्माश्रयत्वाद् भगवदीयो भवितुमर्हति। **किञ्च**। न केवलमाकृतिस्वभावावेव भगवतः किन्तु वेशः पीताम्बरादिः भूषणानि च भगवत एव न तु भगवत इव। **कुतश्चे**ति उपमायां तु नाश्चर्यं, स्वाभरणानि परिधाप्य किं भगवान् प्रेषितवान्, आहोस्वित् तद्रसाभिनयार्थं नटवत् समागतः, आहोस्विद्भगवानेव रूपान्तरं कृत्वा समागत इति। बहूनां हेतूनां विद्यमानत्वात् **कुत** इति विशेषजिज्ञासा युक्ता। **किञ्च**। **कस्यायं** पुत्रः पौत्रो वा, सम्बन्धज्ञाने हि सविशेषा प्रीतिर्भवतीति जिज्ञासार्थमेव, **स्मे**ति प्रसिद्धे, सर्वा एव **परिवव्रुः**। ननु तासां किं प्रजोजनं तत्राह **उत्सुका इति**। औत्सुक्यस्वभावादेव कृष्णस्मारक इति कृष्णौत्सुक्याच्च तं परितो वेष्टयामासुः। ननु भगवति स्त्रियस्ता रक्षिताः, रक्षकाश्च कालादयः, ततो रक्षकेषु विद्यमानेषु कथं गता इत्याशङ्क्याह। **उत्तमश्लोकस्य पदाम्बुजमे**वाश्रित्य तिष्ठतीति। भगवच्चरणसेवकः भक्तिमार्गानुसारी तत्रापि शास्त्रीय इत्यर्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ—छल तथा लोभ से रहित शुद्ध मंद हास्य वाले यह कौन हैं? वैसा गोकुल में तो कोई भी नहीं देखा। अथवा अक्रूर है, इस विचार से यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि यह कौन है? अपने में से ही कोई अच्छी तरह देखकर पहचान सके तो वह महान् आत्मा समझी जाएगी। वह सुना देवे, मानो यों कहती हुई ही गोपियाँ कहने लगी, कि इसमें जो धर्म दीख रहे हैं वे परस्पर विरुद्ध हैं, कैसे? एक तरफ यह निष्काम दीख रहा है और दूसरी तरफ इसका दर्शन सुन्दर है, जो

दर्शन स्त्रियों को प्रिय है। अतः विरुद्ध धर्माश्रयी होने से यह भगवदीय समझा जाता है। इसका केवल स्वभाव तथा आकृति ही भगवान् की नहीं है, किन्तु वेश और आभूषण आदि भगवान् के ही हैं, न कि भगवान् के समान हैं। यह कहां से आया ? इसकी जैसी उपमा दी है, उसमें तो आश्चर्य नहीं है। क्या भगवान् ने आभूषण पहना कर इसको भेजा है ? अथवा उस भगवद् रस का अभिनय करने के लिए नट की तरह नट बन कर तो नहीं आया है ? अथवा यों तो नहीं है कि भगवान् स्वयं रूप बदल कर पधारे हैं ? बहुत कारण होने से 'कुतः' यह प्रश्नवाचक अव्यय दिया है। जिससे विशेष जिज्ञासा बताई 'स्म' यह अव्यय प्रसिद्ध अर्थ में कहा है। सबने उनको घेर लिया और सब ने घेरा जिसका क्या प्रयोजन था ? गोपियों का स्वभाव ही भगवान् में उत्सुकता वाला है। यह कृष्ण का स्मरण कराने वाला है, अतः उसको घेरलिया है। ये भगवान् की स्त्रियाँ हैं, इसलिए इनको कालादि रक्षा कर रहे हैं तब उनके विद्यमान होते हुए उसके पास कैसे गईं ? इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि यह भगवान् के चरणों का आश्रित है, जिससे भक्ति मार्ग का अनुयायी है, उसमें भी शास्त्रानुसारी भक्ति मार्ग (स्नेह-प्रेम) करने वाला है ॥२॥

आभास—एवं निष्प्रत्यूहं सन्दिग्धा एव तं वेष्टितवत्यः। ततो विशेषज्ञानं जातमित्याह तं **प्रश्रयेणे**ति।

आभासार्थ—इस प्रकार जब संदिग्ध गोपीजनों ने ही उसको घेर लिया तब उसको विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ जिसका वर्णन 'तं प्रश्रयेणावनताः' श्लोक में किया है।

श्लोक—**तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं**
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः ॥३॥

श्लोकार्थ—विनय से नम्र गोपीजनों ने लज्जा सहित हास्य देखना तथा मधुर वचन आदि से अच्छी तरह से सत्कार कर, एकान्त में आसन पर बिठा कर; उन्हें लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण का सन्देशा लाने वाला जानकर पूछा ॥३॥

सुबोधिनी तमुद्धवं महान्तं दृष्ट्वा **प्रश्रयेणावनता** नम्रा जाताः, ततः सुष्ठु आसनादिना सत्कारमपि कृतवत्यः। पूर्वमेव वा वस्त्राभरणादिभिः **सुसत्कृतः**, ततो भर्तृसम्बन्धिसेवकोयमिति ज्ञात्वा **व्रीडा** काम एवोद्देश्य इति ज्ञापयितुम्, **हासः** सत्कारे, अन्या दृष्टिः क्रूरा रूक्षा वा भवतीति हास्यपूर्वकं निरूपितम्। **सूनृतानि** उत्तमवचनानि कुशलप्रश्नरूपाणि। **आदि**शब्देन आसनपुष्पाद्युपचाराः, तत एकान्ते यत्र नन्दादीनां न दृष्टिः, रसार्थमेतत्। व्रीडादिभिः सहिता वा, **आसने उपविष्टम**व्याकुलम्, तत्सत्कृतिग्रहणेन ज्ञातवत्यः अयमस्मदर्थमेव समागतः। अन्यथा नास्माकमुपचारं गृह्णीयात् नापि सह तिष्ठेत्, निष्कामश्चायम्, अतः भगवत एवायं सन्देशहा-

रकः, तद्दर्थाकारणार्थं समागत इति रमापतिवचनम्, साम्प्रतं रमया सह तिष्ठतीत्यस्मदुपेक्षा इति वयमप्रयोजिका इति केवलं मनोनुरञ्जनार्थं प्रेषितवानिति तासां मानमुत्पादयति, अनेनैको दोषो निरूपितः ।।३।।

व्याख्यार्थ—उद्धवजी को महान् पुरुष देख गोपियां विशेष नम्रता वाली हुईं, जिससे सुन्दर आसन आदि देकर उनका सत्कार किया । अथवा पहले ही वस्त्र आभरण आदि से अच्छी तरह सत्कार किया था । पश्चात् स्वामी का सेवक जानकर उनको लज्जा हुई । कारण कि गोपियों का उद्देश्य तो काम ही है, जिससे लज्जा को और मुस्कराहट से भी सत्कार किया । यदि हास न करती तो वह दृष्टि क्रूर और रूक्ष होती, जिससे सत्कार का अभाव दीखता, सत्कार के लिए कुशल प्रश्न करने लगी । आदि शब्द से, आसन पुष्प आदि से सेवा भी की । सत्कार पाकर आसन पर शान्त हो उद्धवजी बैठ गए तब समझा कि ये हमारे लिए आए हैं. हमारे लिये न आए होते तो हमारी की हुई पूजा ग्रहण न करते तथा साथ में मिलकर न बैंठते, ये निष्काम हैं अतः भगवान् के संदेश लाने वाले हैं । हमको लेजाने के लिए सदेश लाए हैं क्या ? नहीं नहीं ! ये तो केवल हमारे मन को प्रसन्न करने के लिए आए हैं । यह हमने इससे समझा कि शुकदेवजी ने 'रमापति' कहा है, जिससे वे अब रमा के साथ रहते हैं । अतः हमारी उपेक्षा की है, क्योंकि हमारी अब आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार के विचार से गोपियों को 'मान' उत्पन्न हुआ, जिससे एक दोष कहा है, पश्चात् जहां नन्द आदि नहीं थे, वहां एकान्त में उनको लेजाकर, अथवा लज्जा युक्त हो कहने लगीं. क्योंकि रस की वार्ता एकान्त में होती है । ३ ।

आभास—तेन द्वितोयोत्पत्तिमाह **जानीम** इति सप्तभिः ।

आभासार्थ—उससे दूसरे दोष की उत्पत्ति 'जानीम' इस श्लोक से सात श्लोकों में कही है ।

श्लोक—**जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम् ।**
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान्प्रियचिकीर्षया ।।४।।

श्लोकार्थ—हम जानती हैं कि आप यदुपति के पार्षद हैं, यहाँ स्वामी ने माता-पिता को प्रसन्न रखने के लिए आपको भेजा है, अतः आप यहाँ आए हैं ।।४।।

सुबोधिनी—स गोपिकार्थमागतोहमिति मन्यत इति बुद्ध्वा तदन्यथाकर्तुमन्यार्थागमनं निरूपयन्ति । अन्यथोपकारस्वीकारे उपालम्भो न घटेतेति, बीजमेतत् । तस्य च समर्थनमन्यनिषेधपूर्वकम्, स्वसम्बन्धस्य पूर्वसिद्धस्य औपाधिकत्वेन स्वार्थपरत्वसाधनम्, अन्यथोभयोरपि समानत्वात्को वा उपालभ्यः स्यात्, ततो दृष्टान्तैः कृतघ्नतासमर्थनम् । एवं पञ्चभिर्दोषं समर्थयित्वा तस्य साध्यत्वज्ञापनाय तासां देहादिस्मरणाभावमुपपादयति । ततोपि सुसाध्यत्वाय भगवदासक्तिम् । एवं साध्यो रोगः प्रतिष्ठितो भवति, ततोग्रिमारम्भः, स महादोष इति कस्याश्चिदेव तामसतामस्या वर्णितः । आदौ तस्यागमनमन्यथा कथयन्ति, तत्र ज्ञात्वाऽन्यथाकरणं युक्तमिति ज्ञानमाह **त्वां यदुपतेः पार्षदं जानीम** इति । पूर्वं गोपिकापतिरधुना यदुपतिरिति नास्मदुपकारं करिष्यतीति भावः । तस्य च पार्षदः सभापतिरतिचतुरः, अनेन त्वद्वाक्यमपि नादरणीयमिति सूचितम् । **समुपा-**

गतमिति । सम्यगुपसमीपे समागतम्, तत्रापि सर्वतः कुशलं तवापि, अन्यथा उपेक्षा दोषायापि न भवेत् । एवं भगवन्तमन्यथा कल्पयित्वा स्वयमेव ताः कदाचिन्नष्टा जाता इति शङ्का स्यात् तद्व्यावृत्त्यर्थं भर्त्रेत्याहुः । प्रसङ्गादागतत्वं न वदन्ति सर्वथा मिथ्या भविष्यतीति । इहैव गोकुले **प्रेषितः** । प्रयोजनमाहुः **पित्रोः प्रियचिकीर्षयेति** । ये हि सत्तामात्रेण सुखिता भवन्ति ऐश्वर्याद्युत्कर्षेण च । अतः कुशलमैश्वर्यं च ज्ञापयितुं **भवान् प्रेषितः** । अनलङ्कृते साधारणे प्रेषिते ऐश्वर्ये सन्देहः स्यात्, अस्माकं तु न तावता सुखमिति त्वदागमनमसाधनमिति अस्मदर्थं न प्रेषितवानेव ॥४॥

व्याख्यार्थ—गोपियां कहती हैं कि उद्धव हमको दिखाते हैं अथवा समझते हैं कि मैं गोपियों के लिए आया हूँ, किन्तु वे उसको बदलने के लिए कहती हैं कि तुम दूसरे कार्य के लिए आए हो। यदि गोपियां, अन्य के लिए आए हो, यह सिद्ध न करें तो उलहना नहीं दे सके, इस प्रकार कहना ही उलहने का बीज है । अर्थात् हमारे लिए आए हैं उसका जब निषेध करे तब उलहना देवें । इससे प्रथम जो भगवान् ने हमारे साथ सम्बन्ध किया था वह तो उपाधिवाला था । अर्थात् अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किया था । मथुरा जाने से वह स्वार्थ नहीं रहा । यदि यों न हो तो अर्थात् स्वार्थ से सम्बन्ध न होवे तो हमारा तथा उनका सम्बन्ध समान हो जावे तो उपालम्भ का पात्र कौन बने ? अतः भगवान् को स्वार्थी बनाकर, उनकी कृतघ्नता का दृष्टान्तों से समर्थन करती हैं ।

इस प्रकार पाँच श्लोकों से उनके दोषों को दृढ़ करती हैं । वे दोष मिटाने जैसे हैं, कारण कि उनमें (गोपियों में) देहादि की स्मृति का अभाव है तथा भगवान् में उनकी आसक्ति भी है । ये दोनों कारण दोषों को मिटाने वाले हैं, यों कह कर यह सिद्ध किया है कि यह जो दोष रूपी रोग शरीर में हैं, वह साध्य है । अर्थात् मिट सकता है, इत्यादि कह कर दोषों के लिए उद्धवजी को जो कहना है, उसका प्रारम्भ करती हैं ।

प्रथम भगवान् में महान् दोष बताने वाली कोई तामस तामसी गोपी है । वह कहती है कि उद्धव आपका आना हमारे लिए नहीं है ! जिसको सिद्ध करने के लिए कहती हैं कि हम जानती हैं कि आप 'यदुपति' के पार्षद हैं, वे पहले गोपी पति थे, अब 'य पति' बने हैं । अतः हमारा उपकार वे नहीं करेंगे और आप सभापति भी उनके पार्षद हैं अतः अतिशय चतुर हो । इससे आपके वाक्य भी आदर देने के योग्य नहीं हैं । आप हमारे पास यहां निर्विघ्न पहुँच गए यह भी कुशल की बात है और आप कुशल पूछने के लिए आए हो, किन्तु तुम भी आनन्द में हो अतः तुम और तुम्हारा स्वामी उपालम्भ के पात्र हो । यदि यों[1] नहीं होवे तो उपेक्षा, दोष के लिए न बने । इस प्रकार निर्दोष भगवान् को सदोष बनाने से वे कदाचित् नष्ट हो जावें ? इसके उत्तर में कहती हैं कि आपको स्वामी ने भेजा है, किसी प्रसङ्ग से आए हो । यों कहे तो वह झूठ हो जावे, अतः कहती हैं कि स्वामी ने यहां गोकुल में भेजा है। भेजने का कारण कहती हैं कि माता पिता के प्रिय करने की इच्छा से आपको भेजा है, जो सत्ता मात्र[2] से सुख तथा आनन्द भोगते हैं । एवं ऐश्वर्य आदि उत्कर्ष से रहते हैं । वे अपना

१- तुम और तुम्हारे स्वामी आनन्द में न होवे तो । २- अधिकार व प्रभुत्व मात्र से ।

कुशल तथा ऐश्वर्य जताने के लिए अपने साथी को सम्बन्धियों के पास भेजते हैं। अतः भगवान् ने आपको भेजा है। यदि आपको अलङ्कार न पहना कर साधारण अवस्था में भेजते तो ऐश्वर्य में संदेह होवे। आपके आने से हमको तो कोई सुख नहीं मिला है, अतः आपका आना हमारे सुख का साधन नहीं है, इसलिए आपको हम लोगों के लिए नहीं भेजा है, किन्तु माता पिता आदि के लिए भेजा है ॥४॥

आभास—ननु भवतीनामपि सुखं कर्तव्यं स्नेहरूपस्य सम्बन्धस्य तुल्यत्वात् कथमप्रेषणमिति चेत्तत्राहुः **अन्यथेति**।

आभासार्थ—हमारे आगमन से आपको भी सुख प्राप्त कराऊंगा। कारण स्नेह रूप सम्बन्ध जैसा नन्द आदि में है, वैसा आप से भी है। तब आप कैसे कहती हैं कि हमारे लिए नहीं भेजा है? इसके उत्तर में 'अन्यथा' श्लोक कहती हैं।

श्लोक—**अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।**
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥५॥

श्लोकार्थ—यदि आप उनके माता-पिता आदि के लिए नहीं आए हैं, तो आपका आना ही किस काम का? कारण कि यह स्थान तो गौओं के रहने का व्रज है। उसमें नन्द आदि के सिवाय दूसरा कोई आप (श्रीकृष्ण) के लिए स्मरणीय हम नहीं देखती हैं; क्योंकि बान्धवों के स्नेह का सम्बन्ध मुनि लोग भी नहीं छोड़ सकते हैं ॥५॥

सुबोधिनी—यद्यपि अन्ये स्मर्तव्याः अस्मदादयोपि परं नन्दशेषत्वेन, नन्दव्रजे तिष्ठन्तीति नन्दमाहात्म्यार्थम्, इममुपाधिं परित्यज्य **अन्यथा** प्रकारान्तरेण भोगप्रकारेण **गोव्रजे** पशुयोग्ये स्थाने **तस्य** सर्वेश्वरस्य सर्वसमृद्धियुक्तस्य **स्मरणीयं न चक्ष्महे**। अपेक्षितं हि स्मरन्ति लोकाः। नन्वेवं सति नन्दस्याप्यस्मरणं स्याद् ईश्वरस्यापेक्षाभावात्, तत्राहुः **स्नेहानुबन्ध** इति। यथा अपेक्षा स्मारिका एवं स्नेहोपि, तत्र भवतीष्वपि तुल्य इति चेत्तत्र विशेषमाहुः **बन्धूनामेव स्नेहानुबन्धः**। पूर्वमुत्पन्नः स्नेहेनानुबन्धो यस्येति, न स्नेहमात्रमुभयेषां स्नेहस्य ग्रन्थिरिति यावत्, स तु **दुस्त्यजो** भवति स्नेहकारणसम्बन्धस्य सहजत्वाद् आकाङ्क्षायाश्च कृत्रिमत्वाद्। यथा देहपरित्यागे देहिकेषु स्नेहो गच्छति, एवमाकाङ्क्षापरित्यागेऽपि। यावद्देहसम्बन्धः तावन्न ज्ञानादिनापि स्नेहो निवर्तयितुं शक्यते, किं वक्तव्यं विषयैः, तदाह **मुनेरपि सुदुस्त्यज** इति। लौकिकाद्वैदिकं बलिष्ठमिति ज्ञापनार्थम**पि** शब्दः। सुशब्दो नित्यविवेकस्मरणेऽप्यशक्यत्वाय ॥५॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि हम और अन्य भी स्मरण करने योग्य हैं, किन्तु नन्दजी के पीछे, क्योंकि नन्द के व्रज में रहते हैं, जिससे हमारा भी स्मरण नन्दजी के उत्कर्ष के लिए है। इस व्रज में निवास की जो हमको उपाधि लगी हैं, यदि वह न होवे तो हम भी स्मरणीय न बनें। अन्य प्रकार से इस

पशु निवास योग्य व्रज[1] में; सर्व समृद्धि से युक्त किसी सर्वेश्वर को हम स्मरणीय नहीं समझती हैं। लोक उनका स्मरण करते हैं जिनको उनकी अपेक्षा होती है। यदि यों है तो नन्द भी स्मरण पात्र नहीं है, क्योंकि ईश्वर को उसकी भी अपेक्षा नहीं है। इसके उत्तर में कहती हैं कि 'स्नेहानुबन्धः' स्नेह का बन्धन है। जिस प्रकार अपेक्षा स्मरण कराने वाली है, वैसे ही स्नेह भी स्मरण कराने वाला है। यदि आप कहो, कि वह स्नेह भगवान् का आप में भी है, तो कहती हैं कि जबर्दस्त स्मारक स्नेह तो बान्धवों का ही होता है। यों भी न कहना, कि आपका स्नेह सम्बन्ध पहले से है, अतः दोनों की स्नेह मात्र की ग्रन्थि समान है, क्योंकि एक स्नेह सहज होता है वह तो बान्धवों में होता है। दूसरा जो दूसरों में होता है, वह कृत्रिम है। अतः वह आकाङ्क्षा भी कृत्रिम है, जिस प्रकार देह त्यागने पर ही सम्बन्धियों के स्नेह का लोप होता है वैसे ही आकाङ्क्षा के परित्याग से दूसरों का स्नेह नष्ट हो जाता है किन्तु सहज बान्धवों से जो स्नेह होता है, वह देह रहते हुए ज्ञान आदि से भी नष्ट नहीं होता है, तो विषयों के नष्ट होने से वह (स्नेह) कैसे नाश होगा ? इसलिये कहा कि 'मुनेरपि सुदुस्त्यजः' यह[2] स्नेह मुनि भी मुश्किल से छोड़ सकते हैं। लौकिक से वैदिक बलवान् है, यह जताने के लिए 'अपि' शब्द दिया है। 'सु' शब्द से यह बताया है कि विवेक का नित्य स्मरण रहते हुए भी स्नेह का त्याग अशक्य है ।।५।।

आभास—तत्र तादृशविषयान्तरसम्भवे आकाङ्क्षा निवर्तत इति औपाधिकः सम्बन्ध इत्याह **अन्येष्वर्थकृतेति**।

आभासार्थ—भगवान् का हमारे साथ नन्द आदि बान्धवों के समान सहज स्नेह नहीं है, किन्तु औपाधिक है। वह जब वैसी ही इच्छित वस्तु मिलती है, तब आकांक्षा मिट जाती है। जिसका वर्णन 'अन्येष्वर्थकृता' श्लोक में किया है।

श्लोक—**अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम् ।**
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनस्स्विव षट्पदैः ।।६।।

श्लोकार्थ—दूसरों के साथ जो मैत्री है, वह स्वार्थ के लिए है, अर्थात् जब तक स्वार्थ है। जैसे पुरुष अपने काम-सिद्धि के लिए स्त्रियों से प्रीति करते हैं और भ्रमर भी रस चूसने के लिए पुष्पों से स्नेह करते हैं ।।६।।

सुबोधिनी—अन्येषु देहसम्बन्धरहितेषु **अर्थकृता** प्रयोजनकृता। प्रयोजनं देहधर्मः धर्मिणो दुर्बलः, औपाधिकोपि न चिरस्थायी, यथा माञ्जिष्ठादिरागाः यावत्कालमपि तिष्ठन्ति। तत्रापि **विडम्बनमेवानुकरणमेव** नटवत्, अतोस्मासु भगवत्स्नेहः कदापि न स्थितः। अनुकरणमात्रं स्थितमिति विडम्बनमात्रत्वान्न स्मरति। अर्थकृतत्वं प्रतिपादयितुं औपाधिकं धर्ममाह।

१- गोकुल, २- सहज बन्धु स्नेह।

पुम्भिः स्त्रीष्विति। पुरुषाः स्वतन्त्राः सर्वसमर्थाः, तद्विपरीताश्च स्त्रियः, तासु स्नेहं न कुर्युरेव यदि कामो न भवेत्, कामाच्च स्नेहमेव कुर्वन्ति। अन्यथासिद्धे गते वा कामे निवर्तते। शास्त्रमपि विरागे त्यागं विधत्ते। 'यदहरेव विरजे'दिति। ननु तत्र धर्मोऽप्यस्ति, पुत्रादिद्वारा च स्नेहो भवति, ततश्चागन्तुकमपि सहजमिवेति भवतीष्वपि तथा भगवत इत्याशङ्क्य तत्परिहारार्थं दृष्टान्तान्तरमाहुः **सुमनःसु षट्पदैरिवेति**। गमनक्रियाबाहुल्यार्थं षट्पदशब्दप्रयोगः। तेषां मकरन्दग्रहणानन्तरं पुष्पनाशे न कापि क्षतिः। अयमस्माकं युक्तो दृष्टान्तः॥६॥

व्याख्यार्थ—देह के सम्बन्ध रहित अन्यों से जो मैत्री होती है, वह प्रयोजन सिद्ध करने के लिए की जाती है। वह प्रयोजन देह का धर्म होने से धर्म्मी से दुर्बल है और वह औपाधिक है, अतः विशेष समय भी नहीं रहती है। जैसे मजीठ आदि के औपाधिक रंग होते हैं, फिर नष्ट हो जाते हैं, उसमें भी नट की भांति अनुकरण ही है। अतः हममें भी भगवान् का स्नेह कभी भी स्थिर नहीं रहा है, केवल अनुकरण मात्र रहा है। जिससे अब स्मरण नहीं करते हैं। वह स्वार्थ से किया हुआ अनुकरण मात्र स्नेह था। जिसका प्रतिपादन करने के लिए औपाधिक धर्म दृष्टान्त देकर समझाती हैं तथा सिद्ध करती है।

१-'पुम्भिः स्त्रीषु' पुरुष स्वतन्त्र तथा सर्व समर्थ है, स्त्रियाँ उससे विपरीत अर्थात् परतंत्र तथा निर्बल होती हैं। ऐसी स्त्रियों में यदि उनमें काम न होवे तो, वे पुरुष से स्नेह कभी न करें। काम के पूर्त्यर्थ ही स्नेह करती हैं, यदि काम की पूर्त्ति दूसरे प्रकार से हो जावे तो फिर स्त्री से स्नेह निकल जाता है। शास्त्र भी कहता है कि जब राग[1] नष्ट हो जावे तब त्याग करो। 'अहरवे विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन सन्यासी बन जाओ'। सन्यास में भी धर्म तो रहता है। पुत्र आदि उस पिता में स्नेह आदि करते हैं। आगन्तुक धर्म भी सहज के समान है। इस प्रकार भगवान् का भी आप में है। यदि उद्धवजी यों कह दें तो उस शङ्का को मिटाने के लिए अन्य दृष्टान्त देती हैं। 'सुमनः सु षट्पदैरिव' जैसे भ्रमर पुष्पों से प्रेम कर उसका रस चूंष कर भाग जाते हैं। पुष्प सूख जाते हैं, उसकी भ्रमर परवाह नहीं करते हैं। यहां भ्रमर को 'षट् पद' इसलिए कहा है कि वह स्वार्थ सिद्ध कर जल्दी भाग जाता है। इस प्रकार भगवान् भी हमारा रस लेकर भाग गए हैं। हमारी दशा क्या है? उसका उनको विचार भी न होगा॥६॥

आभास—ननु सर्वत्रैव दृष्टान्तः सुलभः, न तु तावता कार्यं सिद्ध्यति, ततः पुष्पाणामाशुतरविनाशयुक्तानां भ्रमराणां च बहूनां साधारणत्वाद् भगवत एकत्वाद्भवतीनामसाधारणत्वाच्च न युक्तो दृष्टान्त इत्याशङ्क्य औपाधिकानामेषैव व्यवस्थेति वक्तुं दृष्टान्ताष्टकमाहुः **निःस्वमिति** द्वाभ्याम्।

१- स्नेह

आभासार्थ—दृष्टान्त सर्वत्र ही सुलभ है, उनसे तो कार्य की सिद्धि नहीं होती है। यहां पुष्प जल्दी ही नाश हो जाते हैं और भ्रमर बहुत हैं तथा साधारण ही हैं। भगवान् एक हैं और आप असाधारण हैं, जिससे आपका दिया हुआ यह दृष्टान्त योग्य नहीं है। इस प्रकार की शङ्का होने पर कहती हैं कि औपाधिकों की यही व्यवस्था है यह सिद्ध करने के लिए दूसरे और दृष्टान्त देती हैं 'निःस्वं' इन दो श्लोकों से।

श्लोक—निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥७॥

श्लोकार्थ—जैसे वैश्या निर्धन को, प्रजा असमर्थ राजा को, विद्या पढ़ने के अनंतर शिष्य आचार्य को और दक्षिणा मिलने के पश्चात् ऋत्विज यजमान को छोड़ते हैं ॥७॥

सुबोधिनी—यद्यपि सर्वत्र बहुत्वं साधारणत्वं चोपाधिरस्त्येव, तथापि बहुधा दर्शनात् सन्दिग्धोपाधित्वं साधयितुं दृष्टान्तानां कथनम्। सर्वथा निराकरणे अचिकित्स्य एव दोषः स्यात्। यथा मित्रातनयत्वं सन्दिग्धोपाधिकम्, दशमोऽपि चेच्छ्याम एव स्यात्, तदोपाधिः शाकपाकजत्वं न भवेदेव, अन्यथा तु भविष्यतीति। एवं बहुत्वसाधारणत्वेऽपि भगवांस्त्यक्ष्यत्येव चेत्, तदास्मास्वभावान्नोपाधिर्भविष्यतीति भावः। तत्र प्रथमं स्त्रियः स्वभावतोऽदुष्टाः, पुरुषो दुष्ट इतीर्ष्यावशाद् भगवान् दूष्यत इतीमं पक्षं व्यावर्तयितुं स्त्रीणामेव प्रथमं स्वार्थाभावे पुरुषपरित्यागमाहुः **निःस्वं त्यजन्तीति**। ता हि प्रथमतः सर्वभावेन भजन्ते, नह्येवं कश्चिदात्मानं परस्मै निवेदयति, तत्रापि यस्मै कस्मैचित्। अनेन धर्मार्थमपि भजनं निषिद्धम्। लोकेऽपि निन्दिताः। एवं लोके वेदे विरुद्धा अपि सर्वानपि परित्यज्य यं कञ्चित् सर्वभावेन भजन्ते, ताः सर्वोत्तमा भवितुमर्हन्ति, यद्यर्थं न कामयेरन्। अर्थश्च केवलं न निर्वाहकः, किन्त्वधिकोऽपि, तस्मात्तासां तावद्द्व्यर्थमेव निमित्ताभावे तादृशस्यापि त्यागात्। यस्तु तथाभूतानां विदित्वा सर्वस्वं निवेदयति, तादृशमपि धनरहितं स्वशब्देनोपार्जनेऽप्यसमर्थं गणिका वेश्यास्त्यजन्ति। न हि तादृशः स्नेहोऽन्यत्र भवितुमर्हति। ननु तथाप्येताः समभावेन भजनं कृतवत्यः, नतूत्कर्षभावेन, ये पुनः उत्कर्षभावेन सेवन्ते, तेषु त्यागो न भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः। **अकल्पम**समर्थं नृपं राजानमपि प्रजास्त्यजन्ति। पूर्वं सर्वभावेन पाल्यमानाः प्रजाः, स्वयमपि सर्वभावेन भजनयुक्ताः, तथापि पश्चात्पालनासामर्थ्ये तं परित्यज्य तच्छत्रोर्भवन्ति। ताश्चेन्न मन्येरन्, न कोऽपि भवेद्राजा, तथापि कः प्रयासं करिष्यतीति, अल्पेनापि निमित्तेन परम्परागतमपि राजानं त्यजन्ति। अनेन ज्ञायते देहसम्बन्धिव्यतिरिक्तेषु कथमपि लौकिकं भजनं यावदर्थमेव, न कदाचिदपि क्षणमात्रमप्यनुपयोगे भजन्त इति। ननु लौकिके तथास्तु, वैदिके वाक्यप्रामाण्यात्तथा भविष्यतीत्याशङ्क्य परिहरन्ति **अधीतविद्या** इति पादद्वयेन शब्दानुष्ठानभेदेन। आदौ विद्या सर्वा यतो गृहीता, यतः सर्वोऽपि पुरुषार्थो भवति, तादृशीमपि प्राप्य ग्रहणपर्यन्तमेव **आचार्यं** सेवन्ते, नत्वग्रे। 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः। सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षत', इति। एतादृशमपि स्वकार्ये सम्पन्ने **त्यजन्तीति**। सर्वथा अन्येष्वर्थकृतैव मैत्री। किञ्च। यत्र वैदिकः सम्बन्धः सूतकव्यवहारः अधीतस्यार्थोपयोगे

जीविका च स्वस्य भवति, तादृशमपि। दत्ता दक्षिणा येन दक्षिणामेव प्राप्य, शिष्टमर्थं यजमानं च त्यजन्ति। कदाचिद्वा अदत्तदक्षिणम्। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रयोजनकृतैव मैत्री ।।७।।

व्याख्यार्थ—यद्यपि सर्वत्र बहुत्व और साधारणत्व उपाधि हैं ही, तो भी प्रायः यों ही देखने में आता है इसलिए उपाधि का संदिग्ध पन सिद्ध करने के लिए अन्य दृष्टान्त कहे हैं। सर्व प्रकार से हमारा त्याग किया है । यदि यों कहा जावे तो दोष असाध्य हो जावे । जैसे मित्रा के पुत्र में कालास संदिग्ध उपाधिवाली है जो उसके सिवाय दशवाँ भी यदि काला ही हो तो वह उपाधि शाक के खाने से हुई है यों नहीं कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार कालास हो सकती है, इस प्रकार बहुत्व तथा साधारणत्व में भी उपाधि संदिग्ध रूप वाली ही है । जो भगवान् हमको त्याग देंगे तो हम में प्रियत्व के अभाव से तथा बहुत्व होने से उपाधि नहीं कही जाएगी, इसमें प्रथम दिखाती है कि स्त्रियां स्वभाव से पुरुषों के समान दुष्ट दोष युक्त नहीं हैं । यह गोपियों का कथन ईर्ष्या के अधीन हो भगवान् को दूषित करना है, किन्तु इस पक्ष[1] को बदलने के लिए कहती हैं कि स्त्रियां ही वैसी हैं: जो स्वार्थ सिद्ध न होने पर पुरुष का त्याग करती हैं। 'निःस्वंत्यजन्ति[2]' स्त्रियां पहले तो सर्व प्रकार के हाव भावादि से पुरुष की सेवा करती हैं। इस प्रकार[3] कोई भी अपने को दूसरे के लिए अर्पण नहीं करता है,उसमें भी जिस किसी को धर्म के लिए भी इस प्रकार आत्मार्पण करने का इससे निषेध बताया है, वे लोक में निन्दित होती हैं। इस प्रकार लोक तथा वेद में विरोध होते हुए भी तथा सर्व लज्जा आदि का त्यागकर भी जिस किसी को सर्व भाव से भजन कर सब के पास अच्छी होना चाहती हैं अथवा सब से उत्तम होना चाहती हैं, यह तब हो सकता जब वे अर्थ (धन) को न चाहती। वे धन केवल निर्वाह के लिए नहीं चाहती हैं किन्तु विशेष भी चाहती हैं। इसी भांति उनका पैसों के कारण ही जो हाव भाव स्नेह हैं, वह व्यर्थ ही है। केवल पैसों के छीनने के लिए है। जब वह स्नेह दिखाने का निमित्त जो पैसे हैं उनका अभाव हो जाता है, तब उस प्रेमी को भी छोड़ देती हैं। जो पुरुष वैसी वृत्ति वालियों को अपना सर्वस्व भी दे देता है तो भी उस पुरुष को धन हीन देख कर कमाई करने में असमर्थ देख वे वैश्याएँ छोड़ देती हैं। वैसा स्नेह अन्यत्र देखने में नहीं आता है।

ये तो समान भाव से भजन करने वाली हैं न कि उत्कर्ष भाव से भजन करती है। अतः ये त्याग कर सकती हैं,किन्तु जो उत्कर्ष भाव से सेवन करते हैं उनका तो त्याग नहीं हो सकता है। इस पर कहते है, लोक में उत्कर्ष भाव से सेवन होने पर भी त्याग किया जाता है। जैसे 'अकल्पं नृपतिं प्रजाः' जिस राजा ने उत्कर्ष भाव से प्रजा की पालना की है और प्रजा ने भी राजा की सर्व भाव से सेवा की है तो भी वह राजा जब असमर्थ होता है तब उस राजा को त्याग उसका जो शत्रु अन्य राजा है उसकी प्रजा बन जाती है।

यदि प्रजा अन्य को अपना राजा स्वीकार न करे तो अन्य कोई भी राजा बन न सके, राष्ट्र अराजक रहे, किन्तु इतना प्रयास वा साहस कौन करेगा ? साहस के अभाव में थोड़ा भी निमित्त हुवा तो परम्परागत राजा को भी छोड़ देती है। इससे समझा जाता है कि जिनसे देह का सम्बन्ध

१- दोष देने वाले, २- निर्धन का त्याग कर देती हैं, ३- वैश्या की तरह।

नहीं है, उनसे लौकिक सम्बन्ध तब तक है जब तक स्वार्थ है। यदि क्षण मात्र अर्थात् स्वल्प में भी बाधा हुई तो उसका भजन छोड़ देते हैं। मान लो, लौकिक में वैसे होता है, किन्तु वैदिक में तो शास्त्र प्रामाण्य होने से यों त्याग नहीं होता होगा ? इस पर कहते है कि 'अधीत विद्या आचार्य' विद्या पढ़ लेने के अनन्तर शिष्य आचार्य का त्याग कर देते है' जिस विद्या से शिष्य सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करता है। वैसी विद्या, ग्रहण रूप स्वार्थ जब तक शिष्य का है तब तक ही आचार्य+ की सेवा करता है। वैसे उन आचार्यं का भी भजन नहीं करते है'। तात्पर्य यह है कि दूसरों से जो मैत्री हैं, वह मतलब की ही है। जहां वैदिक सम्बन्ध है अर्थात् जहां आचार्य का सूतक पालना पड़ता है, वैसे व्यवहार होने तथा जो विद्या पढ़ी है उसका उपयोग अर्थ प्राप्त कर आजिविका चलाने में होता है, अतः वैसे (आचार्य) को भी त्याग देते हैं।

यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् ब्राह्मण, दक्षिणा मिल जाने पर शेष अर्थ एवं यजमान का त्याग करते है। कभी वैसे भी यजमान चतुर होते हैं,कर्म पूर्ण होने पर दक्षिणा नहीं देते है तो वैसे का भी त्याग कर देते हैं। जिससे अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से समझा जाता है कि मैत्री प्रयोजन की ही होती हैं।

आभास—एवमेकेन श्लोकेन धर्मार्थापेक्षयैवेतरभजनं न स्वाभाविकं दैहिकवदित्युक्तम्। अधुना कामार्थं लौकिकवैदिकप्राकृतनिषिद्धभेदेनापि प्रवृत्ताः तत्तत्फलमनुभूय पश्चात्त्यजन्तीत्याह **खगा वीतफलमिति।**

आभासार्थ—इस प्रकार एक श्लोक से यह बताया कि धर्म और अर्थ की अपेक्षा से दूसरे का भजन किया जाता है। स्वाभाविक भजन देह सम्बन्धी जैसा होता है वैसे नहीं होता है। अब कामना के लिए लौकिक, वैदिक, प्रकृत और निषिद्ध भेद से भी प्रवृत्त हुए उसके फल का भोग कर अनन्तर उनको छोड़ देते हैं जिसका 'खगा वीतफलं' श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—**खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्।**
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥८॥

श्लोकार्थ—पक्षी फलों से हीन वृक्ष को, अतिथि भोजन करने के अनन्तर उस घर को, हरिण जले हुए जङ्गल को और जार पुरुष प्रीतिमति स्त्री को भोगने के बाद छोड़ देता है ॥८॥

+ 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेे द्विजः सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षते'

जो द्विज यज्ञोपवीत संस्कार कराके शिष्य को समग्र अङ्ग तथा रहस्य सहित वेद पढ़ावें, वह 'आचार्य' कहा जाता है।

सुबोधिनी—कामो हि द्विविध: उपर्यधश्चेन्द्रियभोगभेदेन, तत्र **खगा:** पक्षिण: क्षुत्पीडिता: फलवन्तं वृक्षमाश्रयन्ति, यदैव **वीतफलो** भवति, तदैव च **त्यजन्ति**। उपलक्षणमेतत्। छायार्थिनो गतच्छायम्। तत्तदर्थिनस्तत्तदर्थापगमे। तथाऽतिथयोऽसम्बन्धिनो ब्राह्मणा: क्षुत्पीडिता **भुक्त्वा** चकारादन्यमपि सत्कारं प्राप्य तद्गृहे अनिष्टेऽपि जाते निरीक्षणरहिता गच्छन्ति। कदाचिदेक एवं कुर्यादिति सन्देहव्यावृत्त्यर्थं सर्व एव तथाविधा इति ज्ञापयितुं सर्वत्र बहुवचनम्। यस्मिन्नरण्ये **मृगा** उत्पन्ना:, वृद्धिं च गता:, तादृशस्य जातायामापदि, अग्रे सम्पत्तिसम्भावनायामपि अल्पानुपयोगमप्याशङ्क्य त्यजन्ति मृगा:। सर्वत्र साधारणं मत्वाऽसाधारण्येन तस्या नाशमपि कृत्वा गच्छतीत्याह **जारो भुक्त्वेति**। सा हि परस्त्री भोग्या, स्वयं जार: तदेकस्वभावस्तदुपजीवी वा, तादृशोऽपि भोगानन्तरं तां चेत्कश्चिद्धन्यात्, तदाप्यनपेक्ष्यमाणस्त्यजत्येव, तथैतज्जातमित्यभिप्राय:। अथवा। एता दशविधा दश दृष्टान्तानाहु:। तत्र सात्त्विकादिभावेषु तथा तथा वचनम्। 'जारो भुक्त्वे'त्यन्ते राजसतामस्या:। अथवा। दृष्टान्ताष्टकमेवैतदवधि। तामसतामस्यास्तु सर्वभावापन्नाया: भ्रमरकथायां स्वरूपं वक्तव्यम्, अत एव काचिदित्येकां निरूपयिष्यति ॥८॥

व्याख्यार्थ—काम दो प्रकार के हैं, एक ऊपर की मुखादि इन्द्रियों से भोगा जाता है. दूसरा नीचे की शिश्नादि इन्द्रियों से भोगा जाता है। उसमें क्षुधा से पीडित पक्षी फलों से पूर्ण पेड़ पर क्षुधा निवृत्यर्थ बैठते हैं। जब उस वृक्ष में से फल समाप्त हो जाते हैं तब ही उसको छोड़ देते हैं। यह दृष्टान्त एक नमूने के लिए है। इसी प्रकार तपति बुझाने के लिए भी पेड़ का आश्रय लेते हैं। जब छाया नहीं मिलती है तो उसको छोड़ देते हैं। अपने अपने कार्य की वस्तु लेने के लिए आते हैं, वह जब नहीं मिलती है तब उसका त्याग करते हैं। इसी प्रकार अतिथि जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है, और ब्राह्मण क्षुधा से पीडित हैं वे भोजन कर तथा दूसरा भी सत्कार पाकर गृह को छोड़कर चले जाते हैं। चाहे वहाँ कुछ अनिष्ट भी हुआ हो तो भी ध्यान नहीं देते हैं। कदाचित् यों समझा जाय कि कोई इस प्रकार करता होगा ? इस सन्देह को मिटाने के लिए सर्वत्र बहुवचन दिया है। जिसका तात्पर्य है कि सब वैसे होते हैं। जिस जंगल में हरिण पैदा हुए बड़े हुए उस जंगल को आग जब जलाने लगती हैं तब उस वन को थोड़े समय के लिए उपयोग न कर सकेंगे यों समझ उसका त्याग करते हैं।-चाहे यों समझते भी हैं कि यह जंगल पुन: पूर्व के समान हरा हो जायगा तो भी त्याग देते हैं। सर्वत्र साधारण समझ कर, असाधारण पन से उसका नाश भी कर चला जाता है। इस प्रकार का दृष्टान्त अब देते हैं, 'जारो भुक्त्वा' वह अपनी स्त्री नहीं है दूसरे की है, केवल भोग्या है, स्वयं 'जार' है जैसी वह पराई है वैसे आप भी परपुरुष उपपति हैं। अत: दोनों एक स्वभाववाले हैं अथवा उसका आश्रित है, वैसा भी भोग के अनन्तर उस स्त्री को यदि कोई अन्य पीटे तो भी उसकी अवहेलना कर उसको छोड़ के चला जाता है, वैसे ही यह हुआ है[1]। अथवा ये दश प्रकार के हैं, दश दृष्टान्त कहे हैं ! वहां सात्विक[2] आदि भाववाले व्रजभक्तों ने वैसे वैसे दृष्टान्त कहे हैं।

१- हमारी दशा वैसी हुई है। २- ये दश दृष्टान्त इस क्रम से समझने चाहिए-
(१) राजस सात्त्विक, (२) राजस राजस, (३) तामस तामस, (४ तामस राजस, (५) निर्गुण, (६) सात्विक राजस, (७) तामस सात्विक, (८) सात्विक सात्विक, (९) सात्विक तामस (१०) राजस तामस। श्री प्रभुचरण टिप्पण्याम्-

'जारो भुक्त्वा' यह अन्तिम दृष्टान्त राजस तामसी ने कहा है अथवा तो आठ दृष्टान्त यहां तक हैं। सर्व भाव को प्राप्त तामस तामसी का स्वरूप तो 'भ्रमर' की कथा में कहेंगे। इसलिए ही वहां 'काचित्'[3] शब्द से उस अकेली का निरूपण करेंगे ॥८॥

आभास—नन्वेवमसूयायां दुष्टा एव जाताः, किं ज्ञानेन पुनः सज्जीक्रियन्त इत्याशङ्क्य तासां क्लेशवशादेवायं स्वभावो जातः, वस्तुतस्तूत्तमा इत्याह द्वाभ्याम्, **इति गोप्य** इति।

आभासार्थ—जो असूया द्वेष इर्ष्या के कारण दुष्ट (दोषयुक्त) हो गई हैं, उनको ज्ञान देकर फिर निर्दोष बना के क्यों तैयार करते हैं? इस शङ्का को मिटाते हुए कहते हैं कि ये वास्तव में निर्दोष उत्तम हैं, किन्तु विरह क्लेश बढने के कारण असूया होने से, इनका वैसा स्वभाव हुआ है। जिसको दो श्लोक 'इति गोप्यो' से बताते हैं।

श्लोक—इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥९॥

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययो ॥१०॥

श्लोकार्थ—गोपियों के तन, मन और वाणी सर्व भगवान् में लगे हुए थे। जब कृष्ण के दूत उद्धवजी व्रज में आए, तब उसने देखा कि सर्व लोक व्यवहार त्याग श्रीकृष्ण के बाल्य तथा किशोर अवस्था के चरित्रों को निर्लज्ज हो गा रही थीं। जिस से उनका हृदय विरह से विह्वल हो गया था और नेत्रों से नीर निकल रहा था ॥९-१०॥

सुबोधिनी—इतीति समाप्तौ प्रकारे च। पूर्वोक्तदोषस्य तदासक्तिः फलम्, न तु नाश इति वक्तुं **गतवाक्कायमानसा** इत्युक्तम्। ननु कथमेवं कल्प्यते, दुष्टा एव कथं न भवेयुरित्याशङ्क्याह **गोप्य** इति। ता मुग्धा न कापट्यं विवेकं च जानन्ति, अतः खेदवशाद् यथैव मनोवृत्तिर्भवति, तथैव वदन्तीति न दुष्टाः। हि युक्तश्चायमर्थः। महता कष्टेन हि सर्वपरित्यागेन सर्वभावेन पूर्वं भगवन्तं प्रपन्नाः। किञ्च। गोविन्दो भगवान् तासामेवेन्द्रः सर्वैर्देवैः कृतः, अन्यथा तेषां करणं

३- 'काचित्' अकेली कहने का भाव स्पष्ट करते हैं कि 'मधुपकितव' से जो दश श्लोक कहे जाएँगे वे कहने वाली दश भाव युक्त 'तामस तामसी' हैं उनमें तामस तामस भाव स्थायी हैं। अन्य भाव व्यभिचारी हैं।

व्यर्थं स्यात् । दुष्टस्वामित्वं वा भवेत् । अत एतैर्वचनैर्गतवाक्कायमानसा एव ता इति ज्ञायते । अथवा । पूर्वमेव गोविन्दे स्वत एव गतानि कायवाङ्मनांसि यासाम् । अत एतान्यपि वचनानि चेद्दोषजनकानि भवेयुः; तदा भगवच्छास्त्र एव दोषः स्यात्, भगवदीयत्वात्तेषाम् । तासां सर्वपरित्यागे निदर्शनमाह **कृष्णदूत** इति । साक्षाद्भगवति समागते को वेद किं वा कुर्युः, कृष्णस्य स्वामिनः दूतेऽपि **उद्धवे** व्रज आगते **त्यक्तलौकिका** जाताः, सर्वापेक्षां परित्यज्य प्रकटा भूत्वा तेन सह यत उपविष्टाः । किञ्च । तस्याप्यग्रे **प्रियस्यैव कर्माणि गायन्त्यो** जाताः । अनेन भगवत्येव निवेदिता वाक् नान्यतः सङ्कोचं लभते इत्युक्तम् । रुदन्त्यश्च जाताः । एवमुपवेशनेन कायं गानेन वाचं रोदनेनान्तःकरणमिति साधारण्येन त्रयमपि निवेदितमुक्तम् । असाधारणस्वभावमपि त्यक्तवत्य इत्याह **गतह्रिय** गति । स्त्रीणां स्वभाविको धर्मो लज्जा, तामपि चेत्त्यक्तवत्यः, किमवशिष्यते तासु । नन्वेतत्सर्वं कादाचित्कमित्याशङ्क्य तत्परिहारार्थं विशेषमाह **तस्य संस्मृत्येति** । **तस्य** भगवतः **कैशोरबाल्ययोः** अवस्थाद्वयसम्बन्धीनि यानि तानि **संस्मृत्य संस्मृत्य** पुनःपुनरादरेण स्मृत्वा ताः पूर्वोक्तविधा जाता इति सम्बन्धः ॥९-१०॥

व्याख्यार्थ—श्लोक के प्रारम्भ में आया हुआ 'इति' शब्द समाप्ति वाचक है, और प्रकार बताने के लिए है । गोपियों में जो असूयादि दोष कहा, जिसका फल भगवान् में आसक्ति हुई, न कि उनका दोष से नाश हुआ, यह सिद्ध करने के लिए ही कहा है कि गोपियों की वाणी, काया और मन सर्व भगवान् में लग गए हैं । आप यों कैसे कहते हैं ? दुष्ट ही हुई यों क्यों नहीं कहती हो ? इस प्रकार की शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि ये गोपियां है, वे सरल प्रकृति की भोली होतो हैं, अतः ये कपट या विवेक[1] नहीं जानती हैं । इसलिए खेद के वश जैसी मन की वृत्ति हो जाती है, वैसी ही बोलती हैं, अतः वे दुष्ट नहीं है, श्लोक में 'हि' शब्द से यही तात्पर्य कहा है ।

बहुत कष्ट से सर्व का सम्पूर्ण त्याग कर सर्वात्म भाव से प्रथम भगवान् के शरण गई हैं और विशेष में गोविन्द भगवान् को सर्व देवों ने इन (गोपियों) का ही इन्द्र बनाया है । यदि ये दुष्ट होतीं तो भगवान् इनका इन्द्र बनाना व्यर्थ हो जाता । अथवा भगवान् को दुष्टों का स्वामीपन प्राप्त हो जावे, अतः इन वचनों से सिद्ध है कि इनकी वाणी आदि भगवान् में है, जिससे वे दुष्ट नहीं, किन्तु उत्तम हैं । अथवा पहले ही इनका गोविन्द में अपने आप वाणी, मन आदि लग गए हैं । यदि ये वचन भी दोष जनक होवे तो भगवत् शास्त्र में ही दोष समझा जावे । कारण कि ये तो भगवदीय हैं, क्योंकि इन्होंने सर्व का परित्याग कर भगवान् को ही अपनाया है । जिसका उदाहरण देते हैं कि श्रीकृष्ण के दूत के आने पर लौकिक त्याग दिया और इनकी यह दशा हो गई, तो स्वयं भगवान् पधारते तो न जाने ये क्या कर डालतीं ? अन्य सर्व की अपेक्षा का त्याग कर प्रकट हो के उद्धवजी के पास आकर बैठ गईं और विशेष में न केवल उनके बाजू में बैठीं, किन्तु उनके आगे भी अपने प्रीतम की लीलाओं का गान करती थीं । जिससे यह बताया है कि हमने वाणी भी भगवान् में अर्पण कर दी है । इससे वाणी उनका ही वर्णन करती है तथा किसो के भी आगे सकुचाती नहीं हैं । वहां रोती थीं, जिससे भगवान् में अपना पूर्ण निवेदन बता दिया है । जैसे कि वहां कृष्ण भक्त दूत के पास बैठने से काया का निवेदन, गान से वाणी का निवेदन

१- भले बुरे का ज्ञान ।

गान से वाणी का निवेदन और रोदन से अन्तःकरण का निवेदन सिद्ध कर दिखा दिया। लज्जा स्त्रियों का असाधारण स्वभाव है, उसका भी त्याग कर दिया, यह 'गतह्रियः' पद से कहा है। जहां वैसे असाधारण धर्म का त्याग कर दिया है तो बाकी अन्य त्याग के लिए उनको कौनसी कठिनाई होगी? यह सब थोड़े समय के लिए हुआ होगा, वा रहेगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, यह तो दृढ़ हमेशां के लिए हैं, क्योंकि वे भगवान् की दोनों प्रकार बाल्य और किशोर अवस्था की लीलाओं को पुनः पुनः स्मरण कर गाती रहती हैं। जिससे उनको पूर्व में कही हुई जैसी तन्मय अवस्था हो गई है, क्योंकि उनका इसी प्रकार का सम्बन्ध है ॥९-१०॥

आभास—एवमिममपि दोषं महान्तं मत्वा महता प्रबन्धेन साध्यत्वं निरूपितम्। ततोऽप्यधिकं दोषं निरूपयन् प्रस्तावनामाह **काचिदिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार इस दोष को महान् मान कर बड़े जबरदस्त प्रबन्ध से मिटाया है। उससे भी विशेष दोष का निरूपण करने के लिए 'काचित्' इस श्लोक से आरंभ करते हैं।

श्लोक—**काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्।**
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥११॥

श्लोकार्थ—कोई एक गोपी भगवान् से हुए सङ्गम का ध्यान करती थी, उस समय मधुकर को देख कर समझने लगी कि मेरे प्यारे ने मेरे पास यह दूत भेजा है, वैसी मन से कल्पना कर यों कहने लगी ॥११॥

सुबोधिनी—तस्य च साध्यत्वमग्रे वक्ष्यति। तत उपदेशः। अर्थसङ्गतिस्तु पूर्वमुपालम्भनमुक्त्वा स्वासक्तिख्यापनार्थं स्वगतान् भावान् रससङ्गोपनार्थं **काचिदाह**। तत्रापि व्याजेनान्यापदेशन्यायेन, अन्यथा रसः पुष्टो न भवेत्, भगवान्वा गोपिकानां स्वरूपमुद्धवाय प्रदर्शयितुं भ्रमरमपि प्रेषितवान्, तदा तं **दृष्ट्वा** आर्षज्ञानेन भगवदीयत्वं मत्वा काचिदाह। यथोद्धवस्य मयोपकारः कृत इति गर्वो न भवेत् अन्यापदेशन्याये तु पदान्युद्धवेऽपि योजनीयानि। तदा दोषसम्भावनापि भवति। द्वितीये त्वर्थे न कापि सम्भावना स्यात्। **मधुकरो** भ्रमरः, वस्तुतोऽयं विपरीतनामा, मधु भक्षयति, न तु करोति, अतो वसन्तो मधुकरः, अयं मधुपोऽपि मधुकरत्वेनोच्यते। अन्यथा पुष्पाणि तदभिमानिन्यो वा देवता एनं न प्रवेशयेयुः। पूर्वं हि सा **कृष्णसङ्गमं ध्यायन्ती** स्थिता। प्रथमतो भगवता सह मनसा सम्बन्धं प्राप्य पश्चान्मानवती जाता, तदा भगवनन्यां गृहीतवानिति परिकल्प्य सा न समीचीनेति च पुनर्भगवान् मामेव प्रार्थयितुं भ्रमरं प्रस्थापितवानिति ज्ञ तवती, तदाह **प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेति**, **इदं** वक्ष्यमाणम**ब्रवीदिति** ॥११॥

व्याख्यार्थ—यह मेरा रोग साध्य है, वह आगे कहा जावेगा पश्चात् भगवान् के उपदेश का वर्णन होगा। र्थ की सङ्गति तो यह है कि प्रथम कोई गोपी उलहना कहकर अनन्तर भगवान् में अपनी आसक्ति प्रकट करने के लिये अपने हृदय के भाव कहती है, क्योंकि यों नहीं कहे तो रस प्रकट

हो जावे। अतः उसको छुपाने[1] के लिए यों भाव प्रकट करती है। वह भी दूसरे को कहने के मिष से करती है, नहीं तो रस पुष्ट न होवे। अथवा उद्धव को, गोपिओं का क्या स्वरूप है, यह बताने के लिए भगवान् ने मधुकर को भी भेजा है। तब उसको देखकर आर्षज्ञान से उसको भगवदीय समझकर कोई गोपी कहने लगी। जैसे उद्धवजी को यह अभिमान न होवे कि मैंने गोपियों को उपदेश देकर भगवान् का बड़ा कार्य सिद्ध किया है। अन्यापदेश न्याय से तो ये पद उद्धवजी में भी घटित किए जा सकते हैं। तब दोष की सम्भावना उसमें भी हो सकती है। दूसरे अर्थ में तो (काल पक्ष में) कोई दोष की सम्भावना नहीं है, क्योंकि वहां प्रार्थना ही हुई है। मधुकर भ्रमर को कहते हैं वास्तव में भ्रमर का यह विपरीत नाम है क्योंकि भ्रमर मधु[2] का भक्षण करता है उसको बनाता नहीं है, मधु-कर' पद का अर्थ मधु को करने वाला होता हैं, अतः वसन्त मधुकर है, यह मधुप भी मधुकर नाम से कहा गया है। यों नहीं कहे तो पुष्प और उनके अभिमानी देवता उसको अपने पास न आने दें। प्रथम ही वह कृष्ण के सङ्गम का ध्यान करती हुई खड़ी थी। इस प्रकार प्रथम भगवान् के साथ मन से सम्बन्ध प्राप्त कर पीछे मानवाली हुई। तब समझने लगी कि भगवान् ने दूसरी को ग्रहण किया है। यों मन में कल्पना की, किन्तु भगवान् को वह रुचिकर नहीं लगी हैं, अतः भगवान् ने फिर मुझे ही समझाने के लिए इस भ्रमर को भेजा है। इस प्रकार के आर्ष ज्ञान से कहती है कि 'प्रिय प्रस्थापितं' प्यारे ने इसको भेजा है। यह प्रीतम का दूत है, यों जान कर निम्न श्लोक कहती है ॥११॥

आभास—आदौ हि मानवत्याः क्रोधेन पारुष्यं भवतीति ततः प्रथमं तामसतामसी तद्भावयुक्ता वा दूषणमाह **मधुपेति**।

आभासार्थ—आदि में मानवाली नायिका क्रोध के कारण निष्ठुर वचन कहने लगती है, यह प्रकार है। इस कारण से तामस तामसी* अथवा उस भाव वाली गोपी भ्रमर को 'मधुप' इस श्लोक में दूषण देती है।

१- जिस रस का ध्यान कर रही थी, उसको यदि न छुपाए तो वह रस उसको (गोपी को) अपनी क्रिया वाला कर देवे। इस प्रकार प्रकट रस भोग सर्व समक्ष हो;वह अनुचित है। अतः छुपाने के लिए वे हृदगत भाव कहने लगीं —टिप्पणीजी का आशय।

* श्री प्रभुचरण टिप्पणी में 'तामस तामसी' पद के तात्पर्य को समझाते हुए आज्ञा करते हैं कि विप्रयोग में अनेक व्यभिचारी भाव होते हैं। जैसे प्रलाप दीनता आदि भाव व्यभिचारी भाव हैं। वैसे प्रीत में दोषारोपण भी एक व्यभिचारी भाव है। वैसे दोषारोपण करने पर भी रसात्मकता में न्यूनता नहीं होती है, किन्तु अत्युग्रभाव की उत्पत्ति होती है। वह अत्युग्रभाव रसात्मक भगवद्धर्म रूप है। जिससे वह प्रमाणादि सर्व बलों का निरास करता है। अतः इस उग्रता के कारण ही भगवद्-धर्मारूप रसात्मकता को यहाँ तामस कहा है। जैसे गीता में रजोगुणादि में परस्पर उपमर्द्य और उपमर्द का भाव कहा है। वैसे ही यहाँ रस शास्त्र में (विषय में) भी भावों में परस्पर उपमर्द्य और उपमर्दक भाव हैं। अतः उग्र भाव से रसात्मकता ही प्रकट होती है। जिससे यों कहना कि गोपी भगवान् में दोषारोपण करती है, वह युक्त नहीं है। कारण कि गोपियों को तो भगवान् के सिवाय अन्य का स्मरण हो नहीं है। जिनको अन्य का स्मरण ही न होवे, वैसी अपने प्रिय में दोषारोपण कैसे करेंगी ? अर्थात् नही करेंगी, इत्यादि विशेष टिप्पणी पढ़िए।

२- मकरंद,

श्लोक—गोप्युवाच–मधुप कितवबन्धो मा स्पृशांह्रि सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥१२॥

श्लोकार्थ—गोपी कहने लगी कि हे भ्रमर ! हे कपटी के मित्र ! मेरे चरणों का स्पर्श मत कर; क्योंकि तेरी दाढ़ी-मूँछ सपत्नी के कुचों से मर्दित भगवान् की वन माला की केसर से रङ्गी हुई है, वे भगवान् उन मानवतियों को भले प्रसन्न रखें, जिसका यादवों की सभा में उपहास होता है और जिसका तूँ दूत बन कर आया है ॥१२॥

सुबोधिनी—सर्वत्र हि रसे विप्रलम्भे दूतो नायकश्च दूष्यते, यथा 'अज्ञातपीडागमा' 'अधमस्ये'त्युभयोर्दूषणम्, तथात्राप्याह **मधुप कितवबन्धो** इति । मतान्तरभाषेयमिति कामशास्त्रानुरोधिनी निरूपितेति न समाधिभाषायां भक्तिमार्गे वा विरोधः । यद्यपि भ्रमरो मधुपो भवति तथाप्यन्यार्थेऽपि शक्त इति तत्सूचकत्वेन निन्दापि भवति, अन्यापदेशे तु यादवाः सर्वे पानरता इति लोकप्रसिद्धया निन्दा भवति । यद्यपि भगवद्भक्ता भगवांश्च न भवति, अनुकरणं साधारणाविगीतधर्माणामेव न तु सर्वेषाम् । तथापि साधारण्येन प्राप्तो धर्मः श्रुतोऽत्यन्तं खेदाय भवति । वस्तुतस्तु सरस्वती अन्यार्थमप्याह । भगवान् स्वामी कालश्च दूतः स्वयं च श्रुतय इति कालद्वारा हि भगवान् वक्तव्यो ज्ञातव्यो वा भवति । अत्र संवत्सरात्मकः कालः आदौ मधु वसन्तः पात्येव; ततः कितवस्य ग्रीष्मस्य वञ्चयित्वा सर्वरसहारकस्य बन्धुरपि भवति । स चेद्भगवत्सम्बन्धिनं वृन्दावनादिभूप्रदेशं भगवच्चरणं वा तत्रत्यं स्पृशेत्तदा क्लेशो महानेव भवेदिति पादस्पर्शं निषेधयति । **मा स्पृशांह्रिमिति** । पूर्वं तु भगवति विद्यमाने निदाघवन्ह्यर्कभवो भुवो रस' न गृहीतवानित्युक्तम् । अधुना दूरे भगवानिति मत्वा कदाचित्स्पृशेदिति निषेधः । अतो नमस्कारार्थमागतं भ्रमरमुद्धवं वा निषेधति । ननु नमस्कारे को दोष इत्याशङ्कय मधुपत्वाच्चरणकमलमकरन्दमपि पास्यतीति निषेधति । तदा चरणौ गतसारौ भगवदुपयोगाय न भवेयाताम् । मधु मादकं च यः पिबति स न स्पृश्यो भवति । ननु दूतोहं भगवता आकारणार्थं प्रेषितः न तु कश्चिद् अहमुदासीनः, स्त्रीणां च भोगार्थिनां तादृश्यवस्थोचितेत्याशङ्कय स हि वञ्चनार्थमेव त्वां प्रेषितवानित्याह **कितवबन्धो** इति । कितवोयं वञ्चकः, तत्रापि धूर्तः, अतः फलस्याभावान् मानापनोदनादि साधनं व्यर्थमिति अंह्रि मा स्पृशेति निषेधो युक्तः । अनेनोद्धवस्यापि सम्माननार्थं निषेध एव । इममर्थमभिप्रेत्यैव निषेधः । किञ्च । **सपत्न्याः कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिरुपलक्षितः** । सपत्नी द्यौः तस्याः मेघाः पयोधरत्वेन कुचस्थानीयाः, तत्र विलुलिता माला विद्युतः, तत्र कुङ्कुमसदृश्यो दीप्तयः, तत्सहिताः श्मश्रुस्थानीया धाराः, तैरपि सहितो मा स्पृश । शरदेव परमस्माकं हितकारिणीति वर्षापर्यन्तं निषेधः, न केवलं ममैव किन्तु सर्वासामेवेत्युक्तं **न इति** । यो हि सम्माननार्थमायाति स हि द्विष्टं पदार्थं दूरीकृत्य समायाति न तु तत्प्रदर्शयन्, भ्रमरस्य श्मश्रुस्थानीयानि रोमाणि मकरन्दसम्बन्धात् पीतानि भवन्ति, तद्भगवदीयस्य नान्यपुष्पेषु मकरन्दार्थं गमनं मृग्यत इति भगवत एव मालास्थपुष्पाणां मकरन्दसम्बन्धः, तत्र ग्रथितानां मकरन्देन्तःप्रवेशाभावाच्छ्मश्रुसम्बन्धो बहिरेव,

तथा पीतत्वं कुङ्कुमसम्बन्धादेव नान्यथा घटते। तथोद्धवस्यापि भगवदुपभुक्तमालाप्राप्तावाघ्राणेन कुङ्कुमसम्बन्धः सम्भवति। तस्यापि श्मश्रूणि तादृशान्येव प्रायेणेति लक्ष्यते। निरन्तरमालाघ्राणाद् रञ्जितान्येव श्मश्रूणि, आघ्राणं च मकरन्दपानं वा बहिःप्रदेश एवेति न भगवदङ्गरागेण पीतत्वम्, विलुलितपदेन च सम्भोगो लक्ष्यते नत्वालिङ्गनमात्रम्। तथा सत्यनुरोधेनापि तथाकरणं सम्भवति। तदा नात्यन्तं द्वेष्यः। श्मश्रु तस्याः सूच्यते, तेन महासौरतं द्योतितम्, तस्मान्मानवृद्धिजनकत्वात् अर्थत्रयेऽप्यंह्रिस्पर्शनिषेधो युक्तः। ननु भवत्यो हि भगवदीयाः, भगवांश्चेत्तथा मन्यते कथं भवतीनामस्वीकार इत्याशङ्क्याह। **वहतु मधुपतिरिति**। कालपक्षे ऋतुद्वयस्यैव निषेधः, आद्यसङ्ग्रहार्थमाह, **मधुपतिरिति**। वसन्तसम्बन्धी संवत्सरः तत्रत्यानां मानिनीनां प्रसादं वहतु। ता हि मानं परित्यज्य प्राप्तसन्तोषाः कालाय प्रसादं कुर्वन्ति। यतो वर्णनायां तत्सम्बन्धेन महत्त्वमापद्यते। अस्माकं तु न तत्रापि प्रसादः। शरद्येव भगवत्प्रसादस्य जातत्वाद् ऋतुद्वये निषेधः। वसन्ते शरदि च तस्य प्रशंसा। तथापि वसन्ते भगवत्कृतः कालोत्कर्षः। शरदि तु सर्वथेति, वसन्ते हि यज्ञा अग्नयः संस्काराश्चेति। सपत्नीभिर्हि प्रसादतया भगवते कुचकुङ्कुमं दत्तम्, यो हीश्वरः स चेद्दासीनां प्रसादं लभते तदा यदुसभायां वाच्यता भवत्येव, अन्योपभुक्तस्यान्येन ग्रहणं देवव्यतिरिक्ते वाच्यापादकम्। महतः सुतराम्। तर्हि भगवता कथं स्वीकृत इत्याशङ्क्याह **मधुपतिः** मधुदेशस्य मधुरायाः पतिः। ईर्ष्यया वा यथेष्टमधुपानकर्ता, अतो देशस्वाभाव्याद्वस्तुस्वाभाव्याद्वा प्रसादग्रहणम्, तादृशस्याप्ययं प्रसादं गृह्णातीत्ययमपि नादरणीयः। अनेनैवं सूचयति अत्रैवागत्य एकान्ते परं भोगः कर्तव्यः। न तु मथुरायाम्, यादवा उपहसिष्यन्ति, तत्र चावश्यं यादवत्वाद्यदुसभायां गन्तव्यम्, सजातीयवाच्यता च दुःसहा। अथापेतरसम्बन्धात् स एव तत्प्रसादं **वहतु** न तु वयम्। अस्मासु तु गतास्वपि तथैव करिष्यति प्रसादत्वेन परं कुङ्कुम दास्यति। एतच्च नापेक्षितमिति स्वार्थे निषेधः, प्रशस्ता एव धर्मा भगवदीया ग्राह्या इति। अप्राशस्त्यार्थं विडम्बनमित्युक्तम्। ननु भवतीभ्योऽप्येतदेव दास्यतीत्यत्र किं प्रमाणम्, वस्तुतस्तु तास्त्यक्ष्यतीत्याशङ्क्याह। **यद्दूतस्त्वमीदृगिति**। तत्सम्बन्धी भवांस्तस्यातिप्रियः, तुभ्यं चेद्ददाति अस्मभ्यमपि दास्यति। अन्यथा दौत्येन प्रेषयन् त्वां पीतश्मश्रुं न प्रेषयेद्, अतो ज्ञापनार्थमेव तथाविधं प्रेषितवान्। अनेन तयैवं ज्ञातमिति प्रतिभाति। गाढसुरते व्यजनाद्यपेक्षणात् पुरे सर्वतो निरोधेन सहजवायुभावात् पुरुषस्य च यादृशस्यापि तत्र स्थातुमयुक्तत्वात् पूर्वोपभुक्ता अस्मान् तस्या दासीकर्तुं व्यजनार्थमाकारयतीति, एतच्च सर्वथाऽशक्यमिति भ्रमरोद्धवपक्षे निषेधो युक्तः। वसन्तकृतश्चोत्सवः धर्मरूपः यादवसभायां विडम्ब्य एवानुकार्यः, ते हि लौकिकप्रधाना अनुकरणमात्रेण धर्मं करिष्यन्तीति कालकृतो धर्मः भगवदीयकृताधीन इति वा। किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां यस्य मुख्यकालस्य भगवतो वा सम्बन्धी दूतः कलिस्वरूपस्त्वमीदृक् श्यामः, न हि धर्मे उत्कृष्टे तदाधारः श्यामो भवति। अतोऽस्मान्प्रति ऋतुत्रयनिषेध एव युक्तः। पुष्टिमार्गे हि दक्षिणायनस्यैव प्राशस्त्यात्। तत्र हि रात्रयः स्थूलाः दिवसाश्च सूक्ष्मा इत्यनङ्गीकारे मुख्यो हेतुः॥१२॥

व्याख्यार्थ—सब जगह जहां भी रस का विषय होता है वहां वियोग के समय में दूत तथा नायक को ही दोष दिया जाता है, अर्थात् उनको ही दोषी ठहराया जाता है। जैसा कि कहा है, 'अज्ञात पीडागमा' 'अधमस्य' ये दोनों के दूषण हैं। वैसे ही यहां भी कहा है कि 'मधुप कितवबन्धो!'

अर्थात् जैसे वहां 'अज्ञात पीडा गमा' से दूतो का दूषण कहा है और 'कितवबन्धो' से नायक प्रभु को दोषी ठहराया है. यह भाषा अर्थात् इसी प्रकार कहना दूसरे मत की भाषा[1] तथा कामशास्त्र की

१- टिप्पणीजी में श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि आचार्य श्री ने इस प्रकार को भाषा को परमत भाषा इसलिए कहा है कि वह ज्ञान जो यहां दिया जाता है वह केवल दोषारोपण दोष रूप से न किया जावे इसलिये ही है अन्यथा ज्ञान की यहां कोई आवश्यकता नहीं है। कारण कि शुद्ध स्नेहात्मक पुष्टिमार्ग के अनुयायी को ज्ञान मार्ग का ज्ञान देना भक्ति माग से अत्यन्त विरुद्ध है। अत: इसका समाधिभाषा में प्रवेश है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। यहां तो अत्युत्कट रसात्मक स्नेह भाव का वर्णन हो रहा है, वह ही परमपुरुषार्थ रूप हैं। वह ज्ञान इस परम पुरुषार्थ रूप रसात्मक स्नेह भाव का विघातक है। यद्यपि यहाँ ज्ञान स्वतंत्रता से कोई उद्देश्य नहीं है, किन्तु केवल दोषारोपण को निवृत्त करने के लिए है, तो भी वह दोषारोपण भी रसात्मक होने से और व्यभिचारी भाव के कारण वह दोषारोपण स्थिर नहीं रहता है। इसलिए यहां ज्ञान का सर्वथा उपयोग नहीं है। अब तक जो निरोध सिद्ध किया है, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं रह गई है, जिसके लिए ज्ञान की उपयोगिता वा आवश्यकता हो। इसलिए आचार्य श्री ने 'मतान्तर' भाषा कहा है, वह श्रेष्ठ कहा है।

इस कथन में यह ही उपपत्ति है कि प्रीतम का संयोग अथवा वियोग होना चाहिए जिसको पुरुषार्थ कहा जाता है। रस शास्त्र का यही तत्व है कि वियोग दशा में प्रीतम में जो दोष की स्फूर्ति होती है, जिसमें अपने दुःख होने का ज्ञान ही हेतु है। वैसा जब ज्ञान होता है, तब ही ध्यान में आती है कि हमको सुख देने वाला यह प्यारा प्रीतम ही है। यह प्रीतम स्वरूप से दुःखदायी नहीं है और यह तो उत्तम तथा प्रिय है। यदि स्वरूप से दुःखदायी समझने लगे तो उनका स्नेह उपाधि रहित न कहा जाय। इसलिए उसके समाधान के लिए भगवान् ने आत्मत्व का बोध कराया है। ऐसा होने पर ही भगवान् में इन (गोपियों) का और गोपियों में भगवान् का स्वाभाविक स्नेह है, यह सूचित किया है। भगवान् दुःख देने वाले हैं, यह कहना असम्भव है। जिसको विशेष स्पष्ट करते हुए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे जीव जिस देह को अपनी समझ बैठा है उसको दुःख देने का उत्साह नहीं करता है। वैसे ही भगवान् भी जिस जीवात्मा को अधिष्ठान कर बिराजते हैं उसको दुःख देना नहीं चाहते हैं। इसलिए ही श्रुति कहती है कि 'यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुस्वाम्' अर्थ-जिसको ही यह आत्मा (भगवान्) अपना करती है, वही उस (भगवान्) को पाता है। उसको यह आत्मा अपना तनु स्वाधीन करती है।

तात्पर्य यह है कि विप्रयोग में अन्दर का लाभ है और संयोग में बाहर का लाभ है। जब वे धर्म स्नेह के वश होकर प्रकट होते हैं, वे भी जो स्नेह वाले हैं उनमें प्रकट हो जाते, इससे स्नेह ही दोष स्फूर्ति का कारण है। जिससे प्रिय में तो निर्दोषत्व ही भासता है, यह तो मर्यादा रीति से कहते हैं। सचमुच तो अति उत्कट स्नेह के कारण ही दोष की स्फूर्ति होती है। वह भी भगवद्भाव ही है, भ्रम रूप वा दोष रूप नहीं है। रसात्मक भगवत्स्वरूप इस प्रकार का ही है। इसलिए विशेष विचारणीय कुछ नहीं है। यदि विचारा जावेगा तो रसाभाव ही सिद्ध होगा। अब हमको यों प्रतीत होता है कि ज्ञान से भक्ति की अधिकता भी इससे जतायी जाती है।

अनुसारिणी है। यों कहने से समाधिभाषा[1] वा भक्ति मार्ग में विरोध नहीं हैं। यद्यपि भ्रमर मधुप हो सकता है अर्थात् मकरंद का पान करता है, किन्तु उसका अन्य अर्थ भी हो सकता हैं, उस अर्थ से निन्दा भी होती है, जैसे कि 'मधु' का अर्थ 'मद्य' होता है जिसका तात्पर्य है कि तू मद्यपान करने वाला है। इसके ज्ञान होने पर भ्रमर की निन्दा भी हो सकती है। अन्य लक्ष्य लेने पर तो यादव सर्व पान में आसक्त हैं।यह बात लोक में प्रसिद्ध है जिससे निन्दा होती है।भगवान्‌और भगवद्भक्त इस कोटि में नहीं आते हैं और भगवान् अनिन्दित साधारण लौकिक धर्मों का अनुकरण करते हैं कि सर्व धर्मों का अनुकरण करते हैं, तो भी यादव मद्यपान करते हैं। इस प्रकार साधारण यादव मात्र का यह धर्म सुनने से अत्यन्त खेद होता है। वास्तव में तो सरस्वती दूसरे अर्थ को ही कहती है, जैसा कि भगवान् स्वामी हैं, और 'काल' दूत है तथा आपकी गोपियाँ श्रुतियाँ हैं। निश्चय से भगवान् काल द्वारा+कहे जा सकते हैं तथा जाने जाते हैं। यहाँ 'काल' संवत्सर रूप है। आदि में वह बसन्त ऋतु

१–समाधिभाषा–माहात्म्य ज्ञान तथा स्नेह ये दोनों सर्वत्र साथ में नहीं होते हैं। कभी साथ साथ में और कभी पृथक भी नहीं होते हैं। चालू प्रसङ्ग में 'काचिन्मधुकरं' से प्रारम्भ की हुई कथा वैसी नहीं है। अर्थात् इसमें स्नेह वा माहात्म्यज्ञान दोनों नहीं है, किन्तु काम शास्त्र के अनुरूप है, जिससे यह कथा समाधिभाषा वा भक्ति मात्र के विरुद्ध नहीं, किन्तु किसी को इसमें विरुद्धता का भाव होवे और यों भी शङ्का होवे कि विहित स्नेह के अभाव से भक्ति मार्ग से भी विरोध है। जिसके उत्तर में दो हेतु देकर सिद्ध किया जाता है कि यहां विरोध नहीं है, कारण (१) यह मतान्तर भाषा है। (२) यह काम शास्त्र की दृष्टि से कहा गया।

इस विषय को इस प्रकार से समझना चाहिये कि मर्यादा मार्गीय मत से पुष्टिमार्गीय मत पृथक् है;इसलिए यह मतान्तर है। समाधि भाषा में व्यासजी ने दो प्रकार का दर्शन किया है;'अनर्थोपशमं, साक्षाद्भक्तियोगं' जिसका अर्थ है कि अनर्थ का उपशम न करने वाला भक्ति योग, साधन रूप होने से मर्यादा मार्गीय हैं। साक्षात् भक्ति योग पद से फल रूप भक्ति योग कहा है जो पुष्टिमार्गीय है और जो इस तत्व को नहीं जानते हैं वा इसके अधिकारी नहीं हैं, उनके लिए पहला साधन-भक्ति मार्ग है और 'समाधौदृष्ट्वा स्वयं विद्वान्' समाधि में देखकर स्वयं जानकर जो फल रूप कहा है वह व्रजसीमन्तिनिओं में फलित हुआ है, यह पुष्टिमार्गीय ही मतान्तर रूप कहा है। वैसे अधिकारियों में ज्ञान का कथन भी वैसा ही है। काम शास्त्र के अनुसार ही भगवान् ने पहले स्वरूपानन्द का दान दिया है, इसलिये अब भी वही प्रकार कहा जाता है। अतः कोई विरोध नहीं है और वैसे तो यह समाधिभाषा ही है और यहां समाधिभाषा तथा भक्ति मार्ग दोनों हैं। जिससे यों कहने में किसी प्रकार विरोध नहीं है।

+श्री प्रभुचरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि–'काल द्वारा हि' इससे काल का दूतपन कहते हैं–शास्त्र में जिस जिस काल में जो जो भगवत्पूजा ध्यानस्तुति आदि करने की आज्ञा है उस काल में ही वह करने से वह काल करने वाले को भगवान् के पास पहुंचाने वाला होता है। सारांश यह है कि करने के योग्य काल न हो और अकाल में ही भगवत् पूजा आदि की जावे तो वह व्यर्थ है, क्योंकि फल प्राप्ति नहीं होगी।

होकर पालन करता है, जिससे उसको मधुप कहते हैं। अनन्तर वही काल (वंचना से रस चूस कर भी) ग्रीष्म का बन्धु बनता है, जिससे वह कितव (कपटी) है। वह ग्रीष्म यदि भगवान् के सम्बन्धी वृन्दावन आदि भू प्रदेश का अथवा भगवच्चरण का स्पर्श करे तो महान् क्लेश उत्पन्न होवे, क्योंकि ग्रीष्म के स्पर्श से उस भूमि की शीतलता, हरियाली एवं मकरंद आदि नष्ट हो जावे, इसलिए गोपी चरण स्पर्श का निषेध करतीं हैं। पहले तो भगवान् जब वृन्दावन में विराजते थे, तब तो ग्रीष्म के सूर्य का ताप वृन्दावन भूमि के रस को नहीं चूस सकता था। अब भगवान् इस भूमि से दूर पधार गए हैं, अतः अब यदि चूस लेवे तो उसके लिए निषेध करती है। अतः प्रणाम के लिए आए हुए भ्रमर वा उद्धवजी को रोकती है। नमस्कार करने में क्या दोष है? इस प्रश्न के उत्तर में कहतीं हैं कि यह मधुप है, मकरंद पान करने वाला है, जिससे चरण का मकरंद भी चूसलेगा। इसलिए निषेध करती हैं। यदि यह मकरन्द पान कर लेगा तो मकरन्द रूप सार निकल जाने से हमारे चरण भगवान् के उपयोगी नहीं रहेंगे और मधु तथा मादक को पीने वाला स्पर्श के योग्य नहीं है, इस पर उद्धवजी यदि कहे कि मैं और कोई नहीं हूँ, किन्तु भगवान् का दूत हूँ। आपको बुलाने के लिए भगवान् ने मुझे भेजा है और मैं तो कोई वैसा नहीं हूँ जो उपेक्षक हो। भोगार्थिनी स्त्रियों, जो प्रभु के सम्भोग को चाहती हैं, वसी अन्तरङ्ग दूतियों की वैसी दशा कहनी योग्य है। इस पर कहती हैं कि आपको भगवान् ने छलने के लिए यहाँ भेजा है, क्योंकि आप 'कितव बन्धु' हैं। वे भगवान् वञ्चक और धूर्त भी हैं। अतः किसी प्रकार जिससे फल प्राप्त न होवे वैसे मान के अपनोदन[1] रूप साधन करने व्यर्थ ही हैं। इसलिए कहतीं हैं कि चरण का स्पर्श मत करो, यों निषेध करना योग्य ही है। इस प्रकार कहने का आशय यह है कि उद्धवजी का भी यहाँ सन्मान नहीं होगा। अर्थात् उद्धवजी जिस ज्ञान का उपदेश देने की आशा से आए हैं वह उनकी पूर्ण नहीं होगी। इसी आशय को हृदय में रखकर गोपी ने निषेध किया है। भ्रमर पक्ष में कहा है कि सौतिन के कुचों से मर्दित भगवान् की वनमाला की केसर से तेरी दाढी मूछें रंगी हुई हैं, इसलिए स्पर्श मत कर। अब काल के पक्ष में जिस प्रकार का भाव है, वह कहते हैं कि यहाँ सौतिन 'आकाश' हैं। उनके कुच 'मेघ' हैं। उनसे मर्दित माला' बिजुलियां हैं, और उनकी कान्ति केसर है। उसके साथ में बहने वाली धाराएँ उनकी दाढी मूछें हैं। तू उनसे मुझे स्पर्श मत कर। गोपी यह जो निषेध काल को कर रही है वह वर्षा पर्यन्त हो कर रही है। कारण कि वर्षा के अनन्तर आने वाली शरद् तो हमारी हितकारिणी है। गोपी 'नः' यह बहुवचन देकर कहती है कि मुझ अकेली की शरद् हितकारिणी नहीं है, किन्तु सर्व गोपियों की है। अतः यह निषेध भी मैं सर्व की तरफ से कर रही हूँ। जो मनाने के लिए वा मान देने के लिए आवे, उसको द्विष्ट[2] पदार्थों का त्याग कर आना चाहिए, न कि वे दिखाते हुए आना चाहिए। भ्रमर के जो दाढ़ी मूछों के स्थान पर रोम हैं वे पीले हैं वह पीलास दूसरे पुष्पों के मकरन्द की नहीं है किन्तु भगवान् की माला में स्थित पुष्पों के मकरन्द की ही है, क्योंकि भगवदीय अन्यत्र मकरन्द लेने के लिए नहीं जाते हैं। पुष्पों के मकरन्द के अन्दर प्रवेश के अभाव से बाहर ही उसका सम्बन्ध हुआ है। अतः यह जो पीतपन है वह कुङ्कुम के सम्बन्ध से हुआ है न कि दूसरे प्रकार से हुआ है। इस प्रकार उद्धवजी को भी भगवत्प्रसादी माला के सूंघने से कुङ्कुम का सम्बन्ध हुआ है। उसकी भी दाढी मूँछें बहुत कर वैसी ही पीली लगती हैं। बार बार माला के सूंघने से श्मश्रू पीली हो जाती है। सूंघना अथवा

१- तोड़ने वाला, २- मन को दुःख देने वाले।

मकरन्द पान बाहर से होता है । अतः यह पीलास भगवान् के अङ्गराग से नहीं हुआ है, माला मर्दित हुई, उससे हुआ है । जिससे सम्भोग सिद्ध होता है, न कि केवल आलिङ्गन सिद्ध होता है । कारण कि आलिङ्गन मात्र से माला इस प्रकार मर्दित नहीं होती हैं तथा आलिङ्गन मात्र तो अन्य के आग्रह से भी होता है । यहाँ तक तो वह अत्यन्त द्वेष करने योग्य नहीं है और यह जाना जाता है कि वह श्रमित हुई है । जिससे प्रकट होता है कि यहां सौरत हुआ है, अतः मान बढने से काल भ्रमर और उद्धव इन तीन पक्षों में चरण स्पर्श का निषेध किया है ।

आप भगवदीय हैं, यदि भगवान् यों मानते तो फिर आपका अस्वीकार कैसे करेंगे ? अथवा ना कैसे दे सकती हैं ? इस शङ्का के उत्तर में कहती हैं कि 'वह तु मधुपतिः' काल पक्ष के सङ्ग्रहणार्थ कहती है कि 'मधुपतिः' संवत्सर काल वसन्त का सम्बन्धी है । अतः भले वह वहाँ की मानवालियों के प्रसाद को वहन करे, वे मान का त्याग कर सन्तोष को पाकर काल को प्रसन्न करती है जिस कारण से वर्णन करने में वसन्त के सम्बन्ध से वे महत्त्व को प्राप्त करती हैं हम इससे प्रसन्न नहीं होती हैं। शरद् ऋतु में ही भगवान् की कृपा होने से दो 'ग्रीष्म तथा वर्षा' का निषेध किया है । वसन्त तथा शरद् में उसकी प्रशंसा है, क्योंकि वसन्त में भगवान् ने काल का उत्कर्ष किया है । शरद् में सर्वथा उत्कर्ष है । वसन्त में यज्ञ, अग्निओं तथा संस्कार होते हैं । सौतिन ने प्रसाद रूप में अपना कुच कुङ्कुम भगवान् को दिया है जो स्वामी होकर दासियों की प्रसादी लेते हैं । उनकी यादवों की सभा में निन्दा होती है । दूसरे का भोगा हुआ पदार्थ अन्य ग्रहण करे तो निन्दा जैसा कार्य है, किन्तु वह भोगा हुआ पदार्थ देवता के सिवाय दूसरे का भोगा हुआ हो तो निन्दनीय है । देव की प्रसादी लेने में किसी प्रकार की निन्दा नहीं है, तो भगवान् ने दासियों की प्रसादी कैसे ली ? वे तो महान् हैं, महान् की तो विशेष निन्दा होती है ? इसके उत्तर में कहती हैं कि वे 'मधुपति' हैं अर्थात् मथुरा के पति (राजा) हैं अथवा ईर्षा से कहती हैं कि वे इच्छा में आवे उतना मद्यपान करते हैं, अतः देश की नीति के कारण अथवा वस्तु स्वभाव के कारण उनका स्वभाव ही वैसा है । जिससे दासियों की प्रसादी ले ली है । वैसे भगवान् का प्रसाद इसने ग्रहण किया है, अतः यह भी आदर के योग्य नहीं है । इस प्रकार कहने का भीतरी भावार्थ यह है कि आप यहां आकर गुप्त प्रकार से भोग करो, हम मथुरा तो नहीं आवेंगी, क्योंकि वहां आने पर यादव हमारी हँसी करेंगे । वहां कृष्ण को यादव होने के नाते यादवों की सभा में अवश्य जाना पड़ेगा । जाति वालों की मजाक दुःख से सही जाती है ।

यदि हमको इस प्रकार भी मथुरा ले जाया जावे जैसे यादवों को मालूम न पड़े तो भी दूसरे से किए हुए सम्बन्ध से जो निन्दा होगी, वह असह्य होती है । अतः हम तो यहाँ ही भोग होना चाहती हैं । वहां रह कर इस प्रकार का प्रसाद वह आपका (स्वामी) भले लेवे हमको उसकी गरज नहीं है । हम वहां जाय तो भी हमको प्रसाद में कुंकुम ही प्राप्त होगा । वह हमको नहीं चाहिए । इत्यादि कारणों से गोपी निषेध करती है और दिखाती है कि भगवान् के प्रशस्त धर्म ही ग्रहण करने योग्य हैं, अन्य धर्म अग्राह्य हैं, अतः उनके लिए कहा है कि वे विडम्बना[1] करने के योग्य हैं ।

१- तिरस्कार ।

गोपी कहती है कि यदि उद्धवजी यों कह दे कि आप को क्या पता है कि भगवान् आपको कुंकुम देंगे, इसका प्रमाण क्या है ? अथवा यों हो जावे कि आपके पहुँचने पर उनका त्याग कर देवें। इसके उत्तर में कहती है कि 'यस्य दूत: त्वम् ईदृक्' जिसका दूत तूं भी वैसा ही है, उसका सम्बन्धी तूं उसका बहुत प्यारा है। आप प्यारे को जब वह कुंकुम ही देते हैं तो हमको भी वही देंगे। यदि इस प्रकार न होवे तो आपकी मूंछें पीली कर आपको यहां न भेजते, अत: इसको जताने के लिए ही आपको वैसा बनाके भेजा है। इससे गोपी ने यह सर्व भाव समझ लिया है। गोपी अपने बुलाने का गुप्त कारण जो उसने समझा है वह स्पष्ट कहती है। गाढ सुरत में वायु की आवश्यकता होती है। मथुरा बड़ा नगर है अत: घर में वायु आने के मार्ग बन्द रहते हैं, इसलिए उस समय पंखे के चलाने के लिए प्रभु को मनुष्य की आवश्यकता है, जिसके लिए हमको बुला रहे हैं। वहां पुरुष तो रह नहीं सकता है, हम पूर्व ही भोगी हुई हैं इसलिए हमको उनकी दासी बनाकर पंखा कराने के लिए बुला रहे हैं। यों बनना सर्व प्रकार अशक्य है; इससे भ्रमर तथा उद्धव के पक्ष में निषेध करना योग्य ही है।

बसन्त ऋतु कृत उत्सव धर्म रूप है। यादवों की सभा में वह विडम्बना के योग्य है, क्योंकि वे सर्व लौकिक प्रधान हैं। अनुकरण मात्र से ही धर्म करेंगे, अत: कालकृत धर्म भगवत्कृत धर्म से हीन है। इसमें प्रमाण क्या है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि मुख्य काल और भगवान् का सम्बन्धी तूं दूत दोनों वैसे कलि स्वरूप श्याम है। उत्कृष्ट धर्म का आधार श्याम नहीं होता है, अत: हमारे लिए तीन ऋतुओं का निषेध योग्य ही है। पुष्टि मार्ग में दक्षिणायन ही श्रेष्ठ गिना गया है। कारण कि दक्षिणायन में रात्रि बड़ी होती है और दिन छोटा होता है। उत्तरायण की ऋतुओं का अङ्गीकार न करने में यह हेतु है ॥१२॥

आभास—ननु कथमेवं धाष्ट्र्येन भगवति दोषा आरोप्यन्ते अस्मास्वपि चेत्याशङ्क्याह **सकृदधरसुधामिति** ।

आभासार्थ- तुम इस प्रकार निर्लज्जता पूर्वक भगवान् पर कैसे दोषारोपण करती हो ? तथा हम पर भी ? जिसका क्या कारण है ? इसके उत्तर में 'सकृदधर सुधां' श्लोक कहती हैं—

श्लोक—सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक् ।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥१३॥

श्लोकार्थ—जैसा तूं है वैसा तेरा स्वामी भी है; क्योंकि तूं पुष्पों का रस लेकर अनन्तर उनको छोड़ देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने भी मोहित करने वाला अपना अधरामृत एक बार पिला कर हमें छोड़ दिया है। अत: दोनों समान हो, अरे ! तब

लक्ष्मीजी उनके चरण कमल की सेवा कैसे करती हैं ? इस शङ्का का उत्तर देती हैं कि नारद आदि के द्वारा की हुई भगवान् की झूठी बड़ाई सुनने से लक्ष्मीजी का मन लग गया है, अतः सेवा कर रही है ॥१३॥

सुबोधिनी—यो हि यं वञ्चयति स तस्याक्रोशं करोति । भगवांश्च सर्वथास्मान्वञ्चितवान् । वञ्चनामेवाह, **अधरसुधां पाययित्वा तत्यज** इति । **अस्मान्** त्यक्त्वा गतः । **अधरे**त्यनेनोच्छिष्टतया लोके जातिभ्रंशो निरूपितः । मोहिता च सा, सुधात्वात् पीता । ननु तह्य ुपकार एव कृतः, यो हि जलमपि पाययित्वा गच्छति सोप्याक्रोशं नार्हति किं पुनः सुधाम्, सुतरां लोभात्मके स्थापिताम् । तत्राह **मोहिनीमिति**, मोहिका हि सा, नहि मोहकानां लड्डुकादिकं दानफलं उपकारं वा जनयति । नन्वन्येन तर्हि तदुत्तारणं क्रियतां किमाक्रोशेनेत्यत आह **स्वामित्यसाधारणीम्**, न ह्य ुपायसहस्रेणापि तत्कृतो मोहो निवर्तयितुं शक्यते । ननु मोहनस्य न फलं किञ्चिज्जातम्, रसश्चोत्तमः पीत इत्याशङ्क्याह **सकृ**दिति । **सुमनस इवेति** । बहुवारं चेत्पाययेत् तच्चाप्यन्ततः सुखं भवेत् । किन्तु सकृदेव । अन्यथा सकृदेवाधरसुधा प्राप्ता सुखं जनयेत् । पुष्पाणि च यथा मृदितानि सर्वकार्यानुपयुक्तानि भवन्ति तथा भगवता वयं धैर्यविवेकादिभिर्हीनाः कृताः, अतोस्माकं सर्वनाशं कृत्वा यदर्थमस्माभिः सर्वं त्यक्तं तमपि हृत्वा इतो गतवान् । तर्हि कथं न धृत इत्याशङ्क्याह **सद्यस्तत्यज** इति । **भवादृगिति** भ्रमरतुल्यः, स हि पीत्वा निःसारान् कृत्वा गच्छति, तथा भगवानपि । पाययित्वेति विशेषः अग्रेऽपि रसानुत्पादनार्थः, अन्यथा कमलादिवत् पुना रसः स्यात्, अतः पाययित्वा भगवान् गतः पीत्वा च भ्रमर इति वैषम्यात् समाधानं परिहृतम् । सुधापानेनासक्तिर्जनिता, अधरसम्बन्धेन लोकस्त्याजितः, मोहेन विवेकाद्यभावाज् ज्ञानभक्ती निवारिते । परित्यागादाश्रयोपि निराकृतः । अतोस्माकं न पूर्वसिद्धा इमे लोका नापि भगवानित्युभयतो भ्रष्टा वयं जाता इति युक्त एवोपालम्भः । ननु भवत्य एव भगवतो जाताः, भगवदीयत्वमेव परमपुरुषार्थः, अतः कथं शोक इति चेदुच्यते । न हि भगवदीयान् भगवांस्त्यजति । त्यक्ताश्च न भगवदीयाः । प्रत्यासत्तिश्च न भवति, **मोहेन** तत्र दृष्टेर्गतत्वात् । ननु भगवान् मोहं किमिति सम्पादयति, नापि स्वार्थं त्यक्तत्वात् । नापि तासामर्थं, दोषनिवृत्तावपि गुणाभावात्, दोषभावे चावश्यकदुःखनिवृत्तिः, तदभावाद्दोषश्च, तस्मादयुक्तं मोहनमिति चेत् । सत्यम् । भवेदेतदेवं यदि तासां मनसो भगवत्यनुवृत्तिर्न स्यात् । अतो मोहाभावे स्वस्थानगमनात्कृतोपि निरोधो व्यर्थः स्यात्, तात्पर्याज्ञानादयं मोहः एतत्कृतो वा दोषः अग्रे स्मरणेन च परिहर्तव्य इति । तदर्थमेव वायमुद्योगः । ननु भगवानेतादृश एव,न हि सर्वोप्येकविधो भवति, तस्मान्नोपालभ्य इति चेत्तत्राह **परिचरतीति** । स्त्रीणां मध्ये मूलभूता चतुरा लक्ष्मीः, सा कथं भगवन्तमेतादृशं ज्ञात्वा सेवितवती । अथ साप्येवं वञ्चिता, तथापि केनचिदुपायेन सा पुनः सेवते, तथोपायश्चेज्ज्ञातः स्यात्, तदास्माभिरपि सेव्येतेति प्रश्नार्थो वा कथंशब्दः । **पद्मे**त्युत्तरं वा, सा हि पदि चरणे भाति, अत एव चरणस्य कमलत्वम्, सापि कमला, चरणात्मकतां प्राप्य सा तिष्ठतीति न तस्याः कापि क्षतिः । गोपिकानामपि भूमौ निरन्तर चरणे वा सम्बन्धे जाते घटते नान्यथेति । **अपि च** । 'पुनश्च पद्मा सम्भूते'ति वाक्याद् रूपान्तरेषु सौम्येष्वप्यादित्योत्पन्नं कठिनो भ्रमणस्वभावश्च, तत्र कथं सेवां कृतवतीति प्रश्नः उपालम्भो वा । तादृश एवायमवतारः प्रतिभातीति भावः । एकत्र स्थैर्याभावात् ननु लक्ष्म्या अवतारो न जात इति शङ्कां वारयितुमाह नु इति वितर्के । सा हि भग-

वन्तं विना क्षणमपि स्थातुमशक्तेति । पद्येति प्रमाणं चोक्तम् । **परिचरतीति** वर्तमानप्रयोगादिदानीमपि सेवा लक्ष्यते, भगवांस्तूदासीन इति तु निर्विवादम् । तर्हि का उपपत्तिरिति चेत्तत्राह **अपीति** । प्रमाणमत्र बाधितं परं किञ्चित्सम्भाव्यते **उत्तमश्लोकजल्पैः हृतचेताः** प्रायेण, तथा सति **बत** खेदे, उत्तमश्लोकाः कीर्तिमन्तो ये भक्ताः नारदादयः, तेषां जल्पाः स्वपक्षस्थापनपूर्वकपरपक्षनिराकरणरूपाः कथाः, तेन वादिन्यायेन प्रायेण सा परिगृहीता । यथानभिप्रेतमपि युक्त्या साधितमर्थं प्रतिवादी मन्यते । तर्हि लक्ष्मीपक्षेऽपि कथं न युक्तिरिति चेत्तत्राह **उत्तमश्लोकेति** । तेषां तु कीर्तिरुत्तमा लक्ष्म्यपेक्षयापि, अतो लोके प्रतिष्ठितत्वात् भक्तानामेव जयः न लक्ष्म्याः, प्रायेणैवं भविष्यतीत्यर्थः ।।१३।।

व्याख्यार्थ—जो जिससे ठगा जाता है, वह उसकी निन्दा करता है । भगवान् ने तो सब प्रकार से हमको ठगा है । वह ठगना बताती हैं, अधर सुधा को पिलाकर छोड़ गए। अधर (नीचे के होठ) की सुधा उच्छिष्ट होती है, जिसके पीने से हम जाति से निकाली गई हैं । क्यों पी ? जिसके उत्तर में कहती हैं कि वह मोहित करने वाली सुधा होने से हमने पी है तब भगवान् का आपके ऊपर उपकार ही हुआ, क्योंकि जो केवल साधारण जल पिला दे और फिर चला जावे तो उसकी भी निन्दा नहीं की जाती है तो जो 'सुधा' पिलावे, उसकी निन्दा तो करनी ही नहीं चाहिए, उसका तो उपकार मानना चाहिये । फिर उस सुधा की स्थिति लोभात्मक अधर में, वैसे स्थान में स्थित सुधा आपको पिलाई है, तो आपका कहना ठीक है, किन्तु वह तो मद करने वाली मोहिका है । यदि कोई लुटेरा नशा पैदा करने वाली वस्तु जैसे लड्डू आदि खिलाता है तो वह उसका उपकार नहीं है और न उसको दान का फल मिलता है क्योंकि वह तो नशेवाली वस्तु खिलाकर अनन्तर लूट लेता है। इस प्रकार तुम्हारे मित्र ने भी मादक सुधा पिलाकर हमारा सर्वस्व लूट लिया है; इसलिए वैसे की निन्दा के सिवाय अन्य कोई सेवा नहीं होती है । यदि उनका दूत कहे कि निन्दा क्यों करती हो ? दूसरे किसी से उस मद के उतारने की क्रिया करवाओ, तो उसके उत्तर में कहती है कि यह सुधा उनकी अपनी ही होने से साधारण नहीं है हजार उपाय करने पर भी उसका नशा उतरने वाला नहीं है । आपको तो नशे का कुछ फल नहीं मिला है; क्योंकि आप तो वैसी की वैसी ही हो। जैसे पहले थी और उतम रस का पान भी कर लिया । इसके उत्तर में कहती हैं कि 'सकृदेव' एक ही बार पिलाई है, यदि बहुत बार पिलावे तो वह भी अन्त में जाकर सुख देवे किन्तु तुम्हारे मित्र ने तो एक बार पिलाई फिर आप भाग गए । वैसे भ्रमर मकरंद ले पुष्पों को छोड़ भाग जाता है । वे मर्दित पुष्प किसी कार्य के लिये उपयोगी नहीं रहते है । भगवान् ने भी हमारी दशा वैसी ही कर दी है । इसलिए अब हममें धैर्य विवेक आदि कुछ नहीं रहा है । जिसके लिए हमने अपना सब त्याग दिया वह हमारा सर्वस्वनाश कर अन्त में हमें भी छोड़ गए । जब वह जा रहे थे, तब उनको क्यों नहीं पकड़ रखा ? इसके उत्तर में कहती हैं कि 'सद्यस्तत्यजे' एकदम से छोड़ गए, क्योंकि तुम्हारे समान है । हे भ्रमर ! तू भी रस चूस पुष्पों को निरस बनाकर चला जाता है, वैसे ही तेरा मित्र भगवान् भी, किन्तु तुम्हारे मित्र में यह विशेषता है । जो भ्रमर रस चूस जाता है जिससे पुष्पों को पुनः रस की प्राप्ति होती है, हमको तो रस पिला कर चले गए, जिससे फिर रस प्राप्त ही न होवे । यह भ्रमर और भगवान् में विषमता है । वैसी अवस्था में समाधान कैसे होगा ? हम को तो भगवान् दोनों तरफ से भ्रष्ट कर गए हैं, कैसे ? इसके उत्तर में कहती हैं कि सुधा पिलाकर अपने में आसक्ति उत्पन्न की । अधर का संबन्ध करा के लोक लाज छुड़ाई, मोह से विवेक आदि का अभाव कर दिया, जिससे

ज्ञान और भक्ति तिरोहित हो गए। शेष आपका जो आश्रय रहा था, वह भी त्याग कर नष्ट कर दिया। अत: पति सेवा से पूर्व सिद्ध ये स्वर्ग आदि लोक तथा भगवान् भी न मिले; इसलिए हम जो उपालम्भ[1] दे रही है। वह योग्य ही हैं यदि आप कहो कि तुम भगवान् की ही हो गई हो, भगवदीय होना ही परम पुरुषार्थ है; तो फिर शोक किसका ? यदि हमको भगवान् ने अपनी समझी होती तो त्याग कर नहीं जाते । भगवान् भगवदीयों का त्याग कभी नहीं करते हैं। यदि उसको छोड़ा तो निश्चय है कि वे भगवदीय नहीं हैं और उनसे सम्बन्ध भी नहीं होता है। मोह के कारण केवल हमारी दृष्टि उनके पास गई है। + भगवान् ने मोह किस लिए उत्पन्न किया ? यदि कहो कि अपने स्वार्थ के लिए तो वह सत्य नहीं है। कारण कि जो भगवान् का अपना स्वार्थ होता तो वे आप का त्याग न करते। यदि उनके गोपियों के लिए, तो वह भी नहीं है, क्योंकि संसार से निवृत्ति होने पर भी मिलने का लाभ नहीं। यदि प्रभू न मिले तो दुःख होगा ही। दोष के अभाव पर दुःख की निवृत्ति होती है । यदि वह निवृत्ति न हुई तो समझना चाहिए कि दोष का अभाव नहीं हुआ है। इस कारण से मोह कहना अयोग्य है। इसके उत्तर में कहती हैं कि आपका यह कहना तब सत्य हो जबकि हम गोपियों का मन उनमें आसक्त न होवे, इसकी पुष्टि में कहती है कि यदि हमारा मन आसक्त न होवे तो हम घर चली जावे और प्रपञ्च में निष्ठा वाली हो कर रहें; वह नहीं हो सका है। जिसका कारण है कि प्रभु ने हमारा निरोध कर रखा है। हम चली जावें, तो निरोध व्यर्थ हो जावेगा। वह व्यर्थ न होवे अतः प्रपञ्च निवृत्ति के लिए ही आसक्ति की है। इस तात्पर्य के अज्ञान से एवं दुःख के न मिटने का दोष रहा हुआ है । वह आगे स्मरण से मिटाने के योग्य है, इसलिए ही भगवान् ने यह उद्यम किया है।

यदि तुम कहो कि भगवान् तो वैसे ही हैं। लोक में सब एक प्रकार के नहीं होते हैं, इसलिए उपालम्भ नहीं देना चाहिए। इस पर कहती हैं कि सर्व स्त्रियों की मूल भूत स्त्री लक्ष्मीजी चतुर हैं। वह भगवान् को वैसा समझ भी सेवती है ? यदि वह भी इस प्रकार[2] ठगी गई है, तो भी किसी उपाय से भी वह फिर भी सेवा कर रही है। वैसे उपाय का हमको भी ज्ञान हो जावे तो हम भी वैसी सेवा करें ? यह कहना प्रश्न के रूप में है; अथवा वह 'पद्मा' है जिसका अर्थ है कि पाद में रहती है, इसलिए भगवान् के चरणों को कमल कहा है, लक्ष्मी चरण रूप होकर रहती है, जिससे 'कमला' भी कही जाती है, इससे उसकी किसी प्रकार क्षति नहीं है। गोपिकाओं का भी कृष्ण सम्बन्धिकी,

---

+लेखकार इस पङ्क्ति का आशय स्पष्ट करते हैं-भगवदीयत्व तब है जब भगवत्सम्बन्ध होवे यहां सम्बन्ध तो होता ही नहीं है। क्यों नहीं होता है ? जिसमें कारण बताती हैं कि सम्बन्ध दृष्टि के द्वारा होता है। हमारी दृष्टि मोह के कारण भगवान् के पास गई है; जो वहां से लौट कर नहीं आई है। अतः दृष्टि के अभाव से दूसरा कोई दीखता नहीं है। तो अब सम्बन्ध कैसे होगा ? यहां दृष्टि से सर्व इन्द्रियां समझनी चाहिये।

१- उलहना।

२- जैसे हम ठगी हैं।

वृन्दवन भूमि तथा चरण से सदा सम्बन्ध होवे तो वे भी लक्ष्मी के समान बन जावे अर्थात् वैसे ही चकरणों की सेवा करती रहें। वैसा होने के लिए अन्य कोई प्रकार नहीं है, जैसा कि कहा है, देवकी सुत के पदाम्बुज में लक्ष्मीत्व प्राप्त करने पर यों होता है, अर्थात् अति विगाढ भाव से चरणात्मक होने पर ही लक्ष्मी हुई, जैसे कि कहा है 'पुनश्च पद्मा संभूता' नारायण के सौम्य रूपों में 'आदित्य' रूप उग्र है तथा उसका भ्रमण करने का स्वभाव है, ऐसे रूप की सेवा कैसे करती होगी ? यह प्रश्न है अथवा उपालम्भ है, यह अवतार भी वैसा ही प्रतीत होता है, क्योंकि इसको भी एक स्थान पर स्थिति नहीं है। लक्ष्मी का तो अवतार हुआ ही नहीं है ? इस शङ्का के मिटाने के लिए 'नु' अव्यय वितर्क[1] में दिया है, वह तो भगवान् के बिना एक क्षण भी रहने में असमर्थ है, जिसमें 'पद्मा' नाम ही प्रमाण है। श्लोक में 'परिचरति' वर्तमान काल की क्रिया से समझा जाता हैं कि इस समय भी 'सेवा' कर रही है। भगवान् तो सदैव उदासीन ही हैं जिसमें कोई वाद नहीं है, तब यहां कौनसो उपपत्ति हो सकती है ? वहां कहा जाता है कि यद्यपि यहां प्रमाण का बाध है तो भी कुछ प्रमाण मिलने की संभावना है, जैसे कि 'उत्तमश्लोकजल्पः हृतचेताः' से कीर्तिमान नारद आदि भक्तों के स्वपक्ष की स्थापना और पर पक्ष का निराकरण करने वाली कथाएं हैं जिनसे भगवान् के गुणानुवाद की महिमा स्थापित होती है। जिनसे लक्ष्मी भगवदासक्त होकर सेवा कर रही हैं। सामने वाले को जो कार्य पसन्द न भी हो, किन्तु युक्ति पूर्वक यदि सिद्ध किया जाय तो उसको वह भी मान लेता है। वैसी दशा में लक्ष्मी के पक्ष में क्यों युक्ति नहीं दो जाती है ? जिसके उत्तर में कहा गया है कि लक्ष्मी से भी भक्तों की कीर्ति विशेष है, अतः लोक में प्रतिष्ठित होने से भक्तों की ही जय है, लक्ष्मी की नहीं है; बहुत कर के यों ही होगा ॥१३॥

आभास—एवं भ्रमरगतिं पादस्पर्शत्वेन निषिध्य तदागमनं च परिहृत्य तद्गतं शब्दं निषेधति **किमिह बहु षडंह्रे** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार भ्रमर को पादों के स्पर्श का तथा अपने और आने का निषेध किया, अर्थात् इस तरफ न आकर दूसरी जगहों में भ्रमण कर। अब उसको कहती है कि अपना यह आलाप भी मत कर, जिसका वर्णन 'किमिह बहु षडंह्रे' इस श्लोक में किया है।

श्लोक—किमिह बहु षडंह्रे गायसि त्वं
यदूनामधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे भ्रमर ! हमारे सामने लगातार यदुपति के पुरातन गान क्यों कर

१- आनुमानिक विचार।

रहे हो ? हमने तो घरबार भी छोड़ दिया है, अतः श्रीकृष्ण की जो नवीन सखियाँ हैं; उनके आगे जाकर श्रीकृष्ण के प्रसङ्ग का गान करो, जिनका काम ज्वर भगवान् शान्त कर रहे हैं; वे सखियाँ जो आप चाहोगे, वही देंगी ॥१४॥

सुबोधिनी—उद्धवस्याग्रे वाक्यमन्यनेन निषिध्यते । कालगतानि सर्वाण्येव प्रमाणानि च। न हि तैः प्रमाणैः भगवद्गता धर्माः दोषाः परिहर्तुं गुणा वा वक्तुं शक्याः, अतो व्यर्थमिति त्रिष्वपि साधारणम् । हे **षडंह्रि इह** अस्मत्समीपे किमिति **गायसि** । नन्वन्यत्र गन्तुमशक्त इति चेत्तत्राह **षडंह्रि** इति । द्विपादपि गच्छति बहुदूरं, त्वं तु षडंह्रिः । ननु गानस्वभावोहं सर्वदैव गानं करोमीति चेत्तत्राह **बहु किमिति गायसीति** । स्थानान्तरे न गानं, नापि कदाचिद्गानशङ्का,यतो बहु गायसि । ननु भवतीनां स्वामी कृष्ण इति भवत्समीपे गानं युक्तमिति चेत्तत्राह **यदूनामधिपतिमिति** । यादवानामधिपतिर्नत्वस्माकं साम्प्रतम् । अतो यादवानामेवाग्रे गानमुचितम्, नत्वन्येषाम् । ननु सर्वेश्वरो भगवान् यादवत्वेऽपि न दुष्यति, अतः सर्वेषामुपकारार्थं स्वार्थं च सर्वत्रैव गानमुचितमिति चेतत्राह, **अगृहाणामिति** गृहरहितानाम्, वयं त्यक्तगृहा मार्गे उपविष्टाः, नाप्यस्माकं स्वगृहं, नापि भगवद्गृहमिति । तादृशीनामग्रे गानेन किं फलं भवेत्, गृहस्था एव हि किञ्चिद् दातुं शक्ताः । ननु त्वमेका न चेत्प्रयच्छसि अन्या दास्यन्तीत्याशङ्क्याह **न** इति । सर्वा एव वयं तादृश्यः । मम धनाद्युपकाराभावेऽपि धर्मो भविष्यतीति भवतीनां चापूर्वार्थप्रदर्शनेन सन्तोषे आशीर्वादेन वा कृतार्थता भविष्यतीति कथं गानं निषिध्यत इत्याशङ्क्याह **पुराणमिति** । नायमपूर्वो वादः किन्तु बहुधैव श्रुतो भगवान् । ननु भगवद्गुणान् श्रुत्वा न कोपि विरज्यते । कथमेता विरक्ता इति चेत् सत्यम् । पूर्वं श्रवणेन हि वयमेवं जाताः; इतोधिकं च फलं न पश्यामः, पुनश्चेच्छ्रोष्यामः स्वरूपेणापि निवृत्ता भविष्याम इति वरमेतदपेक्षयाऽश्रवणमेव । स्थिते स्वरूपे तु भगवान् कदाचित् प्राप्येतापि, संसारपतनभयं चेत् सम्भाव्येत तदा पुरातनत्वादेव सुलभत्वात् तदैव गानं भवत्विति साम्प्रतं नोपयोग इति भावः । ननु वयं गायका एव, भगवान् स्त्रीप्रियः, पुरुषास्तथा न रसिकाः, स्त्रीणां चाग्रे गानमावश्यकम्, अतोनन्यगत्या गानं क्रियत इति चेत्तत्राह **विजयसखसखीनामिति** । सन्ति स्त्रियः सुखिताः विजयसखस्य भगवतः सख्यः भगवता तुल्यभावं प्रापिताः परमानन्दयुक्ताः, यदर्थमर्जुनवदलक्ष्यादिमत्स्यादिवेधमपि कृत्वा यथेष्टं लक्ष्मणाप्रभृतीनां विवाहं करोति । विविधश्च जयस्तस्येति लुण्टने बह्व्य एव स्त्रियः प्राप्यन्ते । अर्जुनेनापि दीयन्ते, सखित्वात् स्वयमपि तादृशः, अर्जुनसखित्वेन कालरूपतया सर्वमारकत्वं चोक्तम् । ततश्च तत्स्त्रीणां विलापे दुःखसम्मार्जनं कुर्वन् सखैव भवति, ता गतभर्तृका भोगनिरपेक्षाः कथायां मुख्याधिकारिण्यः, न तु वयं भोगसापेक्षा इति भावः । वक्रोक्त्या वा द्योतिताः तास्त्वां मारयिष्यन्तीति, यथास्तिप्रभृतयः । विजय एव प्रकृष्टजयः सखा यस्य तस्य सखीनाम्, यो हि सर्वत्र जयं प्राप्नोति तमेव मन्यन्ते नान्यान्, वयं त्वेकनिष्ठा इति प्ररोचनार्थमपि गानं नापेक्ष्यत इति । अतस्ताः सर्वा एव **क्षपितकुचरुजः** सत्यः युद्धे कठिनभावं प्राप्तेन हस्तेन मर्दितरुजः भारक्लेशनाशेन सुखिताः ते **इष्टाः** सत्यः **इष्टं** कल्पयिष्यन्ति **यदेवेष्टं** तव । नह्यप्राप्तपुरुषार्थः कश्चिदन्येष्टं सम्पादयति । अत उद्धवं प्रत्यपि तास्वेव दौत्यं कर्तव्यं भगवद्गुणवर्णनेन नास्मासु, अनुभूतेर्थे वचनस्य दुर्बलत्वात् । कालपक्षेऽपि ऋतुभिः षडंह्रिर्भवति संवत्सरः । स हि ऋतुभेदेन कोकिलादिशब्दैर्वेदैश्च भगवन्तं स्मारयति । ते च शब्दाः भगवत्सहितानां ज्ञानिनां धर्मपराणां

वा, उदासीनानां भक्तानां वा भगवति मिलितानां सुखदा भवन्ति । नत्वस्मत्सदृशीनां सर्वत्रासक्तिरहितानां धर्मिणमेवापेक्षमाणानां कालादिनिरपेक्षाणां तैः शब्दैः सुखं भवति । पूर्वावस्थाप्राप्तौ तु तादृशशब्दानां सुलभत्वात् नेदानीमेव सर्वथा श्रवणे किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः ।।१४।।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सखी, जो भ्रमर को बोलने का निषेध करती है, इससे उद्धवजी को भी कह रही है कि आपको जो भी आगे बोलना है वह मत बोलिए और काल गत सर्व प्रमाणों का भी निषेध करती है, कारण कि कालगत प्रमाणों के वर्णन से भगवान् में जो धर्म (गुण) हैं वे आते नहीं और दोष मिटा नहीं सकते हैं, अतः काल, भ्रमर और उद्धव को साधारण रीति से निषेध कर दिया और स्पष्ट कर दिया कि आपका कहना व्यर्थ है । हे भ्रमर ! हमारे समीप क्यों गा रहे हो ? यदि तुम कहो कि मैं अन्यत्र जा नहीं सकता हूं तो वह कहना सरासर झूठ है, क्योंकि दो पाद वाले भी दूर दूर जा सकते हैं तो तुम तो छः पाद धारण करते हो, यदि कहो कि मेरा स्वभाव ही गाने का है अतः सर्वदा गान ही करता रहता हूँ, इस पर कहती है कि इतना बहुत क्यों कह रहे हो ? गाने के लिए अन्य कोई स्थान नहीं है क्या ? जहां जाकर गान करो, अन्य स्थान पर गान करने का मन में कभी विचार भी नहीं होता है क्या ? जिससे यहां ही बहुत कैसे गान कर रहे हो ? जिसका उत्तर भ्रमर देता है कि कृष्ण आपका स्वामी है, इसलिए आपके समीप गान करता हूं कारण कि यों करना ही उचित है, इसके उत्तर में कहती है कि कृष्ण तो अब यादवों के अधिपति हैं, हमारे नहीं हैं, अतः यादवों के आगे जाकर गान करना युक्त है । भ्रमर कहता है कि दूसरों के अधिपति नहीं है, भगवान् तो सर्व के ईश्वर हैं, अतः यादवों का होने से दूषित नहीं होते है, इसलिये सर्व के उपकार के लिए और अपने स्वार्थ के लिए सर्वत्र ही गान करना योग्य है । यों कहते हो, तो हमारा कहना है कि गायन भी योग्य स्थान और व्यक्ति देख कर करना चाहिए । हमारे में तो योग्यता कुछ नहीं है, क्योंकि हम तो बिना घर वाली हैं । हमारे घर छूट गए हैं । मार्ग में बैठी हैं; न कोई हमारा अपना घर है और न कोई भगवान् का घर है जहां हम बैठ सके, वैसी के आगे गान करने से कौनसा लाभ होगा ? जो गृहस्थ हैं वे ही कुछ दे सकते हैं । तूं एक नहीं देगी, दूसरी तो देगी । इसके उत्तर में कहती है कि हम सब एक समान हैं। यदि आप धन आदि से उपकार न करोगी तो चिंता नहीं है, धर्म तो होगा ही । तुमको अपूर्व के दर्शन से सन्तोष होगा तो आप धन आदि न देकर आशीर्वाद तो दोगी; जिससे ही मेरी कृतार्थता हो जावेगी, तब गान का निषेध क्यों करती हो ? जिसके उत्तर में कहती है कि तूं जो गाता है वह कोई नवीन नहीं है, वैसा तो भगवान् का गुणगान बहुत बार सुना हुआ है । क्या कह रही हैं ? भगवान् के गुणगान के श्रवण से तो कोई भी ऊबता नहीं है । तुम गोपियां कैसे उकतागई हो और विरक्त हुई हो ? तुम्हारा कहना सत्य है, किन्तु हम तो पहले सुन कर इस दशा को प्राप्त हुई हैं, इससे अधिक फल नहीं देखती हैं, यदि फिर सुनेगी तो स्वरूप से भी हाथ धो बैठेंगी, जिससे उसकी अपेक्षा न सुनना ही श्रेष्ठ है । स्वरूप होगा तो कभी न कभी भगवान् मिल जावेंगे। यदि संसार में पतन होने के भय की सम्भावना हो तो वह पुरातन होने से ही सुलभ है । तब ही गान हो अब तो गान का कोई उपयोग[1] नहीं है । यदि कहो कि हम तो गायक ही हैं, भगवान् स्त्री प्रिय[2] हैं । जैसी स्त्रियां रसिक हैं, वैसे पुरुष रसिक नहीं हैं, अतः

१- लाभ व आवश्यकता । २-(१) स्त्रियां ही जिनको प्यारी हैं ।
(२) स्त्रियों को प्यारा-प्रकाश ।

स्त्रियों के आगे गान करना आवश्यक है। इसलिए अन्य कोई गति न होने से हम गान करते हैं। गोपी कहती है कि इसके उत्तर में हमारा कहना है कि भगवान् ने जिन अपनी सखियों को अपने तुल्य बताया है वे स्त्रियां सुखी तथा परमानन्द युक्त हैं। जिन ने अर्जुन की भांति अलक्ष्य मत्स्यादि भी वेध कर इच्छानुकूल लक्ष्मणा आदि से विवाह किया है, उन (भगवान्) की सर्वत्र विविध प्रकार से जीत हुई है। जीत होने पर खूब लूट में अनेक स्त्रियों को ले आते हैं। अर्जुन सखा है उससे भी दी जाती हैं, जैसे सखा अर्जुन वैसे ही आप हैं। अर्जुन सखा है, आप कालरूप हैं, इसलिए सब मारकत्व आप में है, जिनको मारा है उनकी स्त्रियां विलाप करती हैं। तब मित्र बन कर उनका दुःख मिटाते हैं, वे जिनके भर्ता नहीं हैं वे अब भोगनिरपेक्ष अर्थात् उनको भोग की इच्छा नहीं है। जिससे वे अभोगी होने से भगवद्गुणानुवाद रूप कथा को सुनने में अधिकारिणियें हैं, हम अधिकारिणीयां नहीं हैं, क्योंकि हमको अब भी भोग की अपेक्षा है।

इस प्रकार कहने का भाव यह है कि गोपी ने भ्रमर को यह प्रकट कर बताया कि वहां गान करोगे तो वे तुझे मारेगी। जिस प्रकार कंस की 'अस्ति' 'प्राप्ति' स्त्रियों के पास कोई भगवान् के गुण गान करने बैठे तो वे जैसे मारने लग जाय वैसे अन्य भी। अर्जुन के मित्र के मित्र जो सर्वत्र जप करते हैं उसको ही मानते वा मान देते हैं, अन्य को नहीं देते हैं। हम तो एक भगवान् में ही निष्ठा वाली हैं, इसलिए मन बहलाव के लिए भी यहां गान की आवश्यकता नहीं है। युद्ध करने से जो हस्त कठिन हुए हैं, उन हस्तों से कुचों के मर्दन होने पर जिनकी पीड़ा नाश हुई है तथा भार भी कम हो गया हैं, जिससे जो सुखी हो के बैठी हैं, प्रसन्न हुई वे गान करने पर जैसी तुम्हारी इच्छा होगी वैसा पारितोषिक तुझे दे देंगी, जिसका पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हुआ है वैसा कोई भी दूसरे का इच्छित मनोरथ पूर्ण नहीं करता है। अतः उद्धव को भी उनके पास जा कर भगवद्गुणों का वर्णन कर दूत का कर्तव्य पालन करना चाहिए, न कि हमारे पास करना चाहिए। कारण कि जिसका अनुभव हो गया है उसके लिए कोई भी वचन से, दूसरे प्रकार कहे तो माना नहीं जाता है, क्योंकि अनुभव से वचन दुर्बल होता है। काल के पक्ष में भी संवत्सर भ्रमर है, क्योंकि उसके भी छ. ऋतु छः पाद हैं, वह भी ऋतु के भेद से कोयल[1] आदि के शब्दों से और वेदों से भगवान् का स्मरण कराता है। वे शब्द भगवान् से ऐक्य को प्राप्त ज्ञानियों को, धर्म परायण को, उदासियों को अथवा भगवान् से मिले हुए भक्तों को सुख देने वाले हैं, न कि हमारे समान सर्वत्र आसक्ति रहित। केवल धर्मी की ही चाहना वाली, काल आदि से निरपेक्ष दुःखिनियों को उन शब्दों से सुख मिलता है। जब पूर्व की अवस्था प्राप्त होगी, तब ये शब्द सुलभ भी होंगे, उस समय सुनेंगी। इस समय श्रवण से सर्वथा कोई प्रयोजन नहीं है ॥१४॥

+ उद्धवजी को भ्रमर कहा है तो उनके छ पाद कौन से ? जिसके उत्तर में आज्ञा करते हैं कि ५ कर्मेन्द्रियां और १ मन इनको मिलाकर ये छ पाद उपलक्षण विधि से उद्धवजी के कहकर उनको भ्रमर बताया है।

१- कोयल से-मयूर, क्रौञ्च और हंस आदि भी समझने-प्रकाश।

आभास—प्रार्थनां वारयितुं तस्य भगवतः स्त्रीसौलभ्यमाह **दिवीति** ।

आभासार्थ—वे तुमको छोड़ गए हैं तो उनको प्रार्थना करो। प्रार्थना करनी व्यर्थ है; क्योंकि उनको स्त्रियों की प्राप्ति सुलभ है, जिसका वर्णन 'दिवि भुवि' श्लोक में करती है।

श्लोक—दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥१५॥

श्लोकार्थ—स्वर्ग, पृथ्वी तथा पाताल में वे कौनसी स्त्रियाँ हैं, जो इनको न मिल सके; क्योंकि जिनका सुन्दर हास्य और भ्रू विलास कपट से भरा है अर्थात् छलने वाला है और जिसके चरणों के रज की उपासना लक्ष्मीजी कर रहीं हैं, तो उसके आगे हम क्या (वस्तु) हैं ? तो भी आप उत्तमश्लोक होने से कृपणों (दीनों) पर दया करते ही हैं; अतः हम पर दया करेंगे, वैसी आशा है ॥१५॥

सुबोधिनी—लोकत्रये याः स्त्रियः तासां भगवान् दुरापः न तु भगवतस्ताः । स्त्रियो हि त्रिविधास्तत्तल्लोके, तास्तु भगवतः सुलभा एव, तत्र हेतुं वक्ष्यति, **चकाराद्**ब्रह्माण्डाद्बहिः स्थिता अपि । स्त्रीणां हि रमणमपेक्ष्यते । नानाविलासैर्हि रमणं देवस्त्रीणाम्, प्रत्येकनियततया रमणं भूस्त्रीणाम्, विलासतया च रमणं क्वचिद्भूस्त्रीणाम्, परं निरोधस्तुल्यः, अतिगुप्ततया रमणं रसास्त्रीणाम् । भगवति तु पूर्वश्लोकैरुक्तप्रकारेण त्रिविधत्वमप्यस्ति । प्राकट्यविलासरूपः प्रथमं निरूपितः । विरुद्धतया द्वितीये । अतिप्रयासेन अतिगुप्ततया सुभद्राहरणवत् विजयसखित्वेन रमणनिरूपणाद् गुप्ततयापि रमणमुक्तम् । किञ्च । सुतरां स्त्रियः येन धर्मेण वशे भवन्ति स धर्मो भगवति वर्तत इत्याह **कपटेति** । कपटपूर्वकं यो रुचिरो हासः तेन भ्रूविजृम्भः स्थलादिसर्वसूचनपूर्वकं रत्यर्थमाकारणरूपः स यस्य वर्तते, धर्मस्यैव वा याः स्त्रियो भवेयुः तदधीनास्ताः । यदि कांश्चत् यथा न प्रकटीभवति तथा गोप्यं विधाय तथा समर्थः यथैव तासां मनःप्रीतिर्भवति तथा रमणं कुर्वन् सर्वसामग्रीं सम्पाद्य समाकारयति चेत्, न कापि स्त्री दुर्लभा भवति । अत एव क्वचिद् श्लोकः 'स्थानं नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः । तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायत' इति । अत एतावत्यर्थे कृते प्रार्थना व्यर्था, अकृतेऽपि व्यर्थेति उभयथापि प्रार्थना न कर्तव्येति भावः । किञ्च । एतदस्माभिर्दृष्टोपायत्वेन निरूपितम् । अलौकिकोपाये तु किमपि न कर्तव्यमित्याह **चरणरज उपास्त** इति । सर्वैरेवार्थार्थिभिः सेव्यमाना विभूतिर्लक्ष्मीः यस्य स्वतः सामर्थ्याद् वस्तुमाहात्म्याद्वा चरणरज उपास्ते, अत्यादरेण दासीत्वं प्रार्थयते, तत्रैवंविधेर्थे च **वयं का**स्तस्याः कोट्यंशभूताः, तस्मादस्मान् प्रति न किञ्चिदेतावत्कर्तव्यम् ! किञ्च । एतदप्यस्माभिर्विचारेणोच्यते । वस्तुतस्तु भगवति विचारोपि न कर्तव्य इत्याह **अपि चेति** । **उत्तमश्लोकशब्दः** कृपणपक्षे सति भवति नान्यथा । भगवांश्च सर्वप्रसिद्धः उत्तमश्लोक इति । वयं च दीनाः,

अस्मत्पक्षपातं करिष्यत्येव, अन्यथा कथमुत्तम-श्लोकशब्दो भवेत् । युक्तश्चायमर्थः । तस्मात्प्रमाणबलेन प्रमेयबलेन लोकप्रसिद्धचा भगवान् दीनानुकम्पीति यथैवास्माकं युक्तं तथैव करिष्यति न दूतोऽपेक्ष्यते. नापि वचनानीति निर्गुणगोपिकाया वचनम् । तद्भावापन्नाया वा । एवं तामसप्रकारेण तमोरजःसत्त्वानि गुणातीतश्च प्रकारो निरूपितः । अतः परं राजसप्रकारेण ततोग्रे सात्त्विकप्रकारेण चोभयत्र त्रैविध्यं निरूपयिष्यति । रजस्तमःसत्त्वानां तमोरजःसत्त्वानां च क्रमः श्लोकानां ज्ञातव्यः ।।१५।।

व्याख्यार्थ—तीन लोक में जो भी स्त्रियाँ हैं उनको भगवान् की प्राप्ति तो दुर्लभ है, किन्तु भगवान् उनको मिलें जिसमें कुछ भी कठिनाई नहीं हैं । तीन लोक में स्त्रियाँ तीन प्रकार की हैं, वे भगवान् को तो सुलभ ही हैं, जिसका कारण कहती हैं । श्लोक में 'च' शब्द आया है जिसका तात्पर्य है कि ब्रह्माण्ड से बाहर भी जो स्त्रियाँ हैं वे भी सुलभ हैं । स्त्रियों को तो रमण की अपेक्षा रहती है । देवों की स्त्रियाँ अनेक प्रकार से विलास पूर्वक रमण करती हैं । पृथ्वी की स्त्रियां नियत पुरुष के साथ नियम से रमण करती हैं । पृथ्वी की स्त्रियों में कदाचित् कभी कोई स्त्री विलास से रमण चाहती है, किन्तु उन दोनों में निरोध तो तुल्य ही है, बिलकुल गुप्त रीति से रमण नीचे पातालादि लोकों की स्त्रियों में है । भगवान् में ऊपर कहे हुए श्लोकानुसार त्रैविध्य भी हैं । प्राकटच विलास रूप मधुपकितव' श्लोक में कहा है । विरुद्धता से 'सकृदधर सुधां' श्लोक में कहा है, जैसा कि अति प्रयास से तथा अति गुप्त रीति से सुभद्राहरण के समान विजय सखापन से जो रमण कहा है वह गुप्त रूप से रमण का निरूपण है । जिस धर्म से स्त्रियाँ सुतरां वश हो जाती हैं, वह धर्म भगवान् में विद्यमान है । उस धर्म को कहती हैं. जिसका हास कपट वाला हैं, जिससे तिरछी दृष्टि कर रति के लिए स्थान की सूचना देते है, जो स्त्रियाँ धर्म वाली हैं. वे उस धर्म के अधीन हो जाती हैं । रमण प्रसङ्ग प्रकट न होवे, वैसे गुप्त रखने में भी समर्थ हैं, जैसे ही रमण करने वालियों का मन प्रसन्न हो जावे, वैसे रमण करते हुए सर्व प्रकार की सामग्री सिद्ध कर जब बुलाते हैं तब उनको कोई भी स्त्री दुर्लभ नहीं है । अत एव कही हुई नीति का एक श्लोक है 'स्थानं नास्तिक्षणो नास्तिनास्ति प्रार्थयितानरः तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते' अर्थ-एकांत स्थान नहीं हैं, समय नहीं है, प्रार्थना करने वाला अर्थात् चाहने वाला पुरुष नहीं है, हे नारद ! जब ये तीन नहीं हैं तब स्त्रियों का सतीत्व रह जाता है । यदि ये कर्म हो जावे तो प्रार्थना व्यर्थ है, यदि ये नहीं हो सकते हैं तो प्रार्थना करनी व्यर्थ है, अतः दोनों प्रकार प्रार्थना नहीं करनी चाहिए । इतना जो कहा है वह तो लौकिक दृष्ट उपाय से कहा है। अलौकिक उपाय में तो कुछ भी कर्तव्य नहीं है; जिसका वर्णन 'चरणरज उपास्ते' पङ्क्ति से करती है – जिनको पदार्थ की इच्छा है, वे जिसकी सेवा करते हैं, वह विभूति स्वरूप लक्ष्मी, स्वतः सामर्थ्य सेवा वस्तु के माहात्म्य से चरण रज की सेवा कर रही है, वह अतिशय आदर से दासीपन की प्रार्थना करती हैं, इस प्रकार के स्वार्थ में उसके (लक्ष्मीजी) कोऽस्यंशरूप हम कौन हैं ? इस कारण से तुमको हमारे यहां कुछ भी वैसी प्रार्थना न करनी चाहिए, विशेष में कहतीं हैं कि यह भी जो हम कह रहीं हैं, वह कहना विचार से है, किन्तु वास्तविक रीति से तो भगवद् विषय में विचार भी नहीं करना चाहिए, जिसको कहती हैं कि भगवान् उत्तमश्लोक हैं । कारण कि वह कृपणों[1] का

१—दीनों ।

पक्षपाती है, जिससे वे दीन सर्वत्र उनका गुण गान करते हैं, इसलिए भगवान् सर्वत्र 'उत्तम श्लोक' नाम से प्रसिद्ध हैं। हम दीन हैं हमारा पक्षपात करेंगे ही, यदि नहीं करेंगे तो उत्तम श्लोक कैसे कहलाएगे ? यह अर्थ योग्य ही है। तब तो भगवान् प्रमाण बल से, प्रमेय बल से और लोक प्रसिद्धि से भी दीनों पर दया करने वाले हैं, अतः जैसा ही हमारे लिए योग्य होगा वैसा करेंगे ही, अतः दूत की कोई अपेक्षा नहीं है; न कोई उनके वचनों की आवश्यकता है। निर्गुण गोपी के वा निर्गुण भाव को प्राप्त गोपी के ये वचन हैं। इस प्रकार तामस के भेद से गोपियों के चार भेद बताए हैं। प्रथम श्लोक में तामस-तामसी, दूसरे में तामस-राजसी, तीसरे में तामस-सात्विकी और चौथे में निर्गुण। इसके बाद राजस भेद से वर्णन होगा। पश्चात् सात्विक भेद से होगा। दोनों में तीन तीन प्रकार समझने चाहिये। रज,तम,सत्व और तम रज सत्वों का क्रम श्लोकों से समझने चाहिये ॥१५।

आभास—ननु नास्माभिर्ज्ञाता भवत्यः क्रुद्धा इति उदासीना इति वा, तथा सति दौत्येन नागच्छेम, अधुना तु समागतैः किञ्चित्कर्तव्यमिति प्रार्थनया भगवता सह सन्धिः कर्तव्य इति साष्टाङ्गप्रणामं भ्रमर उद्धवो वा करोतीत्यभिप्रेत्याह **विसृजे**ति।

आभासार्थ—हमने नहीं जाना था कि आप इतना क्रोध करोगी, अथवा आप उदासीन हो। यदि यों जानता तो दूत बनकर न आता। अब दूत बन कर आ गया हूँ तो कुछ न कुछ करना ही चाहिये। अतः प्रार्थना से भगवान् के साथ आप को सन्धि करनी चाहिए, यों कह कर यदि भ्रमर अथवा उद्धवजी साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे, तो 'विसृज' इस श्लोक से अपना मन्तव्य उनको बता देती है—

श्लोक—**विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-**
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका
व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन् ॥१६॥

श्लोकार्थ—मेरे मस्तक पर जो बार-बार पैर लगा रहे हो, वह बन्द कर दो। मैं तुम्हारी सब चतुराई जानती हूँ। मुकुन्द के दूत बन कर दौत्यपना दिखाने के तथा प्रिय वचन कह कर किसी को कैसे फुसलाना वैसे विद्वान् बन कर यहाँ आए हो, यह मैं समझ गई हूँ; किन्तु हमने जिस भगवान् के लिए सन्तान, पति और परलोक के सुख की इच्छा छोड़ दी है, ऐसी जो हम उनको बिना विचार किए जिसने छोड़ दिया, वैसे के साथ सन्धि कैसे करें ? ॥१६॥

सुबोधिनी - शिरसि बलात् स्थापितं पादं विसृज त्यज, नह्येतावता उपपत्त्यभावादस्माभिरङ्गीकर्तुं शक्यते, अतो वृथैव पादग्रहणनिर्बन्धः। ननु यथैव भवतीभिर्वक्तव्यं तथैव करिष्याम इति कथं निषेध इति चेत्तत्राह वेद्म्यहमिति। इममर्थं करिष्यति भगवान् न वेतीममर्थमहं वेद्मि। सन्दिग्धे हि वचनेन बोधनम्, अस्माकं तु विपरीतनिश्चय एव। ननु कश्चित्स्वापमानं न करोति अनभिप्रेत्य कार्यम्। तस्मात् न निराकरणं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह चाटुकारैरनुनयविदुष इति। अयं प्रकारस्तु त्वयैव स्वकपोलकल्पितो न तु भगवताप्युक्तः। यतः स मुकुन्दो मोक्षदाता मारयिष्यत्येवेति भावः। न तु जीवन्तीनामस्माकं सुखं करिष्यति, ततश्च त्वमागतोस्मदभिप्रेतं करिष्यामीति कथं वदस्यतः स्वामिविरुद्धवाक्यत्वाद् तस्त्वं वञ्चक एव। ननु तदकथने मया कुतः शिक्षितमिति चेत्तत्राह अनुनयविदुष इति। अनुनयं कर्तुमत्यन्तमभिज्ञस्त्वमतस्ते विद्यां जानामि। न केवलं वृथानुनय एव किन्तु चाटुकारैः सहितोपि। अतः उत्पत्त्या उपपत्त्या च तव मनो न शुद्धम्, कायेन वाचा च वञ्चनार्थमनुनयाभिनयं करोषीति भावः। ननु कथमेवं निषिध्यते अन्तःकरणस्याप्रत्यक्षत्वात् कायवाग्भिरेव तदभिज्ञानादतः क्रोधवशादेवान्यथा स्फुरति नत्वस्मासु दोषोस्तीति चेत्तत्राह स्वकृत इह विसृष्टेति। न हि युक्तिबाधितं वेदोपि बोधयति। भगवानीश्वरः वयं गोपिकाः, यावत्कर्तव्यमस्माभिः तावत्कृतम्, स सर्वसमर्थोपि न किञ्चित्कृतवान्। एवमर्थे पूर्वं जाते पुनरधुना किं कर्तव्यं तदाहुः, स्वकृत इहैव विसृष्टाः अपत्यानि पतिश्च अन्ये च लोकाः स्वर्गादयोपि भर्त्राद्या ज्ञातिक्रमात् त्यक्ता याभिः। लोको हि दूरे गत्वा परित्यजति न तु तत्रैव त्यक्तुं शक्तः। त्यागोपि भगवदर्थ एव। अत्यागे भगवानस्मान् न ग्रहीष्यति परसम्बन्धात्। तादृशीश्च व्यसृजत्। ननु लोको हि कार्यार्थं गच्छति, सर्वत्रैव विलम्बश्च भवति, नैतावता त्यागो भवतीति चेत्तत्राह अकृतचेता इति। न कृतं चित्तं येन, यो हि गच्छति सोन्तःकरणे तानत्यक्त्वैव गच्छति, तास्वन्तःकरणं कृत्वैव गच्छति, भगवांस्तु तद्विपरीतः, अत एतादृशे भगवति किं सन्धेयम्। नु इति वितर्के। येन सन्धितो भवति तं हेतुं न पश्यामीति। बहिःस्थिता अस्माभिरेव त्यक्ता अस्मदीया, अन्तः स्थिताश्च तेनैव त्यक्ताः॥१६॥

व्याख्यार्थ—मेरे शिर पर जबर्दस्ती से जो पैर रखा है, वह उठालो। यों करने में किसी प्रकार की उपपत्ति नहीं है अतः आपका कहना नहीं मान सकती हूँ, अतः शिर पर पैर धरने का वृथा ही आग्रह है। यदि आप कहो कि जैसे तुम कहोगी वैसे ही हम करेंगे, तो फिर निषेध क्यों करती हो। इसके उत्तर में कहती हैं कि भगवान् इस कार्य को करेंगे, वा नहीं करेंगे, यह सब हम जानती हैं। जिस विषय में संशय होता है उसका निराकरण वचनों से कराया जाता है। हमको तो निश्चय हो गया है कि भगवान् हमारे विचारों से विपरीत ही करेंगे। कोई भी मनुष्य स्वामि का कार्य अभिप्रेत न हो और उसको कराने के लिए जावे तो उसका अवश्य अपमान होगा। इस बात को आपने समझा नहीं और दूत बन कर चले आए! इस पर यदि आप कहो कि यों नहीं है हमको तो स्वामि का कार्य अभिप्रेत (समझ में आया) है और तब आए हैं, अतः हमारा निराकरण न करो; सारांश-हमारी प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् से सन्धि करो। इस पर कहती हैं कि इस प्रकार चतुराईसे मधुरमधुर वचनों से फुसलाने में आप विद्वान् जो कुछ हमें कह रहे हैं, वह आपकी कपोल कल्पित कहानी है। यों भगवान् ने आपको नहीं कहा है, क्योंकि वे मुकुन्द हैं मारेंगे ही, जीतेजी हमको सुख नहीं देंगे। तुम यह कैसे कहते हो कि तुम्हारा अभिप्रेत करूंगा, यह तुम्हारा कहना स्वामि के विरुद्ध है; अतः तुम वञ्चक ही हो। यदि तुम कहो कि मुझे तो उनने कुछ

नहीं कहा तो फिर मैंने कहाँ से और कैसे सीखा ? इसके उत्तर में गोपी कहती है कि तुम दूसरे को मीठे मीठे वचन कहकर फुसलाके अपनी बात मनाने में प्रवीण हो । अतः उत्पत्ति से तथा उपपत्ति से तुम्हारा मन शुद्ध नहीं है । अर्थात् तुम काया से और वाणी से फुसलाने के लिए नम्रता का नाटक खेलते हो यह तुम्हारी विद्या मैं जानती हूं ।

इस प्रकार क्यों दोषी बनाती हो ? अन्तःकरण में क्या है ? यह तो कोई न देख सकता है; न समझ सकता है, क्योंकि अन्तः करण प्रत्यक्ष नहीं है । काया तथा वाणी की चेष्टा से ही उसका ज्ञान होता है, अतः क्रोध वश होने से आपको जो विपरीत ज्ञान हुआ है, जिससे मेरे में आपकी दोष बुद्धि उत्पन्न हुई है, न कि मेरे में दोष है । इसके उत्तर में गोपी कहती है कि युक्ति से जिसका बाध है, उसका ज्ञान वेद भी करा सकता है 'घट' को 'पट' कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता है और कोई यों मानता भी नहीं, ब्रह्म में सर्व भाव होने से, ब्रह्मभाव, मनुभाव में आ सकता है, किन्तु मनुभाव, ब्रह्म भाव में नहीं आ सकता है । इन दो दृष्टान्तों से लेखकार ने ब्रह्म और जीव की शक्ति का रहस्य स्पष्ट किया है । भगवान् ईश्वर[1] हैं, हम गोपियां सर्व समर्थ नहीं हैं । जो हमारा कर्तव्य था वह हमने किया । सर्व समर्थ होते हुए भी उन्होंने कुछ नहीं किया, इस प्रकार पहले जो होना वा करना था वह किया, फिर अब क्या करना है ? सो कहिए । हमने उनके लिए सन्तान छोड़े, पति छोड़े और भर्ता आदि पूज्यों की आज्ञा का उल्लङ्घन करने से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति छोड़ दी । अन्य लोग तो जब दूसरा आश्रम 'सन्यास' ग्रहण करते हैं, तब छोड़ते हैं, गृहस्थ में रहकर नहीं छोड़ सकते हैं । हमने गृहस्थ होते हुए छोड़ दिए; यह सब भगवान् के लिए ही किया है; क्योंकि हमने समझा कि यदि इनका त्याग हम नहीं करेंगी तो भगवान् हमको स्वीकार नहीं करेंगे तथा कहेंगे कि तुम्हारा दूसरों से सम्बन्ध है, अतः हमने सर्व प्रकार से भगवान् के सिवाय अन्य सर्व से सम्बन्ध छोड़ दिया है । इतना करने पर, भगवान् हमारा त्याग करके मथुरा चले गए । यदि आप कहो कि मनुष्य कार्य के लिए बाहर जाते हैं, वहां कार्य वश विलम्ब भी हो जाता है, इसको त्याग नहीं कहा जाता है । जिसके उत्तर में कहती है कि कदाचित् कोई बाहर जाता है तो वह अपने मन से सम्बन्धियों का त्याग नहीं करता है । मन में उनको याद करता है, किन्तु भगवान् तो हमको मन से भी भुला कर चले गए हैं । जो इस प्रकार गए हैं, उनसे सन्धि कैसे की जा सकती है ? जिस से सन्धि हो सके वह कोई कारण दीखता ही नहीं है । हमने तो जो बाहर, पुत्र और पति आदि हमारे थे, उनको छोड़ा, किन्तु भगवान् तो हम जो निरोध से भगवान् के हृदय में थीं, उनका एवं अन्तः स्थ स्नेह और भावों को हृदय से बाहर फेंक कर चले गए, जिससे हम दोनों तरफ से भ्रष्ट हो गई हैं ॥१६॥

आभास—नन्वेकमस्ति सन्धेयं सख्यमिति । पूर्वं हि प्रपन्ना अपि भवत्यः भगवता त्यक्ताः, अधुना प्रार्थनया तं दोषं परिहृत्य तेन सह सख्यं कर्तव्यमिति चेत्तत्राहुः मृगयुरिति ।

१– सर्व समर्थ

आभासार्थ—सन्धि करने का एक ही उपाय मित्रता है। पहले शरण गई हुई आपको भगवान् ने त्याग दिया, जिसका कारण आप से कोई दोष हुआ होगा, अतः उस दोष को प्रार्थना से मिटालो, फिर उनसे मित्रता करलो, यदि उद्धव यों कहे तो, उसका उत्तर 'मृगयुरिव' श्लोक में देती हैं।

श्लोक—मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥१७॥

श्लोकार्थ—जिसने रामावतार में व्याध की भाँति वानरराज बाली को बींधा था; स्त्रीजित होते हुए भी कामना कर आई हुई शूर्पणखा का नाक काट कर उसको कुरूप बनाया था, वामन अवतार में बलि राजा से सर्वस्व लेकर उसको काक के समान बाँध लिया था, अतः उस काले की मित्रता से हम अघा गई हैं; तो भी उसके कथा रूप अमृतार्थ को छोड़ नहीं सकती हैं ॥१७॥

सुबोधिनी—'न वै स्त्रैणानि सख्यानी'ति वयं सख्येऽनधिकृता एव, ईश्वरोपि सख्ये नाधिकृतः 'राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वे'ति। सुतरां भगवता सह सख्यं न भवति स्थलत्रयेऽनिष्टदर्शनात्। आर्षज्ञानेन भगवत्स्वरूपं ज्ञात्वा स्वस्मात् पूर्वावस्थां भावयन्ति। तत्र भगवान् रामः पूर्वतनः, तेन सह सख्यं पुरुषेण स्त्रिया च कृतम्, तयोर्मरणं जीवन्मृतत्वं च जातमिति। सुग्रीवेण सहाग्निसाक्षिकं मैत्री कृता, तस्यैव भ्राता बाली भगवता हतः, तद्भ्रात्रा सह सख्ये तेनापि सह सख्यं कृतमेव, कपीनां च स इन्द्रः; अनेन कार्यार्थितापि निवारिता। तेन ततोपि अधिकं कार्यं भवतीति। न हि कश्चित्कपिभिः सह सख्यं करोति। अनेन सख्यशास्त्रानभिज्ञता च सूचिता। तत्रापि सर्वसमर्थः युद्धेन न हतवान्, किन्तु हरिणान्तरं योजयित्वा यथाऽऽरण्यं हरिणं मारयति लुब्धकः, तद्वत्सुग्रीवं योजयित्वा तेन सह युद्धमानमविध्यत्। ननु हरिणादयः सर्वत्रैवमेव हन्यन्ते, को दोष, इति चेत्तत्राह अलुब्धधर्मेति। लुब्धकस्येव नास्मिन् धर्मः, तन्मांसस्याभक्ष्यत्वाद् ईश्वरत्वेन तदपकाराभावाच्च। किञ्च। स्त्रियं शूर्पणखां काममोहितां सर्वथा सम्माननीयां विरूपां छिन्ननासिकामकृत। ननु युक्तमेवोर्ध्वरेतसः व्यतिक्रमे तथात्वमिति चेत्तत्राह स्त्रीजित इति। सीतया वशीकृतः, अन्यथा तदुक्तं न कुर्यात्। सापि न प्रतिबन्धिका ताटकेव, किन्तु कामयाना, काम एव यानं यस्या इति वा। तत्र दूषणद्वयं दृष्ट्वा ततोपि पूर्वजन्मनि दोषं विचारयन्तो परशुरामे अलभमाना वामने दृष्ट्वा तदाह बलिमपीति। बलिर्ह्यत्यन्त बलिरूप एव पूजात्मकः, अतः श्रद्धया तथापूजां कृतवान्। ब्राह्मणक्षत्रिययोः तुल्यता सख्यं च भवति, तथाप्यन्योन्यकार्यसाधकयोः। व्याजेन लोकत्रयग्रहणं न दोषाय, यथाकथञ्चित् स्वकीयं ग्राह्यमेवेति, किन्त्वन्यदस्तीति पूर्वमनुवदति। बलिमत्त्वा जग्ध्वा। नात्र धात्वादेशः बहुलं छन्दसीत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। आवेष्टयद् गर्तविशेषे बद्ध्वा स्थापितवान्। ध्वाङ्क्षवद् द्वितीयार्थे वतिः। अयुक्तो हि काकः पायसादिभक्षणे इति तथा

कृतवन्तं घृष्टं बध्नाति प्रभुः। तथा कपिरपि इन्द्रवद्वधवल्लियमाणो हन्तव्यः, मृगत्वाद् व्याजेनैव मारणीयः, ब्रह्मणा तथैव तेषां मृत्युर्निर्मित इति। मत्स्यानां तु बुद्धचैव। स्त्रीजित इत्यनेनैव स्त्रियैव स्त्री विकृता न तु भगवता, अत एव ताः सजातीयातिक्रमं न कुर्वन्ति, तथा वयमपि न करिष्यामः। कृते त्वनिष्टं स्वधर्मत्यागादेव, तथा हीना वयं नोत्तमभावं प्राप्स्यामः, 'अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशय' इति वाक्यात्, मर्यादोल्लङ्घने तद्रक्षकैर्दण्ड्यत इत्यविवादम्। स्त्रियो जिता अनेनेति। न हि रामः स्त्रीवश्यः। जितानां वशीकृतानां च हितं कर्तव्यमिति। तथा नगरे अस्मदनुपभोग्यो भगवान् यथा बलेस्तन्मन्वन्तरकालः। अतो हीनत्वात् स्वायोग्यं स्त्रीत्वात् स्त्र्यतिक्रममन्यावसरत्वाच्च कालमर्यादोल्लङ्घनं च न कर्तव्यमिति प्रार्थनया सख्यं न कारणीयम्। तदाह **तदलमिति। तत्तस्मादसितसख्यैरशुद्धसख्यैरलम्।** कपटसख्यानि न कर्तव्यानि, यतो विपरीतफलानि। तामसभावाद्वा कृष्णवर्णपरोऽसितशब्दः। ननु सर्वं परित्यज्य भगवदवलम्बनं कृत्वा भगवन्तमपि परित्यज्य क्व यास्यथेत्याशङ्क्याह **दुस्त्यज** इति। तस्य कथारूपोऽर्थो दुस्त्यजः, कथामवलम्ब्य तिष्ठामः, सोपि त्यक्तव्य इत्यस्ति मनः प्राणबाधात्। तथापि त्यक्तुमेवाशक्य इति दुस्त्यजः। सापि भगवानिव चेत्स्वयं त्यक्ष्यति तदा त्यजतु नाम, नत्वस्माभिस्त्यक्तुं शक्येत्यर्थपदम्। कालेनापि भगवद्धर्मा बोध्यन्ते श्रवणादयो धर्मत्वेन, तत्रापि सख्यमात्मनिवेदनं च बोध्यते, यथा 'सुपर्णावेतौ, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येती'ति, वेदा यज्ञाश्च न कालात्मका इति शिर उपनिषदो भवन्त्येव, तत्र भगवन्निरूपणं न कर्तव्यमिति पुष्टिश्रुतीनामभिप्रायः इतरथान्यथासिद्धिः स्यात्। ननु भक्तिमार्ग इव तत्रापि भगवदुत्कर्षः प्रतिपाद्यत इति कथं निषेध इत्याशङ्क्याह **वेद्म्यहमिति**। स हि भवदभिमतः परमात्मा मोक्षप्रद एव, तस्य दूतेनात्यन्तनिपुणेनापि मोक्ष एव फलति, प्ररोचनार्थमेव भक्तिमिव प्रेमेव वदति। 'न वारे पुत्राणां कामाये'त्यादिभिः, 'यमेवैष वृणुत' इति च। किञ्च। शास्त्राणां सर्वपरित्याजनपरत्वम्, यथा 'आत्मकामः सर्वं परित्यजेत्'। तादृशविरक्तस्यापि नित्यमात्मानुसन्धानयुक्तस्य यदि नात्मस्फूर्तिः किं तस्योपनिषदा गुरुभिर्वा भविष्य'त, तस्मात् सख्यादिकमनभिप्रतमेव, तथापि वैदिकत्वेन भाव्यमन्यथा पाषण्डित्वं स्यात्। एवं सर्वत्र योजनीयम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—'न वै स्त्रैणानि सख्यानि' इस श्रुति के प्रतीक के अनुसार स्त्रियाँ मित्रता करने की अधिकारिणी नहीं है, वैसे ही ईश्वर से भी मित्रता नहीं करनी चाहिए। जैसे कि कहा है 'राजा-मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा' किसी ने राजा को मित्र देखा वा सुना है? विशेष में, भगवान् के साथ तो मित्रता हो नहीं सकती है, क्योंकि तीन स्थानों में उसका[1] परिणाम अनिष्ट ही देखा गया है। गोपियाँ आर्ष ज्ञान से भगवान् के स्वरूप को जान कर आप ही भगवान् की पूर्व अवस्था की भावना करती हुई कहतीं हैं कि रामावतार में पुरुष तथा स्त्री से मित्रता की, उन दोनों में से एक मरा और दूसरा जीते हुए भी मृत के समान हो गया। सुग्रीव के साथ अग्नि को साक्षी कर मित्रता की उसके ही भ्राता बाली को मारा। भ्राता के साथ मित्रता की तो उसके भाई के साथ भी मित्रता हो गई और वह वानरों का राजा था, किस कार्य के कारण उसको मारा यह भी सिद्ध नहीं होता है। यदि

१- भगवान् की मित्रता का,

वह जीवित होता तो सुग्रीव से अधिक कार्य कर सकता था; क्योंकि वह वानरों का राजा था, वानरों के साथ कोई भी मैत्री नहीं करता है, किन्तु भगवान् ने की है। जिससे जाना जाता है कि भगवान् को सख्य शास्त्र का ज्ञान नहीं है। आप सर्व प्रकार शक्तिमान् होते हुए भी उसको युद्ध की रीति से नहीं मारा, किन्तु जैसे व्याध जंगली हरिण को दूसरा हरिण आगे रख कर मारता है, वैसे ही सुग्रीव को आगेवान बना कर आपने बाली को मारा है, यदि कहो कि इसमें क्या दोष ? हरिणादि तो इस प्रकार ही मारे जाते हैं, इसके उत्तर में कहती हैं कि भगवान् में व्याध जैसा धर्म नहीं है। व्याध तो मांस खाने के लिए यों करता है। भगवान् को तो उसका मांस अभक्ष्य था; क्योंकि वानर जाति अभक्ष्य है और आप ईश्वर सर्व समर्थ हैं, अतः वह आपका कुछ भी) अपकार भी नहीं कर सकता था, यों होते हुए भी उसको मारा।

और विशेष–काम से मोहित होकर आपके शरण में आई हुई शूर्पणखा स्त्री को, जो सर्वथा मान देने योग्य थी, जिसका नाक काटकर, उसको कुरूप करदी यदि कहो कि जो ऊर्ध्वरेता हैं, उनके पास स्त्री इस इच्छा से जावे कि उनका ब्रह्मचर्य नष्ट करूं, तो वैसी स्त्री के साथ इस प्रकार (का) व्यवहार करना योग्य ही है। इसके उत्तर में कहती हैं कि यदि वैसे होते तो यों करना योग्य था, किन्तु आप तो स्त्री के अधीन हैं अर्थात् सीता के वश में हैं। यदि उसके वश न होते तो उसका कहा मान कर सुवर्ण के कल्पित हरिण के पीछे नहीं जाते। यह शूर्पणखा ताड़का की तरह प्रतिबन्ध करने वाली नहीं थी, किन्तु काम को वाहन कर केवल अपने मनोरथ पूर्ति के लिए आई थी। यों दो दूषण देखकर, उससे भी पूर्व जन्म में दोष का विचार करने लगी। परशुराम स्वरूप में दोष न देखा, किन्तु वामन स्वरूप में देखा, जिसको कहती है। बलिराजा अत्यन्त दानी होने से पूजा के योग्य था, अतः श्रद्धा से उसने वैसी ही पूजा की है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को सृष्टि के आरम्भ में तुल्यता होने से उनकी मित्रता है, तो भी प्रत्येक अपना अपना कार्य सिद्ध करता है अतः किसी मिष से बलि से तीन लोक ले लिए, जिसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि कैसे भी अपना लेना ही चाहिये, किन्तु उससे विशेष जो लिया और किया उसको कहती है। बलि से पूजा ग्रहण कर उसको आत्मा तक भी निवेदन कराके फिर उसको काकवत् बाँध कर गर्त विशेष में रखा। जैसे काक को क्षीर आदि में चोंच डालते देख ले, तो मालिक उसको बाँधलेता है वैसे ही कपि इन्द्रका अनुकरण करे, तो वह मारने योग्य है। पशु होने से किसी मिष द्वारा मारा जाता है। ब्रह्माजी ने उनकी मृत्यु इस प्रकार ही लिखी है, मत्स्य की मृत्यु बुद्धि+से ही हो सकती है, 'स्त्री जित' इससे यह दिखाया है कि स्त्री से ही स्त्री कुरूप की गई है, भगवान् ने नहीं की है। इस कारण से ही जैसे वे अपनी जाति का अतिक्रम नहीं करता है, वैसे हम भी नहीं करेंगी। यदि करें तो स्वधर्म के त्याग से अनिष्ट होगा, वैसी हीन हो जावें तो उत्तम भाव को प्राप्त नहीं हो सकेंगी। 'अयोग्य मिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः' इस वाक्यानुसार यदि पुरुष हीन की इच्छा करता है तो पतित होता है, जो मर्यादा का उल्लङ्घन करते हैं उनको रक्षा करने वाले अधिकारी दण्ड देते हैं। जिसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है। 'स्त्रीजित' पद का समास इस प्रकार 'स्त्रियः जिता अनेन' करना चाहिए, जिसका अर्थ होगा इसने स्त्रियों को जीता है, अतः राम स्त्री के वश नहीं है। जो जीते वा स्त्रियो को वश करे, उनका हित करना चाहिए जैसे बलि अपने

+कांटा बना कर जिसमें आटा लगाकर मत्स्य को उसमें फँसाया जाता है,

ही मन्वन्तर में इन्द्र हो स्वर्ग का भोग कर सकता है, दूसरे मन्वन्तर में नहीं । वैसे ही हम भी नगर में भगवान् का भोग नहीं कर सकतीं हैं. हीन से तथा स्त्रीत्व से मैत्री करनी योग्य नहीं है और स्त्री हो कर स्त्री का अति क्रम करे. वह योग्य नहीं है तथा अन्य का अब अवसर है, अतः काल और मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए। इससे तुम्हारे कहने के अनुसार प्रार्थना कर सख्यत्व करना योग्य नहीं है । विशेष में कहतीं हैं कि काले की मैत्री करने से हम अघा गईं हैं । अर्थात् उनकी मैत्री से हम बच कर रहें, उसी में अच्छा है ।

कपट से सख्यत्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिसका फल विपरीत होता है, अथवा यहां कृष्ण वर्ण को असित शब्द तामस भाव से कहा है । आपने सब छोड़ कर भगवान् का आश्रय लिया है, अब उनको छोड़ोगी तो किसका आश्रय करोगी ? जिसके उत्तर में कहतीं हैं कि 'दुस्त्यजः' उसका कथा रूप अर्थ छोड़ा नहीं जाता है, जिसका आश्रय कर रहूंगी, मन तो कहता है कि उसको भी छोड़ दो, किन्तु उसके त्याग से प्राण बाधा होती है, अतः वह दुस्त्यज है । वह कथा भी यदि भगवान् की भांति स्वतः छोड़ देगी तो छोड़ने दो, हम तो छोड़ नहीं सकतीं हैं । यह इतरथा शब्द कहने का भाव है कि काल से भी श्रवण आदि भगवद्धर्म का बोध कराया है, वहां सख्य और आत्मनिवेदन का भी बोध कराया जाता है । जैसे 'सुपर्णावितौ[2], बह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' वेद और यज्ञ कालात्मक[3] नहीं हैं, इसलिए उपनिषदभाग काल शिरोरूप है । वहां भगवान् का निरूपण नहीं करना चाहिए, यह पुष्टि श्रुतियों का आशय है । यदि यों नहीं कहा जायगा तो वह विषय अन्य प्रकार से सिद्ध होगा+।

भक्ति मार्ग की तरह वहां भी भगवान् का उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है तो फिर निषेध क्यों करते हो?इस शङ्का के उत्तर में कहती है कि मैं जानती हूं, आपको जो परमात्मा इच्छित है, वह मोक्ष देने वाला ही है, उसके अत्यन्त निपुण दूत से भी मोक्ष ही मिलेगा । प्रसन्न करने के लिए ही भक्ति तथा प्रेम की भांति कहता है ।

'न वा अरे पुत्राणां कामाय' 'यमेवैष वृणुते' इन श्रुतियों में सख्य और आत्म निवेदन की भांति कहा है, किन्तु शास्त्र तो सर्व त्याग का उपदेश देते हैं । जैसे 'आत्मकामः सर्वं परित्यजेत्' जिसको आत्मा की कामना है, वह सब का त्याग करे; वैसे विरक्त तथा नित्य आत्मानुसंधान करने वाले को भी यदि आत्मा की स्फूर्ति न होवे तो, उसको गुरु अथवा उपनिषद् से क्या लाभ होगा ?

+इतरथा-भक्ति फल देने के कारण से उनका मोक्ष के प्रति अकारणत्व होगा-प्रकाश'- इतरथा-उपनिषद् से ही कार्य की सिद्धी हो जावे तो भगवान् के अवतार का प्रयोजन न रहे- 'लेख'

१- शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है अतः कथा ही अर्थ है-'प्रकाश'

२- 'सख्य' आगे दिखाया है-'प्रकाश'

३- दूत रूप से जो काल कहा है उसके रूप, यज्ञ और वेद नहीं है ।
पूर्वकाण्ड प्रवृत्ति रूप होने से साक्षात् भगवत्प्राप्ति कराने वाला नहीं है-'प्रकाश'

इस कारण से सख्यादिक ज्ञान मार्ग में अभिप्रेत ही नहीं है, तो भी वैदिक तो होगा[1] ही नहीं, तो पाखण्डी गिने जावेंगे, अतः वेद प्रमाण सर्वत्र विषय में लेना चाहिए ॥१७॥

आभास—ननु तर्हि कथामेव कुर्वन्तु, किमिति भगवतो दोषा उच्यन्ते, न हि भगवद्गुणतत्परा भगवद्दोषान् कथयन्ति । न वा तेषामन्यथा स्फुरतोति चेत्तत्राह **यदनुचरितेति** ।

आभासार्थ—तब तो कथा ही करो, भगवान् के दोषों का वर्णन क्यों करती हो? जो भगवान् के गुणों में परायण हैं, वे उनके दोष नहीं कहतीं हैं । उनको तो गुणों के सिवाय दूसरी कोई स्फूर्ति ही नहीं होती है। यदि यों कहते हो तो इस पर मेरा यह उत्तर है, जिसका 'यदनुचरित' श्लोक में वर्णन करती है ।

श्लोक—**यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-**
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥१८॥

श्लोकार्थ—जिन्होंने व्यास द्वारा भागवत में वर्णन की हुई भगवल्लीला रूप अमृत के एक कण का एक बार भी स्वाद लिया है, वे रागद्वेष का तथा दीन कुटुम्ब का त्याग कर स्वयं दीन होकर पक्षी की भाँति (हँस-परमहँस बन) भीख[2] माँगते फिरते हैं ॥१८॥

सुबोधिनी—यथा भगवान् तथैव तत्कथापि, ततोप्यधिकापि । वयं हि स्त्रियः नात्यन्तं विवेकवत्यः भगवता बहुकालं स्थित्वा कथञ्चिद्व्यामोहिताः, तत्रापि न भिक्षां प्रार्थयामः, नापि भ्रान्ता इव जातिभ्रष्टा जाताः, नापि त्यक्तस्थानाः, कथा त्वल्पीयस्यपि महान्तमनर्थं सम्पादयति । तदाह यस्य भगवतः **अनुचरितम्**; भगवता तु पूर्वं चरितं, तत्पुनः व्यासादिभिरुपनिबद्धमनुचरितं जातम् । अनेन शब्दव्यवहितमपि तथा कार्यं सम्पादयतीत्युक्तम् । यथा निदाघे वस्त्रादिव्यवहितोपि भानुः सन्तापयत्येव । तत्रापि ग्रहणसौकर्यार्थमाह **लीलेति** । दुर्जरत्वं ज्ञात्वा अभक्षयन्नपि रसव्यामोहितो भक्षयति । तत्रापि न प्रयत्नसाध्यता कापीत्याह **कर्णपीयूषेति** । निमीलिताक्षेणापि

1- भक्ति मार्ग में भी 'यमेवैष वृणुते' और 'आत्मा वा अरे' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण में ग्रहण की गई हैं ।

2- सन्यासी होकर मधुकरी से निर्वाह करते हैं ।

कर्णामृतं पातुं शक्यम्, बहुपाने तु को वेद किं वा भवेत्, किन्तु तस्यामृतस्य **विप्रुट्** बिन्दुमात्रम्, तस्यापि **सकृददनं** सादरं मनसा ग्रहणं, तेनैव **विधूता द्वन्द्वधर्मा** रागादयो येषाम्, यैर्बद्धस्तिष्ठति, अतस्तदभावाद् **विनष्टा** भवन्ति । एश अदर्शने, यथा सर्वप्रतीत्या अगृहीता भवन्ति तथा गच्छन्तीत्यर्थः । लौकिकवैदिकमार्गादपि पुष्टिमार्ग एवाभिनिवेशात् । अन्यानुरोधेनापि तेषां स्थितिं निवारयति **सपदीति** । ज्ञानिनोपि विरक्ताः, कर्मिणोपि स्वार्थमपेक्षाभावेऽपि परार्थमपेक्षन्ते । एतेषां तदपि नास्ति । यतः सपद्येव गृहस्थितमपि कुटुम्बं गृहं कुटुम्बं वा **दीनमप्युत्सृज्य** त्यक्त्वा स्वयमपि **दीनाः** सन्तः **बहव** एव **विहङ्गा** जाताः, इहास्मिन् जन्मन्येव हंसाः परमहंसा वा । विहङ्गपदं साधारणप्रतिपादनार्थम् । इतो गताः काका गृध्रा हंसा वा भवन्तु परं गच्छन्त्येवेति ज्ञापनार्थम् । तेषां तु आकाशगतिरिव सर्वविलक्षणा भवतीति । ननु तादृशाः कथमुपलभ्यन्ते तत्राह **भिक्षुचर्यां चरन्तीति** । भिक्षुश्चतुर्थाश्रमवान्, तस्य चर्यामाचारं गृह्णन्ति । तदनधिकारिणोपि तत्फलानभिलाषिणोपि तन्मार्गरहिता अपि तदाचारं गृह्णन्तीत्यर्थः । एवं स्वधर्मं परित्यज्य परधर्मं ग्राहयति दुःखितांश्च करोति तान् तत्सम्बन्धिनश्च । स्वसुखमपि बहु नानुभावयति, अतः कथापि त्यक्तव्यैव । परमशक्यत्वान्न त्यज्यत इति भावः । पुष्टिमार्गश्रुतीनामपि भगवन्मर्यादाश्रुतयोपि नात्यन्तं द्वेष्याः किन्तु ग्राह्या एव, परं नाभिप्रेता इति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—जैसे भगवान् हैं, वैसी भगवान् की कथा नहीं है, किन्तु उनसे भी बढ़कर अनर्थ करने वाली है, जिसकी अधिकता सिद्ध करने के लिए कहतीं हैं कि हम स्त्रियां हैं, विशेष विवेक रहित हैं। भगवान् यहां बहुत काल रहे, जिससे हमको मोहित कर लिया। यों होते हुए भी हम भिक्षा नहीं मांगती हैं। भ्रान्त की भांति जाति से भी भ्रष्ट नहीं हुई हैं और न अपना स्थान छोड़ा है। कथा तो थोड़ी भी सुनी जाती है तो महान् अनर्थ कर देती है। जिसका वर्णन करती हैं-जिस भगवान् की लीला, जो प्रथम भगवान् ने चरित किया, जिसको व्यासजी ने गाया तब वह अनुचरित हुआ। इससे यह कहा कि यद्यपि इसमें शब्द रूप परदा है तो भी वैसा कार्य करता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्य वस्त्र आदि का परदा होते हुए भी तपाता ही है, किन्तु यहां उस अनुचरित को सरलतया ग्रहण किया जा सके, तदर्थ उसको 'लीला' कहा है। कोई भी स्वादिष्ट पदार्थ सामने आता है तो समझा जाता है कि यह गरिष्ठ है, कठिनाई से पचेगा फिर भी लोक रस से मोहित होकर लेते हैं। फिर यहां तो इस लीला रस पान में कुछ प्रयत्न करना ही नहीं पड़ता है। कारण कि यह अमृत कर्ण से पान किया जाता है; अतः आंख बन्द होते हुए भी लिया जा सकता है। जैसे अमृत का यदि विशेष पान किया जाय तो न जाने उससे क्या हो जावे ? जब कि अमृत की एक बिन्दु मात्र भी एक वार आदर पूर्वक लेने से सर्व रागादि नष्ट हो जाते हैं, जिनके कारण लोक बन्धन में पड़ा है, राग द्वेष के अभाव होते हुए ही वह बन्धन भी नष्ट हो जाता है। 'नश्' धातु का अर्थ है प्रतीति का अभाव, अर्थात् कथामृत के कण पान से रागादि यों चले जाते हैं जैसे उनकी पुनः प्रतीति ही नहीं होती है। लौकिक वैदिक मार्ग से भी उनका पुष्टिमार्गीय धर्मों में आग्रह हो जाता है। दूसरों के समझाने पर भी इन धर्मों का त्याग नहीं करते हैं और न फिर लौकिक वैदिक में स्थिति करते हैं। ज्ञानी विरक्त होते हैं और कर्ममार्गी अपने स्वार्थ की अपेक्षा न होते हुए भी अन्य के लिए अपेक्षा रखते हैं, किन्तु इन पुष्टिमार्गानुयायियों में दोनों नहीं हैं। जिससे[1] वे उसी क्षण दीन कुटुम्ब और

१- कथामृत के बिन्दुमात्र कर्ण द्वारा अन्तःकरण में प्रवेश करने से

गृह को छोड़कर स्वयं भी दीन बन, बहुत से इस जन्म में ही हंस वा परमहंस हो गए हैं। यहां विहङ्ग पक्ष साधारण पक्षी के लिए दिया है। यहां से इस गृहस्थ आश्रम से गए फिर काक, गीध वा हंस होवे, किन्तु घर त्याग जाते ही हैं, यह जताने के लिए यों कहा है। उनकी गति आकाश में जाने वाले पक्षिओं की भांति सब से विलक्षण होती है। वैसों का मिलन कैसे होगा? इसके उत्तर में कहा है कि वे चौथे आश्रमवालों के जैसा आचरण करते हैं। जिससे वे पहचाने जावेंगे, जिसके वे अधिकारी नहीं, जिसके फल की चाहनावाले भी नहीं सन्यासमार्ग से रहित होते हुए भी उसका (सन्यासाश्रम जैसा) आचरण करते है। इस प्रकार स्वधर्म का त्याग कर पर धर्म ग्रहण कराता है। उनको और उनके संबन्धियों को दुःखी करता है। अपने सुख का भी बहुत अनुभव नहीं कराता है; अतः कथा भी छोड़ने योग्य ही है, किन्तु छोड़ना कठिन होने से छूटती नहीं है। पुष्टिमार्गीय श्रुतियों का तथा मर्यादामार्गीय श्रुतियों का परस्पर विशेष विरोध नहीं है, किन्तु दानों ग्रहण करने के योग्य हैं, किन्तु वे अभिप्रेत नहीं हैं। १८।।

आभास—तृतीयपर्याये प्रथमं तामस्या **वयमृतमिति।**

आभासार्थ—निम्न श्लोक में तीसरा प्रकार सात्विकतामसी का कहा है।

श्लोक—वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः
कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-
स्मररुज उपमन्त्रिन्भण्यतामन्यवार्ता ।।१६।।

श्लोकार्थ—हे उपमन्त्री! जैसे कृष्ण हरिण की स्त्रियाँ व्याध के गान को निष्कपट मान, उसके बाण से घायल हो पीड़ा ही देखतीं हैं। **वैसे ही हमने भी इस कपटी कृष्ण के कहने को सत्य समझ कर, उसकी होकर, नख क्षत से घायल हो, कामदेव की पीड़ा बढ़ाई, जिसको सब देख रहे हैं। वैसी दशा में वे हमको छोड़ गए, अतः वैसे कपटी की वार्ता छोड़ दे, अन्य कोई वार्ता कर ।।१६।।**

सुबोधिनी—ननु यावन्ति दूषणान्युच्यन्ते तानि सर्वाण्येवासङ्गतानि प्रमाणविरोधात्। तत्राह वयमपि पूर्वं प्रमाणपरा एव जाताः। पश्चादसाधारणवाक्यत्वादनधिकारेणान्यथासिद्धत्वभावं निश्चित्य साधने फलव्यभिचारं दृष्ट्वा क्वचिद्वाक्ये बाधितार्थत्वमपि ज्ञात्वा निवृत्ता जाताः। भगवता हि पूर्वमुक्तं 'न मयोदितपूर्वं वा अनृत'मिति। ततः 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजा'मिति। साधनकाले फलकाले च वाक्यद्वयं **जिह्मव्याहृतं** कपटेनोक्तमन्यथोक्तमन्यथाप्रतीतिं जनयति। भगवता तूक्तं पूर्वं मया नानृतमुक्तं भवदर्थे वक्ष्यामीति, भवता साधुकृत्यं न पारये इति न करिष्यामीति। परं परिज्ञाने अस्माकमेवान्यथाबुद्धिर्जाता, अयमस्मान् प्रति अनृतं न वक्ष्यति, ऋणित्ववचनात् कदाप्युदासीनो न भविष्यतीति, अत एव वयं जिह्मव्याहृतमपि **ऋतमिति** सत्यमिव

श्रद्दधाना जाता:। नन्विदानीं विचारचतुरा: पूर्वं कथं भ्रान्ता जाता इत्याशङ्क्याह **कुलिकरुतमि-वेति**। वयमप्यारण्या: हरिण्योपि। हरिणवेषं कृत्वा मृगयुर्गायति तदा हरिण्यो मुग्धा: पूर्वहरि-णादेनं विशिष्टं मत्वा हरिणोयं हरिणकार्यमपि करिष्यति गानादिकमधिक चेति भ्रमात् पूर्वह-रिणं परित्यज्य तत्स्थाने गता:। तदाह **अज्ञा: कृष्णवध्व** इति। भ्रमादेव द्वितीयकृष्णसारस्य वध्वो जाता:। यथा वयं कृष्णपत्न्य:। ननु को **दोषो** जात इति चेत्तत्राह **हरिण्य** इति। हरिण-स्य हि ता भार्या: तत्वाकृतिसाम्यादन्यस्य, यथा वयं गोपभार्या, नापीश्वरस्य, नापि क्षत्रियस्य, नापि यादवस्य, परं स एव गोपत्वेन स्थित इति गोप एवायमस्मद्धितं करिष्यतीति प्रवृत्ता: पश्चात्स ईश्वर एवेश्वरो जात: गोपिका: परं नष्टा इति भाव:। ननु किमिति नाशो भाव्यते, हरिणस्तु तेन विद्धा न तु भवत्य इति चेतत्र तुल्यार्थता-माह **ददृशुरिति**। एतद् ददृशु:, स्वावस्थामभिन-येन प्रदर्शयन्त्य: हरिणीनां तामवस्थामाहु:। हरि-ण्योप्युभयतो भ्रष्टा जाता:। स्वयमेव हरिणीनां बोधने दृष्टान्तभूता इति पूर्वं हरिण्युपक्रमेण निरूप्यमाणमप्यर्थं पश्चात्स्वप्राधान्येन निरूपयन्ति **तन्नखस्पर्श** इति। नखकामयो: स्वस्मिन्नेव प्रसि-द्धिरिति बाणवेदौ उपलक्ष्येते। तस्य भगवत: नखानां य: स्पर्श: तेन तीव्रा या स्मररुक् सा यासाम्! कटाक्षादयो विस्मृता अपि भवन्ति न नखादय:। अन्या वेदना तु औषधेनापि शाम्यति, स्मरस्तु स्मरणेनैव तथा भवति इति स्वस्य प-मानत्वम्। **उपमन्त्रिणि**ति सामीप्येन नीतिज्ञत्वेन च सम्बोधनमाहु:। एतन्न प्रकटीकर्तव्यं ज्ञायते च भगवत्स्वरूपमिति। अतो भगवद्वार्तया क्लेश एव भवतीति **अन्यवार्ता भण्यताम्**, अन्यार्थमागत: कश्चिदहमन्य इति ज्ञाप्यतामित्यर्थ:। तदैवमुपा-लम्भनं न करिष्याम:॥१६॥

व्याख्यार्थ—तुमने जितने दोष भगवान् के कहे हैं वे सर्व असङ्गत हैं, क्योंकि उनमें कोई प्रमाण नहीं है। इस पर कहतीं हैं कि हम भी प्रमाण परायण थीं। भगवान् ने कहा मैं कभी झूठ नहीं बोलता हूं, जिसको प्रमाण मान उस पर विश्वास कर लिया, अनन्तर देखा तो वह असाधारण वाक्य था तथा आधिकार के अभाव से अन्यथा सिद्धि के अभाव का निश्चय कर और साधन में फल का व्यभिचार देखकर एवं किसी वाक्य में बाधितार्थ भी जान कर उनके कहने पर विश्वास छोड़ दिया, जैसे कि भगवान् ने पहले कहा कि 'न मयोदितपूर्वं[1] वा अनृतमिति' इसके पश्चात् 'न पारयेऽहं निरवद्य[2] संयुजामिति' कहा, ये दोनों वाक्य साधन काल तथा फल काल के कपट से कहे हुए हैं, क्योंकि कहा एक प्रकार (और) किया दूसरी तरह अर्थात् कथनीं और करनी में भेद रहा। हमने भगवान् के अक्षरों का भावार्थ पूरी तरह नहींसमझा। भगवान् का तो कहने का अभिप्राय यह था कि प्रथम मैंने झूठ नहीं बोला है, किन्तु अब तुम्हारे लिए झूठ बोलूंगा। तुमने साधु कृत्य किए, हमसे वैसा न होगा। वैसा न जानकर समझा था कि भगवान् हमारे आगे झूठ न कहेंगे और ऋणी कहने से हमारा त्याग कभी भी नहीं करेंगे। वास्तव में ये वचन कपट से कहे हुए थे, जिनको सत्य समझ हम विश्वास करने लगीं। यदि आप कहो कि अब ऐसी विचार-चतुर दीखती हो तो प्रथम भ्रान्त कैसे बनी? जिसके उत्तर में कहती हैं कि हम भी हरिणियों के समान अरण्य में रहने वालीं अज्ञ[3]

१— मैंने पहले कभी झूठ नहीं बोला है। २— आपने जो किया उसका बदला मैं कभी नहीं दे सकूंगा। ३— ना समझ, अज्ञान।

हैं। जैसे हरिणियां हरिण का वेष धारण कर व्याध जब गान करता है, तब वे मुग्ध हो जातीं हैं और समझतीं हैं कि यह हरिण है। हरिण का कार्य भी करेगा, विशेष में यह गान में भी चतुर है, जिससे भी सुख की प्राप्ति होगी। अतः भ्रम में पड़कर प्रथम हरिण का त्याग कर उसके पास चली जातीं हैं, क्योंकि वे कृष्ण (काले की स्त्रियां मूर्ख हैं, भ्रम से ही अन्य कृष्णसार की पत्नियां बनी, वैसे ही हम कृष्ण की पत्नियां बनीं हैं। वे हरिणियां दूसरे की स्त्रियां (यों) नहीं बनीं क्योंकि आकृति समान होने से उसको हरिण समझ स्त्रियां बनीं जैसे हमने क्षत्रिय, ईश्वर और यादव समझ इसको नहीं अपनाया है, किन्तु गोप समझ, क्योंकि हम गोपों की स्त्रियां हैं यह भी गोप है, हमारा हित करेगा, जिससे यह प्रवृत्ति की है अर्थात् इसको अपना स्वामी बनाया है। ये ईश्वर थे ईश्वर ही रहे, इनका कुछ बिगड़ा नहीं, किन्तु गोपियों का ही नाश हुआ। यदि आप कह दो कि इस प्रकार नाश की भावना ही आप क्यों करतीं हैं? हरिणियों को तो व्याध ने वेधा है तुमको तो कृष्ण ने वेधा नहीं है। इसका उत्तर देती हुई कहतीं है कि देखलो, अपनी अवस्था अभिनय से दिखाती हुई हरिणियों की उस अवस्था को कहती हैं कि हरिणियां भी दोनों तरफ से भ्रष्ट हुई हैं। आप ही हरिणियों की अवस्था बताने में दृष्टान्त हुई। प्रथम उपक्रम में हरिणियों की दशा दिखाई, फिर प्रधानता से अपनी दशा भी कहती है कि नख स्पर्श से हमको वेधा है। उससे काम भी जागृत हुआ, जिसकी पीड़ा हम सहन कर रही हैं। इन दोनों[1] की प्रसिद्धि हम में ही है, यह कहना हरिणियों के बाण और पीड़ा का उपलक्षक, नखक्षत[2] मिटता नहीं। कटाक्ष[3] तो भूल भी जाते हैं। अन्य प्रकार की पीड़ा औषध से मिटाई जा सकती है, किन्तु काम जो स्मरण से ही उत्पन्न होता है वह किसी भी औषध से नहीं मिटता है, इसलिए आप ही हरिणियों की उपमान बनी हैं। उद्धवजी को उपमन्त्रिन्! संबोधन देतीं हैं, जिसका कारण यह है कि मन्त्री पास में रहता है और नीतिज्ञ होता है, तो उद्धवजी नीतिज्ञ हैं तथा पास में भी बैठे हैं। अतः उनको यह सम्बोधन देकर कहती हैं कि आप भगवान् के विषय में कुछ भी प्रकट न कीजिए, क्योंकि हम उनके स्वरूप को जानती हैं। यदि आप भगवद्वार्ता अब करोगे तो हमको दुःख ही होगा, अतः अन्य वार्ता करिए, इसको भूल जाइए। यदि आप जिसके लिए आए हो, वह न कहकर अन्य वार्ता करोगे तो हम आपको उलहना नहीं देंगी ॥१९॥

आभास—एवमुक्त्वा सम्बन्धं विनिवार्य मूर्च्छितेव जाता। पुनः सात्त्विकराजस-भावेनाह **प्रियसखे**ति।

आभासार्थ—यों कह कर भगवान् से अपना संबन्ध ही न रहा, इस प्रकार के भाव उत्पन्न होने के कारण मूर्च्छित जैसी हो गईं। फिर सात्विक-राजस भाव से 'प्रिय सख' श्लोक से कहने लगीं।

श्लोक—प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।

१-नख स्पर्श और काम, २-इन्द्रियों की अपेक्षा से कायिक प्रबल है-लेख, ३-तिरछी नजर।

नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे प्यारे के मित्र ! आप फिर आ गए। क्या आपको प्यारे ने भेजा है ? हे अङ्ग ! आप हमारे माननीय हैं। क्या चाहिए ? जो कुछ चाहिए वह वर माँग लें; जिसका सदैव मिथुन भाव रहता है, उसके पास हमको क्यों ले चलते हो ? हे सौम्य ! उसके छाती के पास सदैव लक्ष्मी रहती ही है; तो फिर हमारा क्या प्रयोजन ? ॥२०॥

सुबोधिनी—बहव एव दोषा निवृत्ताः सत्त्वप्राधान्याद्गुणकथनाद्वा, अतस्तं दृष्ट्वा प्रथमपर्यायाद् अन्यथा बुद्धिजनकत्वेन प्रकारान्तरेणागमनं सम्भावयति। भ्रमरमपि पुनरागतमिव, भगवतो दोषान्वा श्रुत्वा तत उत्थाय मूर्च्छितायामुद्धवः पुनरागत इति वा। इदानीमपि किं प्रेयसैव प्रेषितः, तदा आकाङ्क्षाधिक्यादस्मत्कार्यं भविष्यतीति भावः। हेमन्ते तासां साधनोपक्रम इति पुनर्नवम्युक्तौ व्याप्रियत इति नवमश्लोके। हेमन्तेऽपि प्रथमो मासो नवमो भवति, पुनर्दण्डकलितवदावृत्तिर्भविष्यतीति मत्वा फलदात्रा भगवता प्रेयसा प्रेषित इति। तथेत्यङ्गीकृते आह वरयेति। वरं ब्रूहि, साधनेन नेदं कार्यं सेत्स्यति। अयुक्तमपि वरेण सिध्यति। सात्त्विकः कालः भक्त्यनुगुणो वा तदीयप्रमाणान्युररीकृत्य भागवतादिकर्मिव प्रदर्शयन् पुनरागमनमाह। तत्रापि मन्त्रदेवतावरेणैव तत्तत्कार्यं भवति नान्यथेति ज्ञापयितुं वरयेत्युक्तम्। उद्धवेऽप्याशीर्वादो देयः, भ्रमरस्याप्यामोदोपभोगः कारणीय इति किमहमनुरुन्धे तुभ्यं दास्यामि तत्कथयेत्यर्थः। ननु कोऽयं निर्बन्ध इति चेत्तत्राह माननीयोसीति। अङ्गेति स्नेहसम्बोधनं मित्रत्वात्। उपकारं हि कुर्वन् माननीयो भवति। ननु तथापि यथास्माभिर्न दीयते तथा त्वयापि न देयमित्याशङ्क्याह नयसीति। त्वं तु नयनार्थमागतः। अयमेवोपकारः। परं नयने साधनापरिज्ञानादस्माकं सन्देहोऽस्ति तत्कथयेत्याहुः कथमिहास्मानिति। वयं बह्व्यः स्त्रियः, गोकुलं च निरोधस्थानम्, त्वं चैकः। किञ्च। दुस्त्यजो द्वन्द्वो यस्य। भगवान् हि नित्यभार्यः, विभज्यैव शक्तिं कृष्णो भगवानवतीर्ण इत्यवोचाम। ननु न साम्प्रतं कापि तिष्ठतीति चेत्तत्राह सततमुरसीति। सौम्येति सम्बोधनं साधुत्वाय। श्रीरेव वधूः, न तूरसि लक्षणमात्रम् लोकप्रदर्शनार्थं लक्षणत्वमापन्ना। वस्तुतस्तु साकमास्ते सहैव तिष्ठति, सौम्यत्वात् सम्मतिदर्शने निरूपिता ॥२०॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक को कहनेवाली यह गोपी सत्त्व प्रधान होने से सगुण पक्ष वाली है। अथवा भगवद्गुणगान करने से भगवद्भाव वाली है, जिससे बहुत दोष निवृत्त हो गए हैं। अतः उसको[1] देखकर सखी ने जैसे प्रथम कहा उससे यह अन्य प्रकार से कहती है। कारण कि बुद्धि में अब अन्य प्रकार के विचार उत्पन्न हो गए हैं, क्योंकि दोष निवृत्त हुए हैं। इनके आने को दूसरे प्रकार से

१— उद्धवजी को वा भ्रमर को,

संभावना करती हुई बोलती है कि हे भ्रमर ! क्या तूं फिर आ गया ? अथवा भगवान् के दोषों को सुनकर मूर्छित हुई गोपी के पास उद्धवजी फिर इसलिए लौट आए हैं कि चल कर इसको आश्वासन दूं, क्या अब भी प्रीतम ने ही फिर भेजा है? यदि यों है तो क्यों प्यारे को अब भी हमारी आकांक्षा है? जिससे समझा जाता है कि हमारा मनोरथ सिद्ध होगा। हेमन्त में उन्होंने साधन का प्रारम्भ किया, जिसका प्रथम मास बसन्त से नवम होता है। फिर नवम गिना जाय तो शरद होती है, जिसमें भगवान् ने फलदान का वरदान दिया है, अतः भेजा है? यदि यों है, तो आप जो चाहे वह वर मांगो। साधन से कोई कार्य सद्धि न होगा, किन्तु देवता के वरदान से कैसा भी हो, वह सफल होगा। यह काल भी सात्त्विक है अथवा भगवदीय है, उनके प्रमाणों को हृदयङ्गम कर, भागवत आदि की तरह कहने[2] के लिए फिर आए हैं। जिसको कहती है कि मन्त्र, देवता के वर से ही वह कार्य पूर्ण होता है, दूसरे प्रकार से नहीं। इसलिए कहा है कि वर मांगों, उद्धवजी को भी आशीर्वाद देना है, भ्रमर को भी सुगन्ध का उपयोग कराना है, जो आपकी इच्छा होगी वह दूंगी, वह कहो, वैसा आग्रह क्यों करती हो ? इसके उत्तर में कहती है कि 'माननीयोऽसि' मान देने के योग्य हो, हे अङ्ग ! यह सम्बोधन स्नेह सिक्त है, जिससे मित्रत्व की भावना प्रकट होती है। जो उपकार करता है, वह मान लेने के योग्य है। यदि आप कहो कि जैसे हम नहीं देते, वैसे आप भी मत दो। इसके उत्तर में कहती है कि 'नयसि' आप तो लेने के लिए ही आए हैं, यह ही उपकार है, किन्तु प्रिय के पास ले चलने के लिए आपके पास कौनसा साधन है ? जिसका हमको ज्ञान नहीं है, जिससे हमको सन्देह है कि आप कैसे ले चलेगे ? वह हमको आप बताओ।

हम बहुत स्त्रियां हैं, आप अकेले हैं और गोकुल निरोध का स्थान है। विशेष बात तो यह है कि जहां जिस प्रीतम के पास हमको ले चलोगे वे तो सदैव वहां स्त्री सहित रहते हैं। उसका त्याग वे कर नहीं सकते हैं, हमारा कहना तो यह है कि भगवान् कृष्ण शक्ति को अलग कर ही प्रगटे हैं। यदि आप कहें कि अब उनके पास कोई नहीं है तो वह सत्य से विपरीत है। हे सौम्य ! यह संबोधन उद्धवजी का साधुत्व बताने के लिए दिया है, उनकी स्त्री लक्ष्मी सदैव साथ ही रहती है, 'उरसि' शब्द लोक को दिखाने के लिए कहा है। आप सौम्य हैं, अतः जैसे हम कह रही हैं, आपकी भी यही सम्मति होगी ॥२०॥

आभास—सुखेन नेष्यामीति स्वीकृतवन्तमित्याह **अपि बतेति**।

आभासार्थ—मैं आपको सुख पूर्वक आपके प्यारे के पास ले चलूंगा, इसकी चिन्ता ही मत करो, जिसके उत्तर में 'अपि बत' श्लोक कहती है।

श्लोक—अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान्सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।

२— उपदेश देने के लिये।

क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ॥२१॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! यह तो बताओ कि अब आर्यपुत्र मधुपुरी में बिराजते हुए कभी पिता के गृह; बांधव तथा गोपों को याद करते हैं ? और कभी हम किङ्करियों (दासियों) की बातचीत भी करते हैं ? अगर जैसी सुगन्धवाली भुजा को हमारे सिर पर कब धरेंगे ?

सुबोधिनी—अपीति सम्भावनायाम् । बतेति हर्षे, भगवान् उपनीतो विद्यार्थं गत इति श्रुतम् । ततः समागत्य **मधुपुर्यां** पुष्टिपुर्यामार्यस्य नन्दस्य वसुदेवस्य वा पुत्रः, भर्तृत्वेन नामाग्रहणम् । सत्कुले प्रादुर्भूतः नास्मांस्त्यक्ष्यतीति भावः । **अधुना** किमास्ते अथवा नीत्वा यावदागमनं स्थापयिष्यतीति सन्देहात्प्रश्नः । विद्यमानोप्यन्याभिनिविष्टश्चेत्, न कार्यं सेत्स्यतीत्यभिप्रायेणाह **स्मरति स पितृगेहानिति** । तदा गोकुलस्मरणादस्मत्परत्वम् । बहुवचनेन स्वच्छन्दरमणमपि सूचितम् । एवं वचनं पुरुषान्तरेऽयुक्तमित्याशङ्क्याह । **सौम्येति** सम्बोधनम् । व्याजेन पृष्ट्वा विशेषतोपि पृच्छन्ती आह **बन्धूंश्च गोपानिति** । नन्दगोत्रिणो बान्धवाः अन्ये च गोपाः, चकाराद् गोकुलस्थाः सर्वे, तदाभिनिवेशो ज्ञायत इति । एवं पृष्ट्वा पुनः स्थातुमशक्ताः स्ववार्तामपि पृच्छन्ति **क्वचिदपीति** । रसाभासकथायां लौकिककथायां वा, स पूर्वस्वामी नोस्माकं सर्वासां कथामपि स्मरति । स्मरणे हेतुः **किङ्करीणामिति** । नन्वन्तःकरणवार्ता कथं ज्ञायत इत्याह **गृणीते क्वचिदिति** । तथोत्तरं दत्तमिति ज्ञात्वा पूर्वमपि परमसन्तापानन्तरं प्रादुर्भूतमिव कथं द्रक्ष्यामीति मनोरथाभिलाषमाह **भुजमगरुसुगन्धमिति** । कदा वा अगरुसुगन्धं भुजमगर्वपेक्षया वाऽगरुणा वा कदा वा पुनर्मूर्ध्न्यधास्यद्धास्यति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में 'अपि शब्द सम्भावना अर्थ में दिया है और 'बत' हर्ष में । हमने सुना है कि भगवान् यज्ञोपवीत संस्कार होने के अनन्तर पढने के लिए गए हैं । वहां से लौटकर मधुपुरी जो पुष्टिपुरी है, उसमें आर्यपुत्र[1] जब आवेंगे तब हमारा ग्रहण करेंगे, क्योंकि सत्कुल में उत्पन्न हुए हैं अतः हमारा त्याग तो नहीं करेंगे । 'आर्यपुत्र' इसलिए कहा है कि वे पति हैं, पत्नी पति का नाम नहीं लेती है । वे अब मथुरा में हैं ? हमको जो अब ले चलते हो तो यहां आने तक कहां रखेंगे ? इस प्रकार के प्रश्न संदेह से करतीं हैं ।

वहां[2] बिराजते भी हों; किन्तु यदि उनका मन अन्य में आसक्त होगा तो कार्य की सिद्धि न होगी, यह अभिप्राय हृदय में रख कर पूछतीं हैं कि क्या वे पिता के घरों को याद करते हैं ? यदि गोकुल को स्मरण करते होगे तो हमारा भी स्मरण उसमें आ जायगा । यहां बहुवचन दिया है

१- नन्दजी का वा वसुदेवजी का पुत्र, २- मथुरा में ?

जिसका आशय यह है कि इससे स्वच्छन्द रमण की भी सूचना हो गई। इस प्रकार के वचन अन्य के आगे कहने योग्य नहीं हैं, ऐसी शङ्का की सम्भावना में कहतीं हैं कि हे सौम्य ! आप सोम्य हैं, इसलिए आपके सामने कहने में कोई अयोग्यता नहीं है । बहाने से यों पूछकर अब विशेष रूप से पूछती हैं कि नन्द के गोत्रवाले तथा अन्य गोप है, क्या उनको वे कृष्ण याद करते है ? 'च' से गोकुल में रहने वाले जो भी हैं उन सब के स्मरण का भी पूछलिया हैं। यों सब का पूछने के अनन्तर चित्त रुका नहीं तो अपनी वार्ता भी स्पष्ट पूछने लगीं । रसाभास की कथा में अथवा लौकिक कथा में क्या वे, जो पूर्व हमारे स्वामी थे, हम सब की कथा का स्मरण करते हैं ? यदि आप कहें कि तुमको क्यों याद करेंगे ? इस पर कहती हैं कि हम उनकी दासियां हैं। जो आप कहो कि उनके अन्तःकरण में क्या है ? उसका मुझे क्या पता ? तो इस पर कहती हैं कि कभी मुख से भी हमारी बात कहते हैं कि नहीं ? किसी समय यों उत्तर देने पर फिर कहती हैं कि जैसे पहले भी अत्यन्त सन्ताप देने के अनन्तर प्रकट हुए वैसे कब दर्शन देंगे ? अपने मन की अभिलाषा प्रकट करती हुई कहती हैं कि वे अगर से भी विशेष सुगन्धवाली भुजा को हमारे मस्तक पर कब धरेंगे ?

आभास—एवं सर्वभावेन सर्वावस्थासु उत्कृष्टापकृष्टास्वपि भगवत्परत्वं बोधितम्, प्रतीतिको दोषोप्युक्तः, ततो दोषनिर्हरणार्थमुपदेशात्पूर्वमुद्धवोभिनन्दनं कृतवानित्याह **अथोद्धव** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्वात्मभाव से सर्व अवस्थाओं में उत्कृष्ट[1] और अपकृष्ट[2] सब प्रकार की गोपियों का भगवत्परायणत्व बताया तथा प्रतीत होने वाले दोष मिटाने के लिए जो उपदेश देना है, जिसके पहले उद्धवजी गोपियों का अभिनन्दन करेंगे, इसको श्री शुकदेवजी 'अथोद्धवो' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।
सान्त्वयन्प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत ॥२२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि उद्धवजी इस प्रकार के गोपियों के वचन सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन की प्यासी गोपियों को प्यारे के सन्देशों से सान्त्वना देते हुए यह कहने लगे ॥२२॥

सुबोधिनी—स हि उत्सवात्मकः ताभिः दोषगुणमिश्रतया निरूपितानपि भगवद्धर्मान् गुणत्वेनैव स्वीकृतवान्, अतो भिन्नप्रक्रमेणैव **निशम्य**, दोषाभावात् तात्पर्यतः एवं कृष्णदर्शनलालसाः विदित्वा, यथा सभायामपि भुजमगरुसुगन्धमिति मनोरथाभिलाषः, एतादृश्योवश्यं सान्त्वनीया इति ताः **सान्त्वयन्**, तत्रापि **प्रियसन्देशैनैव** न तु स्वतः, यतो गोप्यः भगवदीयाः, आज्ञा च भगवतस्तथैवेति, इदं स्तोत्ररूपं वक्ष्यमाणम**भाषत** ।
॥२२॥

१- उत्तम, २- अधम ।

व्याख्यार्थ—उद्धवजी उत्सव[1] रूप हैं. उन्होंने भगवान् के गुण दोष मिश्रित कहे, किन्तु इनने (उद्धवजी ने) उनको दोषों को) गुण रूप ही माना है, अतः दूसरे प्रकार से ही उनको सुना, जिससे समझा कि ये प्यारे के गुणों का ही इस प्रकार वर्णन कर रही हैं। कारण कि इनके अन्तःकरण में श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा भरी हुई है। जिसकी पुष्टि में इन्होंने सभा में भी कहा कि अगरु के सुगन्धि से विशेष सुगन्ध वाली भुजा हमारे शिर पर कब धरेंगे ? इस प्रकार इनकी अभिलाषा है। ऐसी (व्रज भक्तों) को अवश्य सान्त्वना देनी चाहिए, किन्तु वह भी प्रीतम के सन्देशों+ से न कि अपने वाक्यों से। कारण कि ये गोपियां भगवदीया हैं और भगवान् की आज्ञा भी वैसी ही है, यह जो स्तोत्र रूप कहने का है, वह कहेंगे ॥२२॥

आभास—तासां स्वाभाविको दोषोपि भगवत्कृत इति भगवद्गुणैः गुणा एव त इति ज्ञापयितुं षड्भिः स्तोत्रमाह अहो इति ।

आभासार्थ—उन (गोपियों में जो स्त्रीत्व आदि) स्वाभाविक दोष हैं वे भी भगवत्कृत हैं, अतः भगवद्गुणों के कारण वे भी गुण ही है जिनको बताने के लिए छः श्लोकों से 'स्तोत्र' करते हैं।

श्लोक—उद्धव उवाच—**अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।**
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥२३॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी कहने लगे कि अहो ! आप कृतार्थ हो गईं हो तथा लोक में पूजित हो। कारण कि आपने वासुदेव भगवान् में अपना मन अर्पित कर दिया है ॥२३॥

सुबोधिनी तासामभिनन्दनं हि भक्तत्वात् । भक्तेश्च, तासु भक्तिस्थापनं च ।

व्याख्यार्थ—भक्त होने के कारण उनका अभिनन्दन किया एवं भक्ति का भी अभिनन्दन किया तथा उनमें भक्ति की स्थापना भी की है।

+उच्च कोटि के भक्तों के मन का समाधान[2] तो भगवान् के प्राकट्य से ही होता है,वचनों से नहीं। जब भगवान् के वाक्यों से भी पूर्ण समाधान नहीं, तो उद्धवजी के वचनों से कैसे होगा ? किन्तु उद्धवजी प्यारे के सम्बन्धी हैं, स्नेह मार्ग में स्नेही के सम्बन्धी में भी स्नेह के समान भाव होता है, फिर उसमें विशेषता यह है कि उद्धवजी अपने वचन न कह कर प्यारे के वचनों से संदेश देते हैं, उपदेश नहीं। अतः गोपियों को कुछ सान्त्वना इससे हो जाएगी। इसलिए उद्धवजी वह संदेश सुनाते हैं।

१- आनन्द, २- तसल्ली

कारिका—तत्राप्यनन्यता तासां सर्वभावेन च स्थितिः ।
अतः कृपा हरेर्युक्ता सफलत्वाय सोच्यते ।।

कारिकार्थ—उसमें भी उनकी अनन्यता तथा सर्व भाव से भगवान् में स्थिति होने से भगवान् की उन पर कृपा होना योग्य ही है, वह सफल हो गई; इसलिए उद्धवजी उस (कृपा) को कहते हैं ।।

सुबोधिनी—**अहो** इत्याश्चर्यमस्मदादीनां अपि दुर्लभो भावः एतास्विति, स च भावः सर्वप्रसिद्धः, कादाचित्को हि न तथा, सामान्यतो भक्तस्तोत्रव्यावृत्यर्थं **यूयमिति** । पूर्णः अर्थो यासाम्, भक्तिः स्वतन्त्रफलेति । ततश्च यथा भगवान् स्वतन्त्रः तथा भवत्योपि जाता इत्याह **भवत्यो लोकपूजिता** इति । भवच्छब्दलोकशब्दौ सर्वसाधारण्यार्थौ । तेषां भ्रमात् प्रवृत्ति वारयति **वासुदेवे भगवतीति** । **यासां** भवतीनां प्रसिद्धानां इति पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वभावेन **भगवति मनः अर्पितमिति** ।।२३।।

व्याख्यार्थ—आश्चर्य है कि इसमें जैसा भाव है, वैसा हममें भी नहीं है, वह भाव सर्वत्र वा सब में प्रसिद्ध है । फिर यह भाव सहज है, किसी समय उत्पन्न होकर पुनः तिरोहित नहीं होता है । अतः यह आपकी स्तुति सामान्य भक्त के समान नहीं है, कारण कि आपका अर्थ पूर्ण हो गया है और आप की भक्ति स्वतन्त्र फल रूप है, जिससे जैसे भगवान् स्वतन्त्र हैं वैसे ही आप भी स्वतन्त्र हो गई हैं, अतः आप लोक में पूजित हुई हैं । 'भवत्' शब्द और 'लोक' शब्द तो सर्व साधारण अर्थवाले हैं, इसमें महत्व ही क्या है ? जिसके उत्तर में उद्धवजी कहते हैं कि यों समझना भ्रम है, क्योंकि आपकी जो लोक में इतनी प्रसिद्धि है वह साधारण नहीं है, कारण कि आपने पूर्व कहे हुए प्रकार से अपना मन वासुदेव भगवान् में अर्पित कर दिया है ।।२३।।

आभास—नन्वयं भावः सुलभः कामाच्च जात इति तत्राह **दानव्रतेति** ।

आभासार्थ—आप इस भाव को दुर्लभ कैसे कहते हो, यह तो सुलभ है, क्योंकि काम से हुआ है । इस पर उद्धवजी 'दान व्रत' श्लोक से उत्तर देते हैं ।

श्लोक—**दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।**
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ।।२४।।

श्लोकार्थ—दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और मन के नियमन आदि से तथा अन्य प्रकार के श्रेय करनेवाले उपायों से कृष्ण में भक्ति ही सिद्ध की जाती है ।।२४।।

सुबोधिनी दानादिभिः सर्वैः कृष्णे स्नेह एव साध्यते । स चेत् कामेनैव जातः किं दानादिना । स्नेहे वैलक्षण्याभावात् । फले वैलक्षण्याभावे साधनवैजात्यमप्रयोजकम् । 'तदघं हित्वे'ति विशेषस्तूक्तः । **दानं** तुलापुरुषादि । **व्रतमेकाद**श्यादि । **तपः कृच्छ्रादि** । **होमः** काम्यः । अग्निहोत्रादिरपि । **जपो** मन्त्रादिः । **स्वाध्यायो** वेदाध्ययनम् । वेद एव वा सर्वविषोऽपि । **संयमो** योगादिः, अन्यानि श्रेयांसि कूपारामादीनि, सर्वेषामेषां एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमितिन्यायेन तत्तत्फलसाधकत्वं भक्तिसाधकत्वं च । अन्यैरित्यविहितैरपि, **कृष्णे** सदानन्दे, तस्यैव फलत्वमिति एतदर्थमेवाविर्भूत इति वा । 'भक्तियोगवितानार्थमि'ति वाक्यं हि शब्देनोच्यते । **साध्यत** इत्यनेन आत्मत्वेन नित्यस्नेहो निवारितः ॥२४॥

व्याख्यार्थ – दान आदि सर्व साधनों से कृष्ण में स्नेह ही सिद्ध किया जाता है । वह यदि काम आदि से सिद्ध हो जावे, तो दान आदि की फिर क्या आवश्यकता है ? स्नेह में किसी प्रकार भेद नहीं है, यदि फल में भेद न पड़े, तो साधनों में भिन्नता (जुदाई) हो तो भी आपत्ति (हरकत नहीं हैं । जैसे दान तप आदि पापों को नाश कर कृष्ण में भक्ति उत्पन्न करते हैं, वैसे ही काम क्रोध आदि भी भक्ति की भांति कृष्ण में स्नेह उत्पन्न कर, उनमें मन लगाते हैं, जिससे पाप[1] स्वयं नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार बहुतों ने भगवान् को पाया है । तुला पुरुष आदि करने को दान कहा जाता है । एकादशी आदि के दिन फलाहार वा उपवास आदि को व्रत कहते हैं । कृच्छ चान्द्रायणादि को तप माना गया है । कामना पूर्वक अग्नि में आहूति देनी जिसको होम कहते हैं । अग्नि होत्र आदि को भी कहा जाता है । मन्त्रों को ध्यानपूर्वक रटना जप है । सर्व वेद को नियमानुसार पढ़ना स्वाध्याय है । योग मार्ग में जो यम नियम आदि हैं, जिसको संयम कहते हैं, एवं अन्य अच्छे कर्म, कूप उद्यान आदि जो जनता के आराम के लिए बनवाते हैं । ये सब साधन संयोग पृथक्त्व न्यायानुसार उस फल को पृथक् भी देते हैं तथा भक्ति भी सिद्ध करते हैं । अन्यथा, जो साधन नहीं है, उनसे भी सदानन्द कृष्ण में स्नेह उद्भव होता है, वह ही फलरूप है, इसलिए[2] ही आपका प्राकट्य है । 'भक्तियोग-वितानार्थं' यह वाक्य 'हि'शब्द से कहा है । 'साध्यते' इस पद से आत्मीयत्व नित्य स्नेह का निवारण किया है ॥२४॥

आभास—तर्ह्यस्मद्भक्तिरन्यादृशीति चेत्तत्राह भगवतीति ।

आभासार्थ– तो क्या हमारी भक्ति अन्य प्रकार की है ? जिसके उत्तर में निम्न 'भगवत्युत्तमश्लोके' में कहते हैं ।

श्लोक—भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥२५॥

१– मर्यादा भक्त के तो पाप नाश करते हैं और पुष्टि भक्त में स्नेह प्रकट करते हैं-प्रकाश

२– असाधन को भी साधन बनाने के लिए

श्लोकार्थ—आपने जो सबसे उत्तम भक्ति उत्तम श्लोक (भगवान्) में प्रवृत्त की है, इसके लिए आपको बधाई है। यह भक्ति तो मुनियों को भी दुर्लभ है ॥२५॥

सुबोधिनी—सत्यं भिन्ना परं सर्वोत्तमा। उत्तमैरपि श्लोक्यत इति तेषामपि वाक्यमेव भगवति नत्वेवंभूतं मनः। **भवतीभिरिति** बहुत्वं सामर्थ्यं च द्योतितम्। न उत्तमा यस्याः भवदीयायाः अन्या भक्तिरस्ति। अतो ब्रह्मकल्पमारभ्याद्यप्रभृति भक्तिर्वृद्धाऽद्य पर्यवसिता, यतो भवतीभिरेवेयं दर्शिता। एतदस्मदादीनां भाग्येन एतादृश्यपि भक्तिरस्तीति। एतेन शास्त्रलोकप्रसिद्धायां भक्तौ दानादिसाधनानि श्रूयन्ते। अस्यां तु प्रसिद्धयभावात्साधनमपि न पश्याम इति भावः सूचितः। ननु बहिर्मुखेष्वेवैता उत्तमा इति चेत्तत्राह **मुनीनामपि दुर्लभेति**। अन्यथेदं परित्यज्य मननार्थं कथं प्रवृत्ता भवेयुः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—आपकी भक्ति सचमुच भिन्न प्रकार की है, किन्तु सब से उत्तम है। कारण कि नारद आदि भक्त भगवान् के गुण गान करते हैं। उनकी तो भगवान् में केवल वाणी स्थिर होती है, किन्तु आपका तो भगवान् में मन आसक्त हो गया है। 'भवती' शब्द से गोपियों को यह बताया है कि आप में बहुत्व के साथ सामर्थ्य भी है, जो बिना साधन के भक्ति लोक में फैलादी है। आप की इस भक्ति से कोई अन्य भक्ति उत्तम नहीं है। आपके सिवाय जो भगवान् के अन्य भक्त हैं, उनकी भक्ति आपकी भक्ति के समान भक्ति नहीं है।

भक्ति का लोक में प्रारम्भ तो ब्रह्मकल्प से हुआ है। उसकी पूर्णता अब आपने कर दिखाई है। ऐसी भक्ति भी होती है जिसका दर्शन हम लोगों के ही भाग्य में लिखा था; जिससे हम आपकी प्रकट की हुई भिन्न प्रकार की सर्वोत्तम भक्ति का दर्शन कर रहे हैं। शास्त्र और लोक में जो भक्ति प्रसिद्ध है, उसके दान आदि साधन सुने जाते हैं। इसकी अब तक प्रसिद्धि नहीं थी, इसलिये इसके साधन भी नहीं देखते हैं। ये तो बहिर्मुखों में ही उत्तम कहीं जाती हैं। जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, यह भक्ति तो मुनियों को भी दुर्लभ है। यदि उनको दुर्लभ न होती तो वैसी सर्वोत्तम भक्ति को छोड़कर मनन करने में क्यों प्रवृत्त होते ॥२५॥

आभास—न केवलं स्नेहोत्कर्षेणैव भवतीनामुत्कर्षः किन्तु प्रपत्तिरप्युत्कृष्टेत्याह **दिष्ट्येति**।

आभासार्थ—केवल स्नेह के उत्कर्ष से आपको बड़ाई नहीं है, किन्तु आपकी प्रपत्ति भी अतिशय उत्तम है, जिसका वर्णन 'दिष्ट्या' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च।**
हित्वा वृणीत यूयं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—आपने पुत्र, पति, देह, स्वजन और घर आदि सबका त्याग कर उस पर पुरुष को जिसको कृष्ण कहते हैं उसको वर लिया है। इसके लिए आप प्रशंसा के योग्य हैं, अत: यह हर्ष का विषय है ॥२६॥

सुबोधिनी—प्रपत्तिबाधका एते पुत्रादय:, पुत्रादीनामासक्तिजनकत्वात्, अनासक्तो हि प्रपद्यते, स्त्रीणां सुतरामेवैते प्रतिबन्धका इति गणयति। देहा: स्वस्यैव अवस्थाभेदेन भिन्ना: नानाविधोपयोगा इति तदपेक्षाभावाय बहुवचनम्। स्वार्थं विनियोगाभावस्त्याग:। अन्यथा भगवत: स्थाने गच्छेयु:। किन्तु भगवदाकाङ्क्षामेव भावयमानास्तिष्ठन्तीति पुत्रादिवद् देहत्यागोपि। तथा भिन्नानां स्वजनानां गोपिकानां परस्परमपि प्रासङ्गिक: समाज:, गृहाणामाधारभूतानामपि परित्याग: पूर्वमुपपादित:। **चकाराल्** लोकानामपि। वृथा परित्यागं वारयति **वृणीतेति**। पुरुषपरित्यागो दोषायेति तदर्थमाह **परमिति**। व्यभिचारिण्योपि यदि पतिं भजन्ति तदापि पूर्वदोषं परित्यज्य कृतार्था भवन्ति। जगति प्रायेण चर्षणीरूपा: व्यभिचारिण्य एव, परं दिनवज्जन्मव्यवस्था, अत: पर: पुरुष: सेव्य एव। ननु पूर्वमपि स्थिता: यथा दोषात्तनोपगता एवमग्रेऽपि भविष्यन्तीति किं परमपुरुषप्रापत्येत्याशङ्क्याह **वृणीतेति**। इदानीं हि वरप्राप्तो भगवान् पूर्वमिच्छयेति विशेष:। **किञ्च**। **कृष्णाख्यमिति**। स हि तदर्थमेवावतीर्ण:, प्रमेयबलेनापि न त्यक्ष्यति, पुरुषत्वेन फलान्तराभावेन न काचित् क्षति:। ॥२६॥

व्याख्यार्थ—ये पुत्रादिक अनन्यता में बाध करने वाले हैं, क्योंकि ये संसार में आसक्ति कराने वाले हैं। भगवान् की शरण वह जा सकता है जो पुत्रादि में आसक्त नहीं है अर्थात् जो ससारी नहीं है। ये पुत्रादि, स्त्रियों को तो भगवान् में प्रपत्ति करने में अतिशय बाधक हैं। उनकी गणना करत हैं, देह, जो नाना प्रकार के उपयोग में समय समय पर अलग रूप से काम में आती है, अत: बहुवचन दिया है। आपको इन सब रूपों की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि स्वार्थ नहीं है, अतएव आपने इन सब का त्याग किया है, यदि वैसा नहीं होता तो भगवान् के पास चली जातीं, किन्तु भगवान् की इच्छा (आपको) वहां मंगाने (बुलाने) की नहीं है, वैसी भावना के कारण यहां देह को धारण कर रही हो, नहीं तो पुत्रादि के समान देह भी त्याग देती तथा जो स्वजन भगवान् से विमुख हैं वे भिन्न प्रकार के हैं। उनसे भी परस्पर आने जाने एवं मिलने का व्यवहार छोड़ा है। यह तो पहले ही कहा गया है कि जो रहने के लिये आश्रय रूप घर है, उनका भी त्याग कर दिया है, श्लोक में 'च' इसलिए दिया है कि लोकों का भी परित्याग किया है। यों त्याग कर देना तो वृथा है, इस पर कहते हैं कि नहीं आपने यह जो त्याग किया है, वृथा नहीं है। कारण कि यह त्याग कर आपने उस पर पुरुष श्रीकृष्ण को वर लिया है। पति का त्याग दोष रूप है,किन्तु आपने तो 'पर' सब से उत्तम[1] पुरुषोत्तम को पति बनाया। लोक में यदि व्यभिचारिणियाँ भी समझी जाने से पुन: अपने पति को आकर भजती हैं तो उनके पूर्व कृत दोष नष्ट हो जाते हैं। वे कृतार्थ हो जातीं हैं, जगत् में व्यभिचारिणी स्त्रियाँ चर्षणी रूपा हैं, क्योंकि जन्म जन्म में अन्य पतिवाली होती हैं। दिन के समान जन्म की व्यवस्था

१- जो क्षर और अक्षर से उत्तम पुरुष।

समझलो। अतः जो पुरुष पर है, वह तो सर्वत्र सेव्य ही है। जिसमें व्यभिचार अथवा अन्य कोई दोष नहीं है, क्योंकि वासुदेव एक ही पुरुष है अन्य सर्व जगत् स्त्री रूप है। सच्चा पति तो वह है जो स्वयं निर्भय होवे और भयातुर जगत् की रक्षा करे, वसे तो श्रीकृष्ण ही है, अतः वही पति है।

पहले भी जब श्रुतियां थीं तब भगवान् में ही निष्ठा वाली होने से उनमें स्थित थीं। वह दशा गई और आगे भी यों ही होगा, तो फिर परपुरुष[1] की प्रपत्ति करने से क्या लाभ? इसके उत्तर में कहा है कि 'वृणीत' पहले तो भगवान् अपनी इच्छा से हमको प्राप्त हुए थे। अब तो वरदान से मिले हैं; यह ही अब के मिलने में विशेषता है। फिर ये कृष्ण' नाम से प्रसिद्ध हैं और हमारे लिए ही प्रकट हुए हैं, अतः प्रमेय बल के कारण भी त्याग नहीं करेंगे। पुरुष हैं; अतः फलान्तर का भी अभाव है, जिससे हमको किसी प्रकार हानि नहीं है ॥२६॥

आभास—एवं भक्तिप्रपत्ती निरूप्य सर्वात्मभावं निरूपयति सर्वात्मभाव इति।

आभासार्थ—इस प्रकार भक्ति तथा प्रपत्ति का निरूपण कर अब इस सर्वात्मभावोऽधिगतो' श्लोक में सर्वात्मभाव का निरूपण करते हैं।

श्लोक—**सर्वात्मभावोधिगतो भवतीनामधोक्षजे।**
विरहेण महाभागा महान्मेनुग्रहः कृतः ॥२७॥

श्लोकार्थ—इन्द्रियों से जिनका ज्ञान नहीं होता है, वैसे भगवान् में आपने सर्वात्म भाव किया है। वह भी विरह में किया है, अतः आप महाभाग हो, उस भाव का आपने मुझे दर्शन करा कर मेरे पर महान् अनुग्रह किया है ॥२७॥

सुबोधिनी—तदुपपादितं दशधा। तत्रापि विशेषमाह **विरहेणेति**। संयोगे भवेदपि तादृशी मतिः, सर्वोप्यात्मनो भावः भगवत्येवाधिकृतः उत्तरोत्तरवृद्धिमारब्ध इव। विषयस्याप्यलौकिकत्वमाह। **अधोक्षज** इति। अधः अक्षजं यस्मादिति, कोपि भावः तत्र कर्तुमशक्यः, तादृशे **सर्वात्मभावो** दुर्लभः। तत्रापि बह्वीनाम्, तत्रापि साधनरहितानां **भवतीनाम्**। तर्हि साधनाभावे दृश्यमान कार्यं भ्रमप्रपन्नं भविष्यतीत्याशङ्क्याह हे **महाभागा** इति। भवतीनामुत्पत्तिशिष्टमेव तादृशं भाग्यं साधनमिति न साधनाभावः। ननु स्तुतिरेवैषा क्रियते न वस्तुत इत्याशङ्क्याह **महान्मेनुग्रहः कृत** इति। न हि कोपि परस्तोत्रं कुर्वन् आत्मनो गुणभावमङ्गीकरोति, अतः स्वाभिप्रायप्रदर्शनेन त्वयाप्येवं कर्तव्यमिति उपदेशेन महानेवानुग्रहः कृतः ॥२७॥

व्याख्यार्थ—'भगवता सह संल्लाप' इन कारिकाओं में पूर्व ही वर्णन कर आए हैं कि भगवान् के साथ दश इन्द्रियों द्वारा दश प्रकार के भावों की भावना करनी, यह ही इन्द्रियां वालों का फल है,

---

१- पुरुषोत्तम।

इस प्रकार की भावना संयोग दशा में तो हो सकती है, किन्तु आपको विरह में भी वैसी जो भावना हुई वह ही आप में विशेषता है, आपने जो सर्व प्रकार का भी अपना भाव भगवान् में ही लगा दिया है वह भी इस प्रकार जो उत्तरोत्तर बढता ही जावे, फिर यह विषय भी अलौकिक है; क्योंकि विरह अवस्था में जिसमें आपने भाव लगाया है, वह अधोक्षज है अर्थात् जहाँ इन्द्रियां पहुँच नहीं सकती हैं वैसे में कोई भी भाव करना जब कठिन है; तो सर्वात्मभाव तो दुर्लभ ही होगा। उसमें भी बहुतों का होना और वे बहुत भी साधन रहित हो; इससे तो अतीव दुर्लभ है। हम साधन रहितों के इस भाव की प्रतीति आपको जो हो रही है वह भ्रम से होगी ? इसके उत्तर में हे महाभाग सबोधन से कहते हैं कि यह प्रतीति हमको भ्रम से नहीं हुई है; किन्तु वास्तविक हो रही है, कारण कि आपका जन्म ही उत्तम होने से साधन रूप है, इसलिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं, वही साधन है। इस पर गोपियाँ कहतीं हैं कि यह तो आप हमारी वृथा झूठी बड़ाई करते हो, जिसके उत्तर में उद्धवजी कहते हैं कि नहीं, मैं जो कह रहा हूँ वह आपकी प्रत्यक्ष कृति देखकर कह रहा हूँ, जिसका दर्शन कराके आपने मुझे उपदेश दिया है कि तुमको भी यों करना चाहिए, यों करने से मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया है ॥२७॥

आभास—अतोनुगृहीतेन धाष्ट्र्यात् किञ्चिद्विज्ञाप्यत इत्याह **श्रूयतामिति**।

आभासार्थ—अतः मैं अनुगृहीत की धृष्टता से कुछ वर्णन 'श्रूयतां' श्लोक में करता हूँ, उसको सुनिए।

श्लोक—**श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः।**
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तृ रहस्करः ॥२८॥

श्लोकार्थ—आपको सुख देने वाले प्यारे का संदेश, मैं उनका मित्र, रहस्य **लेकर** आया हूँ, हे कल्याणियों ! उसको तुम सुनो ॥२८॥

सुबोधिनी—स्तोत्रवदेतदप्यनभिप्रेतं ज्ञास्यन्तीत्याह **प्रियसन्देश** इति। भगवतोय सन्देशः प्रियत्वात् प्रीतिजनक एव भविष्यति, सन्देशपदेन चैतज् ज्ञापयति। तदुक्तं भवतीभिरवश्यं कर्तव्यमिति। अन्यथा तदुपदेशं शृणुतेत्येव वदेत्। प्रियेणोपदिष्टत्वाद् असाध्यता दुःखसाध्यता च निवृत्तैव। कदाचिदन्यार्थमुपकारवद्वदेत्, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **भवतीनां सुखावह** इति। दृष्टफलापेक्षा भवत्यः, सुखं चावहतीति तत एव सुखं, न तु भवतीनां पुनः साधनान्तरापेक्षापि। नन्वेतादृशत्वे किं प्रमाणं तत्राह **यमादायागत** इति। मया हि प्रथमतः सोर्थो ज्ञातः, ज्ञायते च भवतीनामधिकारः। एवमपि सति यत्पुनः तमेव सन्देशमादायाहमागतः। किञ्च ! **भर्तृ रहस्करः**। भर्ता हि स भवतीनां ममापि। स तमुपायं न वक्ष्यत्येव येन वयमभृताः भवामः। नापि प्रायिकोर्थः, यतोहमेकान्त एवाभिप्रेतं करोमि, एकान्तं वा करोमि, गूढकर्ता न प्रतार्यते, भर्ता च न प्रतारकः। अतः सन्देशो यथोक्तफलकः ॥२८॥

व्याख्यार्थ—उद्धवजी ने श्लोक में 'प्रिय सन्देश' पद दिया है, जिसके कहने का आशय बताते हैं कि जैसे गोपियों को अपनी स्तुति पसंद न आई वैसे यह भी कदाचित् पसंद न आवे, इसलिए 'प्रिय' पद देकर यह कहा है कि यह संदेश अन्य किसी का नहीं है, किन्तु तुम्हारे प्यारे भगवान् का है, अत: आपको इससे आनन्द ही प्राप्त होगा। इसलिए इस 'सन्देश' को सुनकर जैसा इसमें कहा है वैसा अवश्य करना। यदि यह सन्देश केवल सुनने के लिए होता तो 'शृणुत' क्रिया देते, किन्तु यह जो 'श्रूयतां' क्रिया दी है, जिसका भावार्थ है कि केवल सुनना नहीं, किन्तु यों कर्तव्य भी अवश्य करना। इस संदेश को भेजने वाले तुम्हारे प्रीतम हैं, अत: उनने जो सन्देश भेजा है वह न दुःख-साध्य और न असाध्य है आप दृष्ट फल चाहतीं हैं तथा यह सन्देश सुख देने वाला भी है, अत: सुख भी प्राप्त हो जायगा। फिर आपको सुख की प्राप्ति के लिए अन्य साधन करने की आवश्यकता नहीं है। यह संदेश इस प्रकार का है—इसमें प्रमाण क्या? जिसके उत्तर में कहते हैं कि इसको मैं ले आया हूँ। मैंने प्रथम इस संदेश के आशय को समझा और आपके अधिकार का भी विचार किया, इस प्रकार सोचकर फिर जब हितकारी समझा तब मैं ले आया हूँ। मैं कोई साधारण नहीं हूँ, किन्तु भर्ता का गुप्त कार्य करने वाला हूँ। जैसे वे आपके स्वामी हैं, वैसे मेरे भी भर्ता हैं। वे वैसा उपाय कभी न कहेंगे जिससे वे हमारे भर्ता ही न रहें। अर्थात् हमारे भरण पोषण से वे मुक्त हो जावें। यह संदेश साधारण अर्थवाला नहीं है; कारण कि मैं उनका विशेष निजी कार्य करने वाला अन्तरङ्ग हूँ। जिससे उनका गुप्त कार्य मैं ही करता हूँ. जो वैसा गुप्त कार्य करने वाला होता है, उसको कोई भी धोखा नहीं देता है और जो भर्ता होते हैं वे कभी भी विश्वासघात करने (धोखा देने) वाले नहीं होते हैं, अतः यह संदेश उस फल को देने वाला है, जिसको मैंने कहा है ॥२८॥

आभास—तमेवाह दशभिः भवतीनामिति ।

आभासार्थ—उस (संदेश) को 'भवतीनां' श्लोक से प्रारम्भ कर दश श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित् ।**
आत्मत्वाद्भक्तवश्यत्वात्सत्यवाक्त्वात्स्वभावतः ॥२९॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि तुम्हारा वियोग किसी भी प्रकार से थोड़ा सा भी मुझे नहीं है, कारण कि मैं सबकी आत्मा हूँ, भक्तों के वश हूँ, सत्यवक्ता हूँ और स्त्रियों पर दया करना तो मेरा स्वभाव है ॥२९॥

कारिका—**षड्भिः स्वरूपकथनं पुरुषार्थास्ततः परैः ।**
जीवब्रह्मविभेदेन द्वेधा रूपं निरूप्यते ॥१॥

दोषाणां मूलभूतस्य विरहस्य निवारणे ।
बन्धमोक्षव्यवस्थायां जीवो द्वेधा निरूप्यते ॥२॥

आश्रयत्वाच्च कर्तृत्वाद् द्वेधा ब्रह्मापि रूप्यते ।
दोषाभावप्रतिज्ञाद्य हेतुभिर्विनिरूप्यते ॥३॥

फलं जीवेपि येनैषा बुद्धिर्नश्यति सर्वथा ।
गुणा विभाजका यस्मात्त्रिभिस्त्रिभिरुदीर्यते ॥४॥

कारिकार्थ—प्रथम श्लोक में दोष का मूल जो वियोग है, उसकी निवृत्ति के लिए वर्णन है। दूसरे से पाँचवें तक के ४ श्लोकों में भगवत्स्वरूप का वर्णन है। छठे श्लोक में दोष के अभाव तथा फल का वर्णन है। शेष ४ श्लोकों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन ४ पुरुषार्थों का वर्णन है। विरह (पृथकत्व) ही दोषों का मूल भूत कारण है, जिसको मिटाने के लिए बन्ध और मोक्ष; इन दो प्रकार की व्यवस्था से जीव दो प्रकार के वर्णित किए हैं तथा ब्रह्म भी कर्त्ता और आश्रय रूप होने से दो प्रकार के हैं। प्रथम श्लोक में प्रतिज्ञा हेतुओं से सिद्ध की गई है कि भगवान् में दोष नहीं है, जिससे उसका फल जीव को मिला। वह फल है, जीव की भगवान् में जो दोष बुद्धि थी, वह मिट गई। उससे मन का निरोध दोनों का पूर्ण हो गया। भगवत्प्राप्ति हो गई, यहाँ जीव तथा ब्रह्म के स्वरूपों का गुणों से वर्णन किया है, अतः तीन-तीन श्लोकों से जीव तथा ब्रह्म का वर्णन हुआ है। इन गुणों के कारण ही जीव और ब्रह्म में भेद का भ्रम हुआ है ॥१, २, ३, ४॥

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं वियोगाभावाय मूलहेतुं वदन् प्रतिजानीते। भवतीनामिति। वियोगः स्वाभाविकः, औपाधिकः, अज्ञानतश्चेति त्रेधा भवति। आत्मनां जीवानामेकत्वात् परस्परं भेदाभावेपि औपाधिको भेदोस्ति, तत्रोपाधयः उद्गमो वा, माया वा, भगवदिच्छा वा, अज्ञानं वेति वादान्तरम्। जीवब्रह्मणोस्तु भेदे अज्ञानमेव हेतुः, सुतरां वियोगे। ब्रह्मणस्तु तदुभयाभावान् न जीवैः सह कथञ्चिद् भेदः। भगवांस्त्यक्त्वा गत इति हीर्ष्यादौ हेतुः। स नापि त्यजति, नापि त्यागं मन्यते। जीवास्तु भगवन्तं त्यक्ष्याम इति वदन्तः भ्रान्ता एव। अतोऽयमर्थो निरूपणीयः। तत्र द्वेधापि प्रतिजानीते, भवतीनां वियोगो मम नास्ति, मम च वियोगो भवतीनां नास्ति। एकत्र कृतघ्नता, अपरत्र दुःख च फलति। वस्तुस्वरूपेण वियोगाभावेऽपि एकदेशेन वृक्षकपिवियोगवत् कालभेदेन च स्त्रीपुरुषवच्च वियोगः संभवति, तदुभयं निषेधति नहि सर्वात्मनेति। क्वचिदिति काले, सर्वात्मना केनाप्यंशेनेति देशे। एव चतुर्धा भवति। अत्र प्रायेण साधनचतुष्टयप्रतिपादकं अर्थमन्तरितमिति प्रतिभाति। आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात्स्वभावत इत्येव रूपम्। गोपिकावियोगो भगवतो नास्ति, भगवानात्मेति, भगवद्वियोगश्च न गोपिकानाम्, भक्तवश्यत्वात्, कालभेदेनादि न वियोगः न पारयेहमिति। न ह्येतावदुक्त्वा एतावत्यर्थे तासामिच्छां किं न पूरयेत्। भगवतश्चायं स्वभावः यत् स्त्रीषु कृपावान्, अतः केनाप्यंशेन ता न परित्यजति, विशेषहेतव एते चेद्भवन्ति ॥२९॥

व्याख्यार्थ – तुमको मेरा वियोग नहीं है, जिसका मूल कारण बताते हुए भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि आपका वियोग मुझे नहीं है, तो तुमको कैसे होगा ? अर्थात् वियोग[1] है ही नहीं। जीवों का ब्रह्म के साथ वियोग वास्तविक नहीं है और न आगन्तुक है, किन्तु अज्ञान कृत है। जिसको विशेष स्पष्ट करने के लिए हेतुओं के भेद से उसका त्रैविध्य रूप बताते हैं, १–स्वाभाविक, २–औपाधिक और ३–अज्ञान कृत।

जीवों का परस्पर भी भेद नहीं है; कारण कि आत्म स्वरूप में एक ही है। सब जीव चिद् रूप हैं, अतः एक होने से जीवों में स्वाभाविक भेद नहीं है, किन्तु पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद से उनमें इस प्रकार उपाधिकृत भेद है। मुण्डक में कही हुई इस 'यथा प्रदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते सरूपाः श्रुति के अनुसार उद्गम रूप भेद है। तापनीय में कही हुई इस 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या स्वयमेव भवति' श्रुत्यनुसार और 'जलचन्द्र' दृष्टान्त के अनुसार अंश का पश्चात् प्रवेश होने से उसमें मिथ्यात्व नहीं है। तैत्तिरीय में कही हुई इस बहुस्यां प्रजायेय' श्रुति से भगवदिच्छा है, अविद्या उपाधि मायावाद में कारण मानी गई है, वह 'इन्द्रो मायाभिः' को प्रमाण रूप में लेते हैं। ये वादान्तर हैं, वास्तव में जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है और जो कुछ भेद प्रतीत होता है उसमें अज्ञान ही कारण है, विशेषकर वियोग में। ब्रह्म में तो भेद तथा अज्ञान दोनों के अभाव से जीव के साथ भेद है ही नहीं, इससे भगवान् हमको छोड़कर चले गए,यह दोष भी भगवान् को लगाना नहीं है। भगवान् छोड़ गए यों कहना वा समझना ईर्षा से ही हुआ है। वे तो न छोड़कर जाते हैं और न त्याग मानते हैं, जो जीव कहते हैं कि हम भगवान् को छोड़ देंगे, यों कहने वाले भ्रान्त हैं, अतः यहां इस प्रकार अर्थ को कहना चाहिए। अर्थात् भगवान् ने वियोग को मिटाने के लिए ही सन्देश भेजा है। वहां अपने में और भक्तों में अर्थात् गोपियों में दो प्रकार से प्रतिज्ञा करते हैं कि १–आपका वियोग हमको नहीं है और मेरा वियोग आपको नहीं है। यदि आपको मेरा वियोग होवे तो मैं कृतघ्नी बनूं और तुमको दुःख होवे। जब इस प्रकार वस्तु के स्वरूप का विचार किया जावे तो वियोग का अभाव है। अर्थात् वियोग हैं ही नहीं, तो भी देश से वृक्ष कपिन्याय[2] की भाँति काल भेद से अथवा स्त्री पुरुष की तरह वियोग हो सकता है, किन्तु वह भी यहां नहीं है। जिसको 'सर्वात्मना' क्वचित्' पद से बताते हैं कि कभी भी देश में वियोग नहीं है। वह वियोग चार प्रकार से होता है। १–भगवान् का किया हुआ वियोग, २–भक्त द्वारा किया हुआ वियोग, ३–काल से हुआ वियोग, ४–देश से हुआ वियोग। इन चार प्रकार के वियोग के हेतुओं को बतानेवाला आधा श्लोक टूटा हुआ यों प्रतीत होता है '(आत्मत्वात्,भक्तवश्यत्वात्,सत्यवाक्त्वात् स्वभावत इत्येवं रूपम्)। वह आधा भी इस प्रकार का होना चाहिए। भगवान् को गोपिकाओं का वियोग नहीं है, कारण कि भगवान् आत्मा

१–वियोग शब्द का अर्थ यहां जीव ब्रह्म का परस्पर विभाग (पृथकत्व) नहीं है, किन्तु संयोग होने पर जो स्पर्श होता है, वह वियोग समझना।

२–जैसे कपि कभी वृक्ष के किसी डाली पर कभी किसी पर बैठता है, वह है तो वृक्ष पर ही, वृक्ष से उसका वियोग नहीं है, वैसे ही स्त्री पुरुष का भी किसी काल में वियोग होता है, वास्तव में उनको वियोग नहीं कहा जाता, किन्तु यहाँ तो वह भी नहीं है।

है। गोपियों को भी भगवान् का वियोग नहीं है, क्योंकि भगवान् भक्तों के वश हैं। काल भेद से भी वियोग नहीं है, कारण कि भगवान् ने 'पारयेऽहं' आदि जो शब्द कहे हैं, सो वियोग होवे तो ये भगवान् के वाक्य असत्य हो जावें। केवल इतना कह दिया, यों नहीं है, उनकी इच्छा भी पूर्ण करनी है, क्योंकि प्रभु सत्यवादी हैं तथा उनका स्वभाव भी वैसा है। जो स्त्रियों पर कृपा ही करते हैं, अतः किसी भी अंश से उनका त्याग नहीं करते हैं, क्योंकि भगवान् में अत्याग के लिए जब ये चार विशेष हेतु विद्यमान हैं तब कैसे छोड़ सकते हैं? इसलिए वियोग देते ही नहीं हैं ॥२९॥

आभास—सामान्यहेतूनाह **यथा भूतानीति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—'यथा भूतानि' से दो श्लोकों में सामान्य हेतुओं को कहते हैं।

श्लोक—**यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ।**
तथाहं च मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः ॥३०॥

श्लोकार्थ—जैसे भौतिक देहों में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी रहते हैं; वैसे ही मैं मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियों और गुणों का आश्रय हूँ ॥३०॥

सुबोधिनी—भगवानाश्रय इति ता विहाय क्व यास्यति, अन्यथा आधाराभावे तासां स्वरूपमेव न तिष्ठेत्। अथ देहभावेन आत्मा गौण इति देहेन सह वियोग आविर्भूतस्योच्येत। तदपि न घटते, समवायिकारणत्वेन तेषु वर्तत इति, अन्यथा देहा निःस्वभावाः स्युः। आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी। अन्यथा स्वरूपनाश एव स्याद् यथाग्निकाष्ठयोः। पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यात्, सुखानुभवस्तु स्वान्तःस्थिताग्न्यभिव्यक्तिवत्स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या, सर्वथाभिव्यक्तौ काष्ठांशो ज्वलिष्यतीति न सम्बध्यते, यतो भगवान् प्रलयकर्ता। स्थितिहेतुत्वान् नैकदेशेनापि वियोगः संभवति। तदाह दृष्टान्तेन। **यथा भूतानि** महाभूतानि अन्येषां भूतानामाधारभूतानि सन्ति तेभ्यो न वियुक्तानि भवन्ति। तथा भगवानपि देहांशेन न वियुक्त इति दृष्टान्तेनैव साधितम्, प्रकरणेनैव तल्लभ्यमिति अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः। साधारणदृष्टान्तेन च। चकारात् पुनरुक्तेन दृष्टान्तान्तरमाह। **तथाहमिति**। देहव्यतिरिक्तानि च **मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणा**त्मकानि, तेषामप्यहमा**श्रयः**, समसङ्ख्यार्थं पञ्च गणिताः, सत्त्वादिगुणेषु प्रकृतेरन्तर्भावः अहङ्कारस्य च, त्रिगुणात्मकत्वाद् बुद्धौ चित्तस्य। प्राणाः दशेन्द्रियाणि च, सङ्कल्पादिसर्वधर्मसहितं च मनः। क्रमे च 'अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वागि'ति, सा हि बुद्ध्यात्मिका ज्ञानप्रधाना, यथा रूपं क्रियाप्रधानम्। इन्द्रियाणि प्राणेन वायुना पुष्टानि, गुणाश्चाकाशे, अत एवान्तमः प्रकाशा आकाशे भवन्ति न भवन्तीति च। **खं वाय्वग्निर्जलं मही**त्युत्पत्तिप्रकारेणाधारत्वेन वा गणना, अन्नं महीति पर्यायः। एतेषु जीवस्थितेषु कारणभूतान्येतानि सन्तीति वक्तव्येपि प्रसिद्ध्यभावान् नोक्तम् ॥३०॥

व्याख्यार्थ—जब भगवान् ही आश्रय+है, तो गोपियां उनका त्याग कर कहाँ रह सकेंगी ? आधार के अभाव में स्वरूप का ही नाश हो जाएगा। यदि कहा जावे कि देह मुख्य हैं, आत्मा गौण है, अतः आविर्भूत भगवान् का वियोग देह के साथ हो सकता है, यह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि भगवान् उन देहों में समवायी कारण से विराजते हैं। यदि भगवान् की स्थिति उनमें न होवे तो वे देह भगवान् के स्वभाव[1] से रहित हो जावे। उनमें रस स्वरूप का प्रादुर्भाव ही न होवे। यों वियोग होने का क्या कारण है ? इस पर कहते हैं कि वियोग ही हित करने वाला है। वियोग के कारण ही रसात्मा का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु वियोग के कारण उससे संयोग नहीं होता है। यदि संयोग हो जाय तो जैसे प्रकट अग्नि के संयोग से काष्ठ भस्म होता है, वैसे ही आप (गोपियां) भी नष्ट हो जाएँगी, अतः वियोग हितकारी है। पूर्व समय में सम्बन्ध होने से आप अर्धदग्ध॥ हो गई हो। फिर सम्बन्ध होवे तो सम्पूर्ण जलकर भस्म हो जाएगी। सुख अनुभव तो अपने भीतर अग्नि के समान प्रभु अन्तः करण में ही विराजकर कराते है, तब होता है। यदि अग्नि बाहर प्रकट होती है तो काष्ठ जल जाता है, जिससे काष्ठ प्रकट अग्नि से सम्बन्ध करना नहीं चाहता है। करे तो नाश हो जावे। भीतर की अग्नि से काष्ठ को आनन्द मिलता है और अस्तित्व को भी रख सकता है। भगवान् तो प्रकट प्रलय करने वाले हैं, भगवान् स्थिति के कारण हैं, अतः एक देश से भी वियोग हो नहीं सकता है। वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे महाभूत[1] अन्य भूतों[2] के आधार हैं, अतः उनसे जुदे हो नहीं सकते हैं। वैसे भी भगवान् भी देहांश से पृथक् हो नहीं सकते हैं। प्रकरण के अनुसार ही शब्दों का अर्थ किया जाता है तथा साधारण दृष्टान्त से भी वह अर्थ करने में वा समझने में आता है। फिर अन्य दृष्टान्त कहते हैं-देह से पृथक् मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और गुण, इन पांचों का भी मैं आधार हूं। महाभूतों की संख्या पाँच हैं, तो इनकी उन (महाभूतों) के समान बतादी है। अहङ्कार और प्रकृति का सत्त्वादि गुणों में अन्तर्भाव कर दिया है, क्योंकि वे त्रिगुणात्मक हैं। चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव समझना, प्राण, दश इन्द्रियां और सङ्कल्प आदि सर्व धर्मों वाला मन है।

उत्पत्ति के क्रम में कहा है कि 'अन्नमयं[3] हि सोम्य मनः, आपोमयाः प्राणाः, तेजोमयी वाक्' वह वाणी बुद्धि रूप ज्ञानात्मिका है। जैसे रूप क्रियात्मक है, इन्द्रियां प्राण वायु से पुष्ट होती हैं

+गोपियों ने जो कहा है कि हमको भगवान् का वियोग है, वह कहना सत्य नहीं है, क्योंकि भगवान् गोपिओं का आधार है और आधार का त्याग नहीं हो सकता है।

॥अर्धदग्ध होने पर भगवान् के स्वरूप की स्फूर्ति आधी होती है। यदि फिर सम्बन्ध हुआ तो स्व स्वरूप की स्फूर्ति भी नष्ट हो जाएगी— प्रकाश'

१- रस स्वरूप से।

१- पृथ्वी, जल, वायु आकाश और तेज, २-देहों के,

३- सोम्य मन अन्नरूप है, प्राण जलरूप है, वाणी तेजो हैरूप।

सत्व आदि गुण आकाश में हैं, इसलिए ही बादल से कभी अन्धकार और कभी प्रकाश होता है, कभी नहीं भी होता है। ये उपलक्षण रज, तम और सत्व के हैं 'खं वाय्यग्निर्जल मही' ये भूत हैं। इनकी उत्पत्ति क्रम से वा आधारत्व से गणना की है। अन्न तथा मही ये परस्पर यहां पर्यायवाची शब्द समझने चाहिए। यद्यपि इन जीवों की स्थिति में ये कारण रूप हैं, तो भी इनको स्पष्ट न कहने का कारण यह है कि उनकी प्रसिद्धि नहीं है ॥३०॥

आभास—अतः परं कारणभूतत्वात् कार्यस्य न कारणव्यतिरेक इति भगवद्विरहो गोपिकानां नास्तीति वक्तुमाह **आत्मन्येवेति**।

आभासार्थ—इस प्रकार कहने के अनन्तर कहते हैं कि आप गोपिकाओं को भगवान् से विरह है ही नहीं, क्योंकि आप कार्य रूप हैं और भगवान् कारण रूप हैं। कारण से कार्य पृथक् हो ही नहीं सकता है। 'देखिये-आत्मन्येवात्मना' श्लोक में इस विषय को समझाते हैं।

श्लोक—**आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।**
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ॥३१॥

श्लोकार्थ—मैं अपनी आत्मा में ही आत्मा रूप साधन से अपना ही सृजन करता हूँ, नाश करता हूँ और पालन करता हूँ। ये सब मेरे कारण रूप माया के प्रभाव से भूत; इन्द्रियाँ और गुणों द्वारा होता है ॥३१॥

सुबोधिनी--कर्ता भगवान् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्त' इति श्रुतेः। समवायश्च भगवान् 'तस्माद्वा एतस्मादि'ति श्रुतेः। 'स आत्मानं स्वयमकुरुते'ति श्रुतेश्च कार्यमपि स्वयमेव। जीवपरत्वेऽपि सुतरामत्र न सन्देहः। आधारे सन्देह इति। समवायव्यतिरिक्ताधारं निरूपयन्नाह **आत्मन्येवे**ति। यथा कुलालश्चक्रे घटं करोति, आत्मानात्मसङ्करप्रतिषेधाय एवकारः। करणस्य भिन्नत्वमाशङ्क्याह **आत्मनेति**। वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषाभावाय कार्यस्याप्यन्यत्वं निवारयति **आत्मानमिति**। कदाचिदानीय कश्चिद् घटादिकमपि स्वस्मिन् स्थापयति स्वपादं च स्वजघने, स्फोटयति च स्वस्मिन्। तन्निषेधाय उत्पत्त्यादीनाह **सृजे हन्मि**। **नाशयाम्यनुपालये**। पालयामि। पालनस्य पश्चाद्वचनं देशवियोगाभावे हेतुत्वज्ञापकम्। ननु 'एतस्माज्जायत प्राण' इति श्रुतौ पुराणे च साक्षात् परम्परया वा तत्त्वेष्वेव भगवत्कारणता प्रतीयते न भौतिकेषु। अत एव 'भूतैर्यदा पञ्चभिरि'त्यादिवाक्यानि तत्राह **आत्ममायानुभावेने**ति। अहमेव तत्रापि करोमि, परं मन्मायानुभावेन लोकोन्यथा मन्यते। मायया व्यवहितः मायां पुरस्कृत्य वा करणात्। ननु वाक्यानुभवाभ्यां पृथिव्यादेरेव कारणत्वं प्रतीयते तत्कथमत्र व्यामोह इति चेत्तत्राह **भूतानि इन्द्रियाणि गुणाश्च** आधिभौतिकादिभिन्नास्त्रिविधाः, तदात्मभूता माया तेषु प्रविष्टा; सा हि यत्र प्रविशति तत्रान्यदेव भासयति, अकरणेषु करणत्वम् ।३१।

व्याख्यार्थ—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तस्माद्वा एतस्मात' इन श्रुतियों के अनुसार

कर्ता तथा समवायि कारण भगवान् हैं । 'स आत्मानं स्वयं अकुरुत' इस श्रुति प्रमाण से कार्य रूप भी भगवान् ही हैं । यदि इस श्रुति को जीव पर समझो तो भी कोई सन्देह नहीं है; किन्तु केवल आधार में सन्देह हो सकता है, जिससे समवायि के विना अन्य आधारों का निरूपण करते हुए कहते हैं कि 'आत्मनि एव' जो कुछ करते है वह सर्व आत्मा में ही करते हैं; अतः आत्मा और अनात्मा का संकर भी नहीं होता है, इसलिये 'एव' पद दिया है । जैसे घट कुम्हार के चक्र ऊपर ही बनता है, कारण[1] तो भिन्न होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'आत्मना' 'आत्मानं' आत्मा से ही आत्मा को करता हूं । अर्थात् मैं ही सब कुछ करता हूं और मैं ही सब कुछ हो जाता हूँ, जिससे वैषम्य, नैर्घृण्य दोष भी नहीं होता है । कोई मनुष्य किसी समय घड़ा लाकर अपने शिर पर रखता है और अपने पैर को जांघ पर धर कर वहाँ ही घड़े को फोड़ देता है । इस प्रकार भगवान् की इस सृष्टि का कार्य नहीं है, क्योंकि घड़ा तो दूसरे का बनाया हुआ बाहर से लाया हुआ है और कार्य रूप जगत् तो भगवान् ने अपने में से ही बनाया है, अपने में ही रखा है, जिससे कहते हैं कि 'सृजे', 'हन्मि' और 'अनुपालये', मैं ही सृजन+करता हूँ । मैं ही नाश *करता हूँ और मैं ही पालन ●करता हूँ ।

देश वियोग का अभाव बताने के लिए ही 'पालन' अन्त में कहा है । 'एतस्योज्जायते प्राण' इस श्रुति में तथा पुराणों में साक्षात् वा परम्परा से भगवान् की कारणता, तत्वों में ही प्रतीत होती है न कि भौतिक पदार्थों में। यों मान लेने से ही 'भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः' वाक्यों की सङ्गति होती है । इस पर कहते हैं कि 'आत्ममायानुभावेन' वहां भी मैं ही अपनी योग माया के प्रभाव से प्रकट कर्ता हूं, किन्तु लोक मेरी माया के प्रभाव से अन्यथा समझते हैं । मैं माया को आगे कर अथवा माया को बीच में रख कर कार्य वा सृष्टि करता हूँ, जिससे लोगों को वैसा भ्रम होता है । वाक्य तथा अनुभव से पृथिवी आदि का कारणत्व देखा जाता है तो इसमें मोह कैसे कहा जाता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भूत, इन्द्रियां और गुण ये तीन ही आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधि दैविक भेद से तीन प्रकार के हैं । उनमें आत्म रूप माया तब प्रविष्ट हुई है । वह जहां भी प्रवेश करती है, वहां दूसरा ही भासता है, जिससे लोग असाधन को साधन मान लेते हैं ॥३१॥

श्री प्रभुचरण कृत टिप्पिणी का आशय—

+सृजन-यहां लीला में सृजन का तात्पर्य है, स्वरूप स्थिति, वह यहाँ प्रभु का मिलन है ।

*—नाश-यहाँ लीला में वियोग को कहते है जिसमें सर्व का तिरोधान होता है, वह भी रसदान के लिये किया जाता है।

●—पालन—रसदानार्थं वियोग कर पश्चात् पालन करते हैं, अर्थात् स्वरूपानन्द का दान देते हैं, इसलिए ही यहाँ पालन अन्त में कहा है, नहीं तो सृष्टि के बाद पालन कहा जाता है; पश्चात् नाश कहते हैं ।

१- साधन

आभास—एवं ब्रह्मधर्मानिरूपणेन वियोगाभावं निरूप्य जीवधर्मनिरूपणेनापि तदभावं निरूपयन्नाह **आत्मेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्म भाव से गोपियों को भगवान् का विरह नहीं है, यह कह कर अब जीव भाव से विरह नहीं है, यह 'आत्मा ज्ञानमयः' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—**आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणाश्रयः ।**
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥३२॥

श्लोकार्थ—जीव ज्ञानमय, शुद्ध, देहादि से पृथक् है और गुणों का आश्रय नहीं है । माया की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; इन तीन वृत्तियों से भी जुदा है, तो भी चैतन्य होने से यों समझा जाता है ॥३२॥

सुबोधिनी—आत्मा जीवः, यं गोपिकाः अहमिति मन्यन्ते, स देह एवेति प्रतीतिसिद्धत्वात् तद्व्यतिरेकार्थमाह **ज्ञानमय** इति । मयट् प्राचुर्ये । सच्चिदानन्दरूपत्वाज् ज्ञानप्रचुरोयमात्मेत्यर्थः । तर्हि वैषयिकज्ञानमयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **शुद्ध** इति । ननु शुद्धमात्मानं न पश्यामः, अतः प्रमाणाभावात्प्रतीतस्य चाशुद्धत्वाद् बाधितार्थ इति चेत्तत्राह **व्यतिरिक्त** इति । अस्माद्देहादिसङ्घाताद्व्यतिरिक्तः, यथा तप्तवालुकातः सूर्यो व्यतिरिच्यते । **नन्वत्र** व्यतिरेके का उपपत्तिरिति चेत्तत्राह **अगुणाश्रय** इति । स हि गुणानाश्रित्य न तिष्ठति । गुणाश्रया अन्ये । स तद्व्यतिरिक्तः । सर्वत्र तत्रानुभवं प्रमाणयति **सुषुप्तीति** । मायायाः गुणमय्यः तिस्रो वृत्तयः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदाः, तिसृष्वप्यलौकिकसामर्थ्यान् मायाग्रहणम्, अन्यथा सुषुप्तौ परमानन्दस्फूर्तिः स्वप्ने नानाविधपदार्थानां जागरणदशायां च चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिर्न स्यात् । अत्र सर्वत्र आत्मनः अन्वयो दृश्यते एकस्यां वृत्तौ, द्वितीयवृत्तिव्यतिरेकश्च, तद्धर्माणां च, अतो ज्ञायते यदा मूलभूतगुणाद्व्यतिरिच्यते अयमात्मा तदा सङ्घातव्यतिरेकेपि किं वक्तव्यमिति । अतो वस्तुतः आत्मा सङ्घाताद् व्यतिरिक्त इति आत्मनैव अहं प्राप्तव्यः न तु देहसहितेन । नह्युत्तमः पदार्थः स्वोपभोग्योधमैः सह भोगमर्हति, अतो एव सङ्घातादादौ निवृत्ता भवत पश्चात् मदुपभोगं कुरुतेति तात्पर्यम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—गोपीजन जिसको 'मैं' कहती हैं वह देह है, यह तो प्रतीति मात्र से भी समझा जा सकता है, किन्तु जीव को प्रतीति से नहीं जान सकते हैं, क्योंकि वह देह से पृथक् है तथा शुद्ध ज्ञानमय और गुणों से परे है । यहां ज्ञान शब्द के साथ मयट् प्रत्यय है, वह बाहुल्य अर्थ में है । कारण कि जो सच्चिदानन्द रूप है विषय सम्बन्धी ज्ञान का उसमें बाहुल्य नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वह शुद्ध है, यदि होवे तो देखने में न आवे ? क्योंकि शुद्ध आत्मा देखी नहीं जाती है । इसके उत्तर में कहते हैं कि यह इस देह आदि सङ्घात से पृथक् है; जिस प्रकार सूर्य बालुका को अपने प्रकाश से तप्त करता है, किन्तु स्वयं उससे जुदा रहता है । यह जीव, देहादि सङ्घात से पृथक् है तो उसकी उपपत्ति क्या है ? इस पर कहते है कि वह जीव गुणों का आश्रय' नहीं है, गुणों के आश्रय दूसरे हैं । वह (जीव) उनसे जुदा है, इस विषय में सर्वत्र अनुभव को ही प्रमाण करते हैं । जैसा कि कहा जाता है

कि माया की गुणमयी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन वृत्तियाँ हैं । इसमें अलौकिक सामर्थ्य माया की वृत्तियों के कारण है । यदि इस प्रकार का सामर्थ्य न होता तो, सुषुप्ति अवस्था में परमानन्द की स्फूर्ति न होवे । स्वप्न में अनेक प्रकार के पदार्थों का भान न होवे और जाग्रत् में चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि भी न होवे । इन तीनों वृत्तियों में सर्वत्र आत्मा का सम्बन्ध है, एक वृत्ति में दूसरी वृत्ति का अभाव होता है, जिससे एक के दूसरे में नहीं दिखते हैं। निर्गुण के तीन[1] गुण हैं, जब इन मूल भूत गुणों से भी 'आत्मा' पृथक् है तो सङ्घात से पृथक् होने में क्या कहना है ? अतः सचमुच 'आत्मा' देह से जुदा है, जिसका आशय है कि भगवान् का बल आत्मा से ही प्राप्त करने योग्य है न कि देह सहित आत्मा से वह प्राप्त होता है । जैसे कि उत्तम पदार्थ जो अपने भोगने के योग्य होता हैं, वह अधमों के साथ नहीं भोगा जा सकता है। इस प्रकार के संदेश देने का भगवान् का भावार्थ यह है कि प्रथम इस सङ्घात का त्याग करो, पश्चात् मेरा उपभोग करो । अर्थात् मेरे रस स्वरूप का पान शुद्ध आत्म स्वरूप से ही किया जा सकता है ॥३२॥

आभास—साधनाकाङ्क्षायां तदुपदिशति **येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेतेति ।**

आभासार्थ– साधन की आकांक्षा होने पर 'येनेन्द्रिया' श्लोक में उपदेश देते हैं।

श्लोक— **येनेन्द्रियार्थान्ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।**
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रतिपद्यते ॥३३॥

श्लोकार्थ—जिस मन से स्वप्न की भाँति उपस्थित मिथ्या रूपादि विषयों का ध्यान किया जाता है, उस मन को रोकना चाहिए और इन्द्रियों का भी संयम करना चाहिए; जिससे आत्मा जाग्रत होकर मुझे प्राप्त कर सके ॥३३॥

सुबोधिनी - **येन** मनसा **इन्द्रियार्थान्** रूपादिविषयान् **मृषा** अविद्यमानान् असंभावितांश्च **ध्यायेत** पुरुषः, यस्मिन् विद्यमाने ध्यानमावश्यकमिति । नन्वयमपि पुरुषार्थ इति चेत्तत्राह **स्वप्नवदिति** । जन्मान्तरोत्पत्त्यर्थमेव तस्य ध्यानं यथा स्वप्नःसूचकः तथा ध्यायमानं मनोपि जन्मान्तरं सूचयति, न तु स्वरूपतः किञ्चित्पुरुषार्थसाधकम्, अतोनर्थसूचकं तन्मनो **निरुन्ध्यात्** । तस्यापि निरोधे इन्द्रियनिरोधकरणमिति इन्द्रियाणि च निरुन्ध्यादित्याह **इन्द्रियाणीति** । उभयनिरोधे किं स्यादित्याशङ्क्याह **विनिद्रः प्रतिपद्यत** इति । अवस्थाद्वयं समीचीनम् । आनन्दोभिव्यज्यते । पुरुषार्थश्चान्यत्रेति । अतः स्वप्न एव व्यर्थः इति सूचयितुं वैयर्थ्यापगमाय **विनिद्रः** सन् आत्मानमयमस्मीति प्रतिपद्यते सङ्घातव्यतिरिक्तम्॥३३॥

व्याख्यार्थ– पुरुष जिस मन से इन्द्रियों के अर्थ, जो रूपादि विषय हैं, जिनका होना मिथ्या और असम्भवित है, उनका ध्यान करता है। जिनके होने से तो ध्यान आवश्यक है यह भी तो

१- 'निर्गुणस्य गुणास्त्रयः' इन गुणों का 'माया' शब्द से व्यवहार होता है- प्रकाश'

पुरुषार्थ है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'स्वप्नवत्' दूसरे जन्म की तरह, वह मन का ध्यान अन्य जन्म के उत्पत्ति के लिए ही है। जैसे स्वप्न केवल सूचना करने वाला है, वैसे ही यह ध्यान करने-वाला मन भी दूसरे जन्म की सूचना करता है। यह ध्यान वास्तविक स्वरूप से कुछ भी पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं करता है, अतः अनर्थ की सूचना करने वाले इस मन को+ विषयों से रोकना चाहिए। मन तब रोका जा सकता है जब इन्द्रियों को विषयों से रोका जावे। इन्द्रियां ही मन को विषयों में घसीट कर ले जाने वाली हैं, अतः इन्द्रियों को प्रयत्न पूर्वक प्रथम रोकना आवश्यक है। दोनों के रोकने से क्या होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'विनिद्रः प्रतिपद्यते' आत्मा की नींद नष्ट हो जाएगी तो वह परमात्मा को पा सकेगी। निद्रा उड़जाने से स्वप्न की स्थिति का नाश हो जाएगा, जो कि वह स्थिति पतन करानेवाली है, शेष दो सुषुप्ति और जाग्रत उत्तम हैं। एक में आनन्द मिलता है और दूसरे में पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं, अतः स्वप्न ही व्यर्थ है। उस निष्फलता को मिटाने के लिए पुरुष को निद्रा का त्याग कर जागृत होना चाहिए। उस अवस्था में समझ सकता है कि मैं यह हूं अर्थात् मैं आत्मा[1] हूँ देह नहीं हूँ। यों समझने के अनन्तर ही भगवान् को उस आत्म स्वरूप से पा सकता है ॥३३॥

आभास—ननु शास्त्रेषु वेदादिषु बहून्येवात्मज्ञानार्थं साधनान्युक्तानि तत्कथं मनो-निरोधमात्रमुच्यत इत्याशङ्क्याह **एतदन्तः समाम्नाय** इति।

आभासार्थ—वेद आदि शास्त्रों में आत्म स्वरूप के ज्ञान के लिये अनेक साधन कहे हैं। आप केवल मन के निरोध को ही साधन कैसे कहते हैं ? जिसका उत्तर 'एतदन्तः' श्लोक से देते हैं।

श्लोक—**एतदन्तः समाम्नायो योगः साङ्ख्यं मनीषिणाम्।**
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥३४॥

श्लोकार्थ—वेद, अष्टाङ्ग योग, साङ्ख्य, सन्यास, तपस्या, इन्द्रिय निग्रह और सत्य; इन सबका अन्तिम फल विद्वानों के लिए मनोनिग्रह ही है। जैसे नदियाँ आखिर समुद्र में ही जाकर गिरती हैं ॥३४॥

+विषयों से मन को रोकने का आशय स्पष्ट करते हुए श्री प्रभु चरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि प्रभु की लीला में अलौकिक भाव आना कठिन होता है, जिसका कारण मन लौकिक विषयासक्त है। वह मन ही अलौकिक लीला में भी लौकिक भाववाला हो जाता है। वह लौकिक भाव जब निवृत्त होगा तब लीला में अलौकिक भावना दृष्टि गोचर होगी, इसलिए मन को सर्व विषयों से मुक्त करना चाहिए। विषयों से मुक्त होकर जब मन अलौकिक भगवद्भाव भावित होगा, तब भगवान् का दर्शन कर सकेगा।

१- ब्रह्म का अंश जीव हूं।

सुबोधिनी - वेदो हि साधनान्युपदिशति। तस्यापि मनोनिग्रह एव अन्तः पर्यवसितं साधनमेतदेवान्तो यस्य तादृशः **समाम्नायो** वेदः, 'सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ता' इति शास्त्रात्। योगस्य त्वेतदेव प्रयोजनम्। **साङ्ख्यम**प्यध्यासं निवर्तयन् मूलकारणं मन एव व्यावर्तयति। ननु लोका नैवं व्याचक्षते तत्राह। **मनीषिणामि**ति। विवेकिनामेतद्व्याख्यानं। मनस ईषिणो मनीषिणः, आत्मसम्बन्धः साक्षान्मनस्यैवेति हेतुरप्युक्तः। ननु स्वतन्त्राणि मोक्षफलानि साधनानि श्रूयन्ते यथा सन्न्यासः, यथा **तपो** वनस्थस्य, यथा वा **दम** इन्द्रियसंयमो गृहस्थस्य, **सत्यं** ब्रह्मचारिणो वेदाध्ययनरूपम्, एतेषामाश्रमधर्माणामपि मनोनिग्रहपर्यवसायित्वमेव। तत्र हेतुं वदन् दृष्टान्तमाह **समुद्रान्ता इवापगा** इति। वहन्त्य आपः भूमौ न पर्यवसिताः, तथा सति स्थावरा इवात्रैव तिष्ठेयुः, अतो भूम्यन्ताय प्रसर्पन्ति, तत्रावधिः समुद्र एव, तथा सङ्घातेपि प्रविष्टाः लौकिकवत्तत्रास्थिराः तदपगमाकाङ्क्षिणः सन्मार्गे प्रवृत्ताः न्यासाधिकारिणः मध्ये स्थितिमलभमानाः साक्षान्मनसि सम्बद्धमात्मानं मोचयन्तः तन्निग्रह एव विश्रान्ता भवन्ति ॥३४।

व्याख्यार्थ – वेद साधनों का उपदेश देता है। उन साधनों का भी अन्त मन निरोध ही है। श्री मद्भागवत 'सर्वे मनोनिग्रह लक्षणान्ता' कहती है अर्थात् सर्व शास्त्र का अन्त मनोनिग्रह में है। योग का प्रयोजन तो केवल मन को रोकना ही है। सांख्य शास्त्र भी अध्यास की निवृत्ति के लिए उसके मूल कारण मन को ही बदलना है। लोग तो इस प्रकार नहीं मानते हैं, जिसके उत्तर में कहा है कि यह उपाय बुद्धिमानों के लिए है। इसमें यह हेतु भी दिया है कि आत्मा का सम्बन्ध मन के साथ ही है। मोक्ष फल देनेवाले स्वतन्त्र साधन भी सुने जाते हैं, जैसे कि सन्यास, तप वनवासी के लिए, दम और इन्द्रिय-निग्रह गृहस्थ के वास्ते, ब्रह्मचारी के लिए वेदाध्ययन रूप सत्य कहा है। उन आश्रमादि धर्मों का फलितार्थ मनोनिग्रह ही है। जिसमें हेतु देते हुए दृष्टान्त कहते हैं 'समुद्रान्ता इवापगाः' नदियां पृथ्वी पर बहती रहती हैं, किन्तु उनका अन्त समुद्र में ही है। यदि यों न हो तो वृक्षों की भाँति पृथ्वी पर ही स्थिर रहें, किन्तु स्थिर न रहकर चलती चलती समुद्र में ही स्थिति करती हैं। इसी प्रकार देह में प्रविष्ट जीव भी लौकिक में रहकर वहां से निकलने की इच्छा से सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर सन्यास धारण करता है, वहां भी स्थिति न रहे, तदर्थ साक्षात् मन से सम्बद्ध आत्मा को छुड़ाने के लिए जब मन का निग्रह करते हैं तब उसको आराम आता है ॥३४॥

आभास—एवं वियोगाभावं वियोगस्योत्तमत्वं च परमार्थतो निरूप्य लौकिकप्रतीतौ तद्व्यधिकरणमिति मत्वा दूरे स्थितिलक्षणस्य वियोगस्य चतुर्विधपुरुषार्थसाधकत्वमाह **यत्वहमिति** चतुर्भिः।

आभासार्थ—इस प्रकार वियोग[1] का अभाव एवं वियोग की उत्तमता का वास्तविक वर्णन कर, अब लौकिक प्रतीति से वियोग उत्तम नहीं है, किन्तु दूर रहने को समझना कि हम भगवान् से पृथक् हैं इस प्रकार का वियोग उत्तम है, क्योंकि चार प्रकार के पुरुषार्थों को सिद्ध करता है-वर्णन निम्न ४ श्लोको में करते हैं।

१-दूर रहने को

श्लोक—यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥३५॥

श्लोकार्थ—आपकी दृष्टि को जो प्रिय मैं हूँ, वह आपसे दूर इसलिए हो रहा हूँ कि आपके मन को अपनी तरफ खींच लूँ; जिससे आप मेरा ध्यान करतीं रहें ।३५।

सुबोधिनी—गोपिकानां धर्मादयो भगवानेव, परं प्रकारविशेषमापन्नः। तत्र धर्ममाह । तुशब्दः तत्त्वनिरूपणं व्यावर्तयति । **अहं भवतीनां यद् दूरे वर्ते तन्मनसः सन्निकर्षार्थम्**, दृशो दूरे स्थितो मनसि सन्निकृष्टो भवति, तत्र हेतुमाह **प्रिय** इति। अयमर्थः । बहिर्भगवति गोपिका दृष्टि प्रक्षिपन्ती स्वधर्मान् दृष्टिधर्मान्वा योजयति न तु स्वयं भगवद्धर्मान् गृह्णाति, मनसि तु भगवति समागते मनो भगवद्धर्मान् गृह्णाति, एतत्तु हिताचरणं प्रियस्य कार्यम् । अनेन योगाद्यपेक्षयापीयमवस्था समीचीनेति ज्ञापितम् । योगे हि चक्षुर्वन् मनोपि स्वधर्मानेव भगवत्यारोपयति, परं स्वयं निर्माणार्थं शास्त्रतः तद्धर्मान् गृह्णातीति विशेषः । विरहेण स्मरणे तु बलादागत इति भगवानेव स्वधर्मान् स्थापयति, मनोधर्माणां दुर्बलत्वाद् विपरीतत्वाच्च भगवतः, यतोहं प्रियः अतो दूरे वर्ते । मनसा ह्यात्मा सम्बद्ध इति च । तथा सत्यात्मगामि भवति, विषयेषु तु तेषामभावाज् जन्मान्तरसाधकत्वेनानर्थहेतुत्वमेव । **किञ्च** । न केवलं सन्निकर्षमात्रं फलं किन्त्वन्यदप्यस्तीत्याह **मदनुध्यानकाम्ययेति** । ममानुध्यानमेव ममाभिप्रेतम्, गोपिकाश्चेन्मदभिध्यानं कुर्वन्ति तदाहं तासु रतिं करोमि नत्वन्यथा, **अक्लिष्टकर्मत्वात्**, अतः स्वार्थमप्येवं करोमीत्यर्थः । कामेन हि सम्बन्ध उभयोः, स च मनसि प्रतिष्ठितः, मनसो दूरभावे मानादिना सम्बन्धाभावादहमपि निवृत्तो भवामि ॥३५॥

व्याख्यार्थ—गोपियों का धर्म आदि चार पुरुषार्थ भगवान् ही हैं, किन्तु वह एक ही चतुर्विध पुरुषार्थ रूप कैसे होंगे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वे विशेष प्रकार से चतुर्विध पुरुषार्थ रूप होते हैं । जैसे कि स्मृति विषय भी आप होते हैं, गुप्त रीति से रक्षा भी आप करते हैं, सर्व प्रकार की कामना रूप भी आप ही है, सायुज्य दाता भी आप हैं, इस विशेष प्रकार से गोपियों का चतुर्विध पुरुषार्थ भगवान् ही है । 'तु' शब्द इसलिए दिया है कि प्रथम के कुछ श्लोकों में तत्वों का निरूपण कर दिया, अब यहां चतुर्विध पुरुषार्थों का निरूपण किया जाता है । मैं जो आप से दूर रहता हूँ, वह इसलिए कि आपका मन मेरे निकट हो, कारण कि जो दृष्टि से दूर होता है वह मन के पास हो जाता है, क्योंकि वह प्रिय है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जब भगवान् दृष्टि से देखे जाते हैं तब गोपिकाएँ अपने धर्मों को अथवा दृष्टि के धर्मों को भगवान् में नियुक्त कर सकती है;किन्तु भगवान् के धर्मों का ग्रहण नहीं कर सकती हैं । अतः प्यारे का कर्तव्य है कि वह वैसा उपाय करे जैसे उन (भगवान्) के धर्मों को वे (गोपिकाएँ ग्रहण) कर सकें । इसलिए भगवान् दूर रहकर गोपियों के मन को अपनी तरफ खेंच रहे हैं जिससे मन में भगवान् के पधारने से उनके धर्मों को भी मन ग्रहण कर लेगा । इससे बताया कि योगादि से जो मन का निरोध आदि होता है उससे भी यह अवस्था यथार्थ रीति वाली उत्तम है । योग में चक्षु के समान मन भी अपने धर्मों को ही भगवान् में आरोपण करता है, किन्तु योगी को तो परमात्मा की मूर्त्ति के निर्माण के लिए शास्त्र से भगवान् के

धर्मों को ग्रहण करना पड़ता है। यह योग में विशेष कर्म करना पड़ता है, क्योंकि वहां साक्षात् अनुभव वियोग के समान नहीं है, किन्तु विरह में तो मन से स्मरण होते ही स्वतः भगवान् स्वयं पधार कर ही अपने धर्मों को स्थापित करते हैं, क्योंकि मन के धर्म दुर्बल हैं और भगवान् के धर्म प्रबल हैं, जिससे मैं प्रिय हूँ इसलिए मैं दूर रहता हूँ आत्मा मन से सम्बद्ध है, इसलिए दूर रहे तो मन उसमें लगा रहे। विषयों में तो उनका[1] अभाव ही है, इससे उनसे यदि आत्मा का सम्बन्ध हो जाय तो अनर्थ की उत्पत्ति होगी। दूर रहने का फल केवल मन को अपने पास खेंचना नहीं है,किन्तु अन्य भी है और वह यह है कि सदा मेरा ध्यान बना रहे, यही मुझे पसन्द है। इस प्रकार होने से यदि गोपियां मेरा ध्यान करती रहतीं हैं तो मैं भी उनसे रति करता हूं न कि अन्य प्रकार से कारण कि मैं अक्लिष्टकर्मा+हूं, अतः स्वार्थ के लिए भी यों करता हूँ।

गोपिकाओं और भगवान् दोनों का सम्बन्ध काम के कारण है। वह काम मन में रहता है। यदि मन उनसे दूर है, मान आदि से उन से[2] सम्बन्ध छोड़ दिया है, तो वे[3] भी निवृत्त[4] हो जाते हैं ॥३५॥

आभास—ननु किमेतदुच्यते, अस्माकं तु सर्वदैव त्वयि मन इति चेत्तत्राह **यथा दूरचर** इति।

आभासार्थ– यदि गोपियां कह दे कि हमारा मन तो सदैव आप में लगा हुआ है। यह आप क्यों कह रहे हो कि मन लगाने के वास्ते मैं यों कर रहा हूं। जिसका उत्तर 'यथा दूरचरे' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।**
स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥३६॥

श्लोकार्थ—स्त्रियों का चित्त, पति प्रदेश में हो, उसमें जैसा रहता है वैसा समीप रहने वाले, नेत्र से देखे जाने वाले पति में नहीं लगता है ॥३६॥

+यदि गोपियाँ मन से ध्यान न करें तो रमण में क्लेश होगा, क्योंकि सङ्घात रसात्मक नहीं है—'लेख'

१- भगवान् तथा उनके धर्मों का, २- भगवान् से, ३- भगवान्,
४- छोड़ देते हैं

सुबोधिनी—अयमेव च गोपिकानां धर्मः यथा सर्वदा मां स्मरन्ति, ममाप्ययं धर्मः यथा ताभ्यः आनन्दं प्रयच्छामि, एतदुभयं तदैव घटते नान्यथेति धर्मो निरूपितः। अर्थोपि भगवानेव परं गुप्ततया संरक्ष्यः तमेव हि गोपायति यत्र निरन्तरं मनस्तिष्ठति, अन्यथा क्षणमपि प्रमादे अर्थो गच्छेत्। अतः पाक्षिकः कादाचित्कोपि दोषः परिहरणीय इति सन्निकर्षापेक्षया विप्रकर्षे मनसः स्थैर्यमाह **दूरचरे** दूरेऽप्यस्थिरे, अन्यथा स्वयं गच्छेत् निराशो वा भवेत्, अतो दूरचरे आवश्यके **प्रेष्ठे** यथा **मनो वर्तते** निश्चल सर्वदा, तत्रापि **स्त्रीणाम्**, निकटे हि शीघ्रमेव मानादिदोषोत्पत्तिसम्भवात्, **च**कारादन्येष्वपि सम्बन्धेषु पुत्रादिषु यथा पुत्रं माता स्मरति पिता वा, एवमन्यत्रापि, **तथा सन्निकृष्टे चेतो** न स्मरति, अयं हि बहिः पूर्वं स्त्वान्तरः। किञ्च **अयमक्षिगोचरः**। नह्यन्यविषये अन्यदिन्द्रियं स्वतन्त्रतया प्रवर्तते। अत एवाक्षिगोचरे न चेतः प्रवर्तते, बलिष्ठं च चेतः, अन्यथा प्रत्यक्षे विषये अन्यचित्तता न स्यात्। ॥३६॥

व्याख्यार्थ—यह गोपियों का धर्म ही है, जो सर्वदा मुझे याद करती हैं। वैसे मेरा भी यह धर्म है जो उनको आनन्द देता हूँ। वे दोनों गोपियों का स्मरण) और मेरा (भगवान् का) आनन्द दान तब ही बन सकते हैं जब मन मेरे साथ सम्बन्धद हो जावे, अन्य प्रकार से नहीं। वह भी तब होता है जब मैं दूर रहूं यह धर्म का निरूपण किया।

अर्थ भी भगवान् ही है, किन्तु वह गुप्त ही रखने योग्य है। जैसे किसी को भी उसका पता न लगे और वह तब होता है जब मन निरन्तर उसमें लगा रहता है। उसको भी छिपाकर रखा जाता है। यदि थोड़ा सा भी प्रमाद हुआ तो अर्थ चला जायगा, अतः पाक्षिक (कभी होने वाले) विस्मरणात्मक प्रमाद रूप दोष को मिटाना चाहिये। वह भी तब मिट सकता है, जब प्रेष्ठ दूर रहता है। कारण कि सन्निकर्ष रहने से दूर रहने में मन को स्थिरता होती है, किन्तु दूर भी वैसे स्थान में रहे जहां मन की स्थिरता न हो जावे, अन्यथा मन वहां ही लग जावे अथवा निराश हो जावे, अतः प्रिय दूर हो तो मन सर्वदा उसमें स्थिर हो जाता है।

इसमें भी स्त्रियों का मन पास में रहने से शीघ्र ही मान आदि दोष वाला हो जाता है 'च' शब्द का आशय है कि इस प्रकार अन्य सम्बन्धी पुत्र आदि में भी जैसे पिता तथा माता आदि का मन दूर होने पर ही स्मरण करता है वैसे ही सानिध्य में रहने वाले पुत्र का स्मरण नहीं होता है। इसी भांति अन्यों में भी समझना चाहिए। सन्निधि में चित्त वैसे स्मरण नहीं करता है, क्योंकि नेत्र से जो देखा जाता है,वह बाहर ही देखा जाता है। उसका बाहरका ही संबन्ध होता है भीतर का नहीं होता है, इसलिए प्रत्येक इन्द्रिय अपने २ विषय को देखती है। जैसे नेत्र बाहर की इन्द्रियें हैं, वे बाहर की वस्तु को देखती हैं और मन अन्दर की इन्द्री है अतः भीतर की वस्तु देख सकती है मन बलिष्ठ होने से और आन्तर भगवदीयत्व होने से वह उसको देख सकता है। प्रत्यक्ष नेत्र आदि से देखते हुए भी मन दूसरे में चला जाता है सो वह नहीं जाना चाहिए ॥३६॥

आभास—नन्वस्माभिः त्वत्प्राप्त्यर्थं चिन्ता क्रियते, तथा सति किं मनःस्थापनेन किं निरन्तरसम्बन्धेन वा। कामार्थं हि प्रयत्नः लोके च यादृशः व्यवहारसिद्धः, तत्र क्षणं मनश्चाञ्चल्यमावश्यकत्वान् न विगीतमित्याशङ्क्याह **मय्यावेश्येति**।

आभासार्थ—यदि गोपियाँ कहने लगे कि हम तो आप की प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता कर रही हैं, तो फिर मन के स्थापन और निरन्तर सम्बन्ध से क्या होगा ? लोग तो काम के लिए व्यवहार से जो भी सिद्ध हो वैसा भी प्रयत्न करते हैं। यदि उसमें थोड़ा-सा भी मन इधर उधर हो जाय तो उसमें निन्दा नहीं है। इस पर 'मय्यावेश्य' श्लोक में उत्तर देते है।

श्लोक—**मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।**
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामवाप्स्यथ ॥३७॥

श्लोकार्थ—जिसने सब प्रकार के विषय सम्बन्धी वृत्तियों को छोड़ दिया है, वैसा जो सम्पूर्ण शुद्ध मन मुझ में लगा कर यदि मुझे नित्य स्मरण करोगी तो शीघ्र ही मुझको प्राप्त होगी ॥३७॥

सुबोधिनी—अहं हि कृत्स्नः प्रसादेनापि प्राप्तः कृत्स्नेनैव साधनेन प्राप्तुं योग्यः, सा च कृत्स्नता अस्यामेवावस्थायां भवति नान्यथा, कृत्स्नतायां हेतुं वदन् अवस्थान्तरे तदभावमाह **विमुक्ताशेषवृत्तीति**। विमुक्ताः सर्वेभ्यो विषयेभ्योशेषा दशापि वृत्तयो यस्य, एकादश द्वादश वा। सहजाश्चेत्, गुणकृतास्तु दशैव, ताः भ्रमरवाक्येषु निरूपिताः। 'एकादशामी मनसो हि वृत्तय' इत्यत्र स्वाभाविका अपि निरूपिताः। **ननु** सर्ववृत्त्यभावे स्वरूपनाश एव स्यादित्याशङ्क्याह **यदिति**। प्रसिद्धं तन्मनः, इदानीं त्वहमाविष्टः, अतः परं भवतीभिर्मय्यावेश्य बलान्मयि मनो निवेशनं कृत्वा पश्चाच्छीघ्रमेवाहं प्राप्तव्यः। **ननु** वस्तुविचारे मनस्त्वन्यदेव, तस्मिन्निविष्टे कथं भगवत्प्राप्तिरिति चेत्तत्राह **अनुस्मरन्त्य** इति। मनोद्वारा आत्मापि स्मरति। यद्यपि स्मरणं चेतसो धर्मस्तथाप्यनुस्मरणमात्मन एव, अनेनोभयविधोपि सम्बन्धो निरूपितः। मनोद्वारा स्वयं भगवति प्रविष्टाः स्मरणद्वारा च भगवांस्तासु प्रविष्ट इति। एवं सत्यचिरादेव **मामवाप्स्यथ**, परम्परया नित्यसम्बन्धे सङ्कर्षादन्तरास्थितं गच्छति। तथा मनोविलये चित्तस्यापि विलयादचिरादेव प्राप्तिः, आत्मगाम्येव कामेन फलरूपोहं मुख्य इति तात्पर्यम् ॥३७॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि मैं सम्पूर्ण अनुग्रह[1] से ही प्राप्त होता हूँ तो भी सम्पूर्ण साधनों से ही प्राप्त होने योग्य हूं। वह साधनों की सम्पूर्णता विरह अवस्था में ही होती है। कारण कि अन्य[2] अवस्था में मन की पूर्णता नहीं होती है! मन सम्पूर्ण तब बनता है, जब वह दश वृत्तियों का त्याग कर दे। यद्यपि ये (वृत्तियाँ) ११, १२, भी हैं तथा वे स्वाभाविक हैं तथापि गुण कृत तो दश ही वृत्तियां हैं। वे भ्रमर वाक्यों में वर्णित की गई हैं। 'एकादशामी मनसो हि वृत्तयः' यहा स्वाभाविक वृत्तियां भी कहीं हैं। यदि सब वृत्तियों का नाश होगा तो स्वरूप का ही नाश हो जाएगा। जिसके उत्तर में कहते हैं कि मन की प्रसिद्धि अन्नमय से हैं, न कि वृत्तिरूप से प्रसिद्धि है। मन, वृत्ति रहित होने से कामनाओं से मुक्त हो जाता है, जिससे शुद्ध होकर रहता है। वह वृत्ति रहित होते हुए भी स्वरूप से सिद्ध है।

१- श्रुतियों तथा अग्निकुमारों को भगवान् ने वरदान दिया, वही प्रसाद है, जिससे उनकी प्राप्ति हुई है। 'प्रकाश' २- जब विरह अवस्था नहीं रहती है।

अर्थात् वृत्ति रहित होने से उसका स्वरूप नाश नहीं होता है। स्वरूप के नाश न होने में दूसरा कारण देते हैं कि 'इदानीं तु अहं प्रविष्ट' अब तो मन में मैं प्रविष्ट हूँ, अतः उसके स्वरूप का नाश नहीं हो सकता है। इसके अनन्तर आप बल पूर्वक मन को मुझ में प्रविष्ट कर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेंगी।

वस्तु के विचार करने से ज्ञान होता है कि मन कोई अन्य वस्तु है, उसका आप में प्रवेश होने से हमको भगवत्प्राप्ति कैसे होगी ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'अनुस्मरन्त्यः' स्मरण करती हुई मुझे प्राप्त करती हैं। कारण कि मन द्वारा आत्मा[1] भी स्मरण करती है, यद्यपि स्मरण चित्त का धर्म, है किन्तु यहां 'अनु' देकर यह बताया है कि मन के अनन्तर आत्मा भी स्मरण करते है। यों कहने से भगवान् का किया हुआ भक्त का किया हुआ दोनों प्रकार का सम्बन्ध दिखाया है, जैसा कि मन के द्वारा स्वयं[2] भगवान् में प्रविष्ट हुई हैं और स्मरण से भगवान् गोपियों में प्रविष्ट हुए हैं। यों होने पर शीघ्र मुझे प्राप्त होगी, जीव और भगवान् का परम्परा से सम्बन्ध है। किन्तु बीच में मन रुकावट है, वह आपस में दोनों के सङ्घर्ष होने से लीन हो जाता है। मन[3] के लीन हो जाने पर चित्त[4] भी विलीन हो जाता है, जिससे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति होती है। भगवान् ही फल रूप है, किन्तु, मुख्य और गौण भेद से। जब मन काम से आत्मगामी+ होता है अर्थात् जब मन सीधे आत्मा से आनन्द चाहता है, तब भगवान् मुख्य फल रूप होते हैं। जब मन, इन्द्रियों द्वारा भगवान् से आनन्द प्राप्त करना चाहता है, तब भगवान् गौण फल रूप होते हैं ॥३७॥

आभास—एतस्य निदर्शनं वदन् मोक्षप्रकारमाह **या मयेति**।

आभासार्थ—मुख्य तथा गौण भाव का उदाहरण देकर मोक्ष का प्रकार इस 'या मया' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**या मया क्रीडता रात्र्यां वनेस्मिन्व्रज आस्थिताः।**
अलब्धरासाः कल्याण्यो मापुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥३८॥

श्लोकार्थ—इस वन में रात्रि के समय खेलते हुए मैंने जो लीला की, उस लीला में वे अन्तर्गृहगता होने से आ न सकीं, वे वहीं रहीं; किन्तु वे भाग्यवती हैं, कारण कि मेरे पराक्रमों के चिन्तन से वे मुझे प्राप्त हो गईं ॥३८॥

+ आत्मगामी का आशय देते हैं कि काम से जब मन आत्मा में जाता है तब भगवान् काम रूप हैं और जब पूर्व की तरह बाह्य देह से सम्बन्ध होता है तब मोक्ष रूप है। "प्रकाश"

१- जीव, २-गोपिकाएँ, ३- क्रिया शक्ति रूप है, ४- ज्ञान शक्ति रूप है, दोनों के बीच में होने से जीव और ब्रह्म के मिलने में प्रतिबन्ध पड़ता है उन दोनों के विलीन हो जाने पर जीव को भगवत्प्राप्ति शीघ्र हो जाती है 'लेख"

सुबोधिनी—भवत्यः समागताः,अन्तर्गृहगताः गृह एव स्थिताः, तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यः, न तु भवत्यः, अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यः, तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थकः। अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेत्। अनुभवसिद्धश्च क्लेशः। ननु ताः प्रतिबन्धेन तथाभूताः कथं स्तुत्या इत्याशङ्क्याह। **कल्याण्य** इति। तासां महद्भाग्यमस्तीति अवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं दुष्ट एवोपक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारवद्देहानराकरण एवोपक्षीणम्, भवतीनां तु तद् दुरितं पश्चादिमामवस्थां प्रापितवत्, अतो मदुक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामवस्थां प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भावः। **राज्यां क्रीडता मया सहालब्धरासाः**, क्रीडा स्वतः सिद्धेति निरूपणार्थं तथोक्तम्। **प्रतिबन्धाभावाय राज्यामिति, वन** इति साधनसम्पत्तिः, **मयैव** क्रीड़ा क्रियत इति न तासां प्रयासः, **अस्मिन्नेव वन** इति भगवानपि तत्रैव स्थित्वा वदतीति ज्ञापितम्। **अस्मिन्निति** व्रजसम्बन्ध्यपि अस्मिन्नेव **ब्रजे ता आस्थिता** इति भवतीनामपि निर्बन्धेनैवात्र स्थापनम्। **अलब्धरासा** इति। तासां भाग्यमुपभोगे नोपक्षीणमिति ज्ञापितम्, अत एव पूर्णभाग्याः। ननु तासां किं साधनमित्याकाङ्क्षायामाह **मद्वीर्यचिन्तयेति**। ता हि गमनार्थं प्रवृत्ताः भर्त्रादिभिः प्रतिबद्धाः तत्प्रतिबन्धाभावाय भगवत्पराक्रमं स्मृतवत्यः। ततो भगवद्धर्मा अप्यक्लिष्टा इति स एव पराक्रमः तदीयं तेभ्यो दत्वा स्वबालकमिव दोषान्निवार्य भगवन्तं गमयामास। अतो मत्पराक्रमस्यैव चिन्तोचिता न तु दोषपुरःसरं ममेति भावः। (यद्वा। नन्व'चिरान्मामवाप्स्यथे'त्यनेन व्रजे समागतस्य भगवतः पूर्ववन्मिलनलक्षणा प्राप्तिरुच्यत उतान्तर्गतगोपभार्याणामिव सोच्यते। आद्या चेदोमिति ब्रूमः। अन्त्या चेदनिष्टत्वान्नेदं समाधानमित्यत आह **या मयेति**। **या** गोप्यो व्रजस्थिता एव वने स्थितं मामापुः, आक्षेपलभ्यत्वादमङ्गलत्वाच्च तद्देहत्यागः स्पष्टया नोक्तः, देहत्यागपूर्वकं तासां स्वप्राप्तौ हेतुभूतं विशेषणमाह। **राज्यां** क्रीडता मया सह पूर्वमलब्धरासास्ता, यतो व्रजस्थिता एव सत्यो वने स्थितं मामापुरित्यर्थः। भवतीनां लब्धरासत्वान्न तथा भविष्यतीति भावः। अत एव **कल्याण्य** इति सम्बोधनम्। अत्रायं भावः। रासे हि पूर्णः स्वरूपानन्द एतासु स्थापितः, स च भगवत्स्वरूपात्मक इति तदनुभावेन विरहेपि जीवनमेव सम्पद्यते न वैपरीत्यं भवितुं शक्नोति। यद्यप्ययं भावोतिकठिनोत एव प्रियेणाप्यतिकृच्छ्रेण प्रायः कथञ्चने'ति पदत्रयमुक्तम्। अग्रे च 'प्रत्यागमनसन्देशैरि'ति प्राणधारणे हेतुरुक्तः। तथापि सन्देशानुसन्धानमप्युक्तधर्मकार्यमेवेति ज्ञेयम्। अन्यथैतस्य सर्वतिरोधायकत्वेनातितीक्ष्णत्वेन क्षणमात्रेणैवान्यथा भवेत्, अतः सुष्ठूक्तं देहत्यागे तासामलब्धरासत्वं हेतुरिति। तथा च तासु विरहसामयिकजीवनहेतूक्तरूपधर्माभावात्तथा प्राप्तिरभूद्भवतीनां तु तद्वत्त्वाद्यथा पूर्वमेव मिलनं भविष्यतीति, अत जन्मोत्सवे प्यात्मानं भूषयाञ्चक्रुरि'त्यत्र शरीरपदं त्यक्त्वात्मपदं तद्वाचकमुक्तमविकृतत्वज्ञापनाय। अन्यथा स्वक्रीडातदलब्धरासत्वोक्तिप्रयोजनं न पश्याम इति)॥३८॥

व्याख्यार्थ—आप रास में आ गईं और वे[1] नहीं आईं घर में ही स्थित हो गईं थीं, किन्तु उन्होंने उसी समय सर्व प्रकार से मुझे[2] प्राप्त कर लिया। आप लोगों ने मुझे उस समय नहीं पाया, इस उदाहरण से आपको भी मुझे प्राप्त करना चाहिए, इससे मेरे लिए जो प्राणों को धारण कर रही

---

[1] अन्तर्गृहगता, [2]- मेरे पूर्व दलात्मक स्वरूप को,

हो, यह आपका विचार निरर्थक है, क्योंकि इस प्रकार करने से मुख्य फल की प्राप्ति नहीं होगी। देहादि की स्थापना तो साधन रूप सेवा के लिए ही शास्त्र से सिद्ध है। यदि देहादि भाव होते हुए भी मुख्य फल की प्राप्ति होती हो तो इस प्रकार आई हुई आपको क्लेश न चाहिए, किन्तु वह हुवा है, इस प्रकार अनुभव से सिद्ध है। वे अन्तर्गृहगता तो सम्बन्धियों के रोकने से रुक गई थीं। उनकी स्तुति कैसे कर रहे हो ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'कल्याण्यः' उनका बड़ा भाग्य है, क्योंकि दुरित+के कारण प्रतिबन्ध हुवा, जिससे उत्पन्न विरहाग्नि से वहाँ हो जो पाप थे वे नष्ट हो गए। जैसे कांटे से कांटा निकाला जाता है वैसे ही देह के पाप आदि भस्म हो गए और सायुज्य को प्राप्त हो गईं। तुमको तो दुरित ने इस अवस्था में डाला है, अतः मेरी शिक्षा के अनुसार पहले दोष का त्याग कर उस अवस्था[1] को प्राप्त करने के अनन्तर मुझे पाओगी। 'राज्या क्रीडता मया सह अलब्ध रासाः' रात्रि के समय क्रीड़ा करने वाले मेरे साथ जिन्होंने रास में भाग नहीं लिया उनको सायुज्य ही मिला। क्रीड़ा तो स्वतः ही सिद्ध है,इसमें उनका कोई प्रयास नहीं है। यों कहने से यह भी बताया कि क्रीड़ा नित्य है। इस क्रीड़ा को करते समय उपस्थितों को इच्छा हो जाय तो कृपा कर द्वितीय दल का भी अनुभव करा देवे। क्रीड़ा रात्रि के समय करने का आशय है कि किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न होवे, वन में क्रीड़ा करने का आशय यह है कि वहाँ सर्व प्रकार की क्रीड़ा के लिए साधन सम्पत्ति मौजूद रहती है। इसी वन में कहने का भाव यह है कि भगवान् यहीं स्थित होकर कह रहे हैं। 'अस्मिन् एव वने' का भाव है कि यह व्रज सम्बन्धी वन है। आप गोपियां) भी व्रज में स्थित हो, इसलिए आपके आग्रह से मैं भी यहीं स्थित हूँ। अथवा मैंने आग्रह पूर्वक तुमको यहां स्थापित किया है और आप का सम्बन्धी भगवान् भी व्रज सम्बन्धी है न कि मथुरा सम्बन्धी है और इसके सिवाय यह भी कारण है कि यह व्रज का स्थान ही फल का अधिकरण है, अर्थात् इस भूमि पर ही अनुपम फल का आनन्द प्राप्त होता है। उनका[2] भाग्य भोग करने से नाश नहीं हुआ है, अतः वे पूर्ण भाग्य वाली हैं, जिसका कारण यह है कि उनको मेरे पास आने की वास्तविक उत्कण्ठा थी, किन्तु आने में सम्बन्धियों ने रुकावट डालीं, जिससे उन्होंने उस प्रतिबन्ध को नाश करने के लिये मेरे पराक्रमों का स्मरण किया। भगवान् के गुण क्लिष्ट[3] नहीं हैं तो भी वीर्य रूप हैं। उस वीर्य रूप स्मरण ने उनका देह उनके पतियों को ही दिलाकर, जैसे पुत्र के दोषों को नाश कर पुत्र को अपने पास लाया जाता है वैसे ही स्मरण ने उनको भगवान् के पास पहुँचा दिया। यों कहने का भाव यह है कि जीव जो मेरे भक्त हैं, उनको मेरे पराक्रम रूप गुणों का चिन्तन करना ही उचित है, न कि मुझ में दोष

+ भगवदिच्छा-लेखकार का भावार्थ है-अन्तर्गृहगता को भगवदिच्छा से प्रतिबन्ध इसलिए हुआ कि उनको उत्तर दल स्वरूप का दान न कर पूर्वदल स्वरूप में सायुज्य देना था।

अन्य गोपियों को, जो भगवान् के पास पहुँच गईं, उनको उत्तर दल स्वरूप का दान देने की इच्छा थी, इसलिये उनको प्रतिबन्ध न हुआ, विरह क्लेश भोगना पड़ा।

१- जिस अवस्था में आत्मगामी होता हूं उस अवस्था को।

२- अन्तर्गृहगताओं का, ३- क्लेश करने वाले।

भावना उचित है* ॥३८॥

आभास—एवमुपदेशेन तासां दोषो निवृत्त इत्याह **एवमिति** पञ्चदशभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार के उपदेश से उनके दोष निवृत्त हो गए जिनका वर्णन निम्न १५ श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषित: ।**
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः ॥३९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि व्रज की स्त्रियाँ इस प्रकार के अपने प्रीतम के सन्देश को सुनकर प्रसन्न हुई, उस सन्देश से भगवान् की स्मृति आ जाने से उद्धवजी को कहने लगी ॥३९॥

सुबोधिनी—विद्यारूपास्ता इति तासां चतुर्दशवाक्यान्युपक्रमश्चापरः । तथा सति सर्वा एव भगवत्कलास्तासु सिद्धा इति निरूपितं भवति । प्रतारणशङ्काभावायाह **प्रियतमेनादिष्टमिति** । आज्ञापूर्वकमुक्तम्, अमानने दण्डोऽपि सूचितः । **व्रजयोषित** इति शुद्धाः कापट्यरहिताः, ताश्च भगवतानुगृहीताः, उक्तार्थफलं स्वस्मिन् जातमिव ज्ञापयितुमिव उत्सवरूपम्, उत्सवे प्रियस्मरणं दृढं भवतीति, उपदेशेनैव **प्रीताः** पूर्वासूयादिक्लेशान् त्यक्तवत्यः । ननु कथं पूर्वमाक्रोशः, कथमि-

---

* श्री प्रभुचरणों का इस श्लोक पर स्वतन्त्र लेख है जिसका भावानुवाद दिया जाता है,–'अचिरान्मामवाप्स्यथ' इस पङ्क्ति के कहने का भावार्थ यदि पहले की भांति मिलने का है, तो उसको हम स्वीकार करते हैं, यदि अन्तर्गृहगताओं के समान प्राप्ति कही है तो वह अनिष्टकर होने से समाधान कारक नहीं है । इसलिए इस श्लोक में कहते हैं कि व्रज में स्थित जिन गोपियों ने, वन में स्थित मुझे प्राप्त कर लिया, उन की देह का त्याग स्पष्ट नहीं कहा, क्योंकि आक्षेप से लभ्य है तथा अमङ्गल है । जिस समय रात्रि में, मैं वन में रमण कर रहा था, उसी समय ही वे आकर मुझे प्राप्त हुई । कारण कि वे रास का आनन्द नहीं ले सकीं थीं, आपने रास का आनन्द ले लिया है, अतः उनकी भांति आपकी गति नहीं होगी । इसी कारण से वे महा भाग्यवाली हैं, यों कहने का यह भाव है कि रास के समय वन में आई गोपियों में रास द्वारा पूर्ण स्वरूपानन्द का रस स्थापित कर दिया है । वह ऐसा स्वरूपात्मक है जिससे ही विरह में भी जीवन टिका हुआ है । उसमें विपरीतता नहीं आती है, अर्थात् विरह में प्राण निकल नहीं जाते हैं । इस प्रकार का भाव होना अति कठिन है, इसलिए ही 'अतिकृच्छ्रेण, प्रायः, कथञ्चन' ये तीन पद कहे हैं, अर्थात् बहुत कठिनाई से जैसे तैसे कर प्राणों को धारण किया है और फिर विशेष प्राण धारण का हेतु प्यारे के आए हुए संदेश भी प्राणधारण में हेतु हुए हैं । विशेष टिप्पणीजी देखिये–अनुवादक

दानीं प्रीतिः, विरहस्य तुल्यत्वादित्याशङ्क्याह । **तत्सन्देशेन** तादृशसन्देशेन, पूर्वं ज्ञात एवार्थः मध्ये कालादिदोषाद्विस्मृतः भावान्तरमुत्पादितवान्, स पुनरिदानीं स्मृतोऽस्मरणकार्यं च दूरे चकार ।३९।

व्याख्यार्थ—दोष निवृत्ति का वर्णन १५ श्लोकों में करने का कारण बताते हैं। १५ श्लोकों में से १ श्लोक उपक्रम का है; शेष १४ श्लोक दोष निवृत्ति के हैं, १४ इसलिये कहे हैं कि गोपियां विद्या रूपा हैं और विद्याएँ १४ ही हैं। जिससे सर्व कलाएँ उनमें सिद्ध हैं, इस प्रकार का कहना प्रतारण[1] के लिए है, यों न समझना, क्योंकि यह प्रीतम का आदेश है, यदि नहीं मानेंगी तो आदेश होने से दण्ड की भी इसमें सूचना समझनी चाहिए। 'व्रजयोषित' शब्द का भाव है कि ये स्त्रियां शुद्ध तथा कापट्य रहित हैं। वैसी स्त्रियोंके ऊपर भगवान् ने अनुग्रह किया है,अतः उद्धवजी ने जो आदेशसुनाया उसमें जो फल कहा, वह मानो अपने में हुआ है। यों जताने के लिए उद्धवजी को कहने लगी कि उद्धवजी उत्सव रूप हैं। उनसे बातचीत करने में प्यारे की स्मृति दृढ होती है। वे उपदेश से ही प्रसन्न हो गईं, जिससे पहले जो क्रोध आदि दोषों से क्लेश हुआ था, उसे छोड़ दिया। प्रथम क्लेश और अब प्रेम कैसे हुआ? विरह तो अब भी समान अर्थात् वैसा ही है? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जो अर्थ पहले जानती थी उसे मध्य में काल आदि दोषों से भूल गईं थीं, जिससे दूसरे प्रकार का भाव जग गया था। अब उनके वैसे संदेश से पुनः स्मृति आने से भूलें दूर कर दीं ।।३९।।

आभास—भगवद्वीर्यस्मरणमावश्यकमिति कृतमभिनन्द्य भाविवीर्यस्मरणार्थं कुशलं पृच्छन्ति **दिष्ट्ये**ति ।

आभासार्थ—भगवान् के पराक्रमों का स्मरण करना आवश्यक है। इस कृत्य का अभिनन्दन कर आगे भी वीर्यों के स्मरणार्थ भगवत्सम्बन्धी कुशल पूछती हैं, 'दिष्टया' श्लोक से ।

श्लोक—गोप्य ऊचुः—**दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोघकृत् ।**
दिष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेच्युतोधुना ।।४०।।

श्लोकार्थ—गोपियाँ कहने लगीं कि यदुओं का शत्रु कंस भ्राता समेत मरा, यह अच्छा हुआ। सर्व अर्थ जिनके सिद्ध हुए हैं वैसे आप्त जनों के साथ भगवान् अब तो आनन्द में हैं, यह भी प्रसन्नता है ।।४०।।

सुबोधिनी—दोषरहितास्त एव भावाः पुरुषार्थसाधका इति सिद्धानेव कीर्तयन्ति । **दिष्ट्या** अस्मदादिभाग्येन **कंसो हतः** । अदृष्टस्य कारणत्वं मातुलवधदोषाभावाय, पूर्वं हि ताः 'अक्रूर आगतः किं वे'ति वाक्ये तं दोषं गृहीतवत्यः, तस्य प्रतिप्रसवोऽत्र निरूप्यते । यतः **अहितः**, न स्वस्य नान्येषाम्, अतस्तस्यापि भाग्येन स हतः । **किञ्च** सुतरां **यदूनां** भक्तानामहितः, **सानुगो** भ्रातृसहितः,

---

१– ठगने के लिये ।

अनेन प्रसङ्गाद्भ्रातृवधः कृत इति निराकृतम्। केवलं हितमेव न करोतीति न, किन्तु अघकृत् पापं सम्पादयति । हितं न करोति पापं च कारयति येन तेषां परलोकनाशः स्यात् । तस्मादेतादृशो हन्तव्य एव । किञ्च । आप्तैर्बन्धुभिः पुनर्भगवत्कृपया लब्धोर्थः सर्वोपि पुरुषार्थो यैः । यत्र कालातिक्रमोपि स्वतः सिद्धः, अनेन तेषामहितं दूरीकृत्य हितं च सम्पाद्य अग्रे तदनुवृत्त्यर्थमधुना कुशली किमास्ते, केवलमयमनुवादः,यतः सोच्युतः न तस्य काचिदन्या संभावनास्ति ।।४०।।

व्याख्यार्थ –जो जो भाव दोष रहित हैं, वे पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं । उन सिद्ध हुए पुरुषार्थों का कीर्तन करती हैं । प्रसन्नता है कि हमारे भाग्य से कंस मरा है । कंस के मरने में कारण उसका भाग्य ही है, अतः भगवान् पर मामे के मारने का दोष नहीं है ।

जिस समय उद्धवजी आए थे उस समय गोपियों ने कहा था कि क्या अक्रूर आ गया ? इस प्रकार का दोष गोपियों में आ गया था, जिसको यहां दिखाया है । कंस, अपना अथवा अन्यों का शत्रु नहीं था, किन्तु यादवों का विशेष शत्रु था । न केवल आप कंस शत्रु था, किन्तु उसके भाई भी शत्रु थे, इसलिए वैसे प्रसङ्ग आने पर उनको भी मारा, जिससे भ्राता के वध का निराकरण किया है । वे भाई तो ऐसे पापी थे जो कंस का भी हित नहीं करते थे, किन्तु उससे पाप कर्म करवाते थे । जिससे उसके परलोक का नाश हो, इस कारण से वैसे मारने के ही योग्य हैं । भगवत्कृपा से जिन बान्धवों के सर्व पुरुषार्थ सिद्ध हो गए हैं अर्थात् उनके गए हुए सर्व पदार्थ उनको प्राप्त हो गए हैं, जिसके प्राप्त होने में काल का अतिक्रम[1] तो स्वतः सिद्ध ही है । इससे उन बन्धुओं का दुःख मिटाकर सुख सम्पादन कर आगे भी उनका हित करने के लिए आप अब तो कुशल पूर्वक बिराजते हैं, यह आनन्द का विषय है, अर्थात् बधाई है । इस प्रकार यह कहना केवल अनुवाद मात्र है, कारण कि भगवान् तो 'अच्युत' हैं ही, जिससे उनमें अन्य[2] प्रकार की संभावना भी नहीं हो सकती है ।।४०।।

आभास—एवं माहात्म्यज्ञानं सर्वोपकारकत्वं च भगवतो निरूपितम् । ततः पुरस्त्रीषु मात्सर्याभावज्ञापनार्थमाहुः **कच्चिद्गदाग्रज** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का माहात्म्य ज्ञान तथा सर्वोपकारकत्व निरूपण किया । अब 'कच्चिद्गदाग्रज' श्लोक में अपना मथुरा की स्त्रियों से मात्सर्य का अभाव बताने को कहा हैं ।

श्लोक—**कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।**
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ।।४१।।

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! जिस गदाग्रज की हमने अपने स्नेह तथा लज्जा सहित हास्य व उदार निरीक्षण से पूजा की है, (क्या)वे नगर की स्त्रियों में प्रीति करते हैं? ।।४१।।

१- गई हुई वस्तु मिलने में समय तो लगता ही है । २- अकुशलता की ।

सुबोधिनी—गदाग्रजत्वेन वंशजननसामर्थ्यमुक्तम्। अस्मिन् गते मथुरायां रोहिण्यां गदो जातः, अनेन भगवतः प्रद्युम्नरूपता निरूपिता। अत एव स्त्रीणां सर्वकामनापूरक इति **पुरयोषितां प्रीतिं कच्चित्करोतीति** प्रश्नः सङ्गच्छते। **सौम्येति** सम्बोधनं तथा सति दोषदृष्ट्यभावाय। **ननु** ता धाष्ट्यं॑न कथं प्रपन्ना भविष्यन्तीत्याशङ्कयाहुः **नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चित** इति। लोकः पूजितपूजक इति प्रथमतोस्माभिः स्निग्धादिभावैरर्चितः, अनेनास्माभिः पूजित एव न तु भगवानुपभुक्त इति कामाभावः सूचितः। अनेन साभ्यासोपि निरूपितः। कुत्सितेपि रसे कदाचित्पुरुषः प्रवर्तत इति भगवतोप्यस्मासु प्रवृत्तिः, इतः उत्तमाः पुरस्त्रियः, तत्रापि न स्वतः प्रवृत्तिः किन्तु तदिच्छयेति ज्ञापयितुं तासां प्रीतिं करोतीति प्रश्नः। ब्रह्मानन्दरूपस्य स्त्र्यानन्दोत्यधम इति निवृत्तिरपि सम्भवत्याग्रहे सति प्रवृत्तिरपि संभवतीति, आदौ धाष्ट्र्यसिद्धयर्थं स्निग्धा भगवति दृष्टिः, तत उदारा भगवद्धर्मप्राप्तिसूचिका, भगवतोपि सौख्यदायिनी शब्दव्यवहितापि सर्वेषां सर्वपुरुषार्थदायिनी च। मध्ये हासः स्वपुरुषार्थसूचकः, तस्यापि प्रथमप्रवृत्तौ पश्चात् कृतार्थतेति ज्ञापयितुं व्रीडाप्युक्ता। एवंविधैरीक्षणैरर्चितः, प्रथमतः स्नेहेन परिग्रहः, ततः भगवति प्रसन्ने प्रथमप्रवृत्त्या व्रीडा, ततो निर्भरेणानन्देन हासः, ततः सर्वमिव कलां प्रयच्छतीति उदारा भवति ॥४१॥

व्याख्यार्थ—'गदाग्रज' कहने से यह बताया है कि इनमें वंश को पैदा करने की सामर्थ्य है, भगवान् मथुरा पधारे तब रोहिणी से गद का जन्म हुआ है, यों कहकर यह प्रकट किया है कि भगवान् मथुरा में प्रद्युम्न रूप से विराजते हैं। इस कारण से ही स्त्रियों की सर्व प्रकार की कामनाओं के पूरक हैं, जिससे नगर की स्त्रियों में प्रीति करने का प्रश्न बन सकता है। उद्धवजी को हे सौम्य ! यह सम्बोधन देकर गोपियों ने इस शङ्का का निवारण किया है कि हमारी मथुरा की स्त्रियों से कोई ईर्ष्या नहीं है, अतः हम प्रेम से प्रश्न करती हैं कि भगवान् नगर की स्त्रियों से प्रेम करते हैं ? वे नगर की स्त्रियां धृष्टता[1] से भगवान् के पास कैसे आवेंगी ? इस शङ्का का उत्तर देती हैं कि हमने अपने स्नेह तथा लज्जा सहित हास्य व उदार निरीक्षण से उनको पूजा है। लोक तो जिनकी पूजा हो गई हो उनको पूजते हैं,प्रथम तो हमने स्निग्ध आदि भावों से उनका अर्चन[2] किया है। यहां गोपियों ने पूजन कहा, न कि भोग कहा, जिससे अपने में काम का अभाव दिखाया है, किन्तु यह भी बताया है कि भगवान् का स्त्रियों से प्रीति करने का अभ्यास भी है। पुरुष, साधारण रस में भी किसी समय प्रवृत्त हो जाता है, इस प्रकार भगवान् की हम में प्रवृत्ति हो गई थी। अब तो यहां से उत्तम स्त्रियां मिली हैं, किन्तु भगवान् की उनमें स्वतः प्रवृत्ति नहीं होगी, जो वे चाहेंगी तो प्रीति करेंगे, इस कारण से गोपियां प्रश्न करतीं हैं कि उनसे प्रीति करते हैं कि नहीं ? प्रश्न करने का अन्य कारण भी बताते हैं कि ब्रह्मानन्द रूप आनन्द की तुलना में स्त्री से प्राप्त आनन्द अधम प्रकार का है, जिससे उस अधम आनन्द से निवृत्ति भी हो सकती है। यदि वे आग्रह करें तो प्रवृत्ति भी हो सकती है, अतः बताइए कि क्या हुआ ? अर्थात् प्रीति करते हैं वा नहीं ? प्रथम निर्लज्जता सिद्धि के लिए भगवान् में स्नेह दृष्टि होती है, अर्थात् भगवान् को स्नेह युक्त होकर देखें, जिससे भगवान् का उदारता-धर्म हम में आ गया है। इस प्रकार की उदार दृष्टि से देखने लगे, वह उदार दृष्टि ऐसी है कि मध्य में

१- ढिटाई वा निर्लज्जता से, २- पूजन।

शब्द का व्यवधान होते हुए भी भगवान् को आनन्द देने वाली है तथा सब को सर्व पुरुषार्थ देने वाली है। इस प्रकार की उदार दृष्टि होने पर मध्य में हास करे, वह हास अपने पुरुषार्थ की सूचना करने वाला है। इस प्रकार का हास प्रथम प्रवृत्ति में होता है, पश्चात् कृतार्थता होती है, जिस समय नेत्रों में लज्जा प्रकट होती है, यही कृतार्थता को सूचित करती है। इस प्रकार के ईक्षण से भगवान् की पूजा की है। दृष्टि स्नेह द्वारा ही भगवान् को अपनी ओर खेंचती है, अर्थात् भगवान् प्रथम स्नेह से सर्वाकार करते हैं। जब भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब प्रथम प्रवृत्ति होती है। उस समय लज्जा सहित हास होता है, अनन्तर अतिशय आनन्द होने पर हँसी आती है। पश्चात् भगवान् सर्व कलाओं का दान करते है, जिससे यह लीला उदार कही जाती है एवं भगवान् को उदारता प्रकट होती है ।।४१।।

आभास—ननु निर्लेपो भगवान् किमित्येवं करिष्यतीति आशङ्क्याभिप्रायमाहुः । कथमिति ।

आभासार्थ–भगवान् तो निर्लेप हैं, वे इस प्रकार की लीला कैसे करेंगे ? इस प्रकार की शङ्का का 'कथं रति' श्लोक में अभिप्राय बताते हैं।

श्लोक—कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् ।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभावितः ।।४२।।

श्लोकार्थ—भगवान् रति के भेदों को विशेष प्रकार से जानते हैं तथा उत्तम स्त्रियों के प्रीति के विषय हैं। उनके[1] वाक्य एवं विलासों से अनुभावित होने पर कैसे उनमें प्रेम न बढ़ावेंगे ? ।।४२।।

सुबोधिनी—स हि सर्वरतिविशेषान् जानाति, नागरको बन्धो नागरीष्वेव भवति, अन्यथेदं ज्ञानं व्यर्थं स्यात्। कदाचिदेतदवश्यं प्रकटनीयम्, स्वकीयासु तु न भवत्येव । **किञ्च** । उत्तमस्त्रीणां स **प्रियः** प्रीतिविषयः, अन्यथोत्तमत्वमेव न स्यात्, अतस्तासां जन्मसाफल्याय स्वस्य ज्ञानसाफल्याय च कथं तद्रसाभिनिविष्टो न भवेदित्याहुः **नानुबध्येतेति**। अनुबन्धो नाम निरन्तरं वर्द्धमाना प्रीतिः, यथा रेतोमात्रेण न प्रीतिर्नाप्युत्पन्नेनाप्यल्पवृद्धेनापि जातमात्र अङ्कुरे यथा सर्वगुणसंपन्ने पुत्रे भवति, अयमनुबन्धः, अतः कथं निरन्तरं वर्द्धमानया प्रीत्या **नानुबध्येत**। ननु तथापि पोषकाभावान् मूर्खे पुत्र इव नानुबन्धः स्यात्। तत्राह **तद्वाक्यैरिति**, तासां वाक्यानि **विभ्रमाश्च**, मनोनुरञ्जनं चकारार्थः। एवं कायवाङ्मनसामुत्तमधर्मैरनुभावितः अनुभवपर्यन्तं नीतः, भावकद्रव्यैरेव वा भावितः, अनुभवयुक्तो वा कारितः, अभिनिविष्टो हि रसः स्वानुभावं जनयति। वाक्यादीनि चोद्दीपकानि। अतो भगवान् प्रकारद्वयेनापि विभक्तवीर्य आविर्भूतः सम्यग्भावित इति गोपिकानां दोषाभावपूर्विका सर्वगुणसिद्धिर्निरूपिता ।।४२।।

१- नगर की उत्तम स्त्रियों के।

व्याख्यार्थ—सर्व प्रकार के रति के भेदों को भगवान् जानते हैं, नगर की स्त्रियों में ही नागरिक बन्ध होता है, यदि यों (वे) न कर सकें तो यह सर्व प्रकार के रति भेद का ज्ञान व्यर्थ हो जावे। कभी तो वह अवश्य प्रकट करना चाहिए। वह बन्ध स्वकीयाओं में नहीं हो सकता है और विशेष यह है कि वे उत्तम स्त्रियोंके प्रीतिपात्र हैं। यदि(वे वैसा न करें तो उन[1]का उत्तमपन ही चलाजावे,इसी कारण से उन स्त्रियों के जन्म को सफल करने और अपने ज्ञान की सफलता के वास्ते निर्लेप होते हुए भी उस रस में प्रवेश क्यों न करें ? रति विशेष का ज्ञान तथा पुर की स्त्रियों का प्रियत्व ये दोनों यों करने में कारण है और भगवान् का भी वैसा ही अभिप्राय है। निरन्तर प्रीति बढ़ती ही रहे, जिसको 'अनुबन्ध' कहा जाता है। केवल वीर्य विमोक से प्रीति नहीं बढती है, बीज बोने से उत्पन्न छोटे अङ्कुर में भी प्रीति नहीं बढती है। जैसी परिपक्व धान एवं सर्व गुण सम्पन्न पुत्र में प्रीति होती है और विशेष बढती भी है, वैसे ही यहां भी निरन्तर अनुबन्ध के कारण भगवान् उनके प्रेम में कैसे वद्ध न होंगे ? प्रीति हो, किन्तु प्रीति के पोषक गुणों का अभाव होवे तो जैसे मूर्ख पुत्र जो पिता के प्रेम का पोषक नहीं है तो उसमें पिता की प्रीति नहीं बढती है। इसके उत्तर में कहतीं हैं कि उनके वाक्य और विलास एवं मन का रञ्जन करने का ढंग ऐसा है, जिसने काया, वाणी तथा मन के उत्तम धर्मों से अनुभव करा दिया है अथवा भाव युक्त द्रव्यों[2] से प्रभावित किया है। जो रस हृदय के भीतर प्रवेश हुआ वह अपना प्रभाव प्रकट करेगा ही, वे वाक्य उद्दीपन करने वाले हैं, रस का प्रभाव ही ऐसा है, जो प्रीति को निरन्तर बढाता ही रहता है, अतः भगवान् रति विशेषज्ञ होने से तथा पुर की स्त्रियों के प्रीतम होने से अपना वीर्य दोनों शक्तिओं में विभाजित कर कृष्ण रूप से आविर्भूत हुए हैं। वैसे स्वरूप का सम्यक् प्रकार से अनुभव किया है, जिससे गोपिकाओं ने निर्दोष सर्व गुणों की सिद्धि प्राप्त की है ।।४२।।

आभास—भगवानिदानीमुपदेशेनगुरुर्जातः, अस्माभिस्तु पूर्ववासनया पूर्वावस्थावश्यं स्मर्तव्यः, तथा सति भगवता चेत्स भावः त्यज्यते, तदा अस्माकमपराधो भवतीति भगवतः तस्या अवस्थायाः स्मरणं पृच्छन्ति **अपि स्मरतीति**।

आभासार्थ—भगवान् तो अब उपदेश देकर हमारे गुरु बने हैं, हमको तो पूर्व की वासना से उनकी पूर्वावस्था अवश्य स्मरण करनी चाहिए यों करने से यदि भगवान् उस भाव को छोड़ देते हैं तो हम लोगों का इसमें अपराध न होगा, जिससे भगवान् को उस अवस्था का स्मरण है वा नहीं ? 'अपि स्मरति' श्लोक से पूछती हैं।

श्लोक—**अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित्।**
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे ।।४३।।

१- नगर की उत्तम स्त्रियों।

२- पुष्पादि से।

श्लोकार्थ—हे साधु ! गोविन्द भगवान् ! नगर की स्त्रियों की सभा में स्वच्छन्द बातचीत करते हुए किसी प्रसङ्ग में हम गाँव वालियों को भी कभी याद करते हैं ? ॥४३॥

सुबोधिनी– संभावनया प्रश्नः। ननु स्मरणाभावे कथं उपदेशार्थं प्रेषणमिति चेत्तत्राहुः **पुरस्त्रीणां गोष्ठीमध्य** इति । न तु शास्त्रार्थज्ञानभावनादशायाम् । नन्वेवमुपदेष्टा स्मरिष्यतीति का सभावना, तत्राह **गोविन्द** इति । स ह्यस्माकमिन्द्रः, इन्द्रत्वायैव चास्मदुपयोगं कृतवान् । **किञ्च** । अनुभूतत्वात्ताहृशपदार्थानुभवे सहृशादयः संस्कारबोधका इति कदाचित्स्मरणं भवेत्तदाहुः **प्रस्तुते क्वचिदिति** । तदा हि भगवान् स्वाभिलषितावस्थः सैत्यसङ्कल्पश्च, ततस्तामप्यवस्थां सम्पादयेत् । **किञ्च** । व्यावर्तकत्वेनास्मत्स्मरणमावश्यकमित्याहुः **ग्राम्या** इति । **कथमेवमन्यथाबन्धं करोषि** गोपिकेवेति । **स्वैरकथाया**: स्वेच्छाकथायाः **अन्तरे** मध्ये । नन्वेतदहं कथं जाने तत्राहुः **साधो** इति । सर्वोपकारी च भगवान्, अतो गुह्यमपि वक्तव्यमिति भावः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—यह प्रश्न संभावना[1] से किया है, यदि आपका स्मरण उनको न होता तो उपदेश के लिए मुझे कैसे भेजते ? जिसके उत्तर में कहती हैं-जब हमको शास्त्रार्थ का ज्ञान कराने का विचार करते होंगे उस समय हमको याद करते होंगे, जिससे आपको यहाँ उपदेश के लिए भेजा है, किन्तु हमारा प्रश्न है, कि जब नगर की चतुर स्त्रियों से बातचीत करते हैं उस समय हम गवाँरनियों का स्मरण करते हैं कि नहीं?

यदि आप कहो कि जो इस प्रकार का उपदेश देने वाले हैं, वे आपको उस समय स्मरण करेंगे, ऐसी संभावना तुम कैसे करती हो ? जिसके उत्तर में कहती हैं कि 'गोविन्द' हैं अर्थात् हमारे इन्द्र हैं, इन्द्रपन[2] के कारण ही हमारा उपयोग किया है । उस वक्त स्मरण करने का हम इसलिए पूछती हैं कि संयोग रस का हमारे साथ अनुभव किया है वैसा ही वहां नागर स्त्रियों से संलापादि समय में अनुभव करते हैं, तो यह प्रकृति सिद्ध है कि जिसका अनुभव किया हुआ है वैसा ही विषय आवे तो पूर्व अनुभूत का स्मरण हो आता है, अतः आप बताईए कि उस समय कभी स्मरण होता है कि नहीं ? उस वक्त भगवान् अपनी इच्छा वाले थे तथा सत्यसङ्कल्प थे; जिससे वहां उस अवस्था का प्रादुर्भाव भी कर सकते हैं और विशेष यह है कि व्यावर्तक से हमारा स्मरण उस समय आवश्यक है, उसका कारण कहती हैं कि 'ग्राम्याः' हम गांव की स्त्रियाँ गवाँरिन हैं, अतः ग्राम्य बन्ध में ही हम प्रसन्न हो जाती हैं । यदि नगर की स्त्रियों से वैसा बन्ध किया तो वे कह देंगी कि यह बन्ध तो हमारे योग्य नहीं है अन्य प्रकार का है, अर्थात् ग्राम की गोपियों के योग्य यह बन्ध है । जब स्वेच्छा पूर्वक कथा कहते हैं तब उस कथा में हमें स्मरण करते हैं ? इसके उत्तर में यदि आप कहो कि इस गुप्त विषय को मैं कैसे जानूं ? इसके उत्तर में कहती हैं कि 'हे साधो आप साधु हैं', भगवान् सर्व का उपकार करने वाले हैं, अतः गुह्य बात भी अपने प्रेमी विकार रहित अन्तरङ्ग साधु पुरुष को बताते हैं, इसलिए आपको इसका ज्ञान अवश्य होगा, जिससे ही हम आप से पूछ रहीं हैं ॥४३॥

१- अनुमान वा कल्पना । २- यों कहकर अपने में काम का अभाव सिद्ध किया -(प्रकाशकार का आशय)

आभास—विशेषतो लीलामपि पूर्ववत् स्मरतीति पृच्छन्ति **ताः किं निशाः स्मरतीति।**

आभासार्थ—पूर्व की भांति (क्या) लीलाओं को भी स्मरण करते हैं? यों विशेष प्रकार से 'ताः किं निशाः' श्लोक से पूछती हैं।

श्लोक—ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या-
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथा कदाचित् ॥४४॥

श्लोकार्थ—कुमुद, कुन्द पुष्प तथा चन्द्रमा से सुशोभित वृन्दावन में; नूपुर की झँकार वाली, रास मण्डली में, हमारे साथ भगवान् ने जिन रात्रियों में रमण किया था, उस वक्त हमने उनकी मनोहर स्तुति की थी, उन रातों को भी कभी भगवान् याद करते हैं? ॥४४॥

सुबोधिनी—तादृशधर्मविशिष्टाश्चेद् वयं स्मृताः तदा भगवत्परितोषणे गुरुदक्षिणायामपि न किञ्चिद्देयं स्यात्, **ताः** पूर्वा वरदत्ता 'मयेमा रंस्यथ क्षपा' इति, स्वदत्तान् हि स्मरपि सर्वोपि। किं कालस्मरणेनेत्याशङ्क्य तद्गतं विशेषमाहुः **यास्विति**। **यासु तदा रेमे**। न तु साम्प्रतम्। कालदेशयोर्विद्यमानत्वेपि रमणाभावात् पुनः पुनः स्मरणम्। तदा वा वयं प्रियाः अधुना तु शिष्याः। **वृन्दावन** इति। स्वच्छन्दलीलास्थानमुक्तम्, नैव लीला नगरेषु संभवति। **कुमुदैः कुन्दैः शशाङ्केन च रम्ये**, क्वचिद्दोषोप्यन्यत्र गुणः, यद्यपि शशाङ्कस्तथापि कामे उद्बोधकः। कुमुदमपि रात्रिविकासि। चन्द्रः ससामग्रीकः तत्र रतिवर्द्धनोस्तीति ज्ञापयितुमेवं प्रक्रिया निरूपिता। **कुन्दाः** सर्वकालीनपुष्पाणि। रात्रिविशेषपुष्पाणि साधारणानि, तेषां विकासहेतुश्च यत्र रतिवर्द्धनः, तत्रापि रसोत्पत्त्यर्थं **क्वणच्चरणनूपुराणां** स्त्रीणां यो **रासः** तत्सभायाम**स्माभिः** सर्वाभिरेवे**डिता मनोज्ञा कथा** यस्य। **कदाचिदिति** तस्या अवस्थाया दुर्लभत्वम्, यदीदानीमपि भवेन् मनोज्ञकथया ईडितो भवेत्। ततो लौकिकमपि कुर्यात्। अस्माभिरिति प्रमाणमुक्तम्। क्वणन्ति चरणेषु नूपुराणीति भगवदालम्बनादिभावः सूचितः। यतोस्माननर्तयत् ततो नृत्यगीतादिना समाराधितो भगवान्, तच्चेत्स्मरिष्यति तदा साधनरहिता अपि कृतार्था भविष्यामः, दोषनिवृत्तावेव ता ग-र्यमिति भगवतोपि मनोनिग्रहो नाभिप्रेतः ।४४।

व्याख्यार्थ—ऊपर कहे हुए धर्मों से युक्त हमको यदि उन रात्रियों के साथ, स्मरण करते हैं तो जाना जाता है; कि भगवान् हमारे पर प्रसन्न हैं तब तो अब जो उपदेश भेजकर गुरुजी बने हैं, उसकी दक्षिणा में कुछ भी देना न पड़ेगा, वे रातें वर में दी थीं, जिनमें रमण किया था तथा अब की रातें नहीं, जिनमें आप (वे) हमारे पास नहीं हैं, काल और देश दोनों विद्यमान है, किन्तु रमण का अभाव

है, जिससे बार बार स्मरण होता है। तब हम प्रियाएँ थीं अब शिष्याएँ हैं। जिन रात्रिओं में हमसे रमण किया था, उन रात्रिओं में वह स्थान भी रमण के योग्य वृन्दावन था। जिसमें स्वच्छन्द प्रकार से लीला हो सकती थी; क्योंकि वहाँ किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। इस प्रकार नगरों में लीला नहीं हो सकती है। वह वृन्दावन रमण स्थान क्यों था? उसके गुण बताते हैं कि जिसको कुमुद, कुन्द और शशाङ्क[1] सुशोभित कर रहे हैं। 'क्वचिद्दोषोऽपि अन्यत्र गुणः' एक स्थान पर जो दोष है, वही दूसरे स्थान पर गुण होता है। यद्यपि शशाङ्क होने से चन्द्र कलङ्कित(दोष वाला) है, किन्तु यहाँ वही काम को उद्‌बोध कराने वाला होने से गुण रूप है।'कुमुद'पुष्प भी रात्रि को विकास वाले होते हैं। सामग्री सहित चन्द्रमा रति की वृद्धि करता है, यह जताने के लिए ही यह प्रक्रिया बताई है। कुन्द पुष्प सब कालों में खिले रहते हैं। रात्रि के विशेष पुष्प साधारण है, इनका विकास करने वाला तथा रति की वृद्धि करने वाला चन्द्र है। उसमें भी रस की उत्पत्ति के लिए जहाँ झन्कार युक्त नूपुर वाली स्त्रियों का रास हो रहा है, जिसमें हम जिन प्रभु की मनहर कथा से स्तुति कर रही हैं, वैसी रमण वाली रात्रियों को अचानक भी स्मरण करते हैं? कारण कि ऐसी अवस्था दुर्लभ है। जो अभी भी यों लीला होवे तो हम मनहर कथाओं से उनकी स्तुति करें। पश्चात् लौकिक भी करें। अर्थात् बाह्य रमण हमारे साथ करें। यों कह कर हमने प्रमाण बता दिया है। चरणों में 'नूपुर' शब्द कर रहे हैं, जिससे यह बताया गया है कि भगवान् आलम्बन आदि भाव युक्त हैं। प्यारे ने हमको नृत्य कराया और हमने नृत्य गीत आदि से प्रीतम की आराधना की है। यदि इसको याद करते रहेंगे तो साधन रहित होते हुए भी हम कृतार्थ हो जाएँगी। इस प्रकार कहने का तात्पर्य है कि हमारे दोष निवृत्त हो गए हैं। भगवान् के मन का निग्रह होना भी हमको इष्ट नहीं है ॥४४॥

आभास—उपदेशेन वयं तथा भविष्याम एव, तथापि पूर्ववत् पुनः किं कृपां करिष्यतीत्यभिप्रायेणाहुरप्येष्यतीति ।

आभासार्थ—भगवान् ने जिस प्रकार का उपदेश दिया है, वैसी हम बनेंगी ही, किन्तु यह तो बताओ कि वे पूर्व की भाँति फिर क्या कृपा करेंगे? इस अभिप्राय को 'अप्येष्यतीह' श्लोक में प्रकट करते हैं।

श्लोक—**अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा ।**
सञ्जीवयन् नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः ॥४५॥

श्लोकार्थ—जैसे इन्द्र मेघों से वन को जीवित करता है; वैसे हो प्रभुकृत शोक से सन्तप्त हमको अपने श्रीअङ्गों के स्पर्श आदि से जीवित करने के क्या लिए यहाँ पधारेंगे? ॥४५॥

१- चन्द्रमा : जिसके मध्य में खरगोश का चिन्ह है।

सुबोधिनी – अन्यथा 'नो चेद्वयं' इति वाक्यं श्रुत्वा किमिति भोगमङ्गीकृतवान्। तस्मादुत्कटं कामं दूरीकृत्य कोमले जाते पश्चादुपदेशफल भविष्यतीति पुनः पूर्ववदाकाङ्क्षा। तत्र गमने तु सुख न भविष्यतीति ज्ञातम्, स्वच्छन्दाभावात्। नन्वीश्वरः कथमायास्यतीति चेत्तत्राहुः **दाशार्ह** इति। दाशानामर्हः योग्यः, यो हि दयालुः सुतरां परदुःखाभिनिविष्टः। एवं तापहारकभगवद्धर्मान् निरूप्य स्वतापमाहुः। **तप्ता** इति। आध्यात्मिकादितापव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानोपदेश एव क्रियत इति चेत्तत्राहुः **स्वकृतया शुचा** इति। अयं शोको भगवतैव सम्पादितः स्वनिर्गमनात्। शुचा च द्रवमाणा जाता इति साम्प्रतं शूद्रा एव कथमुपदेशयोग्या इति भावः। तस्माच्छ्लोके गत एवाधिकारः। **किञ्च**। जीवने हि जाते पश्चात्सर्वमेवैतत्, सकाममरणे तु न मुक्तिः, अत इदानीं जीवनं यथा भवति तथा गात्रैः मुखारविन्दादिभिः **नोऽस्मान् सञ्जीवयन्** किमायास्यति। **तु**शब्दो ज्ञानपक्षं वारयति। ननु विशेषतो भगवत एवंकरणे को हेतुरिति चेत्तत्राह। **यथेन्द्र** इति। साधारणमेव वनं खाण्डववनं वा, न हि पर्जन्यादन्यः दावानलं शामयति। गृहदाहादयस्तु जलान्तरेणापि शाम्यन्ति, तस्मात् क्लिष्टानां तापनाशश्चेदादौ भवेत् पश्चाद् ज्ञानं प्रवर्ततामिति समग्रो मनोरथः ॥४५॥

व्याख्यार्थ—आपका केवल उपदेश देने में ही तात्पर्य है और कृपा नहीं करनी है तो 'नो चेद्वयं' यह वाक्य सुनकर फिर भोग करना स्वीकार क्यों किया? इस कारण से उत्कट काम को जब मिटाकर कोमल करोगे, तब उपदेश का फल होगा; यह कहने से फिर पहले की भाँति अपनी इच्छा प्रकट की है। वहाँ[1] जाने पर सुख नहीं मिलेगा। यों हमने समझ लिया है, कारण कि वहाँ स्वच्छन्दता का अभाव रहेगा। आप न जाओगी तो भला ईश्वर कैसे पधारेंगे? इसके उत्तर में कहती हैं कि 'दाशार्हः' विष्णु है, अतः पालक होने से दयालु हैं ही, दूसरों के दुःखों पर ध्यान देते रहते हैं और उनको मिटाते ही हैं। इस प्रकार भगवान् के ताप हरण करने वाले धर्मों का निरूपण कर अपना ताप प्रकट कर बताती हैं। 'तप्ता' हम तापयुक्त हैं, इस पर कहते हैं कि आध्यात्मिक आदि तापों के मिटाने के लिए तो यह ज्ञानोपदेश दिया है। यदि यों कहो तो यह कहना युक्त नहीं है; क्योंकि हमको वह ताप नहीं है। हमारा ताप तो स्वयं भगवान् ने हमको छोड़कर मथुरा जाने से किया है। हम उस ताप को मिटवाना चाहती हैं, अब तो शोक से हम द्रवीभूत हो गई हैं; जिससे शूद्र होने से उपदेश के योग्य नहीं रही हैं। इससे शोक नष्ट होने के अनन्तर उपदेश सुनने का अधिकार प्राप्त होगा, तब उपदेश करो। जब जीवन होगा, तब यह सर्व सिद्ध हो सकेगा। यदि हमारी कामना पूर्ण न हुई और हम सकाम ही मर गई, तो मुक्ति नहीं होगी, अतः अब तो जैसे जीवन टिक सके, वैसे मुखारविन्द आदि श्रीअङ्गों से हमको जिलाने के लिए क्या आवेंगे? 'तु' शब्द ज्ञान पक्ष के निवारण के लिए है। अर्थात् हमको अब इस ज्ञानोपदेश की आवश्यकता नहीं है। भगवान् जैसे आप कहती हैं इस प्रकार करें, जिसमें क्या कारण या साधन है? यदि यों कहते हो, तो हमारा यह उत्तर है कि 'यथेन्द्रः' घर आदि में आग लगती है, तो वह किसी भी जल से बुझाई जाती है, किन्तु साधारण वन में यदि दावानल लगती है, तो उसको सिवाय इन्द्र के कोई शान्त नहीं कर सकता है। इन्द्र

१- मथुरा

जब कृपा कर वृष्टि करता है, तब वह शान्त होती है। अतः हमारे ताप की शान्ति तो भगवान् ही पधार कर करेंगे तो होगी, अन्यथा नहीं। इसलिए हमारी सम्पूर्ण इच्छा है कि प्रथम ताप शान्त होवे, अनन्तर उपदेश द्वारा ज्ञान मिले ॥४५॥

आभास—संभावनयैतदुक्त्वा युक्त्या निषेधमाहुः **कस्मादिति।**

आभासार्थ—अनुमान से या कल्पना से कहा कि भगवान् आवेंगे, किन्तु युक्ति से अब कहती हैं कि वे नहीं आवेंगे, जिसका कारण 'कस्मात्' श्लोक में कहती हैं।

श्लोक—**कस्मात्कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः।**
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥४६॥

श्लोकार्थ—राज्य ले लिया, शत्रुओं को मार भगाया, सब प्रकार के सम्बन्धी भी मिल गए, राजाओं की कन्याओं से विवाह भी कर लिए; यों सर्व कार्य पूर्ण होने से आनन्द वाले श्रीकृष्ण अब यहाँ क्यों आवेंगे ? ॥४६॥

सुबोधिनी—**कस्मात्कृष्ण इहा**यास्यतीत्यर्थः। वर्तमानप्रयोगेणैतज् ज्ञापयन्ति। यद्यागच्छेत्, इदानीमेवागच्छेत्, द्वयमपि कृत्वा गच्छेत्, विलम्बे प्रयोजनाभावात्। ननु साम्प्रतं नागर्यः स्त्रियो भक्ता इति तासां समाधानानन्तरमायास्यतीति चेत् तत्राहुः **प्राप्तराज्य** इति। उत्तरोत्तरमागमने प्रतिबन्धा एव भविष्यन्तीति। आदौ राज्यमेव, ततो मारणीयाः शत्रवः, ततो दिग्विजये **नरेन्द्रकन्यानामुद्वाहः**। ततस्तासु प्रीतिः। ततः **सर्वसुहृद्वृतः** पुत्रपौत्रादिभिः परिवृतः, ततः सर्वानुरोधयुक्तः कथमायास्यतीति भावः ॥४६॥

व्याख्यार्थ—अब कृष्ण किसलिए आएँगे? वर्तमान क्रिया 'आयास्यति' कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ जो दो कार्य हैं, उनको यदि करना हो तो अब आवें; आकर १-हमारे काम की शान्ति तथा २-उपदेश; दोनों कार्य करके फिर लौट जावें, देरी क्यों करते हैं ? यदि कहो कि अब आने में नागरी स्त्रियाँ जो अब भक्त होकर प्रेम करने लगीं हैं; उनको अब ही त्याग कर आना योग्य नहीं है, अतः उनके समाधान करने के अनन्तर पधारेंगे। इसके उत्तर में हमारा कहना है कि यों तो एक प्रतिबन्ध टलेगा तो दूसरा प्राप्त होगा; क्योंकि अब तो राज्य मिल गया है। उसके अनेक कार्य आने में प्रतिबन्ध होते रहेंगे। फिर राज्य के तो अनेक शत्रु होते हैं। उनको नाश करना पड़ता है, इस प्रकार प्रतिबन्ध आते ही रहते हैं। राज्य के शत्रुओं को नाश कर विजय प्राप्त होने से राजाओं की कन्याओं से विवाह होंगे। पुनः उन स्त्रियों से प्रेम जगेगा, अनन्तर पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न होंगे, जिनसे रस प्राप्त करने में संलग्न रहेंगे। यदि तब आने की चेष्टा भी करेंगे तो वे सब आने नहीं देंगे, ऐसी हालत में वे यहाँ कैसे आ सकेंगे ? ॥४६॥

आभास—ननु यथा ते अनुरोध्याः तथा यूयमपीति ततः समायास्यतीति चेत्तत्राहुः **किमस्माभिरिति।**

आभासार्थ—जैसे उनका कहा हुआ मानते हैं, वैसे ही आपका भी कहना मानकर यहाँ पधारेंगे; यदि यों कहें तो, इस पर यह उत्तर है, जिसका वर्णन 'किमस्माभि' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ।**
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ।।४७।।

श्लोकार्थ—लक्ष्मी के पति, पूर्णकाम, कृतात्मा और महात्मा भगवान् को वन में रहने वाली हमसे तथा अन्य स्त्रियों से कोई प्रयोजन नहीं है, अतः क्यों आवेंगे? ।४७।

सुबोधिनी—अस्मत्तापो वा आगमने हेतुः भगवदपेक्षा वा । आद्ये इदानीमेवागच्छेत् । नन्विदानीं महत्कार्यमस्तीति चेत्तत्राहुः **अन्याभिर्वे**ति । स्वोपकारात्कार्यावश्यकत्वं नत्वन्योपकारात्, तथा सति वयमेवावश्यकाः, स्वार्थे तु **किमस्माभिरन्याभिर्वा**, स्वस्य सर्वथा अप्रयोजकत्वमाहुः **वनौकोभिरि**ति । वनचर्यो वयम् । अनेन वानरतुल्यत्वात् सर्वधर्मबहिष्कारः सूचितः । अस्तु वा धर्मवत्वं तथापि भगवतो न कोप्युपकार इत्याह **अन्याभिर्वे**ति । वेत्यनादरे । सर्वत्र हेतु**र्महात्मन** इति । स हि महानेव । न हि महतोन्यापेक्षा, तत्राप्यात्मनः । स हि सर्वान् स्वत एव व्याप्नोति । महानुभावस्य वा, इत्यलौकिक उपाय उक्तः । लौकिकमाह **श्रीपतेरि**ति । स हि लक्ष्मीपतिः, सर्वापेक्षापूरिका हि सा सेवकानामपि, किमुत स्वामिनः । **किञ्च** । **आप्तकामस्ये**ति । आप्ताः स्वत एव कामा येन । अन्येषामपि कामानां फलदाता स्वयं कथं पूर्णकामो न भवेत् । अतोस्मदादिभिः को वा **अर्थः क्रियेत** । **किञ्च** । **कृतात्मन** इति । कृताः स्वार्थमात्मानो येन । सर्वे हि क्रीडार्थमेव तेन जनिताः, वशीकृतचित्ता इति एके ।।४७।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के यहाँ पधारने के दो कारण हैं । एक हम संतप्त हैं, अतः हमारे संताप को मिटाना है । दूसरा उनको हमारी अपेक्षा हो तो पधारें । यदि पहला कारण हमारा सन्ताप मानें, तो अब ही पधारें । आपके लिए अब पधारें तो सही, किन्तु अभी उनको वहाँ बड़े-२ कार्य हैं । जिसके उत्तर में कहती हैं कि अपने स्वयं के उपकार करने से वह कार्य आवश्यक होगा, दूसरों के उपकार करने से वह कार्य आवश्यक नहीं है, अतः दूसरों के उपकार रूप आवश्यक कार्यों की तुलना में हमारा ताप मिटाना ही आवश्यक है; क्योंकि हम अति तप्त हैं, यदि अपना ही उपकार करना है, तो फिर हमसे अथवा अन्यों से उनका क्या प्रयोजन है ? जिसमें भी हमसे तो कोई प्रयोजन नहीं है । कारण कि हम वन में रहने वाली वानरों के समान सर्व प्रकार के रस शास्त्र सिद्ध धर्मों से बहिष्कृत हैं । विशेष अवस्था से जो उस समय दैन्य का आविर्भाव हुआ था, जिससे यों कहा है । फिर अनादर से कहती हैं कि धर्मत्व हो, तो भी उससे भगवान् का कोई भी उपकार न होगा, अतः दूसरी से भी कोई प्रयोजन नहीं है, अतः क्यों पधारेंगे ? सब स्थान पर अर्थात् किसी के लिए भी न पधारने का यह भी कारण है कि वे बड़े हैं । बड़ों को किसी की अपेक्षा नहीं रहती है । इसमें भी आप सर्वत्र व्याप्त हैं, जिससे आत्मा की भी उनको आवश्यकता नहीं है और फिर वे महान् प्रभाव वाले हैं, यह अलौकिक उपाय कहा है । अब लौकिक नीति से कहती हैं, वे लक्ष्मी के पति हैं, जो सेवकों की भी इच्छा पूर्ण करती है, तो स्वामी की भी इच्छा पूर्ण करे, जिसके लिए कहना ही

क्या है और विशेष में जो दूसरों की कामनाओं को भी फल देकर पूर्ण करते हैं, वह स्वयं कैसे पूर्ण काम न होंगे ? अवश्य होंगे ही। जब वे स्वयं पूर्ण काम हैं तो हम लोगों से उनका कौनसा अर्थ सिद्ध होगा ? कुछ नहीं। उससे भी आप में विशेषता यह है कि ये सब आत्माएँ अपनी क्रीड़ा के लिए ही आपने उत्पन्न की हैं। कुछ विद्वान् 'कृतात्मनः' पद का भावार्थ करते हैं कि भगवान् ने सबके चित्तों को अपने वश कर लिए हैं ॥४७॥

आभास—तर्ह्येवं सति किं कर्तव्यमित्याशङ्क्य कञ्चिदुपायं परिकल्प्य दूषयन्ति **परं सौख्यमिति ।**

आभासार्थ—यदि यों है तो क्या करना चाहिए ? किसी उपाय की कल्पना कर उसको 'परं सौख्यं' श्लोक में दूषित करते हैं।

श्लोक—**परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला ।**
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥४८॥

श्लोकार्थ—स्वेच्छाचारिणी पिङ्गला नाम वाली वैश्या ने कहा है कि आशा का त्याग ही सुख है। जिसको हम भी जानती हैं, किन्तु कृष्ण के लिए जो आशा हैं, वह किसी तरह भी छूटती नहीं ॥४८॥

सुबोधिनी—**आशा** हि सर्वेषां दुःखहेतुः, सा त्यक्तव्येति साधनम्, 'प्रजापत आशया वै श्राम्यसीति' श्रुतेः अतो **नैराश्यमेव** श्रुत्यनुभवसिद्धं साधनम्। तस्य फलाव्यभिचारमाह **परं सौख्यमिति** स्वभावतोपि परमसुखरूपम्। युक्तश्चायमर्थः। 'औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्यात् गृहपालायते नरः' इति। **किञ्च**। या हि स्वैरिणी सा मनोविक्षेपसहिता। अन्यथैकत्र प्रतिष्ठिता स्यात्,सापि **नैराश्यमङ्गी**कृतवतीत्याह **स्वैरिणीति**। 'यथा सञ्छिद्य कान्ताशा'मित्यग्रे वक्ष्यति। अनेन आशाया अन्तो नास्तीत्यपि सूचितम्। **पिङ्गला** नाम वेश्या। इयमपि कथा नारदादिभिः श्रुतार्षज्ञानेन वा ज्ञायते। **तज्जानतीनाम**पि प्रकारतः फलतः उपपत्तितश्च। **नोस्माकं** सर्वासामेव। तर्हि कथं न स पक्ष आद्रियत इति चेत्तत्राहुः **कृष्णे तथाप्याशा दुरत्ययेति**। पिङ्गला हि कृष्णाशया इतराशां त्यक्तवती सर्वस्मात् कृष्णोधिक इति। वयं किमाशया कृष्णाशां त्यक्ष्यामः। उत्कर्षः कृष्ण एव पर्यवसित इति। अवैदिकत्वाद् एतासां आशापूर्त्युपायापरिज्ञानम्, कृष्णाशा ततोपि सिद्धा भवेत् न वेति सन्देहश्च। 'तमाशाब्रवीदि'त्यत्र तथा निर्णीतम् ॥४८॥

व्याख्यार्थ—सबके दुःख का कारण आशा ही है। जिसको त्यागना ही सुख का साधन है। जैसा कि यजुर्ब्राह्मण के तृतीयाष्टक द्वादश प्रपाठक के द्वितीय अनुवाद में कहा है कि 'प्रजापते आशया वै श्राम्यसि' हे प्रजापति ! आप आशा से थक जाते हो अर्थात् आशा के कारण दुःखी होते हो। गोपियाँ श्रुति रूपा हैं, अतः उनको इस आर्ष ज्ञान की स्फूर्ति हुई है। जिससे आशा की सत्यता के

लिए वैदिक साधन अवश्य करना चाहिए; किन्तु अवैदिक* होने से स्वयं वैदिक साधन नहीं कर सकती हैं, तो कृष्ण मिलने की आशा सफल होगी या नहीं ? इसमें सन्देह है, जब गोपियाँ आर्ष ज्ञान वाली हैं, तो उनमें अज्ञान होना ही नहीं चाहिए। इसके उत्तर में कहा है कि जब वेद को जानने वाले ब्रह्मा को अज्ञान है, तो गोपियों में हुआ तो क्या आश्चर्य है ? स्वतन्त्र भक्ति मार्ग के पथ पर चलने वाली श्रुति रूपा गोपियों को तो वास्तव में अज्ञान है ही नहीं। अतः कहती हैं कि पिङ्गला ने तो श्रीकृष्ण की आशा के लिए अन्य सब आशाओं को त्याग दिया, किन्तु किस पदार्थ की आशा के लिए हम श्रीकृष्ण की आशा का त्याग करें ? यद्यपि श्रुति और अनुभव से निराशा ही सुख का साधन है। उस साधन का फल बदलने वाला नहीं है; क्योंकि वह निश्चित् साधन है तथा स्वभाव से भी परम सुख रूप है। अन्यथा जैसे कहा है कि 'औपस्थ जैंह्य कार्पण्यात् गृहपालायते नरः' यदि मनुष्य उपस्थ इन्द्रिय तथा जिह्वा की तृप्ति के लिए आशावान् होकर रहे, तो कुत्ते जैसा होजाता है अर्थात् वह मनुष्य नहीं किन्तु श्वान है; जो स्त्री स्वच्छन्द घूमने वाली है अर्थात् प्रत्येक पुरुष की अभिलाषा करती रहती है, उसके मन में सदैव विक्षेप होता है। यदि एक पुरुष में मन लगा हो, तो विक्षेप का नाश हो अर्थात् विक्षेप होए ही नहीं। इसको स्पष्ट करने के लिए पिङ्गला का दृष्टान्त देती हैं कि उसने पति की आशा त्याग कर निराशा को ही सुख रूप समझ उसको ग्रहण किया, जिससे यह भी सूचित किया है कि आशा का अन्त ही नहीं है, पिङ्गला वेश्या की कथा का ज्ञान भी नारदादि ऋषियों के आर्ष ज्ञान से ही हुआ है। हम सब जिसको प्रकार से, फल से और उपपत्ति से जानती हैं, तो भी श्रीकृष्ण की आशा का त्याग कठिन है। पिङ्गला ने तो श्रीकृष्ण से मिलने की आशा से अन्य आशाओं का त्याग किया है; क्योंकि श्रीकृष्ण सबसे अधिक उत्तम हैं। श्रीकृष्ण से अधिक उत्तम अन्य कौनसा पदार्थ है, जिसकी आशा से श्रीकृष्ण की आशा त्याग करे ? सबसे उत्कर्ष तो श्रीकृष्ण में ही पूर्ण होता है। ये अवैदिक हैं, अतः वेद में आशा पूर्ण होने के लिए जो साधन कहे हैं, उनका परिज्ञान इनको नहीं हैं। श्रीकृष्ण की प्राप्ति की आशा उससे[1] भी पूर्ण होगी या नहीं ? यह संदिग्ध है, 'तमाशाब्रवीत्' में इसका निर्णय हुआ है ।।४८।।

आभास—नन्वाशापरित्यागे पदार्थविस्मरणं हेतुरस्ति, तस्मिन् कृते आशा निवर्तत इति चेत्तत्राहुः **क उत्सहेतेति**।

आभासार्थ—पदार्थ को भूल जाना ही आशा के परित्याग में कारण है, यों करने से ही आशा छूटती है। यदि यों कहो तो 'क उत्सहेत' श्लोक में कहती हैं कि कौन यों करने का साहस कर सकता है ?

श्लोक—**क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसम्विदम्।**
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित् ।।४९।।

---

* स्त्रियों को वैदिक कर्म करने का अधिकार नहीं है—अनुवादक

१- वैदिक साधन से

श्लोकार्थ—उत्तम श्लोक के स्मरण रूप ज्ञान को कौन छोड़ सकता है ? यद्यपि भगवान् लक्ष्मी की इच्छा नहीं करते हैं, तो भी वह उनके अङ्ग से क्षण मात्र भी पृथक् नहीं होती है ।।४६।।

सुबोधिनी—**उत्तमश्लोकस्य** भगवतः **सम्विदं** स्मरणात्मकं **सन्त्यक्तुं कः उत्सहेत**। संविच्छब्देन संबन्धो ज्ञानं चोच्यते । उत्तमैः श्लोक्यत एव न तु सम्बन्धमभिप्राप्नुवन्ति । सर्वैरेव श्लोक्यत इति सुलभं भगवत्स्मरणम् । अविगीतत्वाद् बाधरहितम्, विस्मर्तव्यः सम्बन्धो वा दूरीकर्तव्य इति को वा उत्साहमपि कुर्यात् । अशक्यत्वादत्यन्तमीप्सितत्वाच्च । ज्ञानपक्षेशक्यत्वं उत्तमश्लोकपदेनैव साधयित्वा सम्बन्धत्यागेच्छाभावं विद्यमानेऽपि हेतौ न जायत इत्युपपादयन्त्य**निच्छतोपीति**। इच्छामात्राभावे कामाभावः सुतरां सिद्धः, तादृशे हि स्त्रियो विरक्ता भवन्ति, तत्रापि स्वतः प्रौढास्तत्रापि पित्रादिगृहे लब्धप्रतिष्ठाः, स्थिता अपि औदासीन्येन तिष्ठन्ति धर्मपरिपालिका इव । भगवाननिच्छन् भवति, तादृशस्याप्यङ्गाद्वक्षःस्थलाच्छ्रीरर्थार्थिभिः सर्वदा सेव्यमानापि कदापि न **च्यवते** च्युता न भवति ।।४६।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के स्मरण या सम्बन्ध को छोड़ने का उत्साह कौन कर सकता है ? नारद आदि भक्त भगवान् के गुण गाते हैं, किन्तु उनका भगवान् से सम्बन्ध नहीं होता है । सब गुणगान करते हैं, अतः गुणगान रूप स्मरण सुलभ है । गुणगान में किसी प्रकार का दोष नहीं है, अतः उसमें कुछ भी कठिनाई नहीं है । उनसे सम्बन्ध छोड़ना अथवा उनको भूल जाना, इस प्रकार का उत्साह कौन करेगा ? उनका सम्बन्ध तथा स्मरण सबको इच्छित है, अतः वह छोड़ना या भूलना अशक्य है । वे उत्तम श्लोक हैं, अतः ज्ञान पक्ष में भी उनको भूलना या सम्बन्ध छोड़ना अशक्य है । सम्बन्ध के त्याग करने में कारण होते हुए भी उसको छोड़ने की इच्छा नहीं होती है । जिसको इच्छा मात्र भी नहीं हैं, उसमें काम का अभाव तो स्वतः सिद्ध है । ऐसे पुरुष से स्त्रियाँ उदासीन होती हैं । जिसमें स्वयं में प्रौढ़ता होवे और पिता के गृह में भी सम्मानित हों, तो भी उदासीन होकर रहती हैं । जैसे धर्म का पालन करने वाली घर में उदासीन रहती है । भगवान् नहीं चाहते हैं, तो भी लक्ष्मीजी उनके वक्षस्थल को क्षण मात्र नहीं छोड़ती है, जबकि द्रव्य की इच्छा करने वाले लक्ष्मीजी की सदा सेवा करते ही रहते हैं ।।४६।।

आभास—स्मरणत्यागाशक्यतामुपपादयन्ति । **सरिच्छैलेति** त्रिभिः ।

आभासार्थ—'सरिच्छैल' से तीन श्लोकों में स्मरण त्याग की अशक्यता बताती हैं ।

श्लोक—**सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ।**
सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ।।५०।।

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! बलरामजी के साथ श्रीकृष्ण ने इन नदी, पर्वत व वन के प्रदेशों में गौओं के साथ बंसी बजाते हुए रमण किया था ।

सुबोधिनी—स्मारका हि बहव: येष्ववश्यं प्रवृत्ति:। सर्वपरित्यागेऽपि जलार्थमवश्यं गन्तव्यम्, बहिर्निर्गत: उच्चै: स्थितं पश्येदेव, अतो यमुनागोवर्द्धनदर्शनमावश्यकम्। विहारार्थमवश्यं **वनोद्देशाश्च** द्रष्टव्या:। एते त्रय: सत्त्वादिभेदा:। गृहेऽप्यवश्यं द्रष्टव्या **गाव:**, निमीलिताक्षाणामपि इमे वेणुरवा: स्मारका:, ये इदानीमप्यनुभूयन्ते। अत: स्मारका: सर्वत्र। **किञ्च**। भगवत आचरितान्यपि भगवत्स्मारकाणीत्याह **सङ्कर्षणे**ति। बहिर्वृत्तिनिरोधे पूर्वोक्ता न स्मारका:। भगवच्चरितानि तु चौर्यादीनि दैत्यादिमारणेन पालनरूपाणि स्वच्छन्दरमणरूपाणि च **आचरिता** इत्युच्यन्ते। सङ्कर्षणसहायत्वं लीलादौ निर्भयत्वाय। तत्रापि **कृष्णेन** सदानन्देन अस्मदर्थमेवाविर्भूतेन स्मारणार्थमेव तादृशकर्त्री। **प्रभो** इति सम्बोधनं तादृशार्थविस्मरणे कदाचित्तव सामर्थ्यं भवेत् नत्वस्माकमिति ज्ञापितम्। अनेन स्वदृष्टान्तेन भवतीभिरपि सुखेन स्थातव्यमिति पक्षो निवारित:, अत एव त्वं स्वस्थो वर्तसे, न वयम्। ॥५०॥

व्याख्यार्थ—स्मरण का त्याग क्यों अशक्य है ? जिसको सिद्ध करती हुई कहती हैं कि स्मरण कराने वाले बहुत पदार्थ हैं। जिनमें प्रवृत्ति अवश्य ही होगी; सबको छोड़ दें, तो भी जल के लिए श्री यमुनाजी पर अवश्य ही जाना पड़ेगा। जब बाहर निकलेंगी तो जो उच्च स्थित है, वह देखने में ही आवेंगे, अत: श्री यमुनाजी तथा गोवर्द्धन के दर्शन तो अवश्य ही होंगे और विहार के लिए वन के प्रदेशों में जाना पड़ेगा; ये तीन सत्त्व आदि गुणों के कारण भिन्न-भिन्न हैं। घर में गौओं के दर्शन होते ही हैं, यदि आँखों को बन्द करें, तो ये वेणु के रव स्मरण कराने वाले ही हैं, जिनका अब भी अनुभव हो रहा है। अत: सब स्थलों में स्मरण कराने वाले पदार्थ स्थित हैं, भगवान् के सब चरित्र भी उनके स्मारक हैं। यदि बाहर की वृत्तियों को रोक भी लेवें, तो ऊपर कहे हुए पदार्थ स्मारक भी न होंवे; किन्तु माखन चोरी, दैत्य वध आदि और स्वच्छन्द रमण रूप भगवान् के चरित्र, वे जो अन्त:करण की वृत्तियों में व्याप्त हैं, वे तो स्मरण करायेंगे ही। लीला में सङ्कर्षण की सहायता निर्भय होने के लिए है, उसमें भी हमारे लिए ही प्रकट हुए। सदानन्द श्रीकृष्ण ने ये लीला हमको स्मरण कराने के लिए ही की है। वैसे प्रेष्ठ को तथा उनकी लीलाओं के विस्मरण में आप प्रभु हैं, अत: भले समर्थ हो, किन्तु हम उनको भूलने में सर्वथा अशक्त हैं। यों कह कर उद्धवजी के इस पक्ष को कि जैसे मैं स्वस्थ हूँ, वैसे आप भी हो जाओ; निवारण किया अर्थात् आप स्वस्थ रह सकते हो; हम नहीं रह सकेंगी ॥५०॥

आभास—एवं स्मारकान्निरूप्य तै: क्रियमाणस्मरणस्य बलिष्ठतामाहु: **पुन: पुन: स्मारयन्तीति**।

आभासार्थ—इस प्रकार स्मारकों का निरूपण कर अब उनके स्मरण कराने की बलिष्ठता का प्रतिपादन 'पुन: पुन: स्मारयन्ति' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**पुन: पुन: स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।**
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुम: ॥५१॥

श्लोकार्थ—वे सब बार-बार नन्द गोप के पुत्र का स्मरण कराते हैं। लक्ष्मी के आस्पद उनके चरण कमल देख हम भी विस्मरण नहीं कर सकती हैं ॥५१॥

सुबोधिनी– स्मरणेन पीडया मूर्च्छायां जातायां विस्मरणमाशंसमानानां सर्ववृत्तिनिरोधे स्मारयिष्यन्तीति भयात्स्मृता एव भवन्त्यत: **पुन: पुन: स्मारयन्ति** । **किञ्च** । पीडायां समर्थाश्रयणं कर्तव्यमिति विचारेऽपि नन्दश्चेत् स्मृत: तदा **नन्दगोपसुत** इति स्मृत एव भवति भगवान् । **किञ्च** । लक्ष्मीस्थानरूपाण्यतिसुन्दराणि सर्वत्रोद्गतानि पदान्यच्युतत्वान्नित्यान्याधारे स्थिते अतिरोभावस्वभावानि, तादृशै: तस्यैव भगवत: पदैरसाधारणैर्हृदयादिषु स्थापितैर्वा सानुभावै: दृष्टादृष्टोपायेन बलिष्ठै: कृत्वा **विस्मतुँ नैव शक्नुम:** ।।५१।।

व्याख्यार्थ– स्मरण करने से ऐसी पीड़ा होती है, जिससे मूर्च्छा आ जाती है । तब इच्छा होती है कि स्मरण करना ही छोड़ देवें । जिसके लिए सर्व वृत्तियों को रोकती हैं, किन्तु उस समय मन में भय होता है कि ये चरित्र स्मरण करा देंगे, यों भय उत्पन्न होते ही वे याद आ जाते हैं, इसलिए कहा है कि 'पुन: पुन: स्मारयन्ति' फिर-फिर याद कराते हैं । जब किसी प्रकार की पीड़ा होती है, तो उसको मिटाने के लिए किसी समर्थ का आश्रय लिया जाता है, तो व्रज में समर्थ नन्दरायजी हैं, उनका स्मरण करते ही उनके पुत्र[1] का स्मरण हो ही जाता है । भगवान् के जो अति सुन्दर चरण जिनमें लक्ष्मीजी का निवास भी है, वे इस व्रज भूमि में अङ्कित हैं । वे अच्युत होने से नित्य भी हैं । जिससे वे कभी भी तिरोहित नहीं होते हैं । उन भगवान् के चरण जिनको हृदय में स्थापन किया है, वे अपने प्रभाव से बलिष्ठ, दृष्ट-अदृष्ट उपायों वाले हैं । उनको हम विस्मृत करने में असमर्थ हैं ।।५१।।

आभास—किञ्च । विस्मरणे हि मनोनिरोध: साधनम्, मनश्चामलया बुद्ध्या निरुध्यते, सा बुद्धि: पूर्वमेव भगवता हृतेति कोन्य उपायो विस्मरण इति पृच्छन्त्य इवाहु: **गत्येति** ।

आभासार्थ– जब मन का निरोध होता है, तब विस्मरण हो सकता है । मन का निरोध तब होता है; जब बुद्धि निर्मल होवे । वह बुद्धि तो भगवान् ने प्रथम ही हरण कर ली है । इसलिए 'गत्या ललित' इस श्लोक में विस्मरण का अन्य कौनसा उपाय है ? यह पूछती हैं ।

श्लोक—**गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनै: ।**
माध्व्या गिरा हृतधिय: कथं तद्विस्मरामहे ।।५२।।

श्लोकार्थ—सुन्दर गति, उदार हास्य, लीला सहित अवलोकन और मधुर वाणी इनसे हमारा चित्त जिसने हरण किया हैं, उसको हम कैसे भूल सकती हैं ? ।।५२।।

१– भगवान् का- कारण कि वे ही भगवान् हैं ।

सुबोधिनी—बुद्धिर्हि त्रिविधा गुणैः। त्रिविधामपि बुद्धिं कायवाङ्मनोविषयां त्रिविधा धर्मा हरन्ति। तत्र प्रथमं भगवतः कायिकचेष्टया देहविषयिणी बुद्धिर्हृतेत्याह **ललितया गत्येति**। गतिर्हि स्वयं गच्छन्ती बुद्धिमपि नयति। ललिता तु सर्वतो निरोधेन नयति। तदंशमनसो हरणात्। मनसो हरण उपायमाहुः **उदारहासलीलावलोकनैरिति**। मनो हि सङ्कल्पविकल्पात्मकम्, तत्र सङ्कल्पांशं भगवतो हासो निवारयति, मोहात्मकत्वात्। सङ्कल्पसाधनरूपं सुखं च बहुधा प्रयच्छतीति फलेनापि न सङ्कल्पः साधयितुं शक्यते। तदाह **उदारेति**। भ्रान्तो हि विकल्पान् करोति, तन्निवृत्त्यर्थं च लीलावलोकनानि, ज्ञानात्मकत्वादवलोकनस्य विकल्पं नाशयत्येव, तत्रापि फलाभावात् ज्ञानं दुर्बलं भवेत् तन्निषेधार्थं **लीलेति**। स्वतः पुरुषार्थमित्यर्थः। वाक्प्रधानां तु गीर्हरति, सजातीयहारिणी स्त्री स्त्रियं चेद्धरेत् न कोऽपि प्रतिबन्धको भवति। तत्रापि फलरूपत्वाय **माध्व्येति**। एवं लोकप्रसिद्धप्रकारेण विस्मरणासम्भवात् तत्कथं विस्मरामह इति प्रश्नः। उद्धवो हि महान् विस्मरणात्मकं ज्ञास्यतीति। अथवा। भवतो भवतु विस्मरणं, **हृतधियो** वयं कथं **विस्मरामहे**। तस्मिन् हि विस्मृते साधनान्तरे प्रवृत्तिः संभवति। अतो भगवदुक्तं ज्ञानं पूर्वार्धविस्मरणे भवतीति अशक्यमेवोपदिष्टवान्। ॥५२॥

व्याख्यार्थ—बुद्धि तीन गुणों के कारण से तीन प्रकार की होती हैं। सतोगुण से ज्ञान वाली, रजोगुण से सङ्कल्प विकल्प वाली और तमोगुण से देहाभिमान वाली होती हैं। इन तीन प्रकार* वाली बुद्धि को भगवान् अपने त्रिविध धर्मों से हरण करते हैं। जैसे कि भगवान् ने प्रथम अपने काया की ललित गति की चेष्टा से देहाभिमान वाली बुद्धि को हरण कर लिया है। गति जैसे आप आगे चलती रहती है, वैसे ही उस बुद्धि को भी ले जाती है। किस प्रकार ले जाती है? जिसको स्पष्ट करते हैं कि ललित गति बुद्धि को सबमें से खींचकर अपने में निरोध कर ले जाती है। कारण कि बुद्धि के अंश रूप मन को वह गति हरण करती है। मन के हरण करने का उपाय कहते है 'उदारहास[1]लीलावलोकनैः' जिस वृत्ति से मनुष्य सङ्कल्प-विकल्प करते हैं, उस वृत्ति को मन कहते हैं। उन दोनों में से जो सङ्कल्प-रूप अंश है, उसको भगवान् को मोहित करने वाला मोह रूप हास निवारण करता है और सङ्कल्प के साधन रूप सुख को अनेक प्रकार से देता है। जिससे फल द्वारा भी सङ्कल्प को सिद्ध नहीं कराता है। भ्रमित मनुष्य ही विकल्पों को करता है। उनको मिटाने के लिए ही भगवान् लीलावलोकन करते हैं। अवलोकन ज्ञान रूप है, अतः विकल्पों को नाश करता ही है। वहाँ भी फल का अभाव है, जिससे ज्ञान दुर्बल होता है। उसकी दुर्बलता मिटाने के लिए 'लीला' शब्द भी दिया है। यों कहने का आशय है कि ज्ञान अपने आप पुरुषार्थ रूप है। जिसमें वाणी प्रधान है, उसको भगवान् की वाणी हरण करती है। अपनी जाति की स्त्री यदि स्त्री को हरण करती है, [तो उसमें कोई भी रुकावट नहीं कर सकता है। उसमें भी फल रूप वाणी माध्वी[2] है। वैसे लोक सिद्ध प्रकार से भी विस्मरण असम्भव है, तो कैसे हम भुला सकेंगी? आप तो विस्मरण

---

* काया, वाक् और मन के विषय वाली

१- उदार हास और लीला द्वारा जो अवलोकन करते हैं उनसे,

२- मधु के समान मिष्ट,

के प्रकार को जानते हैं, अतः आप भले ही भुला दो, किन्तु हम तो नहीं भुला सकती है कारण कि हममें बुद्धि ही नहीं है; क्योंकि हमारी बुद्धि भगवान् ने ले ली है। यदि उनको भुला दें तो फिर हमारी दूसरे साधन में प्रवृत्ति होगी, अतः भगवान् ने जो ज्ञान दिया है, वह तब हो सकता है, जब हम भगवान् की ललित गति, मोह रूप हास तथा उदार अवलोकन को भूल जावें। वह तो हो नहीं सकता है, इसलिए इस उपदेश को कार्य रूप में लाना अशक्य है अर्थात् भगवान् ने अशक्य[1] उपदेश दिया है ॥५२॥

आभास—एवं लौकिकप्रकारेण वैदिकप्रकारेण च वयं सर्वथा दुःखसागरान्न निस्तीर्णा भविष्याम इत्याहुः **हे नाथेति।**

आभासार्थ– इस प्रकार लौकिक या वैदिक ढङ्ग से हम इस दुःख सागर से सर्वथा नहीं निकल सकेंगी, जिसका वर्णन 'हे नाथ' श्लोक में करती हैं।

श्लोक—हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥५३॥

श्लोकार्थ—हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे दुःखनाशक ! हे गोविन्द ! दुःख सागर में मग्न गोकुल का उद्धार करो ॥५३॥

सुबोधिनी–प्रमेयबलादेवोद्धर्तव्याः न तु प्रमाणबलेन। तथाकरणे आवश्यको हेतुर्नाथत्वम्। नन्वच्युतोऽहमसङ्गोऽहं च, अतो ममाप्यशक्यो रमणेनैव भवतीनामुद्धारो भवतीति चेत्तत्राहुः **हे रमानाथेति**। रमणैकस्वभावा हि सा, उत्तरोत्तरं वर्द्धमाना नित्या च, तस्यास्त्वं नाथ इति सर्वजनीनम्। साप्यस्मत्प्रकारेणैव साध्या भवति, लक्ष्मीत्वादेव न पोषणादिकमपेक्षते। ननु तदावश्यकमिति कथंचिन्निर्वाह्यत इति चेत्तत्राह **व्रजनाथेति**। यथा त्वं लक्ष्मीपतिः सर्वजनीनः एवं व्रजपतिरपि। लक्ष्मीव्रजयोस्तुल्यत्वाद्दोषगुणास्तुल्या इति भावः। ननु साप्यशक्या चेत्त्यज्यत एवेति कोयं दृष्टान्त इति चेत्तत्राहुः **आर्तिनाशनेति।** हरिस्त्वं आर्ति नाशयस्येव। कुर्या अन्यन्न वा कुर्या आर्ति तु नाशय अन्यथा हरित्वमेव न स्यात्, अतः स्वरूपरक्षार्थमेतदवश्यं कर्तव्यम्। **किञ्च**। इदं हि सर्वमेव **गोकुलं** दुःखसमुद्रे निमग्नं तदुद्धर, पूर्वं ह्येको गजः, सोपि पुष्करिण्यां अर्धनिमग्न इव स्थितः, सोपि दयया चेदुद्धृतः, किमस्मदुद्धारे दयाया विलम्बो भवेत्, मग्नोद्धारे त्वमेव समर्थः, यथा मन्दरोद्धारे। ननु तेस्मद्वाक्यात्प्रवृत्ता इति तदर्थमुद्धृताः, भवत्यस्तु नास्मद्वाक्यात् प्रवृत्ता इति चेत्तत्राहुः **गोविन्देति।** त्वं ह्यस्मदिन्द्रत्वेन सर्वैरभिषिक्तः, अतो यावदधिकारं त्वाधिकारिकमिति न्यायेन यावद्गोकुलं जीविष्यति तावदस्य रक्षा भवत आवश्यकी। अन्यथा प्रमाणबलं त्वयैव नाशितं स्यात्, पूर्वमपि मत्स्यादिभावेन वेदा उद्धृताः, तथा गोविन्दभावेन वयमप्युद्धर्तव्याः। ननूद्धृतेन, तथा सति जघन्यापत्तिरिति भावः ॥५३॥

1- न होने वाला

व्याख्यार्थ—इस दुःख समुद्र से हमारा उद्धार प्रमाण बल से न करो, किन्तु प्रमेय बल से करो। प्रमेय बल से उद्धार करने में आवश्यक कारण यह है कि आप हमारे नाथ हैं, नाथ सेविकाओं के गुणादि न देखकर अपनी शक्ति से उनका उद्धार करते हैं। यदि आप कहो कि मैं तो अच्युत और असङ्ग हूँ, अतः रमण से आपका उद्धार करना मेरे लिए अशक्य है। आपके इस कथन पर हमारा उत्तर है कि आप रमानाथ हैं, रमा जिसका स्वभाव ही नित्य रमण का है, वह आपसे नित्य रमण करने के कारण ही नित्य है और बढ़ रही है। उस रमा* के आप पति हैं, यह सब जनों में प्रसिद्ध है। वह भी हम लोगों की भाँति ही साध्य है, केवल लक्ष्मी होने से पोषणादि की उसको अपेक्षा नहीं है। यदि आप कहो कि उस लक्ष्मी से रमण आवश्यक है; क्योंकि मैं पति हूँ, वह मेरी स्त्री है, अतः जैसे-तैसे निभाना ही है, तो जैसे आप रमा के पति हैं, वैसे व्रज के भी पति हैं। लक्ष्मी और व्रज समान है, अतः उन दोनों के गुण और दोष भी तुल्य हैं। जो आप कहो कि वह भी यदि अशक्य याचना करे,तो वहयाचनाभी त्याज्य हो सकती है,अतः आपका यह दृष्टान्त प्रबल नहीं है। इस पर हमारा कहना है कि यह दृष्टान्त प्रबल नहीं है, तो भी कोई बाधा नहीं है। आप 'आर्त्तिनाशन' दुःखों को नाश करने वाले हैं, यह तो प्रसिद्ध ही है। आपका नाम हरि है अर्थात् जो दुःखों को हरण करे, वह हरि आप हैं, इसलिए आप दुःखों को नाश करते ही हैं। दूसरा कुछ करो या न करो, किन्तु आर्त्ति को तो मिटाने की कृपा करो। यदि आर्त्ति नहीं मिटाते हो तो आपका हरित्व अर्थात् हरिपन ही न रहेगा। इसलिए आपको अपने स्वरूप की रक्षा के लिए यों अवश्य करना चाहिए और विशेष यह है कि यह समग्र गोकुल दुःख सागर में मग्न है, उसका उद्धार करो। पूर्व समय में एक हस्ती केवल छोटे पोखर में आधा डूबने से दुःखी था, उस पर दया कर उसका उद्धार किया, तो हम इतनी विरहात्मक दुःख सागर में समग्र निमग्न हुई हैं, उनके उद्धारार्थ दया में विलम्ब क्यों हुआ है ? जैसे आपने मन्दर+ का उद्धार किया, वैसे ही हमारा भी करो; क्योंकि डूबे हुओं के उद्धार करने में आप ही समर्थ हैं। यदि आप कहो कि वे हमारे कहने से कार्य में प्रवृत्त हुए थे, इसलिए उनका उद्धार किया था। आप तो हमारे कहने से प्रवृत्त नहीं हुई हो, जो आपके उद्धार का भार हम पर हो, जिसके उत्तर में कहती है कि हमने आपको अपना इन्द्र बनाया है, अतः अधिकार के अनुसार कार्य करना हो न्याय है। राजा होने के नाते जब तक गोकुल है, तब तक आपको उसकी रक्षा अवश्य करनी है। यदि नहीं करोगे, तो प्रमाण बल का नाश आपने ही किया है, ऐसा कहा जाएगा। जैसे पहले भी मत्स्य आदि रूप से डूबे हुए वेदों का उद्धार किया ही है, वैसे ही अब गोविन्द भाव से आपको हमारा उद्धार करना ही चाहिए, किन्तु यों नहीं कहें कि हमने वेदों का उद्धार किया है, वे उद्धृत वेद तुम्हारा उद्धार करेंगे, यों प्रमाण के अधीन होने से हम हीन देखने में आवेंगी ॥५३॥

---

* रमा : लक्ष्मी ब्रह्मानन्द रूप है, ब्रह्मानन्द नित्य है और बढ़ता ही है, वह शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है, जब इस प्रकार रमा से रमण है, तो उसके नाथ रमण से हमारा भी उद्धार करें, तो अशक्य नहीं है—'लेखाशय'

+ १-मन्दराचल ने देव-दैत्यों को चूर्ण किया है। -'लेख'
२-दैत्य आदि समुद्र में नहीं डूबे थे, किन्तु लज्जा में डूबे थे। -'प्रकाश'

आभास—एवं तासां विलापं श्रुत्वा पुनस्तमेवार्थमुपदिष्टवानित्याह **तत** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उनका विलाप सुनकर फिर उसी ही तात्पर्य वाला उपदेश 'ततस्ताः' श्लोक से देने लगे ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।**
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ।।५४।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि-कृष्ण के संदेशों से गोपियों का जब विरह ज्वर मिट गया, तब उन्होंने कृष्ण को अधोक्षज भगवान् तथा अपनी आत्मा जान कर उद्धवजी का पूजन किया ।।५४।।

सुबोधिनी—तदनन्तरमपि **कृष्णसन्देशै**र्विशेषेणापेतो **विरहज्वरो** यासाम् । एतत्सर्वं भगवदुक्तार्थज्ञानाद्भवति, वियोगे हि सति दुःखं चिन्ता उद्धरणादिकम् । न हि विस्मृतकण्ठचामीकरस्य चामीकरस्मारणादतिरिक्तं दुःखविस्मारकं साधनमस्ति । अतः प्रथमोपदेशेनाभिप्रायः सिद्धः, भगवति दोषबुद्धिर्निवृत्ता । ततो निदुष्टानां भावः पुनर्वर्णितः । सोपि पदार्थः पुनः पुनरुपदेशस्मारणेन निवर्तितः । तदा भगवति आत्मत्वं ज्ञातमित्याह । ततः कृष्णसन्देशैः कृत्वा विशेषेण अपेतविरहज्वराः, ज्वराभावे हृष्टमेव द्वारं जातमित्याह **अधोक्षजमात्मानं ज्ञात्वेति** । स्वात्मैवाधोक्षजः, अधोक्षजपदेन चैतज्ज्ञापितम्, इन्द्रियाध्यासात् सङ्घातात्मबुद्धचा च भगवानात्मत्वेन न प्रतीतः, तदपगमे प्रतीत इति । **अथवा** । अन्तःस्वरूपं प्राप्ताः यथा कोशमध्ये प्रतिमा, तथा तासां सङ्घातमध्ये आत्मानं जीवं स्वस्मिन्नन्तर्भाव्य तत्प्रदेशे वा स्वयमाविर्भूय तत्रैव वानन्दांशाभिव्यक्त्या तदेव स्वरूपत्वेन सम्पाद्य पश्चादपरोक्षतया स्वप्रकाशत्वेन वा आत्मानं ज्ञापितवानिति । अन्यथा अध्यारोपन्यायेन प्रतीतिः स्यात्, शब्दमात्रे तु विरहाभावः, आत्मत्वान्न भेदेन प्रतीतिः, यतः संयुक्ततयापि भावात्, कृतिर्भगवत एवेत्यासां ज्ञानमेव । ततो गुरूपदेशः प्राप्त इति साक्षाद् गुरुत्वाभावेपि श्रूयतामित्याद्युपदेशान् निगरणार्थस्य विद्यमानत्वात् **पूजयाञ्चक्रुः** । आत्मविदां वा संमाननं-कृतवत्यः । **अथवा** । पूर्वं भगवन्तं भिन्नतया ज्ञातवत्यः, इदानीमात्मत्वेन । अग्रे तु तथैव भविष्यन्तीति ब्रह्मभावयोग्यता निरूपिता । तच्च नाभिलषितं स्यात् तदा न भवेदित्युत्कटेच्छां ज्ञापयितुमुद्धवपूजा निरूपिता ।।५४।।

व्याख्यार्थ—भगवान् के गाढ विरह के कारण गोपियों ने भगवान् से मिलने की इच्छा से जो विलाप पूर्वक दीनता युक्त वचन कहे, वे उद्धवजी सुनकर विरह ज्वर मिटाने के लिए भगवान् का दिया हुआ संदेश+गोपियों को पुनः देने लगे, जिससे उनका विरह ज्वर मिट गया । प्रथम जो गोपियों को विरह दुःख तथा भगवान् से मिलने की चिन्ता हुई थी, जिसका कारण भगवान् का

+ सर्वथा और सर्वदा अपने में विरह नहीं है ।

संदेश उनके समझ में न आया था अथवा भूल गई थी, जिससे उनको विरह तथा चिन्ता हुई थी, किन्तु वह वास्तविक नहीं थी, केवल भूल थी। जैसे कण्ठ में सुवर्ण की माला पड़ी है किन्तु वह विस्मृत हो गई; अब उसके खो जाने का दुःख होता है, उस दुःख को मिटाने का उपाय केवल उसका पुनः स्मरण कराना ही है, वैसे ही यहां भी इतना ही स्मरण कराना था कि भगवान् एवं आपका विरह है ही नहीं, क्योंकि वह सब की आत्मा होने से आपकी भी आत्मा है। आत्मा कभी पृथक् नहीं होती है! यह संदेश जब पहले उद्धवजी ने दिया, तब यह अभिप्राय सिद्ध हुआ, कि भगवान् में जो दोष बुद्धि थी, वह मिट गई। उनका अन्तःकरण निर्दोष हुआ, किन्तु विरह ज्वर से उत्पन्न विलाप नहीं मिटा था। कारण कि प्रभु के साक्षात् कार का अनुभव नहीं हुआ था। जब बार बार उपदेश सुने; तब विरह से प्राप्त हुई अन्तिम अवस्था भी मिट गई, जिससे जीने का विश्वास हुआ तथा भगवान् में आत्मत्व की स्फूर्ति होने लगी। अर्थात् अब तक तो इन्द्रियाध्यास के कारण देह में ही आत्म बुद्धि थी, जिससे भगवान् को आत्मरूप न समझती थीं, अब इन्द्रियाध्यास के मिटजाने से गोपियों को भगवान् की आत्म रूप से प्रतीति होने लगी। अथवा कह कर दूसरा पक्ष बताते हैं कि प्रथम पक्ष में इनकी यदि ज्ञानियों के समान अवस्था हो गई तो, वह बलदेवजी के व्रज में आगमन और कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के आगमन के समय गोपियों ने जो भाव दिखाया था, जिससे विरोध होगा, अतः दूसरा पक्ष कहते हैं। जिसमें भी तीन प्रकार कहे हैं, म्यान के भीतर तलवार के समान उनके देह के भीतर स्थित जीव को अपने में छिपाकर अथवा उस स्थान पर प्रभु स्वयं प्रकट होकर अथवा सत् चित् स्वरूप में आनन्दांश प्रकट कर उनको प्रत्यक्षपन से वा स्वप्रकाशपन से अपने को जनाया। यदि यों न करें तो अध्यारोपन्याय से प्रतीति होवे। केवल शब्द से तो विरह का अभाव है, अतः भेद की प्रतीति नहीं होती है। कारण कि आत्मरूप,अर्थात् अपना ही रूप होने से,जिससे उस समय भी संयोग भाव से ही रहता है, इस प्रकार की कृति तो भगवान् ही करने वाले है। गोपियों को तो केवल इसका ज्ञान ही हुआ है, पश्चात् गुरु का उपदेश मिला है। यद्यपि साक्षात् गुरु का तो वहां अभाव था, तो भी 'सुनो' यों कहने से गुरु द्वारा भेजे हुए सदेश के सारांश को जो उद्धवजी ने कहा है, वे भी गुरुवत् पूजनीय ही हैं, अतः उनका पूजन करने लगी। अथवा आत्मज्ञानियों का सम्मान करने लगी, अथवा प्रथम गोपियां भगवान् को अपने से पृथक् समझती थीं, अब प्रभु को अपनी तथा सर्व की आत्मा समझने लगी हैं। आगे भी वैसे ही रहेंगी यों कहकर गोपियों में ब्रह्म भाव की योग्यता का निरूपण किया है। यदि ब्रह्मभाव अभिलषित न हो तो ब्रह्मभाव भी न होवे, इस प्रकार की उत्कट इच्छा है, यह जताने के लिए उद्धव की पूजा का निरूपण किया है ।।५४।

आभास—कोमलकण्ठकन्यायेनायं भावः अदृढश्चेत् पूर्वभावेन बाध्येतेति पुनः पुनः स्मारणार्थं किञ्चित्कालं तत्रैव स्थित इत्याह **उवास कतिचिन्मासानिति ।**

आभासार्थ—कोमल कांटे की भांति यदि यह भाव भीतर जाकर दृढ न होगा तो पुनः पूर्व में हुए भावों से इसका बाध हो जावेगा, अतः उद्धवजी इस भाव को दृढ कराने के लिए वहां व्रज में कितने ही मास और भी ठहरे, जिनमें पुनः पुनः इन भावों का स्मरण कराके इस भाव को दृढ किया, जिसका वर्णन 'उवास कति' श्लोक में किया है।

श्लोक— **उवास कतिचिन्मासान्गोपीनां विनुदन् शुचः ।**
कृष्णलीलाकथा गायन् रमयामास गोकुलम् ।।५५।।

श्लोकार्थ—गोपियों के ताप को मिटाने के लिए उद्धवजी कितने ही मास वहाँ रहे। उन दिनों में श्रीकृष्ण की लीलाओं की कथा पुनः पुनः गाते हुए गोकुल को आनन्दित करने लगे ॥५५॥

सुबोधिनी—स्थितस्य प्रयोजनमाह **गोपीनां विनुदन् शुच** इति। पुनः पुनः पूर्ववासनया भेदः स्फुरति, स्फुरणमात्रे च क्लेशो भवति, तद्दूरीकरणार्थं स्थितिः। यावत्स भावो न स्फुरति, सजातीयप्रचयसंवलितमेतदेवावर्त्यमानं ज्ञानं भेददुःखानुत्पादने समर्थमिति देशादिधर्मैरन्तःकरणावरणे भेदज्ञानमावश्यकमिति तन्निराकरणार्थं भगवज्ज्ञानं कृतवानित्याह **कृष्णलीलाकथा गायन्निति**। लौकिकाः कथामात्र एवासक्ता भवन्ति सर्वे, लीलायां कथायां मुक्ताः, भक्ताश्च कृष्णकथायामिति योगसमुदायाभ्यां प्रतिपाद्यते। किञ्च। सर्वमेव **गोकुलं रमयामास**, अन्यथा संसर्गतोपि दुःखं भवेदिति ॥५५॥

व्याख्यार्थ—उद्धवजी वहां रहे जिसका प्रयोजन 'गोपीनां विनुदन् शुचः' पद से कहते हैं, कि उद्धवजी वहां यह समझ कर रहे, कि पूर्व की कही हुई त्रिदोष वासना से बार बार भगवान् से भेद की स्फूर्ति होती है। स्फुरण मात्र होते ही क्लेश उत्पन्न होता है, अतः वह वासना ही मिट जावे, जिससे क्लेश न हो, अतः जब तक उस भेदभाव[1] की स्फूर्ति न मिटे तब तक उद्धवजी ने वहां रहना योग्य समझा। भेद से जो दुःख होता है, उसके निवृत्ति का उपाय वही एक है, जो 'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मता क्वचित्' इत्यादि दश श्लोकों में कहा है। देश आदि धर्मों से अन्तःकरण पर इस प्रकार आवरण आता है, कि प्रथम दृष्टि बहिर्मुखी होती है जिससे समझती हैं कि हम गोकुल में हैं भगवान् मथुरा में हैं। वैसे विचार से भेद ज्ञान तो अवश्य होता ही है, उसको मिटाने के लिए उद्धवजी ने गोपियों को भगवान् का ज्ञान कराया। किस प्रकार कराया ? जिसके लिए कहा है कि 'कृष्ण लीला कथा गायन्' से लौकिक सब मनुष्य, कथा मात्र में ही आसक्त होते हैं। मुक्त, भगवान् की लीला में और कथा में आसक्त होते हैं और भक्त श्रीकृष्ण की कथा में आसक्त होते हैं। उद्धवजी ने इसी भांति समग्र गोकुल को दुःख से उन्मुक्त कर आनन्दित किया। यह सर्व योग और समुदाय से प्रतिपादन किया है। जिसका तात्पर्य यह है कि लौकिक मुक्त और भक्त इन तीनो को योगार्थ से प्रतिपादन किया है और सकल गोकुल को समुदायार्थ से प्रतिपादन किया है, यदि समग्र गोकुल के क्लेश को निवृत्त न करें तो शेष दुःखियों के संसर्ग से अन्यों को भी दुःख भोगना पड़े ॥५५॥

आभास—एतत्कृतं गोकुले जातमित्याह **यावन्त्यहानीति**।

आभासार्थ—उद्धवजी ने यह सर्व कार्य गोकुल में किया, जिसका वर्णन 'यावन्त्यहानि' श्लोक में करते हैं।

१- संयोगात्मक रस ग्रहण करने में भेदभाव का आभास होता ही है-अनुवादक

श्लोक—यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेवात्सीत्स उद्धवः ।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन्कृष्णस्य वार्तया ।।५६।।

श्लोकार्थ—उद्धवजो जितने दिन नन्दरायजी के व्रज में रहे, व्रजवासियों के उतने दिन भगवान् की वार्ता से क्षण के समान बीत गए ।।५६।।

सुबोधिनी—**नन्दस्य व्रजे** अयमवात्सीत्,यतोयमुत्सवात्मकः,तावन्त्यहानिक्षणप्रायाणि जातानि। आकाङ्क्षायाः परस्परं प्रतिक्षणं वृद्धत्वात् क्षणमपि बहून्यत इव प्रायग्रहणम् । बहिःसंवेदने हि दिनादिगणना, ते ह्यात्मत्वेनैव भगवन्तं ज्ञात्वा तन्मया एव जाता इति कालातिक्रमः सुगमः, उद्धवासक्त्या तथात्वमाशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थमुक्तमपि हेतुं पुनः स्मारयति **कृष्णस्य वार्तयेति**।५६।

व्याख्यार्थ—ये नन्दजी के व्रज में रहे, उद्धवजी उत्सवरूप[1] होने के कारण जितने दिन रहे दिन मानो क्षण जैसे बीत गए, क्योंकि हर क्षण परस्पर आकाङ्क्षा की वृद्धि होती जाती थी । क्षण भी बहुत हैं, उनके लिए तो वे दिन इतने में बीते मानो क्षण भी नहीं हुआ है । इसलिए 'प्रायः' शब्द दिया है । बाहर दृष्टि होने पर ही दिनों की गणना की जाती है, यहां तो गोपियों ने भगवान् को आत्मरूप समझा, जिससे भगवन्मय हो गई थीं । अतः उनकी बहि र्दृष्टि नहीं रही थी, इससे काल का बीत जाना उनके लिए सरल हुआ । उद्धवजी में आसक्त होने से काल का ध्यान ही न रहा ह जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, श्रीकृष्ण की वार्ता में ही ध्यान होने से वे इतने दिनों को क्षण से भी कम समझने लगीं ।।५६।।

आभास—ननु परार्थं कथं बहुकालं तिष्ठेद् भगवन्तं परित्यज्येत्याशङ्क्याह **सरिद्वनेति** ।

आभासार्थ—भगवान् के दर्शन आदि छोड़ दूसरों के लिए इतने अधिक समय तक कैसे रहे? इसका उत्तर 'सरिद्वन' श्लोक में दिया है ।

श्लोक—सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन्कुसुमितान्द्रुमान् ।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ।।५७।।

श्लोकार्थ—हरि के दास उद्धवजी नदी, वन, पर्वत, डोंगी के समान आकार वाली भूमि को, पुष्पों से सुशोभित वृक्षों आदि को देखते हुए, व्रजवासियों को श्रीकृष्णचँद्र का स्मरण कराते हुए वहाँ आनन्द से रहने लगे ।।५७।।

१- सर्व को भुलाने वाला आनन्द ।

सुबोधिनी—भगवल्लीलास्थानानि तत्रत्यानि सर्वाणि स्वयं द्रष्टव्यानीत्येवं पूर्वमेव मनोरथः, अतः प्रसङ्गादागतः भगवद्वाक्यमपि पालितं भवति। भगवल्लीलापि दृष्टा भवतीति शास्त्रार्थस्य च श्रुतत्वाद् भगवल्लीलार्थमेव बहुकालं तत्र स्थितः। **सरिद्यमुना**, वृन्दावनम्, गोवर्द्धनम्, उभयतः पर्वतानां मध्ये निम्ना भूमिः **द्रोणीसमा**, गोकुलेऽपि **कुसुमितान् द्रुमान्** चम्पकादीन् अपर्तावपि भगवदनुभावेन सार्वकालिकपुष्पयुक्तान्, एतावान् स्वार्थः। **कृष्णं संस्मारयन्निति**। भगवदाज्ञाकरणम्, अत उभयार्थस्य सम्पन्नत्वाद् **रेमे**। **हरिदास** इत्यनेनान्यो भावो निवारितः। सत्सङ्गस्य प्रसङ्गादप्यागतस्य फलमाह **व्रजौकसामिति**। सामान्येन सर्वेषां ग्रहणम्। भगवता तूभयोरेव सुखजननमाज्ञप्तं, अयं तु सर्वानेव भगवद्भावापन्नान् कृतवानित्यर्थः ॥५७॥

व्याख्यार्थ—उद्धवजी का यह पहले से ही मनोरथ था कि व्रज में जो भी भगवान् के लीला स्थान हैं वे स्वयं देखने चाहिए। अब ऐसा प्रसङ्ग बना जिससे यहां आगए, यहां रह कर भगवान् की आज्ञा भी पालन करनी है और आपने शास्त्रों के अर्थों को सुना है, अतः भगवल्लीला भी देखनी चाहिए, जिससे आप बहुत समय वहां रहे। श्री यमुनाजी, वृन्दावन, गोवर्द्धन, दोनों तरफ पर्वतों के मध्य में डोंगी के समान नीची भूमि, गोकुल में ऋतु न होते हुए भी भगवान् के प्रभाव से सर्व काल के सर्व प्रकार के पुष्पों से युक्त वृक्षों को देखना, इतना तो उद्धवजी को अपना स्वार्थ था। इसके सिवाय भगवान् की आज्ञा का पालन करना था। यों अपना मनोरथ तथा भगवदाज्ञा ये दोनों अर्थ सिद्ध होने से प्रसन्न होने लगे। 'हरिदास' नाम देने से यह बताया कि उनमें दूसरा किसी प्रकार का भाव नहीं था। प्रसङ्ग से मिले हुए सत्सङ्ग का फल वर्णन करते हैं। 'व्रजौकसाम्' पद देकर यह जताया कि यद्यपि भगवान् ने तो माता-पिता और गोपियां इन दोनों को ही आनन्द देने की आज्ञा दी थी, किन्तु आपने[1] सब व्रज वासियों को भगवद्भाव से युक्त कर दिया ॥५७॥

आभास—एवं भगवदाज्ञां कृत्वा इतस्तस्य निर्गमनमाह दृष्ट्वेति।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवदाज्ञा का पालन कर उद्धवजी ने मथुरा जाने की तैयारी की, जिसका वर्णन 'दृष्ट्वैवमादि' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।**
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥५८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के आवेश के कारण गोपियों के देह की घबराहट देख कर उद्धवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए, जिससे उनको नमस्कार करते हुए यों कहने लगे।५८।

१– भगवान् ने, अपने से भी अपने दास की उदारता तथा दया प्रकट की है।

सुबोधिनी—प्रत्यहमुपदेशः प्रत्यहं वैक्लव्यम्, एवमुभयं दृष्ट्वा आत्मत्वेऽपि बहिःसंवेदनमात्रेणैव तासां भगवदाकाङ्क्षैवोत्पद्यते। परं निर्दुष्टा। **एवं** तासां भावं **दृष्ट्वा कृष्णावेशेन आत्मनो** देहस्य **विक्लवं** दृष्ट्वा, अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा द्वयमेव न तु तासामन्या लौकिकी अवस्था, एवं दृष्ट्वा **परमप्रीतो** जात, एवमेव हि स्थातव्यं भक्तेनेति। पश्चात्तासूभयं दृष्ट्वा स्वस्मिन्नेकमेवेति आधिक्यात् ता **नमस्यन्** नमने दोषशङ्काभावाय तासां स्तुतिरूपमिदं वक्ष्यमाणं जगौ ।।५८।।

व्याख्यार्थ—गोपियों को नित्य उपदेश देते थे, जिससे उनमें नित्य व्याकुलीय भाव उद्भूत होता था। इस प्रकार दोनों देखकर, उद्धवजी ने जान लिया, कि इनको भगवान् हमारी आत्मा है। इस प्रकार का ज्ञान होते हुए भी जब बाहर की दृष्टि होती है तब भगवान् हमको कब मिलेंगे? ऐसी इच्छा होती है, किन्तु वह इच्छा दोष रहित थी, क्योंकि पहले क्षत्रियपनवा गोपपन की दृष्टि थी। वह दोषवाली थी, अब वह नहीं है। अब तो आत्म दृष्टि से कोई दोष दृष्टि नहीं रही है। इस प्रकार उनका शुद्ध आत्म भाव देखकर जिससे कृष्ण के आवेश के कारण गोपियों के देह में व्याकुलीय भाव देखकर जान लिया कि गोपियों में अब लौकिक भाव नहीं है, किन्तु अन्तर्निष्ठा वा विरह ही है। जिससे उद्धवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। भक्त को इस प्रकार की अपनी स्थिति बनानी चाहिए। गोपियों में दोनों हैं, मुझ में एक है, अतः गोपियां मुझ से विशेष उत्तम हैं। अतः उनको नमन करते हुए उनकी स्तुति[1] करने लगे। स्तुति से यह बता दिया कि नमन में कोई दोष नहीं है ।।५८।।

आभास—तस्यैव वाक्यान्याह **एताः परमिति** षड्भिः।

आभासार्थ—उद्धवजी ने जो वचन कहे, वे हो इस श्लोक में कहे हैं। पहले तो भगवान् के वचन उद्धवजी ने कहे थे, उनका वर्णन हुआ। अब उद्धवजी के ही वचनों को कहा जा रहा है।

श्लोक—एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ।।५९।।

श्लोकार्थ—सबकी आत्मा गोविन्द में ही दृढ़ भाव वाली इन गोपियों का ही पृथ्वी पर शरीर का धारण करना सफल है; क्योंकि संसार से ड़रे हुए, मुनि और हम तो उस भाव को अभी तक चाह ही रहे हैं और जिस जन्म में भगवान् की अनन्त कथा रस की प्राप्ति नहीं है; वह जन्म ही निरर्थक है, चाहे वह ब्राह्मण का जन्म भी क्यों न हो! ।।५९।।

१- उत्कर्ष को बताने वाले गुणों के वर्णन को, स्तुति कहा जाता है।

सुबोधिनी—तासु भगवतः सर्वधर्मज्ञापनाय, आदौ तासां स्तुतिमाह । **तनुभृतश्च** देता एव, नापि ज्ञानिनो नापि लौकिका नापि भक्ताः, तत्र लौकिकास्तु व्यर्थजीवना एव । न हि रज्ज्वा बद्धः पाशी भवति, स्वाधीनपाश एव तथा । एवं तनुभृतोपि येषां स्वाधीना तनुः । ज्ञानिनां तु ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तमेव साधनत्वेन शरीरोपयोगादग्रे व्यर्थ एव देहः अनपेक्षितं भारवद् गृह्णन्तीति । भक्ता अपि मौढ्याद्देहमेवात्मानं मन्यमानाः तत्रैव पर्यवसितमतयो बहिर्मुखत्वात्तनुरूपा एव न तु तनुभृतः । कालान्तरे परं सत्फलम्, अस्मदादयस्तु भक्ता अपि प्राप्तज्ञाना अपि मन्दभावं प्राप्ता नोत्कर्षेण तनुभृतः, अतः परमुत्कर्षेण एता एव तनुभृतः । नन्वेतादृश्यः सन्ति तनुभृतः लक्ष्मीप्रभृतयः । तत्राह **भुवीति** । ननु भुव्यप्युत्कटभक्ताः प्रह्लादादयः सन्त्येव तत्राह **गोपवध्व** इति । एतादृशीमवस्थां प्राप्य न कोप्येवंविधो जात इत्याश्चर्यम् । **किञ्च** । गोविन्दे स्वकीयत्वेन ज्ञाते वस्तुतः **अखिलात्मनि** एवं **रूढभावः**, अतो देहस्य स्वाधीनस्यतदेव फलमिति सर्वात्मत्वेन ज्ञात्वापि निर्दोषपूर्वभावनिष्ठा एव । ननु ज्ञानावस्थोत्तरेति, 'आत्मलाभान्न परं विद्यत' इति, एता भगवता ज्ञाननिष्ठा कृताः इति च, वस्तुत एवाग्रे देहस्यानुपयोगात्कथमेषा स्तुतिरिति चेत्तत्राह **वाञ्छन्ति यमिति**, यं भावं **भवाद् भीः** येषां ते मुमुक्षवः **मुनयो** मुक्ताः **वयं** भक्ताः चकारात्सर्व एव धर्ममार्गपरा अपि । अवश्यं हि विदेहकैवल्यपर्यन्तं सर्वेषां बहिःसंवेदनास्त्येव, जीवन्मुक्तानां तथा श्रवणात् । तत्र लौकिक एव भावः सर्वेषां जायत इति कालावच्छेदेन जन्मवैयर्थ्यमेव । अन्येषां तु वैयर्थ्यं सिद्धमेव । नारदादीनामपि कदाचित् प्राकृतवद् व्यवस्था । अन्यथा लौकिकसमानकार्यं न स्यात्, प्रह्लादस्यापि राज्यादिकरणात् तथावसीयते । बहिःसंवेदने तु एषैवावस्था सर्वशास्त्रपर्यवसिता नातोन्या क्वचिदप्यस्तीति अवस्थायां विचार्यमाणायामेता एव तनुभृतः । नन्वेतदपेक्षया ये श्रोत्रिया **ब्रह्मविदो** ब्राह्मणाः वसिष्ठादयः ते महान्तो भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **किं ब्रह्मजन्मभिरिति** । ब्रह्मभावापन्नानां जन्मभिः शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः किं न किञ्चित् । यद्यपि बहिःसंवेदने तेषां वेदार्थानुष्ठातृत्वं दीर्घसत्रित्वादिरूपमन्तर्निष्ठतायां तु ब्रह्मपरत्वमिति, तथापि कर्मापेक्षया भक्तिरधिका, कर्म हि प्रपञ्चे स्वास्थ्यं सम्पादयति न तु भक्तिः, यो हि दुष्टं मन्यते स दुष्ट इति निर्धारः । तत्तत्प्रकरणे तत्तत्प्रशंसा तु प्रकरणानुरोधिनी, अतः अनन्तकथायामरसस्य ब्रह्मजन्मभिः कर्मोपयोगिभिरपि न किञ्चित् । ननु तथाप्युत्कर्षहेतुः **लोके** तद्भवतीति युक्त्या बाधेऽपि प्रसिद्ध्यैव उत्तमफलत्वं पर्यवसानविधया कल्प्यत इति चेत्तत्राह **अनन्तकथायां** रसयुक्तस्य पूर्वोक्तः ब्रह्मजन्मभिः न कोपि पुरुषार्थः साधनीयः । ततोप्युत्कृष्टस्यैव साधनदशायां च फलस्य सिद्धत्वात् कर्मापेक्षयापि भक्त्यैव ज्ञाने अधिकोपकारकरणाच्च ।।५८।।

व्याख्यार्थ—उद्धवजी पहले उनकी स्तुति करते हैं, क्योंकि उनमें भगवान् के सर्व धर्म आगए हैं, अतः भगवान् के सर्व धर्म आने से ये गोपियाँ ही तनुधारी हैं । अर्थात् इनका शरीर धारण करना ही सफल है । ज्ञानी, लौकिक और भक्त इनका भी मनुष्य जन्म लेना निष्फल है । इन में भी लौकिक मनुष्यों का जीवन तो व्यर्थ ही है । जाल में फंसे (रज्जु से बांधे) हुए को जाल वाला नहीं कहा जा सकता है । जिसके पास जाल है वह जाल को जैसे चाहे वैसे काम में लासकता है, अतः उसको 'पाशी' अर्थात् जाल वाला कहा जाता है । इसी प्रकार शरीर धारी वह है, जिसके आधीन शरीर है । ज्ञानी तो जब तक ज्ञान की प्राप्ति होवे, तब तक साधन रूप से देह की अपेक्षा रखते हैं । पश्चात् देह व्यर्थ समझते हैं । भार की भांति देह को धारण करते हैं, तथा भक्त[1] भी मूर्खता से देह को ही आत्मा

१- जिनको ज्ञान नहीं है वैसे भक्त ।

समझ उसमें ही आसक्ति वाले होते हैं। जिससे वे बहिर्मुख हैं, अतः वे तनु रूप होते हैं,न कि तनुधारी किन्तु उनको कालान्तर में सत् फल प्राप्त होता है। हम जैसे तो भक्त होते हुए भी और ज्ञानवान् होते हुए भी,मन्द भाव को प्राप्त होने से, उत्तम भाव से तनुधारी नहीं है, किन्तु ये[1] ही परम उत्कर्ष से तनुधारी है। यदि कहो कि केवल ये ही तनुभृत् क्यों ? वैसी तनुधारण करने वाली लक्ष्मी प्रभृति अन्य भी हैं। इसके उत्तर में कहते है कि 'भुवि' पृथ्वी पर तो ये ही हैं, जिस पर शङ्का उत्पन्न होती है कि पृथ्वी पर केवल ये कैसे ? पृथ्वी पर तो उच्च भक्त प्रह्लाद आदि अनेक हुए हैं। इस पर कहते हैं कि 'गोपवध्वः' गोप की स्त्रियां, जिस अवस्था को प्राप्त होकर अर्थात् पति वाली होते हुए भी उनका मोह त्याग भगवान् के शरण में आई. वैसा भक्त पृथ्वी पर कोई नहीं हुआ है और विशेषता यह है कि भगवान् को स्वकीय जानकर भी उनको सबकी आत्मा समझ उनमें रूढ भाव वाली हुई है। अतः स्वाधीन देह का यह ही फल है, जो सर्व की आत्मा जानकर भी निर्दोष भाव से भगवान् में ही पूर्ण स्थिति, स्थापित करे।

ज्ञान की अवस्था ही उत्तर अवस्था है,जैसा कि कहा हैं'आत्मलाभात्परंनविद्यते'[2] भगवान् ने संदेश द्वारा उपदेश दे के इनकी ज्ञान में स्थिति की है, सचमुच ही इनके देह भी अनुपयोगी होंगे फिर यह स्तुति कैसे ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, संसार से डरकर हम भक्त और मोक्ष चाहने वाले मुनि और समस्त धर्म परायण जनता जिस भाव की इच्छा कर रहे हैं वह भाव तो इनने पूर्व ही प्राप्त कर लिया है। यह बात तो निश्चित ही है कि विदेह कैवल्य तक, सब को बाहर का ज्ञान तो रहता ही है, जीवन्मुक्तों के इतिहास श्रवण से यह समझा जाता है। बाहर के ज्ञान होने वाली अवस्था में सब को लौकिक भाव होता है, यों काल के विभाग से जन्म की व्यर्थता होती ही है, अन्यों की तो व्यर्थता सिद्ध ही है, किन्तु नारद आदि की भी कभी प्राकृतों के समान विशेष अवस्था हो जाती है, न होती हो तो लौकिक के समान कार्य न होना चाहिए। प्रह्लाद ने भी राज्य किया, जिससे भी यों ही समझ में आता है। बाहिर का ज्ञान जब तक है, तब तक तो यही अवस्था रहती है। यही समस्त शास्त्र कहते हैं कि इससे और कोई अवस्था कहीं थोड़ी भी अन्य नहीं है, इत्यादि अवस्थाओं का पूर्ण विचार करने से यही निष्कर्ष[3] निकलता है कि ये गोपियाँ ही तनु-धारिणी हैं।

इनकी अपेक्षा तो जो श्रोत्रिय ब्रह्मवादी वसिष्ठ आदि ब्राह्मण है, वे महान् होंगे ? इस शङ्का के उत्तर में कहते है कि 'किं ब्रह्मजन्मभिः' ब्रह्म भाव को प्राप्त हुए को शौक्ल, सावित्र और याज्ञिक इन तीनों से क्या लाभ ? कुछ नहीं। यद्यपि बाहर के ज्ञान में उनका वेदार्थ का अनुष्ठान करना और बड़े २ यज्ञ करना तथा अन्तर्निष्ठता में ब्रह्म-परायण होना दीखता है, तो भी इस प्रकार के कर्म की अपेक्षा भक्ति अधिक है, कारण कि कर्म, प्रपंच में स्वास्थ्य सम्पादन करता है, भक्ति यों नहीं करती है। वह तो प्रपंच छुड़ाती है, जो दुष्ट माने वा मनवाने का प्रयत्न करे वह दुष्ट है यों निर्णय किया हुआ है। प्रत्येक प्रकरण में, प्रकरण के अनुसार उस-उस विषय की प्रशंसा होती है, अतः विशेषता को ध्यान में रखकर विषय को समझकर सिद्धान्त को स्थिर करना चाहिए। अतः भगवान् की अनन्त कथा में जिनको रस नहीं आता है, जिसमें कथा श्रवण में प्रेम नहींहै,तो वेद-पाठ, यज्ञ आदि कर्म करने योग्य ब्राह्मण-देह की प्राप्ति से क्या लाभ ? कुछ नहीं। यों होने पर भी

१- गोपियाँ, २- आत्म लाभ से उत्तम अन्य कुछ नहीं है।

३- निचोड़, सारांश

ब्रह्मकुल में जन्मलोक में उत्कृष्टता का कारण है। युक्ति से उत्कृष्टता का बाध होने पर भी, केवल प्रसिद्धि से ही अन्त में उत्तम-फल की प्राप्ति होगी। यों यदि कहा जाय, तो कहते हैं कि भगवान् की अनन्त कथा में जिसको रस प्राप्त हो गया है, उसको विविध ब्रह्म-जन्मों से कर्म पुरुषार्थ सिद्ध नहीं करना है। कारण कि कथा रस से बाध्य में ही अर्थात् साधन दशा के समय ही उत्कृष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि कर्म से भी ज्ञान में भक्ति ही अधिक उपकार करती है ॥ ५९ ॥

आभास—तर्ह्येवमवस्थाप्रापकानि ब्रह्मजन्मानि भविष्यन्तीत्याशङ्क्य व्यभिचारात्परम्परयाप्युपयोगाभावमाहु **क्वेमाः स्त्रिय** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त कराने वाले ब्रह्म जन्म होते होंगे? इस प्रकार की शङ्का कर इस 'क्वेमा स्त्रियो वनचरी' श्लोक में कहते हैं कि व्यभिचार के कारण परम्परा से भी उसका उपयोग नहीं है।

श्लोक—**क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः**
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोनुभजतोविदुषोपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥६०॥

श्लोकार्थ—वन में रहनेवाली और व्यभिचार के दोष से दुष्ट ये स्त्रियाँ कहाँ? और परमात्मा श्रीकृष्ण में इनके ऐसे दृढ़ भाव की प्राप्ति कहाँ? जो अज्ञानी आपको साक्षात् भजते हैं तो आप भी उनको भजते हैं तथा अज्ञान से सेवन किए हुए अमृत के समान उनका कल्याण करते हैं ॥६०॥

सुबोधिनी—**इमा** इति गोप्यः जातिहीनाः, तत्रापि **स्त्रियो** योनितो निकृष्टाः, स्थानतोपि निकृष्टत्वमाह **वनचरीरिति**। सत्सूत्पन्ना एव वनचरणादिना उत्कृष्टा भवन्ति, तदर्थमेवोच्यते 'वने तु सात्त्विको वास' इति। अन्यथा वानराणामप्युत्कर्षः स्यात्, चरीरित्यनेन स्वच्छन्दचारित्वमपि सूचितम्। अनेन द्रव्यादिसर्वापकर्षः सूचितः। अन्तःकरणापचारमाह **व्यभिचारदुष्टा** इति। व्यभिचारबुद्ध्या दुष्टा इति केचित्।

श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण कृत स्वतन्त्र लेखः

ननु धर्मशास्त्र एतत्प्रायश्चित्तोक्त्यभावाद्विवाहितपुरुषभजनं न व्यभिचारः। स्त्रीमात्रस्यैतद्दोषवत्त्वेन तत्प्रसूतानामधर्मजातत्वेनाग्निहोत्रादिधर्मानाधिकाराच्चतुर्वर्गोच्छेदप्रसङ्गश्च, तद्बोधकमानवैयर्थ्यं च स्यात्। भगवत्पुत्रानुद्दिश्याकथनात्, भगवत्पत्न्यतिरिक्तासु सतीपदप्रयोगश्च भागवतादावनुपपन्नः स्यात्, इति चेत्। **तत्रायमाशयः**। वर्णाश्रमाणां देहनिष्ठत्वेन तानधिकृत्य च धर्मशास्त्रस्य प्रवृत्तत्वेन दैहिकधर्मनिरूपकं तत्र तु भगवद्धर्मनिरूपकम्, भिन्नाधिकारात्, अध्यासेनात्मसात्कृतत्वाद्देहस्य तद्धर्मेषु स्वधर्मप्रयोगः। वस्तुतस्त्वात्मधर्मा एव स्वधर्माः। स्वशब्दस्य तत्रैव शक्तेः,अत एवाविद्वदधिकारित्वं तेषु उच्यते, ब्रह्मविदां तत्रानधिकारो भक्तौ मुख्योधिका-

रश्च । तदुक्तमवतारहेतुनिर्णयप्रस्तावे । 'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगवितानार्थमिति' । 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशादि'ति तत्त्वसूत्र च । प्रकृते च भक्तिमार्गमधिकृत्य सर्वोर्थो निर्णीयते । तत्र च भगवदतिरिक्तभजनस्य दोषहेतुत्वमेवेति सिद्धान्तः । अत एव 'आज्ञायैव गुणान् दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान्मां भजेत्स च सत्तम' इत्यादिवाक्यैस्तत्त्यागपूर्वकं भजनमत्रोच्यते । अन्यत्रोक्तन्यायेन, अस्वधर्मस्यापि स्वधर्मत्वेनोक्त्या कापट्यं मन्वानो व्यासो भक्तिशास्त्रं निरूपयन् 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोत्रे'ति प्रतिज्ञातवान् । एवं सति भक्तिमार्गीयविहितनिषिद्धाकथनं धर्मशास्त्रे युक्तमेव, भिन्नविषयत्वात् । वात्स्यायनीय इव धर्मशास्त्रीयतदकथनम् । न हि तदार्षमिति धर्मशास्त्रं न तद्बाधकम् । न वा धर्मशास्त्रं बाधकमिति तद्विरुद्धोपदेशो न वात्स्यायनीये । कामरसनिरूपणे हि तत्प्रवृत्तम् । स च यादृशस्तादृशं न्यरूपयदिति न काप्यनुपपत्तिः । प्रकृतेऽपि भगवतोतिदुरापत्वेन स्वातन्त्र्येण स्थितौ स्त्रीणामुत्कटरागेण यथेच्छाचारान्नाशो भविष्यतीति भगवान् धर्ममार्गीयास्ताः कृत्वा विषयरागपूर्तिपूर्वकं तदुक्तनियमस्थाः कृतवान् । न ह्येतावता नायं व्यभिचारः, सहजभर्त्रतिरिक्तभजनात् । अत एवाद्यश्रीमहिष्या गीतम् 'त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् । जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा; या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री'ति । अतस्तद्दुरापत्वेऽपि तदाशया तद्भजनमन्यभजनरहितं कुर्वद्भिरेव सर्वैः स्थेयमिति, भक्तिमार्गनिष्कर्षः । एतास्तु भगवदर्थमेव प्रकटिताः । अतः सुष्ठूक्तं वस्तुतस्त्वित्यादि । यद्वा । धर्मो द्विविधोन्तरङ्गो बहिरङ्गश्च । सोपि प्रत्येकं त्रिविधः । तथाहि । विहितत्वेन क्रियमाणो भगवद्विषयकः श्रवणादिरन्तरङ्गतमो धर्मः, योगादिसाधनैरात्मचिन्तनं तादृक्तरः, 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनमि'ति स्मृतेः । फलानुद्देशेनेश्वरार्पणधिया क्रियमाणो यागादिरन्तरङ्गः । वर्णाश्रमधर्मत्वेन स्वर्गादिफलोद्देशेन क्रियमाणो वैदिको धर्मो बहिरङ्गः । ततस्तुच्छस्वर्गादिफलको विविधस्त्रीपुरुषाधिकारिकपातिव्रत्यादिर्विविधदेवताव्रतादिः स्मार्तो बहिरङ्गतरः । ऐश्वर्यारोग्यादिफलकविविधदेवताग्रहादिभजनरूपः स्मार्तो बहिरङ्गतमः, अत्र पूर्वपूर्वप्राबल्यं ज्ञेयम् । पूर्वपूर्वासम्भव उत्तरोत्तरकर्तव्यता च । प्रेमानन्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणः श्रवणादिर्न धर्मः, तल्लक्षणाभावात् । 'चोदनालक्षणोर्थो धर्म' इति यतस्तल्लक्षणम् । पूर्वोक्ते सर्वत्र प्रवृत्तिनिवृत्त्योस्तत्तदधिकार एव प्रयोजकः । भगवान्मर्यादापुष्ट्योर्मध्ये यं जीवं यस्मिन् मार्गे मनुते तस्मिंस्तस्य तदेवाधिकाररूपं तत्तच्छास्त्रं च तत्तन्मार्गीयधर्मनिरूपकम् । पूर्वोक्ताधिकारवतां स्वस्वाधिकारिकधर्माकरणे च दोषः । अत एव पार्थस्य पुष्ट्यङ्गीकारान्मर्यादामार्गे निषिद्धस्यापि गुर्वादिहननस्याकरणे भगवान् अनिष्टं फलमाह 'अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसी'ति । प्रकृतेऽपि स्त्रीरत्नानामासां पुष्टिपुष्ट्यामङ्गीकार इति न मर्यादामार्गीयधर्मेऽधिकारः । किन्त्वविवाहेऽपि भगवत एव भजने । अत एव मर्यादाधर्मो भगवतोक्तोऽपि नैताभिरङ्गीकृतः । अङ्गीकारे तत्राधिकारस्य हेतुत्वात्, नह्यनधिकारिहृदि धर्मः स्फुरति । एतज्ज्ञापनायैव हि भगवताप्युक्तम् । एतेन मर्यादामार्गीयस्य पुष्टिमार्गीयधर्मानङ्गीकारः इत्यपि ज्ञेयम् । एवं च सति मर्यादामार्गीयो धर्म एतासां परधर्म इति विवाहितपुरुषभजनमपि व्यभिचार एवेत्यभिप्रेत्य तथोक्तम् । सहजभर्तृत्वेऽपि भगवतो विवाहकरणं तु तादृशभक्तनिरोधार्थं तत्तद्रसानुभवार्थं मर्यादास्थापनेन लोकशिक्षार्थं च, अदित्यादीनां लीलार्थं मातृत्वेनाङ्गीकारात्पुत्रभावेनैव भजनं भगवत्प्रापकं कश्यपादिषु च पितृत्वेनाङ्गीकारात्तासां तासां तत्तत्पतिभजनमेव स्वधर्मः । भगवता तथैवाङ्गीकृतत्वात्, न तु तत्र विवाहः प्रयोजकः । तद्विवाहस्य भगवल्लीलोपयोगित्वेन भगवद्विवाहतुल्यत्वादित्यलमधिकोक्त्या ।

—❀—

सुबोधिनी—वस्तुतस्तु। भगवता स्वार्थमुत्पादिताः मध्येकालविलम्बेऽन्यान् गोपालान् भ्रमात्पतिबुद्ध्या गृहीत्वा व्यभिचारं कृतवत्यः, तेन दुष्टा अपि जाताः पुत्राद्युत्पत्त्या, यथाऽहल्या भ्रमात् प्रवृत्ता दुष्यति, अतो जाते दोषेऽयं भावो निवर्तितुं योग्यः, यथा भर्त्रा व्यभिचारिणी त्यज्यत इति। तथापि भगवद्भाव उत्पन्न एवेत्याश्चर्यमित्याह **कृष्णे क्व चैष** इति। **केचित्तु** निवेदनानन्तरं पुनर्गोपसंबन्धात् व्यभिचारमाहुः। बलादपि नाशिता नाशितैवेति। तन्'मन्यमानाःस्वपार्श्वस्थानि'ति भावेनैव तत्पतीनां रमणम्। न तु ताभिः सह, यथा नाशशङ्का स्यात्, तां रीतिं न हि ते तासु कर्तुं शक्ताः, तासामेवानुभावेन भगवता वा भस्मसाद् भवेयुः। **किञ्च**। यदि प्रक्रमानन्तरं दोषः स्याद् भावश्च न भवेत्। तदाह **कृष्ण** इति। न हि सदानन्दे फलरूपे भावो दोषाय, तथा सति फलार्थं **कर्म** कोपि न कुर्यात्। उद्धारार्थं वा परमानन्दः प्रकट इति। तत्र य एतादृशो भावः सोवश्यं सर्वपुरुषार्थसाधक इति ब्राह्मण्यादिरहितानां सर्वपुरुषार्थसाधको भावो जातः। ननु कथमेवमकारणका कार्योत्पत्तिः, विरुद्धस्य वा कारणतेति चेत्तत्राह **नन्विति**। सत्यमेवैतद् विरुद्धमेतदुभयमिति। तथाप्येवं वितर्के **ईश्वरः अविदुषोपि अनुभजतः** स्वानुरूपमेव **श्रेयः** करोति। न तु सेवकानुरूपम्। यद्यप्ययमर्थः लोके वेदेप्यप्रसिद्धः तथापि गोपिकासु दृष्टत्वादेवं वितर्कः, उपपत्तिरीश्वरत्वादेव, ईश्वरो हि क्वचित्सेवां न मन्यते, विपरीतमपि फलं प्रयच्छति, प्रमादादप्यपराधे प्राणानेव वियोजयतीति। क्वचिदधिकमेव फलम् तत्रादृष्टं नियामकमिति चेन् न, ईश्वरत्वभङ्गप्रसङ्गात्। लोके परमेश्वरत्वाभावात् तथाऽविरुद्धमपि भवेत्, भगवति तथा कल्पनायां प्रमाद एव, लोकन्यायेनाप्येकदेशेन दृष्टान्तमाह **अगदराज इवेति**। अमृतं हि प्रमादादप्युपभुक्तं प्रसादं सपादयत्येव, भ्रमादग्निस्पर्शोपि दाहहेतुर्भवति। तथापि कदाचिदेव सजातीयप्रचयसवलित एव, अन्यत्रेश्वरत्वाभावात् श्रेयोव्यभिचारो न दोषाय। न भवति गदो यस्मादिति गदनिवर्तकं वा अगदमौषधम्, सर्वेषां शक्तिरेकत्रप्रतिष्ठिता राजत्वमापादयतीत्यगदराजोऽमृतम्। भगवतः स्वानुरूपमेतदेव, प्रमाणानां तु बलमेकमेव तदपि न परमकाष्ठामापद्यते, अन्यथा केषांचिदेवं स्यात्, अतः प्रमेयबलादेवैवंभाव इति लक्ष्यते। **अनुभजत** इति। भगवदिच्छया भजनमभिप्रेतम्, 'यदेव विद्यया करोती'ति श्रुत्या ज्ञानाभावे भजनं न फलसाधकमिति शङ्कापरिहारार्थमपिशब्दः। साक्षाद् भजत इति विशेषः। अनेन मन्त्रादिद्वारा भजनं तु भजनानुरूपमेव फलतीति सूचितम्। **उपयुक्त** इति। समीपे निःसंदिग्धः सर्वलोके नत्वन्यत्र मिश्रितः।

श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण कृत स्वतन्त्र लेखः

अथवानन्तकथारसस्य किं ब्रह्मजन्मभिरित्युक्ते प्रासाशङ्कायामाह **क्वेमा** इति। आशङ्का तु। ननु स्त्रियः पुरुषमात्रे कामुक्यः स्वभावत एव भवन्ति। भगवांश्च पुरुषोत्तमः। तथा च कामभावेन भगवति भक्तानामेतासां कथं ब्रह्मजन्मादिवद्धचोप्युत्कर्षो युज्यत इति तन्निरासायात्र सर्वाभ्यः स्त्रीभ्यः सर्वेभ्यः पुरुषेभ्यश्चाधिक्यमुपपाद्यते। तत्रापि स्त्रीभावेन भक्तानां कथमुत्कर्ष इति शङ्कानिरासाय प्रथमं स्त्रीभ्यो वैलक्षण्यमुच्यते। **इमाः क्व**, साधारण्यः **स्त्रियश्च क्व**। अल्पसाधर्म्यमप्यन्योन्यं नास्तीत्यसम्भावनापूर्वकं कथनम्। अन्यासु स्त्रीशब्दप्रयोगादेतासु स्त्रीत्वमपि न निरूपयितुं शक्यमिति ज्ञाप्यते। स्त्रीणां कामद्वारैव पुंसि स्नेहस्य नियतत्वात्। एतासामतथात्वात्। यद्यपि कामलीलाप्येतासु निरूप्यते। तथापि न तदुपाधिकः स्नेहोत्र, किन्तु निरुपधिरेव। भगवान् स्वयं तादृग्रसदानार्थं तं भावं संपाद्य तं रसं ददातीत्यवोचाम। वैलक्षण्यमेवाह। **अवनचरीति**। एतास्तु भगवता कालकर्मादिसंबधेभ्यपि सर्वदा रक्ष्यन्ते किं पुनः पुरुषान्तरसंबन्धात् अतःवने रक्षण एव चरन्तीति तथा। पुत्रोत्पत्त्यादिकं तु सर्वभवनसमर्थादलौकिकप्रकाराद्भगवत एव गोपानां तु 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थानि'ति न्यायेन भि-

मानमात्रमेव सर्वत्र, व्यवहारमात्ररक्षयैतद्वार्तागोपनेनैतद्रसपोषणमेवं भगवता क्रियते अतः केवलभगवदीयत्वं नान्यासु। तदेवाह **व्यभिचारदुष्टा** इति स्त्रीणां विशेषणम्। जीवमात्रस्यैव भगवानेव भर्ता, तत्रापि स्त्रीणाम्, तथा चान्येष्वेव सदा तासां संबन्धात्ताः सर्वा व्यभिचारदुष्टा एव। अतो बह्वेव वैलक्षण्यमिति भावः। अतः परं पुरुषेभ्योप्युत्कर्षमाह **कृष्ण** इति। सन्ति नारदब्रह्मादयो भक्ता भगवति भाववन्तस्तथाप्येष भावः क्व तेषु वर्तत इत्यर्थः। चकाराद्व्यभिचारादिदोषरहितायां लक्ष्म्यामपि नायं भावः। एष इति स्वानुभव उक्तः। तेनान्यत्रैतत्सजातीयभावश्रवणस्याप्यभावात्कथमन्यत्रैषोस्तीति मन्तव्य इति भावः। **अथवा**। बर्हापीडेतिश्लोके गोपिकानामेव भावरूपस्तदर्थमेव कोटिकन्दर्पलावण्य प्रकटीकृत्य तद्भोग्यत्वेन प्रकटः कृष्णशब्दार्थ इति विवृतम्। तथा च ब्रह्मादीनां भावो यद्यप्यस्ति तथापि कृष्णे पूर्वोक्तलक्षणे क्व भाव इत्यर्थः। न हि कदाचिद्भगवांस्तद्भोग्यत्वेन तदर्थं प्रकट इति भावः। विषयतो वैलक्षण्यमुक्त्वा स्वरूपतो वैलक्षण्यमाह **एष भावः क्वेति**। अनुभवैकवेद्यो लोकवेदाप्रसिद्ध इत्यर्थः। प्रकारतोपि वैलक्षण्यमाह **परमात्मनि क्वेति**। आत्मा हि प्रियः सर्वत्र प्रियत्वस्य तदुपाधिकत्वात्। एतासां तु आत्मनः सकाशात् परमोधिकः प्रियो यस्तस्मिन् भावः। तेन नात्मार्थं भगवान्प्रियः किन्तु भगवदर्थं स्वात्मेत्यायाति। ब्रह्मादीनां तु भगवान्नियामकत्वेनात्महितकर्तृत्वेनैव प्रियोतो बहुवैलक्षण्यमित्यर्थः। उत्पत्तितोपि वैलक्षण्यमाह **रूढभावः क्वेति**। रूढः सहजो लोकवेदाद्यजनित इत्यर्थः। अत्येषां तु तादृशभाववत्वाद्वैलक्षण्यम्। **किंच**। रूढभावपदेन प्रमाणतो वैलक्षण्यम्। **एष भाव** इति प्रमेयतः। **परमात्मनीति** साधनतः, **कृष्ण** इति फलतश्च। अन्यत्र नैवंरूपत्वमुक्तम्। तथापि भगवतीश्वरत्वेन ज्ञानाभावाल्लौकिकत्वज्ञानस्य च जघन्यत्वात्कथं ब्रह्मादिभ्योत्रोत्कर्ष इत्याशङ्क्याह। **नन्वीश्वर** इति। अत्रायं भावः। फलाधिक्येनैवाधिक्य न तु साधनप्रकारविशेषैः। तच्चैतास्वेव दृष्टं नान्येषु। एतदेवाह विदुषोपीश्वरत्वेन स्वरूपं विदुषोप्यनुभजतः शास्त्रार्थत्वेन ज्ञात्वा भजतः पुरुषस्य साक्षात्स्वयमपीश्वरः किं श्रेयस्तनोतीति काकूक्तिः। किन्तु न तनोतीत्यर्थः। तेषां भगवज्ज्ञानवचनभक्त्यादिभगवद्धर्मैरेवाखिलपुरुषार्थसिद्धिर्न तु स्वयं भगवानागत्य किञ्चित्करोतीति तथा। अस्तु वा कदाचिद्भक्त्यतिशयेन गजेन्द्र इव पुरुषार्थदानम्, **तथाप्यगदराज इव** किं श्रेयस्तनोत्यन्येषु विवक्षितार्थस्यातिगोप्यत्वात् दृष्टान्तव्याजेनाह। **अत्रायमर्थः**। 'एका तदङ्घ्रिकमलं संतप्ताः स्तनयोरधादि'ति-न्यायेन विरहानलसतापहृदयगतस्मररोगशमनाय यथैकैकमङ्गं भगवतः स्वहृदयादिदेशेष्वेताः स्थापयन्ति न तथा ब्रह्मादयः। यत ईश्वरान्नित्यं ते बिभ्यत्येव, तत्राप्येतासु भगवतो न स्वातन्त्र्यं प्राधान्यं वा किन्तु तासामेव, तदाह **उपयुक्त** इति पदेन। यथौषधस्य तापरोगनिवर्तकत्वेनैवोपयोगो न मुख्यत्वम्, पुरुषस्यैव मुख्यत्वं तथेत्यर्थः। यथा रोगनिवृत्त्यनन्तरमपि पोषकं रस्यं च यदि भवत्यौषधं तदा यथेच्छं भोगस्तस्य तथा तत्रापि विरहतापोपशमनानन्तरं यथेच्छं भोग इति ज्ञापनाय राजपदम्। **अथवा**। साक्षाद्यच्छ्रेयस्तत्किं तनोत्यन्येषामिति योजना। इतररागविस्मारकत्वेनास्यैव रसस्य साक्षाच्छ्रेयोरूपत्वादेतदन्येषु तददानात्तथा। **अथवा**। विदुषो जनस्य भगवान् श्रेयस्तनोतीति सत्यं तथापि किमनुभजतो विदुषस्तथाकरणमिति। तत्रानुभजनं भगवद्भजनानन्तरं स्वभजनं'विरचितचाटुवचनरचनमि'त्यादिगीतोक्तन्यायेन। नह्येवं ब्रह्मादिषु संभवति। **अथवा**। प्रतिपदं काकूक्तिर्ज्ञेया। तथाहि। विदुषो जनस्य किमीश्वरः श्रेयस्तनोति। **अयमर्थः**। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थो हीश्वरः। नहि ब्रह्मादिष्वेवं रूपं प्रकटीकृत्य फलं ददाति। एतासु पूर्णकामत्वात्मारामत्वादीन् स्वरूपधर्मानप्यन्यथा कृत्वा ददाति। तेषु वाङ्मर्यादामपि नान्यथा करोतीति तथा। अनुभजतः किं तनोतीति पूर्ववत्, अन्यस्य यच्छ्रेयस्तनोति तत्किं

विदुषस्तनोति किन्त्वविदुष एव तज्ज्ञानानुरूपं श्रेयस्तनोतीत्यर्थः । स्वरूपस्यानन्दरूपत्वात्तस्य चानुभवैकवेद्यत्वेन वाक्चक्षुराद्यवेद्यत्वाद्ब्रह्मादीनां च पुरुषत्वेन भगवददानाच्च साक्षात्स्वरूपानुभवाभावादविद्वत्त्वम् । एतासां तथात्वं प्रसिद्धम् । साक्षाच्छ्रेयोपि किं तनोतीति पूर्ववत् । साक्षात्स्वयं किं तनोतीत्यप्युक्तम् । तनोति किमित्यपि । एषु श्रेयः सकृद्ददाति न तु विस्तारयति । विस्तारणं च तदेकपरचित्तत्वम् । तदर्थैकप्रयत्नत्वादिकम् । तदुक्त 'तत्र मम हृदयमतियत्नमि'ति । 'विशति वितनोरन्यो धन्यो न कोपी'त्यादिना । नह्येवमन्यत्र करोतीति तथा । अगदराज इव किमिति पूर्ववद् उपयुक्तः किं श्रेयस्तनोतीति । न हि ब्रह्मादीनामुपसमीपे एकस्मिन्नासने शयनादौ वा युक्तो भगवान् भवति । यतो भगवद्दर्शनमपि तेषां दुर्लभम् । एतासां तूपयुक्तस्तथेति बह्वेव तारतम्यमित्यर्थः ।

यद्वा ननु भक्तिमार्गेऽन्यभजनराहित्येन भजनं मुख्यमित्येतासां स्वपतिसंबन्धेन कथमेताः परं तनुभृत इत्याशङ्कानिरासायोच्यते । इमाः स्त्रियो व्रजस्त्रियो व्यभिचारदुष्टाः क्व । नेत्यर्थः । तत्र हेतुः अवनचरोरिति । सर्वदा स्वस्य भगवदुपभोग्यतां ज्ञात्वा रक्षणपरा इत्यर्थः । किञ्च । यदि तादृश्यस्तदा कृष्णे एष रूढभावः क्व च । असंभावितत्वात् । तथाहि । रूढपदेन भावस्यानवच्छिन्नत्वमुच्यते । तेनान्तर्बहिर्भेदेनाहर्निशं भगवद्रमणस्य जायमानत्वात्तद्भावरहितत्वं न कदाप्येतासामिति क्व तत्सम्भावनापि । अत्र विवाहितमतिभजनमेव व्यभिचारशब्दवाच्यं तदप्येतासां नास्तीत्युच्यते । ननु 'शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चित्' 'ता वार्यमाणाः पतिभि'रित्यादिकथनात्तत्सबन्धाभावो न वक्तुं शक्यते इति चेत् । न । तत्सम्बन्धस्तासामाभिमानिक एव न तु वास्तवः । 'अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः स्थातुं त्वयाभिरमिता' इत्यत्र 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्था'नित्यत्रापि तथोक्तत्वात् पुल्लिङ्गदारपदेनापि तत्सम्बन्धाभाव एव तासु व्यज्यते । न चाभिमानिकस्यापि तस्य सदोषत्वमेवेति वाच्यम् । स एतावानास' इति । श्रुतेरेतत्सृष्टेः स्वरूपात्मकत्वेन रसार्थं स्थित्यर्थं च प्रभुणैव तथा स्थापितत्वात् । न च भगवत्सम्बन्धात्पूर्वं तथेति वाच्यम् । उक्तोपपत्तेः । न च यथा भगवत्सम्बन्धात्पूर्वं न तथात्वं न तथोक्तहेतोस्तदनन्तरमपीति वाच्यम् । तासां तत्स्वरूपातिरिक्ते तदात्मकत्वास्फूर्तेः । वस्तुतस्तु । फलप्रकरणीयरमणात्पूर्वमपि तासां स्वप्नेषु तत्सम्बन्धः समजनीति लक्ष्यते । अन्यथा 'अस्प्राक्ष्म...त्वयाभिरमिता' इति च सम्बन्धस्य भूतार्थतां न वदेयुः । किञ्च । अन्यसमक्षं स्थातुं न पारयाम इत्युक्त्या यत्रान्यसमीपस्थितिरप्यशक्या तत्र तदनन्तरभाविन्याः कृतेस्तथात्वे किं वाच्यमिति भावो व्यज्यते । तेन तासामेतत्सम्बन्धकालो न कदापीति नोक्तानुपपत्तिः । भगवत्सम्बन्धस्य तु तथात्वं वक्तुमयुक्तम् । सर्वप्रमाणविरोधात् । अन्तर्गृहगतानां तादृशबुद्धियुक्तत्वेन प्रतिबन्धाभावाच्च । परमात्मपदेनाप्येतदेव ज्ञाप्यते । तद्भजनस्यातथात्वात् । ननु पूर्वं ज्ञानादिसाधनवतामेतद्भावाभावेनाकृतार्थत्वोक्त्या तदतिरिक्तं साधनं किमेताभिः कृतं येनैतादृशं फलमित्याशङ्क्याह नन्विति । ईश्वरः साधननैरपेक्ष्येण सर्वकरणसमर्थो विदुषोऽपि ज्ञानयुक्तस्यापि पुरुषस्य 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जित'मितिवाक्यात्केवलज्ञानस्यापुरुषार्थसाधकत्वं ज्ञात्वाऽनुपश्चाद् भजतो भजनं कुर्वतः साक्षात् स्वयं भजनातिरिक्तसाधनानपेक्षः श्रेयः फलं तनोतीत्यर्थः । परं 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति वाक्यात्तदधिकारानुसारेण । अपिशब्देन यत्र स्वार्थसाधनत्वेनापि भजनकर्तुः श्रेयः स्वयं साक्षात्तनोति तत्र तदर्थैकभजनपराणामेतासां साक्षात्स्वयं तत्तनोतीति किं वाच्यमिति ज्ञाप्यते। प्रत्युत 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजा'मित्यत्रैतद्भजनानुरूपस्य श्रेयस एवाभावः सर्वकरणसमर्थेन प्रभुणाप्युक्तः । अत एव यथैतासां तत्तनोति न तथा पूर्वोक्तस्येति ज्ञापनाय दृष्टान्तमाह **अगदराज**

इवेति । अत्रायं भाव: । यथामृतं स्वभजनकर्तुर- भीष्टं साक्षात्स्वयमनुपानादिसाधनव्यतिरेकेणापि तनोति न तु तेनामृतस्य तत्तन्यते । तथा स्वार्थ- साधनत्वेन भजनकर्तुर्ज्ञानिनोऽप्यभीष्टं भगवां- स्तनोति न तु तेन भगवतस्तत्तन्यते । स्वार्थपर- त्वात् । अत्र तु यथैतासामभीष्टं प्रभुस्तनोति तथैता अपि तस्य तत्तन्वन्तीति नानुपपत्ति: काचित् ।

अथवा । निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वेनात्र तदभा- वात्प्रकारान्तरेण व्याख्यायते । **एता: परं तनुभृत** इत्यनेन व्रजसीमन्तिनीनां सर्वोत्कर्षं निरूप्य तत्रै- वोत्तरार्द्धे साधनानां तदसाधकत्वोक्त्या तदभावे कथमेवमेतासामित्याश्चर्यमिव मन्यमानो यत्र भग- वत्कृपया सर्वसाधनरहितासु हीनजातीयासु पुलि- न्दीष्वप्युत्कर्षसिद्धिस्तत्र किं वाच्यमङ्गसङ्गाधि- कारवतीष्वेतास्वित्याशयेनाग्रे पुलिन्दीराह **क्वेमा** इति । इमा स्त्रिय: पुलिन्द्य: क्व । **कृष्णे एष रूढ- भाव: क्व च** । यद्यपि 'ता नमस्यन्निदं जगा'वि- त्युक्तेरेतद्वीक्षणस्य कालान्तरीयत्वेपि भावनया पश्यन्निव वदतीतीमा इति प्रदर्शनम् । यदि पुष्टि- मार्गीयं वा किमपि साधनं भवेत्तदा संभवेदपि । एतासां तदुभयाभावादसंभावितमिवोच्यते । तत्र पुष्टिमार्गीयतदभावायाह **व्यभिचारदुष्टा** इति । अत्रापि व्यभिचारपदं विवाहितपतिभजनपरम् । यतोऽस्मिन्मार्गे साधनं सर्वात्मभावस्तत्र तत्त्याग- स्यापि विहितत्वेनाङ्गीकृति: । 'संत्यज्य सर्वविष- यान्' 'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा'नित्याद्युक्ते: । तेनैतासामेवं भावाभावेन व्यभिचारदुष्टत्वमेवेति पुष्टिसाधनाभाव: सूचित: । मर्यादामार्गीयतदभा- वायाह **वनचरीरिति** । मर्यादायामधिकारिणामेव साधननिष्पत्तिरुच्यते । अतो वनचरीत्वेनातिक्षुद्र- जातीयत्वेनाधिकाराभावात्तदभाव: । जन्मान्तरीयं तदिति नाशङ्कनीयम् । प्रमाणाभावात् । तादृशा- धिकारस्याप्यजातत्वात् । तर्हि कथमेवमेतासा- मिति चेत् तत्रोपपत्तिमाह **नन्विति** । **ईश्वर:** साधनमनपेक्ष्य सर्वकरणसमर्थ: **साक्षात्स्वयं श्रेय-** **स्तनोतीत्यर्थ:** । ननु स्वरूपस्योभयत्र साधनत्वे फलस्याविशेषात् कथमेतदपेक्षयोत्कर्षस्तत्प्रिया- स्वित्याशङ्कानिरासायाधिकारभेदात् फलभेद इत आधिक्यं चेति विशेषणद्वयेनाह, **अनुभजतोऽविदुष** इति । व्रजरत्नप्रियाणां 'स्वागत वो महाभागा' इत्यादितत्कृतनिषेधेऽपि स्वभावदार्ढ्याद् भजन- कर्तृत्वेन नानुभजनं, प्रत्युत मानापनोदनादिषु प्रभोरेव तथात्वमस्ति, न त्वेतासामेतादृशत्वं क्व- चित्सिद्धम् । तत्रापि 'दयितास्तनमण्डितेन कुङ्- कुमेनाननकुचेषु लिम्पन्त्यस्तदाधि जहु'रित्यत्र दयितापदेन व्रजदेवीनामुक्तत्वात्तत्सम्बन्धिकुङ्कु- मेन प्रभुसम्बन्धाधिकारस्य जातत्वाद्भजनादनुभ- जनमेतासां सिध्यती**त्यनुभजत** इत्युक्तम् । किञ्च । 'रसो वै स' इति श्रुतेर्भगवतो रसात्मकत्वेन तत्स्वरूपाभिज्ञत्व 'वीक्ष्यालकावृत'मित्युक्तरीत्या तत्प्रेयसीनामेवोच्यते । एतासां तदभावादविद्वत्त्व- मित्य**विदुष** इत्युक्तम् । विदुष इति पदच्छेदे माहा- त्म्यज्ञानवत्त्वेन तद्भावराहित्यमेव ।'अधिकारानु- सारेण ज्ञानं ज्ञानानुसारेण फलमिति 'मल्लानाम- शनि'रित्यत्रोपपादितम् । एकवचनं जात्यभिप्रायेण सामान्यत्वज्ञापनाय । तादृशभोग्यशरीराभावाय पुल्लिङ्गनिर्देश: । ईश्वरत्वाद् यत्रानधिकारिणोपि श्रेयस्तनोति तत्र किं वाच्यं तास्वित्यपिशब्देन द्योत्यते । तत्र दृष्टान्तमाह **अगदराज इवेति** । न ह्यमृतं सबद्धं सदधिकारिणं विचारयति, तथात्रा- पीत्यर्थ: । अपि च । अत्रामृतादिपदानि विहाय केवलरोगनिवर्तकत्वापादकागदपदोपादानेन पुलि- न्दीनां भगवत्सबंध: स्मररोगशान्त्यर्थमित्यवग- म्यते । 'जहुस्तदाधि'मित्यत्र तन्निवृत्तिमात्रस्यैव मनोरथत्वेन कथनात् । व्रजखनिसमुद्भूतरत्नाना- मेतासां तु विरहदशोत्पन्नस्मररोगापगमे जातेप्यग्रे विविधरतिकेलिकलापैरखिलरसमयप्रियतमस्वरू- पामृतास्वादनं मुख्यमिति नैतद्दृष्टान्तत्वं पूर्वो- क्तस्येति ज्ञेयम् । वस्तुतस्तु । व्रजपरिवृढप्रेयसीनां प्रियवियोगकालीनार्तिरूपस्यापि भावस्य 'ता मन्मनस्का' इत्यादिभगवदुक्त्या तदात्मकत्वेनान- न्दरूपत्वाद् गदत्वमनुपपन्नमिति तथोच्यते । उप-

युक्तपदेनापि पुलिन्दीनामुप समीपे स्थितिरेतासां तु साक्षादङ्गसङ्ग इति महद्वैलक्षण्य सूच्यते। तथा चात्र पुलिन्दाकथनमेव सुष्ठु। यद्यपि 'दृष्ट्वैवमादिगोपीनां'मित्यत्र 'ता नमस्यन्निदं जगा'विस्युक्तेस्तत्प्रसङ्ग एवात्र समायाति। तथाप्युद्धवः कालान्तरे पुलिन्दीष्वपि भगवद्भावानुभाव दृष्टवानिति लक्ष्यते। 'सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमा'नित्यनेन गिरिस्थितानां तासामपि वीक्षणस्यानुक्तसिद्धत्वात्। तथा च। पूर्व मेताः परं तनुभृत' इत्यनेन घोषसीमन्तिनीः स्तुत्वा तत्राश्चर्यमिव मन्वानः पुलिन्दीः स्मृत्वा यत्र तास्वप्येवं तत्र किं वाच्यं तत्प्रियास्वित्याशयेनेदमुक्तमित्यवगम्यते। तेन तासामेवात्र स्तुतिरिति नोक्तानुपपत्तिः। किञ्च। इमा इति प्रदर्श्यैव कथनं प्रभुवल्लभासु नोद्धवस्य संगच्छते। तत्रापि क्वेत्यसम्भावनापूर्वकम्। किञ्च। तासां निरुपधिभाववत्त्वेन स्त्रीत्वकथनमपि नोपपद्यते। स्त्रीणां कामोपाधिकभावस्यैव नियतत्वात्। उद्धवेन वनचरोपदं तदङ्गसङ्गिनीषु न प्रयोक्तुं शक्यम्। द्वितीयविशेषणं वा तत्स्वरूपाभिज्ञत्वात्। अपरञ्च। 'कृष्णस्य दयितः सखा' 'तमाह भगवान्प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्''तं वीक्ष्य कृष्णानुचर'मित्यादिवाक्यैरत्यन्तरङ्गभक्तस्योद्धवस्या सामहो चरणरेणुजुषा'मिति तच्चरणरजःसंबन्धिजन्मप्रार्थनमिति विरुद्धचयते। अतः 'पूर्णाः पुलिन्द्य' इति तासां भगवत्संबन्धस्योक्तत्वादुक्तानुपपत्तेश्च ता एवात्रोच्यन्त इति सर्वमनवद्यम्॥६०॥

व्याख्यार्थ—ये इस प्रकार की गोपिएँ जाति से हीन, फिर वे स्त्रिएँ जन्म से भी निकृष्ट हैं और स्थान करके भी निम्न (नीची) हैं। कारण कि वे वन-वन में फिरती रहती हैं, वन में वास तो उत्तम है, उसको हीन कैसे कहा? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वन में वास तब उत्तम कहा गया है, जब पहले उत्तम कुल में जन्म हो, फिर गृह का त्याग कर भजनार्थ वन में बसे; वह वनवास उत्तम है। यदि केवल वन में रहने से उत्तमता मानोगे तो 'वानर' भी तो वन में रहते हैं, वे भी उत्तम माने जाने चाहिए। श्लोक में 'वनवासिनीः' नहीं कहा है, किन्तु 'वनचरीः' कहा है। जिसका आशय है कि वे स्वच्छन्द घूमनेवाली हैं। दधि आदि के कारण जहाँ-तहाँ भ्रमण करती रहती हैं। रसविक्रय निषिद्ध कर्म है, जिससे इनके द्रव्य आदि पदार्थ भी लेने योग्य नहीं रहे हैं। इनका अन्तःकरण भी शुद्ध नहीं है, जिससे दोषयुक्त है, व्यभिचार से दुष्ट हैं; यों कोई कहते हैं।

○ 'क्वेमाः स्त्रियः' पर श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरणों का स्वतन्त्र लेख ○

'क्वेमाः स्त्रियः' इस श्लोक में व्रजाङ्गनाओं के लिए 'व्यभिचारदुष्टाः' विशेषण दिया है, वह उचित नहीं है। धर्मशास्त्र में विवाहित पुरुष का सेवन करनेवाली स्त्री के लिए कोई प्रायश्चित नहीं बताया है, तो विवाहित पति का सेवन करनेवाली गोपियों को 'व्यभिचारदुष्टाः' कैसे कहा? यदि स्त्री मात्र को ही व्यभिचार दोषवाली मानी जाय, तो उनसे उत्पन्न होनेवाली सन्तान अधर्म जन्य होगी तो उनका अग्निहोत्र आदि धर्मों में अधिकार नहीं होगा। तब तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग का उच्छेद ही हो जायगा और चतुर्वर्ग के वर्णन करनेवाले शास्त्र भी व्यर्थ हो जायेंगे। यदि यह कहा जाय कि चतुर्वर्ग के बोधक शास्त्र, भगवान् के पुत्रों को लक्ष्य करके बने हैं, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं। भगवान् के पुत्रों के लक्ष्य से धर्मशास्त्र नहीं बने हैं। भगवान् की पत्नियों के अतिरिक्त अदिति आदि स्त्रियों के लिए भी भागवत में सतीपद का प्रयोग हुआ है, वह असङ्गत हो जायगा। इस शङ्का का उत्तर 'तत्रायमाशयः' से दिया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र; इन वर्णों के तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम; इनके धर्म देह से सम्बन्ध रखते हैं। धर्मशास्त्र,

इन्हीं देहनिष्ठ धर्मों के वर्णन में प्रवृत्त हुआ है। अतः धर्मशास्त्र दैहिक धर्मों का निरूपण करने वाला है भगवद्धर्म का निरूपण करने वाला नहीं है। जिस तरह दैहिक धर्म के निरूपण का अधिकार धर्मशास्त्र को है उसी तरह भगवद्धर्मों के निरूपण का अधिकार भगवच्छास्त्रों को है। दोनों के अधिकार अलग-अलग हैं। वर्णाश्रमधर्मों में जो स्वधर्म पद का प्रयोग होता है वह अध्यास के द्वारा देह को आत्मा मान लिया है, इसलिये दैहिक धर्म को ही स्वधर्म कह देते हैं। वास्तव में तो आत्मा के धर्म ही स्वधर्म शब्द वाच्य है। 'स्व' शब्द आत्मा का ही वाचक है देह का नहीं। इसीलिये देहाध्यास वाले धर्मशास्त्र के अधिकारी हैं और ब्रह्मज्ञानी धर्मशास्त्र के अधिकारी न होते हुए भी भक्तिमार्ग के मुख्य अधिकारी हैं। यह बात भगवान् के अवतार ग्रहण करने के कारण में, स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की है 'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्। भक्तियोगवितानार्थम्–' आप स्वच्छ हृदय वाले जीवन्मुक्त परमहंसों के हृदय में भक्ति की सृष्टि के लिए अवतार लेते हैं। यही बात व्यासजी के 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' सूत्र से बताई है। मुक्त अर्थात् देहाभिमान से रहित जीवन्मुक्त ही भगवान् को प्राप्त करते हैं। इस भागवतशास्त्र में भी भक्तिमार्ग को लेकर ही सब अर्थों का निर्णय है। भक्ति-मार्ग में तो भगवान् से अतिरिक्त का भजन दोषजनक है ऐसा सिद्धान्त है। भागवत् में भगवान् ने आज्ञायैवं गुणान् दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान्। धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत्स च सत्तमः' यहाँ यही बताया है कि 'मेरे द्वारा बताये गये जो वर्ण और आश्रमों के दैहिक धर्म हैं उनका परित्याग करके जो मेरा भजन करता है वह श्रेष्ठ है'। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दैहिक धर्मों को त्याग कर भगवान् का भजन करना चाहिये। धर्मशास्त्रों ने अस्वधर्म को भी स्वधर्म माना है यह एक प्रकार का कपट है। इसी को लक्ष्य करके व्यासजी ने भक्तिशास्त्र (भागवत्) का निरूपण करते समय यह प्रतिज्ञा की कि 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र–' इस भागवत् में, जिस में किसी प्रकार का कपट नहीं, ऐसा धर्म (भगवद्धर्म) हो इसमें जानने योग्य है। इसीलिए भक्तिमार्ग में जिसका विधान है अथवा जिसका निषेध है उसे धर्मशास्त्र नहीं बताता। बताये भी कैसे ? क्योंकि दोनों का मार्ग ही भिन्न है। वात्स्यायनीय कामशास्त्र में जिस तरह धर्मशास्त्र की बात नहीं कही है। जिस तरह ऋषि प्रणीत धर्मशास्त्र का कामशास्त्र बाधक नहीं है, उसी तरह कामशास्त्र का बाधक भी धर्मशास्त्र नहीं है। वात्स्यायनीय कामशास्त्र भी ऋषिप्रणीत है इसलिये उसमें धर्मशास्त्र के विरुद्ध जो उपदेश हैं उसका बाधक धर्मशास्त्र नहीं है। क्योंकि दोनों का विषय अलग-अलग है। कामशास्त्र केवल कामरस का निरूपण करने के लिए ही बना है, इसलिये कामरस जैसा है वैसा उसका निरूपण वात्स्यायन ने किया है इसमें किसी का कोई विरोध नहीं है।

यहां भी भगवान् की प्राप्ति सहज नहीं है और जब तक भगवान् इन व्रजाङ्गनाओं को प्राप्त नहीं होंगे उतने समय तक ये स्वतन्त्र रहेंगी, तो उत्कट अनुराग के कारण यथेच्छाचरण से इनका नाश हो जायगा, इसलिये भगवान् ने इनको धर्ममार्गीय करके, विषयरागपूर्ति पूर्वक, धर्मशास्त्रीय नियम में स्थिर कर दिया। ऐसा करने पर भी उनमें व्यभिचार दोष नहीं आया, ऐसा तो नहीं कह सकते। क्योंकि सहजभर्त्ता तो भगवान् हैं, उन्होंने उनसे भिन्न विवाहित गोपों का ही भजन किया, वह भी व्यभिचार ही हुआ। इसीलिये मुख्य पटरानी श्री रुक्मिणीजी ने कहा कि 'यह मनुष्य का शरीर जीवित होने पर भी मुर्दा ही है। ऊपर से चमड़ी, दाढी, मूंछ, रोएं, नख और केशों से ढका है, किन्तु इसके अन्दर मांस, अस्थि, रक्त, कीड़े, मल, मूत्र, कफ, पित्त और वायु भरे हैं, इसे, वही मूर्ख स्त्री अपना प्रियतम मानकर सेवा करती है। जिसने आपके चरणारविन्द के मकरन्द को

सुगन्ध कभी नहीं सूंघी है'। इसलिये भले ही भगवान् की प्राप्ति कठिन हो, तथापि भगवान् की प्राप्ति की आशा से अन्य का भजन न करते हुए केवल भगवान् का ही भजन करते रहना यह भक्तिमार्ग का निष्कर्ष (निचोड़) है। इन व्रजाङ्गनाओं को तो भगवान् ने अपने ही लिये प्रकट किया था, परन्तु मध्य में कालविलम्ब होने से, उन्होंने भ्रम से, पति बुद्धि से ही, विवाहित पति से व्यभिचार किया और उन विवाहित पतियों से सन्तान भी उत्पन्न की, इससे वे दुष्ट भी हुईं यह बात सुबोधिनी में 'वस्तु तस्तु' से बताई।

अथवा धर्म दो प्रकार का है एक अन्तरङ्ग दूसरा बहिरङ्ग। इसमें प्रत्येक तीन तीन प्रकार का है। (१) विधिबोधित होने से किया जानेवाला भगवद्विषय श्रवणादि धर्म अन्तरङ्गतम है। (२) योगादि साधनों से आत्मचिन्तन को अन्तरङ्गतर धम कहा है 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' योग के द्वारा आत्मदर्शन करना ही परमधर्म है, यह याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा है। (३) फल को लक्ष्य न करके ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाने वाला यागादि अन्तरङ्गधर्म है। इसी प्रकार (१) वर्ण और आश्रम का धर्म होने से स्वर्ग आदि की प्राप्ति की इच्छा से किया जाने वाला धर्म बहिरङ्ग है। (२) इससे भी निम्न श्रेणी का जो, जिसका स्वर्ग प्राप्तिफल है अनेक प्रकार के स्त्री-पुरुष जिसके अधिकारी हैं ऐसा पातिव्रत्य आदि और अनेक देवताओं के व्रत आदि हैं। जो स्मृति द्वारा बताया गया है वह बहिरङ्गतर धर्म कहा जाता है। (३) जो ऐश्वर्य प्राप्ति, आरोग्य लाभ आदि फल के लिये अनेक प्रकार के देवताओं का भजनरूप स्मार्त धर्म है वह बहिरङ्गतम है। इन छ प्रकार के धर्मों में पूर्व से पूर्व धर्म में प्रबलता है। अर्थात् बहिरङ्गतम से बहिरङ्गतर प्रबल है बहिरङ्गतर से बहिरङ्ग। इसी तरह बहिरङ्ग से अन्तरङ्ग धर्म, अन्तरङ्ग से अन्तरङ्गतर; अन्तरङ्गतर से भी अन्तरङ्गतम श्रेष्ठ है। यद्यपि इनसे पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ हैं परन्तु उनका आचरण यदि असम्भव हो तो उत्तरोत्तर-धर्म को करना चाहिये। प्रेम के अनन्तर व्यसन से किया जाने वाला श्रवणादि, धर्म नहीं है, क्योंकि उसमें धर्म का लक्षण नहीं है, धर्म का लक्षण तो 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, यह है। अर्थात् जो विधि (आज्ञा) से किया जाता हो वह धर्म है जैसे 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' प्रतिदिन सन्ध्या करो। अन्तरंग और बहिरंग धर्मों में प्रवृत्ति होना या न होना इसमें अधिकार कारण है। मर्यादा मार्ग या पुष्टि-मार्ग इन दोनों में से भगवान् जिस जीव को जिस मार्ग का मानते हैं वही मार्ग उसका अधिकार रूप होता है और उन-उन मार्गों का निरूपण करने वाले उनके शास्त्र हैं। इसलिये पूर्व में बताये गये अपने-अपने अधिकार के धर्मों के न करने में दोष है। भगवान् ने अर्जुन को पुष्टिमार्ग में अंगीकार किया था इसलिये धर्मशास्त्र में जिसका निषेध है उस गुरुहनन कार्य के न करने पर भगवान् ने उसका अनिष्ट-फल कहा 'अथ चेत्त्वमहंकारान्त श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि' यदि अहकार (अभिमान) से मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा। यहां भी इन स्त्रीरत्नों को 'पुष्टि-पुष्टि' में अंगीकार किया है इसलिये मर्यादा मार्गीय धर्म में उनका अधिकार नहीं है। किन्तु विवाह के पूर्व भी भगवान् के भजन में ही उनका अधिकार है। इसीलिये स्वयं भगवान् का कहा हुआ 'दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जडोरोग्यधनोऽपि वा' अपना विवाहित पति बुरे स्वभाव का, भाग्यहीन, बूढा, मूर्ख, रोगी, निर्धन भी हो, तथापि उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। इस प्रकार का धर्म का उपदेश भगवान् ने दिया उसको उन गोपियों ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनका मर्यादा-मार्गीय धर्म में अधिकार नहीं था और अनधिकारी के हृदय में धर्म कभी भी स्फुरित नहीं होता है। इसी बात को बताने लिये भगवान् ने भी उपदेश दिया था। जिस तरह पुष्टिमार्गीय, मर्यादा-मार्गीय धर्म को अंगीकार नहीं

करते, उसी तरह मर्यादा-मार्गीय भी पुष्टि-मार्गीय धर्म को अंगीकार नहीं करते। इससे यह स्पष्ट है कि गोपियों के लिये मर्यादा-मार्गीय धर्म परधर्म है इसलिये उनके लिये विवाहित पुरुष का भजन भी व्यभिचार ही है अतएव उन गोपियों को 'व्यभिचार दुष्टाः' कहा वह ठीक ही है। जब भगवान् ही स्त्रियों के सहज पति हैं तो भगवान् के साथ रुक्मिणी आदि का विवाह क्यों हुआ ? विवाह के द्वारा ही जिनका निरोध अभीष्ट है, उन-उन रसों का अनुभव हो एवं मर्यादा स्थापन तथा लोक-शिक्षा भी हो इसलिये विवाह किया। अदिति आदि में सतीत्व कैसे कहा उसका समाधान करते हैं। भगवान् ने अदिति आदि को अपनी लीला के लिये मातारूप से अंगीकार किया था इसलिये उनके लिये भगवत्प्राप्ति पुत्रभाव से भजन करने पर ही होती है और कश्यप आदि को भगवान् ने पितारूपसे अंगीकार किया है इसलिये अदिति आदि को कश्यप आदि का पतिभाव से भजन ही स्वधर्म है। क्योंकि भगवान् ने उनको उसी रूप से अंगीकार किया है। केवल विवाह हुआ है इससे ही कश्यप आदि एवं अदिति आदि पति-पत्नी नहीं माने गये हैं। उनका विवाह तो भगवान् की लीला में उपयोगी है अतः भगवान् के विवाह के समान ही है। (लेख समाप्त)

आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि वास्तव में तो इनको भगवान् ने अपने लिए ही प्रकट की थी, परन्तु मध्य में समय में देरी हो जाने से अन्य गोपों को भ्रम से पति बनाकर उनसे संभोग द्वारा पुत्र आदि उत्पन्न कर लिए, जिससे वे व्यभिचारिणी और दुष्ट कही जाती हैं। जिस प्रकार अहल्या वृहस्पति के भ्रम से प्रवृत्त हुई तो भी दूषित कही गई। अतः दोष हो गया तो वैसे दोष को मिटाना ही योग्य है। कारण कि इस दोष से वे दुष्ट नहीं हो गईं, जो त्याज्य हों यदि दुष्ट हो जाती तो यह जो कृष्ण में भाव है, वह निवृत्त हो जाता, उसके निवृत्त न होने से त्याज्य नहीं है। जैसे व्यभिचारिणी स्त्रियां त्याज्य होती हैं। व्यभिचार - दुष्ट कही जाने वाली इन गोपियों में भगवद्भाव उत्पन्न होना ही आश्चर्य है। कहां कृष्ण निर्दोष-पूर्ण विग्रह और कहां इन व्यभिचार-दुष्टाओं का उनमें इस प्रकार का प्रेम-पूर्ण दृढ़-भाव ?

किन्हीं का मत है कि भगवान् में निवेदित होने के अनन्तर गोपों से जो इनका सम्बन्ध हुआ, जिससे वे व्यभिचारिणी हैं, क्योंकि बल से भगाई को भी भगाई ही कहा जाता है। जिसके उत्तर में कहते हैं कि निवेदन के पश्चात् उनका गोपों से सम्बन्ध हुआ ही नहीं है, जैसा कि कहा है 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्' गोपों ने केवल यों मानलिया कि हमारे पास वे हैं अर्थात् भावना-मात्र से ही उन्होंने यों समझा, किन्तु वास्तव में उनके साथ संभोग नहीं हुआ। यदि हुआ होता तो वे गोपियों के प्रभावसे अथवा भगवान् के द्वारा भस्म हो जाते, यों न होने से निश्चय समझना चाहिए कि व्यभिचार हुआ ही नहीं हैं।

जो भाव करने के अनन्तर वैसा दोष होवे तो, फिर भगवान् में भाव ही न रहे। कारण कि जिसमें इन्होंने भाव किया है, वह साधारण नहीं है, किन्तु सदानन्द कृष्ण हैं। जिनमें भाव होने के पश्चात् दोष होता ही नहीं है। अर्थात् अन्य में मन जाता ही नहीं है और वे सदानन्द फलरूप हैं। उनमें भाव होना दोष रूप नहीं है। यदि उनमें भाव होना दोषरूप होवे, तो फल के लिए कोई भी कर्म न करे। यह परमानन्द रूप स्वरूप तो उद्धार के लिए ही प्रकट हुआ है। उसमें जो ऐसा भाव, वह सर्व पुरुषार्थ का साधक है। इस प्रकार ब्राह्मण्यादि देवता रहितों में सर्व पुरुषार्थ साधक यह भाव प्रकट हुआ है। बिना कारण से कार्य (भाव) की उत्पत्ति कैसे हुई ? अथवा विरुद्ध कारण से उनमें भावरूप कार्य कैसे उद्भव हुआ ? यदि यों कहा जाय तो उसका उत्तर यह है, कि आपका

कहना सत्य है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध दीखते हैं, तो भी जो भक्त इस प्रकार तर्कों की खटपट से अनजान है और ईश्वर में दृढ़-भाव करता है उसका कल्याण भगवान् अपनी योग्यता के अनुसार ही करते हैं न कि सेवक की योग्यता के समान करते हैं। यद्यपि यह विषय लोक और वेद में भी प्रसिद्ध नहीं है, तो भी गोपिकाओं में यह प्रत्यक्ष देखने में आया है, अतः वितर्क में यह एक ही उपपत्ति है कि श्रीकृष्ण ईश्वर होने से कर्तुं, अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं। अतः कहीं सेवा को स्वीकार नहीं करते हैं, कहीं विपरीत फल भी देते हैं, भूल से भी अपराध हो जावे तो प्राणों का वियोग करते हैं, कहीं तो अधिक फल भी देते है। यदि कहो कि यों होने से प्रारब्ध ही नियामक है तो इस पर कहते है कि प्रारब्ध नियामक नहीं है क्योंकि उसको नियामक मानने से ईश्वर में ईश्वरत्व ही न रहेगा। कारण कि ईश्वर तो स्वतन्त्र कर्तुं, अकर्तुं तथा अन्यथा कर्तुं करने की सामर्थ्य वाला होता है, अदृष्ट को नियामक मानने से ईश्वर कर्माधीन होने से स्वतन्त्र न रहेगा तो फिर श्रीकृष्ण ईश्वर कैसे ? अतः अदृष्ट नियामक नहीं है, ईश्वर को कोई नियम में चलाने वाला नहीं है, भगवान् में दोषों की कल्पना करने से जीव को दोष लगता है, अतः यों करना भूल है। लोक न्याय से एक देशीय दृष्टान्त देते हैं 'अगदराज इव' अमृत यदि भूल से पीया हो तो भी अमर बनाता है, भूल से अग्नि का स्पर्श हो जावे तो वह जला देती है, इन दो दृष्टान्तों का अभिप्राय बताते हैं कि अग्नि तब जलाने का कारण होती है जब वह अपने सजातीय काष्ठ के समूह के साथ मिली हुई होती है यदि अग्नि विजातीय जल-समूह से मिले तो दाह का कारण नहीं बन सकती। दूसरे में ईश्वरत्व न होने से उससे श्रेय नहीं हो सकता है। वहां व्यभिचार दोष उत्पन्न करता है। भगवान् जीव में अन्यथा करे तो भी दोष नहीं है। रोग को मिटाने वाले पदार्थ को अगद कहते है। जहां सर्व पदार्थों की शक्ति इकट्ठी होती है, उसको अगदराज अर्थात् 'अमृत' कहते हैं। भगवान् के योग्य तो यह ही दृष्टान्त है, प्रमाणों का बल तो एक ही है, वह भी अन्तिम नहीं है, अतः वह तो बहुतों को प्राप्त होता है। यदि अन्तिम होता तो कदाचित् किसी को प्राप्त होता। अतः जाना जाता है कि गोपियों को जो यह ऐसा भाव उत्पन्न हुआ है, वह भगवान् के प्रमेय बल से ही उत्पन्न हुआ है। 'अनुभजतः' का भावार्थ है कि भगवान् की इच्छानुसार सेवा करनी, श्लोक में दिये हुए 'अपि' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि 'यदेव विद्यया करोति' इस श्रुति के अनुसार ज्ञान के बिना जो भजन किया जायगा वह फल साधक[1] न होगा, तो गोपियों को ज्ञान बिना भजन; कैसे सिद्ध हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अपि' शब्द दिया है। अर्थात् जो भक्त साक्षात् समीप में विशेष भजन करता है, उसको किसी अन्य ज्ञानादि साधन बिना प्रभु-प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। साधन भी स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। मन्त्र आदि द्वारा किया हुआ जो भजन है तो उस भजन के अनुरूप ही फल मिलता है। जैसे स्वयं अमृत अन्य की मिलावट बिना भी, समीप में सेवन करने वाले का निश्चित श्रेय करता है वैसे ही गोपिकाएं भगवान् के समीप रहकर एवं अन्य साधन-रहित हो शुद्ध-भाव से विश्वास पूर्वक भजन करतीं थीं यह लोक प्रसिद्ध है, इसलिये 'उपयुक्त' शब्द दिया है, अतः उनका श्रेय स्वयं भगवान् ने किया, जिसमें कहना ही क्या है ॥६०॥

○ श्री मद्विट्ठलेश प्रभुचरण का स्वतन्त्र लेख ○

अथवा 'अनन्तकथारसस्य किं ब्रह्मजन्मभिः' इससे जो गोपियों में ब्रह्मादि से भी विशेषता

१- देने वाला।

बताई है उसका उत्तर 'क्वेमाः स्त्रियः–' से दिया है। स्त्रियां स्वभाव से ही पुरुष मात्र में कामवासना वाली होती हैं और भगवान् तो पुरुषोत्तम हैं अतः उन भगवान् की कामवासना से भक्ति करने वाली गोपियों का ब्रह्मा आदि से उत्कर्ष कैसे हो सकता है इस आशङ्का का समाधान करने के लिये 'क्वेमाः स्त्रियः' इससे, सब स्त्रियों से और सब पुरुषो में उन गोपियो में श्रेष्ठता बताते है। उनमें भी स्त्रीभाव से भक्ति करने वाली इन स्त्रियों में स्त्रियों से पहले विशेषता बताते हैं 'इमाः क्व' अर्थात् कहां तो ये साधारण स्त्रियां और कहां व्रजाङ्गनाएं, इनमें आपस में जरासी भी समानता नहीं है। यदि अन्य स्त्रियों को स्त्री कहा जाता है तो, इन व्रजांगनाओं को स्त्री भी नही कह सकते, क्योंकि सामान्य स्त्रियों में जो स्त्रीत्व (स्त्रीधर्म) है वह इनमें नहीं है। क्योंकि स्त्रियों का पुरुष में स्नेह कामवासना के द्वारा ही होता है ऐसा नियम है। इन गोपांगनाओं में जो भगवान् के प्रति प्रेम है वह कामवासना से नहीं है। यद्यपि कामलीला का भी इन में निरूपण है परन्तु वह स्नेह काम द्वारा नहीं है, स्वाभाविक हैं। भगवान् स्वयं ही उन गोपियों को कामलीला का रस देना चाहते हैं इसलिए उनमें वैसे भाव को सम्पादित करके कामरस का दान करते हैं। विलक्षणता को 'भवनचरी' पद से बताते हैं। इन व्रजांगनाओं की भगवान् कालकर्म आदि सम्बन्ध से भी सदा रक्षा करते रहते हैं तो क्या अन्य पुरुषों के सम्बन्ध से उन्हें नहीं बचायेंगे ? वे तो सदा भगवान् की रक्षा में ही रहती हैं। यदि यह आशङ्का हो कि उन गोपियों के भी पुत्र उत्पन्न हुए, क्या बिना गोपों के सम्बन्ध से ही पुत्र हो गये ? इसका उत्तर देते हैं कि भगवान् में सर्वभवन सामार्थ्य है अर्थात् भगवान् सब कुछ बन सकते हैं इसलिये भगवान् गोपरूप में भी हो सकते हैं तो वे पुत्र गोपों के न होकर भगवान् के ही हैं अथवा अलौकिक प्रकार से भी वे भगवान् के ही पुत्र हैं गोपों के नहीं। गोप तो महारास में सम्मिलित अपनी स्त्रियों को अपने पास ही सोई हुई मान रहे थे यह 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्-' से स्पष्ट है। अर्थात् गोपों को केवल अभिमान मात्र ही था वास्तव में वे उनकी पत्नियां नहीं थीं। भगवान् ने ही व्यवहार रक्षा के लिये और इस बात का किसी को पता न लगे तथा रसपोषण हो इसलिये केवल भगवदीयता उनमें रक्खी अन्य स्त्रियों में नहीं। अतः 'व्यभिचारदुष्टाः' यह विशेषण सामान्य स्त्रियों के लिए है गोपीजनों के लिए नहीं। जीवमात्र के भगवान् पति हैं, उनमें भी स्त्रियों के तो पति हैं ही व्रजांगनाओं से भिन्न जो दूसरी स्त्रियां हैं उनका सम्बन्ध सदा अन्य पुरुषों से ही हैं इसलिए वे व्यभिचारदुष्टा ही हैं। अतः गोपीजनों में और सामान्य स्त्रियों में बहुत ही विलक्षणता है। वे गोपियां स्त्रियों से उत्कृष्ट थी यह बता दिया। अब पुरुषों से भी वे गोपियां उत्कृष्ट थीं। यह 'कृष्णे' पद से बताते हैं। सदानन्द भगवान् के नारद ब्रह्मा आदि अनेक भक्त हैं परन्तु गोपियों के समान उन नारदादिकों का भाव कहां है। यहां तक कि व्यभिचार आदि दोष जिसमें नहीं है उस लक्ष्मी में भी ऐसा भाव नहीं है यह 'च' पद से बताया है। 'क्व चैष' में जो 'एष' पद है उससे उद्धवजी ने यह अपना अनुभव बताया। अर्थात् गोपीजनों के समान किसी में भाव है, ऐसा सुना तक नहीं तो देखने को तो कहां मिले।

अथवा 'बर्हा पीडं नटवर वपुः' इस श्लोक में वर्णित भगवान् का स्वरूप गोपिकाकों के भाव के अनुसार है। भगवान् ने गोपिकाओं के लिए ही कोटिकन्दर्पलावण्य को प्रकट किया और सदानन्द भगवान् उन गोपिकाओं के भोग्य-रूप से प्रकट हुए यह कृष्णपद से स्पष्ट होता है। यद्यपि ब्रह्मादि देवताओं का भाव भगवान् में है तथापि गोपियों के समान नहीं है। भगवान् गोपियों के लिये भोग्य-रूप से जैसे प्रकट हुए क्या कभी उसी तरह से ब्रह्मादि के लिए प्रकट हुए ?

विषय से विलक्षणता बताकर स्वरूप से विलक्षणता बताते हैं 'एष भावः क्व' यह भाव लोक वेद में अप्रसिद्ध है केवल अनुभव से ही जानने योग्य है।

प्रकार से विलक्षणता 'परमात्मनि क्व' से बताई है। सबको आत्मा ही प्रिय है, जहां जहां प्रियता होगी उस में आत्मोपाधि अवश्य होगी। अर्थात् हम शरीर को आत्मा मानते है इसलिए हमें शरीर प्रिय है पुत्रादिकों को आत्मा मान लिया है। इसलिए पुत्रादि हमें प्रिय हैं, परन्तु गोपियो को तो आत्मा से भी अधिक प्रिय भगवान् है उन भगवान् में उनका भाव है। इन गोपियों को आत्मा (अपने लिये) के लिये भगवान् प्रिय नहीं है किन्तु इनकी आत्मा भगवान् के लिये है इसलिये वह आत्मा इन्हें अच्छी लगती हैं। ब्रह्मादिकों को तो भगवान् इसलिये प्रिय हैं कि भगवान् उनके नियामक हैं तथा उनका हित करते हैं।

उत्पत्ति से विलक्षणता बताते हैं 'रूढभावः क्व' लोक वेद से उत्पन्न न होने वाला सहज भाव उनमें उत्पन्न था। अन्य में ऐसा भाव न होने से भाव की उत्पत्ति से विलक्षणता हुई। अथवा 'रूढभावः क्व' इस पद से प्रमाण से विलक्षणता बताई। और 'एष भावः' इससे प्रमेय से। तथा 'परमात्मनि' से साधन से, 'कृष्णे' फल से विलक्षणता बताई। अन्यत्र इस प्रकार की विशेषता नहीं है। इतना सब होते हुए भी गोपियां भगवान् को ईश्वर नहीं जानती थी उनका तो लौकिक ज्ञान ही था लौकिक ज्ञान तो निम्न श्रेणी का है फिर गोपियों को ब्रह्मा आदि से उत्कृष्ट बताना कैसे उचित है? इस आशङ्का का उत्तर 'नन्वीश्वरः' से देते हैं। यह आशय है कि फल की अधिकता से ही गोपियों को ब्रह्मादि देवता से अधिक बताया है। साधन विशेष अथवा अन्य प्रकार विशेष से उनमें उत्कर्ष नहीं बताया। फल की अधिकता गोपियों में है अन्य में नहीं। जो भगवान् को शास्त्र के द्वारा ईश्वर जानते है और ईश्वर स्वरूप से भगवान् का भजन करते हैं तो क्या ईश्वर उनका श्रेय करते है? कदापि नहीं। उनके पुरुषार्थों की सिद्धि तो भगवान् के ज्ञान से, भगवान् के वचन (वरदान) से अथवा भगवद्भक्ति से ही होती है। भगवान् स्वयं आकर उनका कुछ नहीं करते। कभी कभी भक्ति की उत्कटता से गजेन्द्र जैसे के लिये स्वयं भगवान् पधारकर ही पुरुषार्थ का दान करते है तथापि जिस श्रेय का दान गोपियों को किया है उस श्रेय का दान अन्य को नहीं करते। यह बात अत्यन्त गोप्य हैं उसे 'अगदराज इवोपयुक्तः इस दृष्टान्त से बताई है। गोपियां विरहानलसंताप हृद्गतकाम-रोग को शान्त करने के लिये भगवान् के एक एक अंग को अपने हृदय आदि देशों में स्थापित करती हैं क्या ब्रह्मादि ऐसा कर सकते हैं? ब्रह्मादि तो सदा भगवान् से डरते रहते हैं। यहां तो गोपियों की मुख्यता है भगवान् की नहीं। गोपियों के विषय में भगवान् स्वतन्त्र अथवा प्रधान नहीं भगवान् के विषय में गोपियों की स्वतन्त्रता अथवा प्रधानता है। इस बात को 'उपयुक्तः' पद से बताया है। जैसे ताप और रोग की निवृत्ति में औषध का उपयोग मुख्य नही है। औषध के उपयोग करने वाले पुरुषने की मुख्यता है उसी तरह यहां गोपियों की मुख्यता है भगवान् की नहीं। यदि औषध का उपयोग करा वाला पुरुष चाहे तो रोगनिवृत्ति के अनन्तर भी रसायन औषध का सेवन कर सकता है। इसी तरह यदि गोपियां चाहें तो विरहताप शान्ति के अनन्तर भी भगवान् का इच्छानुसार भोग कर सकती हैं। इसी बात को बताने के लिये केवल 'अगद' पद न देकर 'अगदराज' पद दिया है।

अथवा 'साक्षात् यत् श्रेयः तत्किं तनोति अन्येषाम्' ऐसी योजना करना। जो भगवान् के अधरामृत का एक बार भी आ वादन कर लेता है उसका अनुराग फिर कभी अन्य से होता ही नहीं।

इस प्रकार का साक्षात् श्रेयो रूप जो रस है उसे गोपियों के सिवाय किसी को भी नहीं देते।

अथवा जो भगवान् को ईश्वर जानता है उस का भगवान् श्रेय करते हैं यह सत्य है तथापि जो ईश्वर को जानता है और अनुभजन करता है उसका श्रेय नहीं करते हैं क्या ? अनुभजन का अर्थ है भगवद्भजन के अनन्तर स्वभजन जैसा कि गीतगोविन्द में विरचित चाटुवचन रचनं चरणरचित प्रणिपातम्' से बताया है। 'हे राधे ! मधुर वचन बोलने वाले, चरणों में गिरने वाले मधुमथन का अनुसरण कर।' ब्रह्मादि से भी क्या भगवान् कभी मधुरवचन की रचना करते हैं और चरणों में प्रणिपात करते हैं।

अथवा प्रत्येक पद में काकु है–क्या ज्ञानी जन का ईश्वर श्रेय करता है ? भगवान् कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वर हैं। ब्रह्मादि के लिये भगवान् ऐसा रूप प्रकट कर के फल नहीं देते। इन गोपियों के लिये तो भगवान् अपने पूर्ण काम आत्माराम आदि स्वरूप धर्मों को भी बदल देते हैं और उन गोपियों को अपने स्वरूप धर्म के विपरीत फल देते हैं। ब्रह्मादि देवताओं के लिये स्वरूप को अन्यथा करना तो दूर रहा भगवान् अपनी वाणी की मर्यादा को भी नहीं बदलते। अनुभजन करने वाले को भगवान् क्या देते हैं यह पूर्व में बताया है। अन्य के लिये जो भगवान् श्रेय करते हैं क्या यों ज्ञानी का करते हैं ? नहीं किन्तु वे अज्ञानी का करते हैं और वह भी उनके ज्ञान के अनुरूप ही करते हैं। भगवान् का स्वरूप आनन्दमय है आनन्द का ज्ञान अनुभव से होता है वाणी, चक्षु आदि से उसका ज्ञान नहीं हो सकता ब्रह्मादि देवता पुरुष है अतः भगवान् उन्हें अपने स्वरूप (आनन्द) का दान नहीं करते इसलिये उन्हें स्वरूप का साक्षात् अनुभव नहीं होता अतः वे अज्ञानी कहे जाते हैं। गोपियों को तो भगवान् के स्वरूप (आनन्द) का अनुभव है इसलिये उन्हें ज्ञानी कहा गया है। भगवान् साक्षात् श्रेय भी क्या देते हैं और साक्षात् स्वयं क्या करते हैं ये सब पहले बताया जा चुका है। किस का विस्तार करते हैं इसका वर्णन आ चुका है। ब्रह्मादि के लिये भगवान् श्रेयोदान एक बार कर देते हैं परन्तु उस श्रेय का विस्तार नहीं करते, उन्हीं में चित्त की एकतानता होना ही प्रेम का विस्तार है। और सभी प्रयत्न उन्हीं के लिये हो, यह भी श्रेय का विस्तार है। जैसा कि गीत-गोविन्द में कहा है 'तत्र मम हृदयमतियत्नम्'। 'विशति वितनोरन्यो धन्यो न कोपि'। अर्थात् आपको ही प्रसन्न करने के लिये मेरा हृदय प्रयत्न करता है, हे सन्तप्ते: ! तुम इस आशङ्का को दूर हटा दो कि मेरे हृदय में किसी अन्य कामिनी का प्रवेश है। मेरे हृदय में तो केवल तुम ही व्याप्त हो रही हो इसलिये जिसका शरीर नहीं है ऐसे काम के अतिरिक्त और किसी का प्रवेश नहीं है। इस प्रकार का श्रेय कभी भी अन्य के लिये नहीं करते। ब्रह्मादिकों के लिये उपयुक्त अगदराज (श्रेष्ठ औषधि) की तरह भगवान् श्रेय नहीं करते। 'उप' का अर्थ समीप है अर्थात् ब्रह्मादिकों के उप समीप में एक आसन अथवा एक शयन पर भगवान् युक्त 'मिलते' नहीं। ब्रह्मादिकों के लिये तो भगवान् के दर्शन भी दुर्लभ हैं। ये गोपियां तो भगवान् का उपयोग करती हैं। अतः गोपियों में और ब्रह्मादि देवताओं में बहुत ही तारतम्य है।

अथवा भक्तिमार्ग में दूसरे का भजन न करते हुए भगवान् का ही भजन करना मुख्य है। इन गोपिकाओं का तो अपने पति के साथ भी सम्बन्ध था फिर इनकी 'एताः पर तनुभृतः' से कैसे प्रशंसा की। अर्थात् शरीर धारण करने वालों में से गोपियां ही मुख्य हैं ऐसा कैसे कहा ? इस का उत्तर

'इमाः स्त्रियो व्रजस्त्रियो व्यभिचार दुष्टाः 'क' ये व्रजस्त्रियां व्यभिचारदुष्ट कैसे हो सकती हैं। व्यभिचार से दुष्ट न होने में 'अवनचरीः' कारण है। वे गोपियां सर्वदा अपने को भगवान् की उप-भोग्या मानती थीं इसलिये सदा अपने को अन्य से बचाये रहती थीं। यदि वे व्यभिचारदुष्ट होती तो उनका भगवान् में ऐसा भाव कैसे होता। 'स्वदभावाः' में स्वद पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि उन गोपियों में भगवद्भाव अनवच्छिन्न (कभी न टूटने वाला) था। इसलिये उन गोपियों में भगवान् का रमण बाहर भीतर तथा रातदिन होता रहता था तो उन में भगवद्भाव से रहितता आई कैसे ? उसकी तो कोई सम्भावना ही नहीं है। यहां पर जो विवाहित पति के सम्बन्ध के कारण जो व्यभिचार शब्द से कहा जाने वाला दोष है वह इनमें सर्वथा नहीं है। शङ्का करते हैं कि भगवान् ने जब गान किया 'तब पति की शुश्रूषा करती हुई उसे छोड़ कर भगवान् के पास चली गई', 'कुछ गोपियों को पतियों ने तथा अन्य सम्बन्धियों ने भगवान् के पास जाने के लिये रोका तो भी वे भगवान् के पास चली गई। ऐसा जब कहा है, तो उन गोपियों का पति से सम्बन्ध हो नहीं था ऐसा कैसे कह सकते हैं इस शङ्का का समाधान यह है, कि उन गोपियों का उनके पति के साथ जो सम्बन्ध था वह आभिमानिक था वास्तविक नहीं था। यह 'अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति' आदि से स्पष्ट है 'हे कमल नयन! जिस दिन हमने आपके चरणों का स्पर्श किया उसी दिन से हम किसी के सामने ठहरने में भी असमर्थ हो गई हैं, पति पुत्रादि की सेवा तो कर ही कैसे सकती हैं। तथा 'मन्यमानाः स्वपार्श्व-स्थान्' गोप योग माया से मोहित होकर ऐसा समझ रहे थे कि हमारी स्त्रियां हमारे पास ही हैं। इत्यादि प्रमाणों से उनका वास्तविक सम्बन्ध नहीं था। एक बात यह भी है, कि 'मन्यमानाः' इस गोपियों के लिये 'दारा' शब्द आया है। दारा शब्द पुल्लिङ्ग है। इस लिये स्त्रीरूप से उनका सम्बन्ध उन गोपों से नहीं था। यदि यह कहा जाय कि आभिमानिक सम्बन्ध भी सदोष ही है तो 'स एतावा-नास' इसश्रुति से सम्पूर्ण सृष्टि को भगवद्रूप बताया है इस से आभिमानिक दोष निवृत्त हो जाता है। यदि यह आशंका हो, कि भगवान् ने गोपों की पृथक् स्थिति क्यों की, तो उसका उत्तर है, 'रसार्थं' 'स्थित्यर्थंच' अर्थात् रसानुभव के लिये तथा स्थिति रहे इसलिये गोपों को पृथक् स्थिति भगवान् ने ही की। भगवत् सम्बन्ध के पूर्व में भी, उनमें कोई दोष नहीं था और न भगवत्सम्बन्ध के अनन्तर कोई दोष उनमें हैं। क्योंकि उन गोपियों को भगवत्स्वरूपातिरिक्त में भगवदात्मता की स्फूर्ति नहीं है। वास्तव में तो फल प्रकरण में होने वाले रमण के पूर्व भी उन गोपियों का स्वप्न में भगवत्सम्बन्ध हो चुका था। ऐसा लक्षित होता है। नहीं तो गोपियां 'अस्प्राक्ष्म' हमने आपके चरणा-रविन्द का स्पर्श किया 'त्वयाभिरमिताः' आपने हमको आनन्दित किया, इस प्रकार भूतकाल के सम्बन्ध की बात न करतीं। एक बात यह भी है, कि 'दूसरे के सामने जब खड़े रहने में भी असमर्थ हैं तो, उसके आगे होने वाली रमण क्रिया में उनका पास में रहना कैसे संभव हो सकता है ? इस-लिये इन गोपाङ्गनाओं का उन गोपों के साथ किसी भी काल में सम्बन्ध नहीं था। भगवान् के सम्बन्ध को तो सदोष कह नहीं सकते सब प्रमाणों का विरोध हो जायगा। अन्तर्गृहगता गोपियों की बुद्धि में भगवान् जार (उपपति) रूप से थे अतः वे सदोष थीं। परमा मपद से यही बताया है 'तमेव परमात्मानं जार बुद्धयापि सङ्गताः' उसी परमात्मा का उन्होंने जार बुद्धि से आलिङ्गन किया। अतः अन्तर्गृहगताओं का भजन इन गोपिकाओं के सदृश नहीं था। यहां शका होती है कि ज्ञानादि साधन वालों में पहले गोपिकाओं के समान भाव न होने से, उनको अकृतार्थ बताया तो इन गोपिकाओं ने ज्ञानादि साधनों के अतिरिक्त ऐसा कौन सा साधन किया था जिससे इनको ऐसा फल मिला। इसका समाधान 'नन्वीश्वरः' से किया है। ईश्वर विना किसी साधन की अपेक्षा सब कुछ

करने में समर्थ है। ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान को पुरुषार्थ का साधक न जानकर ज्ञान के अनन्तर जब भजन करते हैं स्वयं भगवान् उसका श्रेय करते हैं, भगवान् को भजन के अतिरिक्त किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। परन्तु भगवान् ने गीता में कहा है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं मैं भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ। इस भगवद् वाक्य से अधिकार के अनुसार फल देते हैं। जहां स्वार्थ सिद्धि के लिये भजन करने वाले का भी भगवान् स्वयं श्रेय करते हैं तो भगवान् के लिये ही भगवान् का भजन करते हैं उनका साक्षात् स्वयं भगवान् श्रेय करते है इस में क्या कहना यह 'अपि' शब्द से बताया हैं जो भगवान् के लिये भगवान् का भजन करते है उनके लिये उनके भजन के अनुरूप श्रेय का सर्वकरणसमर्थ भगवान् के पास भी अभाव है यह 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजा' इत्यादि से बताया है। हे गोपियों तुमने कभी जीर्ण होने वाली गृह शृङ्खला को तोड़ कर मेरा भजन किया हैं। यह तुम्हारा मिलन सर्वथा निर्दोष है। मैं देवताओं के समान आयु प्राप्त करके भी इस उपकार का बदला नहीं दे सकता। इसलिये भगवान् जिस प्रकार श्रेय इन गोपियों के लिये करते हैं वैसा दूसरे के लिये नहीं। इसको बताने के लिये 'अगदराज इव' यह दृष्टान्त है। जिस तरह बिना किसी अनुपान के अमृत का सेवन करने वाले का अमृत श्रेय करता है उस तरह अमृत का श्रेय अमृत पान करने वाला नहीं करता। इसी तरह यहां स्वार्थ सिद्धि के लिये भजन करने वाले ज्ञानी का अभीष्ट भगवान् करते हैं किन्तु ज्ञानी भगवान् का कुछ अभीष्ठ नही करता क्योंकि ज्ञानी का भजन तो स्वार्थ के लिये है। यहां तो जिस तरह भगवान् गोपियों का अभीष्ठ करते हैं उसी तरह से गोपियां भी भगवान् का अभीष्ट करती है।

अथवा निषेध उसी का किया जाता है जिसकी पहले प्राप्ति हो। यहां उस का अभाव है अतः दूसरे प्रकार से इस की व्याख्या की जाती है। 'एताः परं तनुःमृतः-' इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में व्रज-सीमन्तिनीयों का सर्वोकृष्ट बताया इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में साधनों के द्वारा ऐसा उत्कर्ष प्राप्त नहीं हो सकता यह बताया तो साधनों के अभाव में इनको ऐसा उत्कर्ष कैसे प्राप्त हुआ। इसे आश्चर्यजनक मानते हुए जहां भगवत्कृपा से सर्वसाधन हीन जातीय पुलिन्दिनियों में भी उत्कर्ष की सिद्धि होती है वहां अङ्गसङ्ग का जिन को अधिकार है उनमें उत्कर्ष हो इस में क्या आश्चर्य है। अतः क्वेमाः स्त्रियः, में पुलिन्दिनियों को सम्बोधित कर के कहा है। अर्थात् कहां तो ये पुलिन्दिनियां और कहां भगवान् में पूर्ण अनुराग। यद्यपि 'ता नमस्यन्निदं जगौ. ऐसा कहने से पुलिन्दिनियों के देखे बहुत समय हो गया इसलिये उन पुलिन्दिनयों के लिये उद्धवजी इदम् शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते इदम् शब्द का प्रयोग वहीं होता है जिसे हम सामने देख रहे हों, किन्तु उद्धवजी उन्हें भावना से देख रहे हों ऐसा समझ करके ही उन्होंने 'इमाः ऐसा कहा। अर्थात् ये पुलिन्दिनियां मानो उन्हें भावना से सामने दीख रही हैं। यदि पुलिन्दिनियों के पास पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय कोई साधन होता तो संभव था कि उनका भगवान् में अनुराग हो जाता, किन्तु इनके पास तो पुष्टिमार्गीय और मर्यादा मार्गीय दोनों प्रकार के साधनों का अभाव है ऐसा समझ कर 'क्वेमाः' कहा। पुष्टिमार्गीय साधन का अभाव तो 'व्यभिचार दुष्टाः' से ज्ञात होता है। अपने विवाहित पति का भजन करना ही व्यभिचार है, क्योंकि इस पुष्टि-मार्ग में सर्वात्मभाव ही साधन है। उस सर्वात्मयभाव में विवाहित पति का त्याग भी विहित है। 'संत्यज्य सर्वविषमान्' 'पतिसुतान्वय भ्रातृबान्धवान्'। जगत् के यावद्विषय, पति, पुत्र, कुटुम्ब, भाई आदि का त्याग ही इस पुष्टिमार्ग का साधन है। इन पुलिन्दिनियों में ऐसा न होने से व्यभिचारदुष्टता उन में आई जिससे पुष्टिमार्गीय साधन का अभाव सूचित हो गया, मर्यादामार्गीय साधन भी उन में

नहीं था यह 'वनचरी' पद से सूचित है । मर्यादा मार्ग में अधिकारी को ही साधन करने का अधिकार होता है । ये तो वनचरी (बन में घूमने वाली) थीं अर्थात् क्षुद्रजाति की थीं, इसलिये उनका मर्यादा-मार्गीय अधिकार भी नहीं था । पूर्वजन्म का कोई अधिकार हो यह भी नहीं मान सकते, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता । यदि पूर्वजन्म का अधिकार होता तो, वे क्षुद्र जाति में क्यों जन्म लेतीं । तब कैसे उन पुलिन्दिनियों में भगवद्भाव हुआ ? इसका उत्तर 'नन्वीश्वरः' पद से दिया है । भगवान् ईश्वर हैं अर्थात् किसी साधन की अपेक्षा न रखते हुये कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ हैं वे साक्षात् स्वयं श्रेयः करते हैं । शंका होती है कि व्रजललनाओं और पुलिन्दिनियों का साधन तो एक ही भगवत्स्वरूप था तो फल भी दोनों के लिये एक होना चाहिये फिर पुलिन्दिनियों से व्रजाङ्गनाओं में फल का उत्कर्ष कैसे हुआ ? इस का उत्तर देते हैं कि इस में अधिकार भेद ही कारण है। इस फलभेद को और आधिक्य को अनुभजनः तथा अविदुष इन दो विशेषणों से बताया है । व्रजललनाओं को भगवान् ने 'स्वागतं वो महाभागाः' इत्यादि कह कर उन्हें लौट जाने के लिये कहा परन्तु पुष्टिमार्ग में तो भगवान् का भजन करना स्वाभाविक है इसलिये गोपीजन अपने स्वभाव की दृढता के कारण भगवान् के कहने पर भी वहां से लौटी नहीं,वहीं खड़ी रहीं । उन्होंने भजन करने वाले का अनुभजन नहीं किया किन्तु भगवान् ने ही उन व्रजाङ्गनाओं के मान आदि को दूर करने के लिये उन गोपियों का अनुभजन किया । इन पुलिन्दिनीयों में ऐसा नहीं हैं । पुलिन्दिनियों ने तो 'दयितास्तनमण्डितेन कुङ्कुमेजानन कुचेषु लिम्पन्त्यस्तदाधि जहुः' 'ये वृन्दावन की पुलिन्दिनियां जब भगवान् को देखती हैं तब इनके हृदय में भी प्रेम की व्याधि लग जाती है उस समय ये भगवान् की प्रियतमाओं के वक्षःस्थल पर लगी हुई केसर जो भगवान् के चरणों में लग जाती है गोचारण के लिये जब भगवान् वृन्दावन में पधारते हैं तो वही केसर घास पर लगजाती है उस पुलिन्दिनियां अपने मुख पर तथा स्तनों पर लगाती हैं और अपने हृदय की पीड़ा को शान्त करती हैं । इस में दयिता पद से व्रजदेवियों को कहा है उनके सम्बन्ध वाली केसर से पुलिन्दिनियों को भी भगवान् के सम्बन्ध का अधिकार प्राप्त हो गया । अतः 'अनुभजनः' यह पद पुलिन्दिनियों के लिये ही है । 'अविदुषः' यहा पद भी पुलिन्दिनीयों के ही लिये है । 'रसो वै सः' इस श्रुति से भगवान् को रसात्मक बताया है । उस रसात्मक स्वरूप का ज्ञान पुलिन्दिनियों को नहीं है । इसका ज्ञान तो उन व्रजाङ्गनाओं को ही है । जैसा कि उन्होंने 'वीक्ष्यालकावृतमुखम्' से वर्णन किया है । यदि विदुषः' ऐसा पदच्छेद है तो ज्ञानी, माहात्म्य ज्ञानवाला होता है माहात्म्य ज्ञानवाले में गोपियों जैसा भाव नहीं होता । अधिकार के अनुसार ज्ञान होता है और ज्ञान के अनुसार फल होता है जैसा कि 'मल्लानामशनिः' यहां पर प्रतिपादित किया है । पुलिन्दिनियां तो बहुत थीं तो 'विदुषः' यहां एक वचन जाति के अभिप्राय से दिया गया है जितनी भी पुलिन्दिनियां थीं वे सब समान थीं उस बात को सूचित करने के लिये एकवचन का प्रयोग है । 'विदुषः' इस प्रकार पुल्लिङ्ग का निर्देश पुलिन्दिनी के शरीर को अभोग्य बताने के लिये है भगवान् ईश्वर हैं वे अनधिकारी का भी श्रेय करते हैं तो उन पुलिन्दिनियों का श्रेय करें इस में क्या आश्चर्य है । यह 'विदुषोऽपि' में आए हुए अपि शब्द से द्योतित होता है, इस में 'अगदराज इवोपयुक्त' यह दृष्टान्त है । अमृत ऐसा विचार नहीं करता कि मेरे से सम्बन्ध करने वाला अधिकारी हैं अथवा नहीं । इसी तरह यहां भगवान् अधिकार अथवा अनधिकार का विचार नहीं करते । 'अगदराजः' इसमें अमृत, पियूष आदि अमृत के वाचक शब्द हैं उनका प्रयोग न करके 'अगद' शब्द का ही प्रयोग किया है उस का आशय यह है कि पुलिन्दिनियों का भगवान् का सम्बन्ध कामरोग की शान्ति के लिये ही है । क्योंकि उन पुलिन्दिनियों का मनोरथ भी यही था कि हमारा कामरोग शान्त हो यह 'जहुस्तदाधिम्'

से बताया है। व्रजकी रत्नरूपा उन गोपाङ्गनाओं में विरह दशा में उत्पन्न होनेवाले कामरोग के नष्ट हो जाने पर भी, उसके आगे उन्होंने अनेक प्रकार की रतिक्रीड़ाओं से अखिल रसमयप्रियतम के स्वरूपामृत का आस्वादन किया यही उनका मुख्य फल था । इसलिये 'अगदराज इव' यह दृष्टान्त गोपियों के लिये नहीं है पुलिन्दिनियों के ही लिये है। वास्तव में तो उन व्रजपति की प्रेमिकाओं में तो विप्रयोग काल जो पीड़ारूप है उस में भी उनका मन भगवन्मय, प्राण भी भगवन्मय थे यह स्वयं भगवान् ने 'तो मन्मस्का' से बताया है। अर्थात् भगवान् आनन्द मय हैं तो विप्रयोग दशा में भी गोपियों के मन, प्राण सब आनन्दमय थे। आनन्द का रोग बताना तो अनुचित है। इसलिये पुलिन्दिनियों के ही लिये 'अगदराज' यह दृष्टान्त है । 'उपयुक्तः' पद में जो उप शब्द है उसका अर्थ समीप है तो समीप में तो भगवान् पुलिन्दिनियों के स्थित थे, व्रजाङ्गनाओं के साथ तो भगवान् का साक्षात् अङ्गसङ्ग हुआ था । इसलिये इस महान् अन्तर को देखने से यही सूचित होता हैं कि क्वेमाः स्त्रियः' यह सारा वर्णन व्रज ललनाओं का न हो कर पुलिन्दिनियों का है। यद्यपि 'दृष्ट्-वैमादिगोपीनाम्' यहां पर और 'ता नमस्यन्निदं जगौ' इस कथन से यहां का सारा प्रसङ्ग गोपियों का ही होना चाहिये तथापि उद्धवजी ने कालान्तर में पुलिन्दिनियों में भी भगवद्भाव देखा था ऐसा लक्षित होता है। उद्धवजी आये तो उन्होंने नदी, वन, गिरि, द्रोणियां तथा पुष्पित वृक्षों को देखा 'सद्विनगिरि द्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान् इससे पर्वतों पर रहने वाली पुलिन्दिनियों को भी देखा यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है। उद्धवजी ने पहले तो 'एतापरं तनुभृतः' से व्रजाङ्गनाओं की स्तुति की उन में आश्चर्ययुक्त होकर पुनः पुलिन्दिनियों को याद कर के जहां पुलिन्दिनियों में भी ऐसा भाव है तो भगवान् की प्रिय गोपियों में ऐसा भाव हो इसमें क्या कहना ? ऐसा जाना जाता है। इसलिये 'क्वेमाः' इस से पुलिन्दिनियों की ही स्तुति है इस में किसी प्रकार का सदेह नहीं हैं। एक बात यह भी है कि इदम् शब्द का प्रयोग किसी को सामने दिखाने के लिये किया जाता है तो क्या उद्धवजी भगवान् की प्रियतमा गोपियों के लिये 'इमाः' कह सकते है ? उसमें भी फिर 'क्व' अर्थात् ऐसा भाव भगवान् में असंभव है ऐसा कह सकते हैं ? उन व्रज ललनाओं के लिये जिनमें की स्वाभाविक प्रेम है उनको स्त्रियां कहें यह भी असगत है। स्त्रियों का भाव तो पुरुषों में काम वासना से ही हुआ करता है। गोपाङ्गनाओं का भाव तो कामवासना था ही नहीं यह पहले ही कहा जा चुका है इस लिये 'स्त्रियः' यह पद उद्धवजी गोपियों के लिये नहीं कह सकते। भगवान् का अङ्गसङ्ग करने वाली गोपीजनों के लिये उद्धवजी 'वनचरी' पद का प्रयोग कभी नहीं कर सकते और व्यभिचार दुष्टाः'ऐसा विशेषण क्या कभी परमभगवद्भक्त उद्धवजी गोपीजनों के लिए मुख से निकाल सकते हैं उद्धवजी को 'कृष्णस्य दयितः सखा' कृष्ण को प्यारा मित्र बताया है। भगवान् भी उद्धवजी को अपना अत्यन्त अनन्य प्रेमी भक्त मानते थे 'तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्त मेकान्तिनं क्वाचित्' । उद्धवजी सर्वदा भगवान् के सेवक थे तं वीक्ष्य कृष्णानुचरम्' इत्यादि वाक्यों से उद्धवजी को भगवान् का अनन्य भक्त बताया है और जिन उद्धवजी ने व्रजाङ्गनाओं के चरण की धूलि को शिरोधार्य करने वाले गुल्म लता ओषधियों में जन्म लेने की अभिलाषा प्रकट की वह सब यदि 'क्वेमा स्त्रियः' इस श्लोक में व्रजांगनाओं का वर्णन माना जायगा तो विरुद्ध हो जायगा। इसलिये 'क्वेमाः' इस श्लोक में 'पूर्णाः पुलिन्द्य-' यहां पर उन पुलिन्दिनियों का जिनका कि भगवत्सम्बन्ध हुआ है उसी को कहा है यह ऊपर बताई गई युक्तियों से सिद्ध हो जाता है।

प्रभुचरणों को 'क्वेमाः स्त्रियः' इस श्लोक की अनेक व्याख्याओं में यही व्याख्या अत्यन्त प्रिय है इस बात को आपने 'सर्वमनवद्यम्' से स्पष्ट बताया है।

आभास—नन्वेतदन्योन्याश्रितम्, एवं भावो भगवति उत्तमकारणाभावे कथं भवतीत्याशङ्क्य ईश्वरस्तथा कृतवानित्युक्तम् । ईश्वरः कथं करोतीत्याशङ्कायां तदिच्छानुसारेण भजनादित्यनुभजनेन निरूपितम् । इच्छानुसारि भजनमकारणकमिति पुनः सदोषस्तदवस्थः । अत एकं निश्चित्य साधनं वक्तव्यं, भगवदिच्छा कारणान्तरं वेति । आद्ये । तासां न कापि स्तुतिः, कारणान्तरे तु किं ब्रह्मजन्मभिरिति विरुद्धय इत्याशङ्क्याह **नायं श्रियोङ्ग** इति ।

आभासार्थ—आपके कहने में अन्योन्याश्रयदोष आता है, जिससे एक का भी निश्चय नहीं हो सकता है । फिर भगवान् में इस प्रकार का भाव ब्रह्म जन्म के अभाव में कैसे हुआ होगा ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि ईश्वर ने वैसे किया, इसलिए मैंने कहा, ईश्वर ने ऐसा कैसे किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् की इच्छानुसार उन्होंने भजन किया, जिससे ईश्वर ने किया । कारण कि ईश्वर की इच्छा बिना भजन कराने की कैसे हुई? जिससे दोष तो फिर वैसा ही रहा, अतः एक साधन का निश्चय कर बताईए, भगवदिच्छा साधन है वा कोई दूसरा साधन है ? यदि भगवान् की इच्छा साधन थी तो गोपियों की स्तुति क्यों ? यदि दूसरा कारण ब्रह्म जन्म आदि है तो 'किं ब्रह्मजन्मभिः' इस कहने का विरोध आता है, इस प्रकार शङ्काएँ कर उनको 'नायं श्रियोङ्ग' श्लोक से मिटाते हैं ।

श्लोक—नायं श्रियोङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोन्याः ।
रासोत्सवेस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषो उदगाद्व्रजवल्लवी ॥६१॥

श्लोकार्थ—रासोत्सव में अपना भुजदण्ड गले में डाल कर व्रज-गोपियों पर जो भगवान् ने जैसी कृपा की, वैसी कृपा एकान्त रतिवाली लक्ष्मीजी पर तथा कमल जैसी सुगन्धवाली एवं कान्ति युक्त अप्सराओं पर भी न हुई तो अन्यों पर कैसे होगी ?॥६१॥

सुबोधिनी—वस्तुतो भगवदिच्छैव नियामिका । परमियमेतावता कालेन न क्वापि जातेति तासां स्तुतिरुच्यते । अन्यथा यादृशस्तासु प्रसादस्तादृशोन्यत्रापि भवेत् । तत्र संभावितस्थानान्यनूद्य परिहरति । एकान्ततो रतिर्यस्यां तादृशी लक्ष्मीः, तस्यामपि निरन्तरं रतिं प्रयच्छन्नपि न प्रसादं दत्तवान् । **स्वर्योषिता**मपीन्द्रोपेन्द्रादिभावापन्नोपि बहुभिः सह रममाणोपि न दत्तवान् । नलिनवद्गन्धो रुक् कान्तिश्च यासाम् । तेन कमलभ्रमोपि तासु संभवति, कमलप्रियश्च भगवानिति कमलखण्डे पूजित इव कदाचित्तासु तिष्ठेत्, तस्या अपि निषेधः, अन्याः पुनः तत्तदवतारेषु संबद्धा अपि कुतस्तत्प्रसादं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । स कः प्रसाद इत्याकाङ्क्षायामाह **रासोत्सव** इति ।

अस्य भुजदण्डैर्गृहीतकण्ठैर्लब्धा आशिषो याभिः। न हि कदाचिदप्यनेकरूपाणि कृत्वा रमणार्थमेवं रसाभिनिविष्टो भवति; तत्रापि व्रजवल्लवीभिः सह, तास्त्वसंवृताः दध्यादिविक्रये सर्वत्र पर्यटनपराः, महतामपि प्रार्थनया कदाचिद्भगवानेकं रूपं गृह्णाति महति कार्ये, आनन्दश्च तासां सर्वोत्तमः, संपादितः अनेकधा रसमुत्पाद्य, अतो ज्ञायते नैतादृश्यः काश्चन। नाप्येतादृशः क्वापि भगवत्प्रसाद इति। अतो ज्ञायतेवस्थापि तासामेतादृशी प्रमाणेष्वस्तुतापि सर्वोत्तमैवेपि ॥६१॥

व्याख्यार्थ—वास्तव में भगवदिच्छानुसार भजन करने में भगवान् की इच्छा ही नियामक है, किन्तु ऐसी इच्छा अब तक किसी पर भी नहीं हुई है, इसलिए इनकी स्तुति हुई है नहीं तो जैसी कृपा इन पर हुई, वैसी अन्यों पर हो होती। जिन पर कृपा होनी चाहिए ऐसे संभावित स्थानों को बताकर कहते हैं कि वहां भी ऐसी कृपा नहीं हुई है। विशेष प्रीति पात्र लक्ष्मीजी जिसको निरन्तर प्रेम का दान देते हैं, उस पर भी यह कृपा नहीं की है। स्वर्ग की स्त्रियां अप्सराएँ जिनके साथ इन्द्र उपेन्द्र भाव को धारण कर रमण करते हुए भी यह प्रसाद उनको भी नहीं दिया है। विशेष में वे अप्सराएँ कमल समान गन्धवाली तथा वैसी ही कान्तिवाली हैं और उनमें कमल जैसा भ्रम भी होता है। भगवान् को कमल प्यारे हैं, इस कारण से कमल खण्ड में पूजित के समान उनमें कदाचित् स्थित हो जावे, उसका भी निषेध करते हैं। जब यों है तो अन्य, जो उन उन अवतारों से संबद्ध हैं वे कैसे प्रसाद को प्राप्त करेंगी ? वह कौन सा प्रसाद है जिसको गोपियों के सिवाय अन्य नहीं प्राप्त कर सकी हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'रासोत्सव' के समय भगवान् ने जो अपना भुजदण्ड कण्ठ में डाल उससे रमण करते समय जो आनन्द गोपियों को प्राप्त हुआ वही प्रसाद है। भगवान् रमण के लिये अनेक रूप धारण कर इस प्रकार कभी भी रस से आप्लुत नहीं होते हैं। उसमें भी व्रज स्त्रियों के साथ, वे तो मिलकर एकत्र नहीं रहती है सदैव दधि आदि के बेचने के लिए सर्वत्र घूमती फिरती रहती हैं; बड़े कार्य के लिए जब महान् ब्रह्मादि प्रार्थना करते हैं तब भी भगवान् एक ही स्वरूप से प्रकट होते हैं, यहां तो अनेक रूप धारण कर प्रत्येक गोपी को सब से उत्तम आनन्द प्रदान करने के लिए उनसे रमण करते हुए अनेक प्रकार के रसों को प्रकट कर आनन्द में प्लावित किया है। अतः जाना जाता है, कि वैसी भाग्य वाली दूसरी नहीं हुई हैं और वैसा भगवत्प्रसाद कहीं भी प्राप्त न हुआ है, जिससे समझ में आता है कि उनकी वैसी अवस्था प्रमाण में स्तुति न होते हुए भी सब से उत्तम ही हैं। ६१॥

आभास—नन्वीर्ष्यया तासामवस्थां स्तुत्वा किमीश्वर एतदर्थं प्रार्थ्यते, तथासति स्वाभिलषितत्वात् न वस्तुनिरूपणे तात्पर्यमिति नोत्कर्षः सिद्धयेदित्याशङ्क्याह **आसामहो** इति।

आभासार्थ—उद्धवजी ने गोपियों की इस अवस्था की स्तुति ईर्ष्या[1] से की है, क्या इस अवस्था के लिए ईश्वर को प्रार्थना की जाती है ? यदि यों है तो ये अपने मन की इच्छा के अनुकूल स्तुति की

१-उद्धवजी को यह ईर्ष्या हुई कि मैं भी भक्त हूँ मेरी गोपियों के समान दशा नहीं की है।

गई है जिससे समझा जाता है कि इस स्तुति का वस्तु के निरूपण में अर्थात् गोपिकाओं के स्तुति के निरूपण में कोई तात्पर्य नहीं है, इससे उत्कर्ष की सिद्धि कैसे होगी ? इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिए 'आसामहो' श्लोक कहते हैं।

श्लोक—आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥६२॥

श्लोकार्थ—आश्चर्य है कि वृन्दावन के गुच्छक, लता और औषधियाँ भी इनके चरण रज सेवन कर रही हैं, अतः इनके चरण रज की प्राप्ति की इच्छा से मैं भी चाहता हूँ कि इन गुच्छक, लता और औषधियों में से एक कुछ भी होकर यहाँ उत्पन्न हो जाऊँ; क्योंकि इन्होंने जो आर्य पथ छोड़ना कठिन है; उसको त्याग कर अर्थात् पति आदि का त्याग कर, जिसकी खोज श्रुतियाँ भी अब तक कर रही हैं, उस मुकुन्द की पदवी को प्राप्त कर लिया है ॥६२॥

सुबोधिनी—अहमासां दासानुदासत्वेपि, न योग्यः कथमेतद्भावयिष्यामि, 'अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव संशय' इति। अत **आसां चरणरेणुजुषां गुल्मलतौषधीनां** मध्ये **किमप्यहं स्याम्**। आदौ जङ्गमत्वाधिकारो नास्ति। तथा सति क्रियया ततोपगमनं स्यात्। व्यवहारयोग्ये तु समतया भावः स्यात्तदप्ययोग्यम्। स्थावरत्वे वृक्षादिभावे चिरकालावस्थितौ न शीघ्रं भगवत्प्राप्तिः स्यात्। अतो यो यस्य चरणरजो वाञ्छति स तद्भवति तदीयो वा भवतीति वा, अल्पायुश्चरणरजःप्राप्तियोग्यं जन्माभिलषितम्। अतो **गुल्मलतौषधीनां** तामसराजससात्त्विकानाम्, तत्रापि रजःसंबन्धयोग्यानाम्, न तु तुलसीकुन्दजातीव्रीह्यादिषु। तेषु हस्तसंबन्धः तदीयानां भगवत्संबन्धः शिरःसंबन्धश्च भवेदिति व्याजेनोत्कर्षप्रार्थनं भवेत्। **वृन्दावनं** हि परमोत्कर्षापादकं भक्तिजनकं च। **अहो** इत्याश्चर्यं। नह्येतदपि भविष्यतीति, साधनप्रकारेणैव जात उत्कर्षः फलपर्यवसायी भवति नान्यथा। **किमपी**त्यनादरे। नात्र सत्त्वाद्युत्कर्षोभिप्रेतः रजःसंबन्ध एवोत्कर्षजनक इति तस्य तुल्यत्वात्। नन्वेतासां रजसा क्रमेणैतद्भाव एव भवेत्। न तु भगवद्भावः। ततः किमित्येवं प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याह **या दुस्त्यजमि**ति। भगवद्भावः आसां सुलभः नत्वन्यत्र, तथैवोपपादितत्वात्। दुष्टत्वाच्च तदसंभावितमिति मत्वा पुनस्तासां धर्माननुवदति। **दुस्त्यजाः स्वजनाः** पुत्रादयः, तत्रापि दुस्त्यजः **आर्यमार्गः** 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यत' इति। अयमार्यमार्गो लौकिकः, यादृशास्ते स्वजनाः पुत्रादयः। वस्तुतस्तु। भगवानेव स्वजनः यौंऽम्मार्गश्च। अन्यथा फले व्यभिचारश्च। एवं त्यक्त्वा चकारात् भगवदुपदेशं च। अन्यथा बहिःसंवेदने स्वास्थ्यं भवेत्, पश्चान्मोक्षदातुः **पदवीं भेजुः**। यो हि यन्मार्गे गच्छति स तावति धर्मे तत्तुल्यो भवति, तत एता अपि मोक्षदात्र्यो जाताः, तथा वयमपि भविष्याम इति भगवद्भजनापेक्षयाप्येतदुत्तममिति भावः। नन्वेवं सति ब्रह्मभाववदयमपि कथं वेदे नोक्तस्तत्राह **श्रुतिभिर्विमृग्यामि**ति।

श्रुतयोपि वक्तुं विचारयन्ति परमिदमित्थतया वक्तुं न जानन्ति । दृष्टान्तापरिज्ञानात् । इदानीमेव हि गोपिका भगवता दृष्टान्तीकृताः, भगवदभिप्रायः श्रुतीनामपि ज्ञातुमशक्य इति न सर्वज्ञत्वादिनापि दूषणम् । तदुपपादितं 'व्यसाद्यैरीश्वरेहाज्ञै'रिति । इममेवार्थमुररीकृत्य 'यस्यामतं तस्य मत'मित्यादिश्रुतयोऽज्ञानमेव तुष्टुवुः । तथापि स्वार्थमज्ञाने विशेषजिज्ञासाया अवश्यंभावात्स्वस्य सामर्थ्यमवश्य मन्यमानाः मृगयन्त्येव । तत्रापि सर्वोत्कृष्टत्वाद्विशेषेण मृग्यम् ॥६२॥

व्याख्यार्थ – मैं इनके दासों का दास भी बनने के योग्य नहीं हूं, तो इनकी भावना सम भाव मैं कैसे कर सकूंगा? यदि कोई पुरुष अपनी योग्यता से विशेष कोई कार्य करता है तो वह निश्चय गिरता ही है, अतः मैं तो इनकी चरण रज के पाने की इच्छा करता हूं, जिससे चाहता हूँ कि वृन्दावन में ही गुच्छक, लता और औषधियों में से कुछ भी हो जाऊं, पहले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जङ्गम में जन्म लेने की इच्छा क्यों नहीं की ? जिसके उत्तर में कहा कि वैसा मेरा अधिकार नहीं, यदि अधिकार होता तो क्रिया द्वारा इनसे निकलना हो जाता, जिसके साथ समानता होती है वहां ही व्यवहार योग्यता होती है, उसके[1] न होने से भी अयोग्य हूँ, फिर भी वैसा व्यवहार करूं तो पतन हो, वह मूर्खता ही है । यदि कहो कि वृक्षादि में जन्म लेने से उसमें विशेष स्थिति करनी पड़ती है, जिससे भगवत्प्राप्ति में विलम्ब होता है, यह ठीक है, तो भी जो जिसकी चरण रज चाहता है, वह उसका रूप हो जाता है अथवा उसका हो जाता है, इसलिए चरण रज की प्राप्ति जिस जन्म में मिले उस अल्प आयु वाले जन्म की ही मैंने अभिलाषा की है । अतः मैंने तामस गुच्छक, राजस लता और सात्विक औषधियों में जन्म की प्रार्थना की है, क्योंकि इन पर उनके चरणों की रज सदव पड़ती ही रहती है । तुलसी, कुन्द जाति और व्रीहियों में जन्म लेने की प्रार्थना नहीं की है । उनमें तो हस्त का सम्बन्ध होता है और उनके फूलों का भगवान् से और शिर से सम्बन्ध होता है । यदि उनके वह मिष से उत्कर्ष की प्रार्थना मानो जाएगी, और वृन्दावन परम उत्कर्ष उत्पन्न करने वाला तथा भक्ति दाता है, 'अहो' यह आश्चर्य अर्थ में दिया है । क्या मैं जो इतना स्वल्प मांगने की प्रार्थना कर रहा हूँ वह भी सिद्ध न होगी ? साधन प्रकार से ही अर्थात् इन प्रसाद प्राप्त गोपियों के चरण रज प्राप्ति की प्रार्थना रूप साधन के प्रकार से ही जो उत्कर्ष होता है, वह ही फल देता है । अन्य प्रकार से फल की प्राप्ति नहीं होती है । 'किमपि' यह शब्द अनादर में कहा है, यहां सत्व आदि गुणों का उत्कर्ष नहीं है किन्तु रज का सम्बन्ध ही उत्कर्ष करने वाला है । चरणों की रज से जो उद्धार होता है, वह सतोगुण से हुए उद्धार के समान ही है । इनके चरण रज द्वारा क्यों तो क्रम से गोपियों जैसा भाव उत्पन्न होगा ? अर्थात् पहले गुल्म आदिकों में जन्म, पश्चात् गोपियों में जन्म अनन्तर भगवान् में भाव का आविर्भाव होगा ? रज से सीधे भगवद्भाव की प्राप्ति इस जन्म में नहीं होगी, तो किस लिए इस प्रकार की प्रार्थना करते हो ? इस प्रकार की शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि या दुस्त्यज'जो गोपियां जिसको कोई छोड़ नहीं सकता है वैसे आर्य पथ को छोड़ कर भगवान् की शरण गई हैं । अतः भगवद्भाव इनको ही सुलभ है अन्य किसी को नहीं । कारण कि 'क्वेमा स्त्रियः' इस श्लोक में यह सिद्ध कर बताया है कि ये गोपियां समस्त स्त्रियों से तथा सकल

१– समानता के

पुरुषों से उत्तम हैं, उद्धवजी कहते है कि मैं दोष युक्त होने से दुष्ट हूँ, अतः वह भाव मुझे प्राप्त होना असंभव है। यो कहकर फिर गोपियों के धर्मो को कहते हैं। अपने पुत्र आदि सम्बन्धियों का त्याग बहुत कठिन है। उसमें भी आर्य मार्ग को छोड़ना अधिक कठिन है। उसके त्याग से अपकीर्ति होती है। जिसके लिए शास्त्र कहता है कि 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यत। मान वाले को अपकीर्ति मरने से विशेष दुःखदायी होती है। यह आर्य मार्ग लौकिक है, जिसमें लौकिक पुत्र आदि स्वजन समझे जाते है। अलौकिक आर्य मार्ग में तो अलौकिक भगवान् ही स्वजन हैं। यदि लौकिक आर्य मार्ग तथा अलौकिक समान माना जावेगा तो फल में व्यभिचार होगा अर्थात् लौकिक आर्य मार्ग का फल भी भगवान् होना चाहिए जो होता नहीं। इस प्रकार पुत्रादि का एवं भगवान् के उपदेश का त्याग किया। यदि यो त्याग न करे तो चित्त में बाहर के ज्ञान से स्वास्थ्य हो जावे, अनन्तर मोक्षदाता भगवान् के मार्ग का आश्रय करने लगी, अर्थात् भगवान् को स्वजन समझ उनका भाव से भजन करने लगी। जो जिस धर्म मार्ग पर चलता है, वह उस धर्म से उसके समान हो जाता है, इससे ये भी मोक्ष देने वाली हो गई। हम भी वैसे हो जावेंगे, जिससे भगवद्भजन से भी वृन्दावन में गुल्मलतादि में जन्म लेना उत्तम है, यह उद्धवजी के कहने का भाव है। जैसे वेद में ब्रह्म भाव का वर्णन है वैसे इस भाव का वर्णन क्यों नहीं है? जिसके उत्तर में 'श्रुतिभिर्विमृग्यां' कहा है अर्थात् श्रुतियां भी अब तक इस भाव को ढूंढ रही हैं, विचार करती रहती हैं, किन्तु कह नहीं सकती हैं कि यह इस प्रकार है, कारण कि, इस प्रकार के भाव वालों का कोई दृष्टान्त ही श्रुतियों को नहीं मिला। भगवान् ने इस भाव को अब गोपियों में प्रकट कर गोपियों को ही दृष्टान्त रूप बताया है। यद्यपि श्रुतियों को सर्वज्ञ कहा जाता है किन्तु वह सर्वज्ञता भगवान् के अभिप्राय जानने में समर्थ नहीं है, इससे श्रुतियों की सर्वज्ञता में किसी प्रकार दूषण नहीं आता है। जिसको प्रथम स्कन्ध में 'व्यासाद्यैरीश्वरे हा ज्ञै' इस श्लोक में सिद्ध किया है इस सिद्धान्त को लेकर ही श्रुतियां कहती हैं 'यस्यामतं तस्य मत' कि जो कहता है,मैंने नहीं समझा, उसने ही समझा है। यों कह कर इस प्रकार के अज्ञान की प्रशसा की है। जिसका आशय यह है कि जो अपने को ज्ञानी समझेगा वह आगे विशेष जानने की जिज्ञासा नहीं करेगा और जो कहेगा मैं नहीं जानता हूँ, वह अधिक जानने के लिए प्रयत्न करेगा। जिससे सर्वोत्कृष्ट तत्त्व को जान कर उत्कृष्ट फल लाभ कर सकेगा ।।६२।।

आभास—किञ्च। यत्सर्वेषां पूज्यमाराध्यं तत्तासां तापहारकत्वेन नियुक्तम्। तापे हि पूज्यस्पर्शोपि निषिद्धः पूजार्थमपि। तत्राप्यङ्गभावं प्राप्त इति विशेषत उत्कर्षमाह **या वै श्रियार्चितमिति।**

आभासार्थ—सर्व जिनकी पूजा तथा आराधना करते हैं, वे इनके ताप हरण में लगे हुए हैं। ताप के समय पूजा के लिए भी पूज्य के स्पर्श का निषेध है। उसमें भी ये अङ्ग भाव को प्राप्त है इसलिए इनका अधिक उत्कर्ष 'या वै श्रियार्चित' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-**
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।

कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥६३॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण भगवान् के जिस चरणारविन्द को लक्ष्मीजी तथा (आप्त-काम) सनकादिक एवं ब्रह्मादि देवों ने पूजा है और योगेश्वरों ने जिसका चिन्तन अपनी आत्मा में किया है, वह चरणारविन्द भगवान् ने रमण करते हुए जिनके स्तनों पर धरा है और उनका आलिङ्गन कर ये गोपियाँ ताप से मुक्त हो गईं ॥६३॥

सुबोधिनी—सर्वत्र फलरूपा लक्ष्मीः, तयापीष्टसिद्धयर्थमर्चितं न तु यथेष्टं विनियोक्तुं शक्यम्। **किञ्च। अजादयो** ब्रह्मादयः सनकादयश्चाप्तकामाः **योगेश्वराः** सिद्धादयः ये सर्वं कर्तुं समर्थाः सर्वोपि पुरुषार्थः प्राप्तः वशीकृतसर्वसाधनाश्च, तेऽपि ततोप्युत्तमफलसिद्धयर्थं तच्चरणमानर्चुः। बहिरवस्थायामर्चनं भविष्यतीत्याशङ्कय विशेषमाह **यदात्मनीति। यदात्मन्यपर्यचितं** ध्यानं कृत्वापि कृत्वापि पूजितमित्यर्थः। तादृशमपि **कृष्णस्य** सदानन्दस्य फलरूपस्य तत्रापि तत्प्रसिद्धं स्वतन्त्रफलदातृ स्वतः भक्तिमार्गप्रवर्तकं, **भगवतः** सर्वसमर्थस्य,एवं स्वतः संबन्धतोप्युत्कृष्टं **रासगोष्ठ्यां** कौतुकक्रीडायां स्वयं स्वेच्छया नर्तनं कृत्वा श्रान्ताः सत्यः कमलादिकमिव व्यजनवायुमिव चन्दनमिव तन्मन्यमानाः **स्तनेषु** न्यस्य **तापं** जहुः। धाष्टर्याद् अयुक्तमेव तथा कृतवत्य इति शङ्कानिवृत्त्यर्थं भगवतैव न्यस्तमित्युक्तम्। भगवानप्यत्यन्तं वशस्तासां शीघ्रं तापापनोदार्थं स्वयमपि शीघ्रं तत्स्तनेषु स्थापितवान्, अत आह **न्यस्तमिति**। ततस्तत्परिरभ्य स्वाधीनं कृत्वा तापं जहुरिति। प्रमाणतः प्रमेयतश्च ता उत्कृष्टा इत्यर्थः ॥६३॥

व्याख्यार्थ—जिस लक्ष्मी को सर्वत्र फल रूप समझा जाता है उसने भी अपनी कामना की सिद्धि के लिए चरणारविन्द की पूजा की है, किन्तु अपनी इच्छानुसार उस चरणारविन्द का उपयोग नहीं कर सकी है। ब्रह्मादि, सनकादि, जो पूर्ण काम हैं उन्होंने तथा सिद्ध योगेश्वर, जो सब कुछ करने में समर्थ है, सर्व पुरुषार्थ जिनको प्राप्त है और सर्व साधन जिन्होंने वश में कर लिए हैं, वे भी, उससे भी अधिक फल की प्राप्ति के लिए उनके चरणों को पूजते है। चरणों का पूजन तो बाहर की अवस्था में होता है, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'यदात्मति' आत्मा में ध्यान कर भीतर पूजन किया है। फलरूप, सदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण के वैसे चरणारविन्द को, जिसमें भी वह प्रसिद्ध स्वतन्त्र फलदाता तथा स्वतः भक्ति मार्ग के प्रवर्त्तक हैं, सर्व समर्थ एवं अपने आप सम्बन्ध से भी अतिशय उत्तम चरणारविन्द को कौतुक[1] क्रीड़ा में स्वयं अपनी इच्छा से नृत्य करते हुए थक जाती तब आप उनके स्तनों पर धरते, उस समय वे गोपियां यों समझती थीं कि हमारे ताप की शान्ति के लिए हमारे हृदय पर कमल वा पंखा अथवा चन्दन पड़ा है, इस प्रकार करना अर्थात् स्तनों पर पैर धरना तो ढीठाई अथवा निर्लज्जता का काम है, इसलिए यह अयोग्य है। जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भगवता एव न्यस्तं' भगवान् ने ही धरा है, भगवान् ने यों क्यों किया ? जिसका उत्तर देते हैं कि

१- रास में।

भगवान् गोपियों के अतिशय वश हो गए हैं, अतः उनका ताप शीघ्र मिटाने के लिए यों किया है। अर्थात् स्वयं ने ही शीघ्र उनके स्तनों पर चरणारविन्द धरे हैं। इसलिए 'न्यस्तं' पद दिया है, जिसका अर्थ है 'धरा' इसके अनन्तर गोपियों ने आलिङ्गन कर अर्थात् अपने आधीन कर अपने ताप को विशेष प्रकार से मिटा दिया। इससे यह बताया कि गोपियां प्रमाण और प्रमेय दोनों से उत्कृष्ट हैं। प्रमाण से उत्कृष्टता यह है कि जो सबके पूज्य और आराध्य है, वे इनके ताप मिटाने का कार्य करते हैं और प्रमेय से उत्कृष्टता यह है कि भगवान् इनके अत्यन्त वश में हैं जिससे ताप मिटाने के लिए स्वयं ने स्तनों पर चरण धरे।।६३।।

आभास—अन्यार्थमेवैषा प्रशंसेत्याशङ्क्य पूर्वमपि नमस्कारार्थमेतदारब्धमिति प्रतिज्ञातत्वात् ता नमस्यति **वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणामिति।**

आभासार्थ - उद्धवजी ने यह प्रशंसा अपने लिए नहीं की है, किन्तु अन्यों के हृदय पर इनका प्रभाव पड़े इसलिए की है। इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिए कहते हैं कि पहले भी नमस्कार के लिए यह प्रारम्भ किया, यों प्रतिज्ञा होने से अब 'वन्दे नन्द' इस श्लोक में उनको नमन करते हैं; जिससे बताया है कि प्रशंसा का मेरे पर प्रभाव पड़ा है।

श्लोक—वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्।।६४।।

श्लोकार्थ— नन्दराय के व्रज की स्त्रियों की चरणारविन्द की रज को मैं बार-बार वन्दन करता हूँ। जिनका भगवत्सम्बंधी गान त्रिलोकी को पवित्र करता है।।६४।।

सुबोधिनी— तासां नमस्कारेऽपि नास्माकमधिकारः, किन्तु नन्दव्रजस्य स्त्रीमात्रस्य **पादरेणुमेवैकमभीक्ष्णशो वन्दे**, अस्मदपेक्षया स रेणुः महानेवोत्कृष्टः फलरूपश्चेत्यादरेण वन्दे। ननु कथमेवमत्याश्चर्यमुच्यत इत्याशङ्क्य लोके तदुपपादयति **यासां हरिकथोद्गीतमिति।** हरिकथापेक्षयापि हरिकथया वा सह **ऊर्ध्वं गीतं** यासां संबन्धि गीतं **भुवनत्रयमेव** पुनाति। गानमात्रेणैव **पुनातीति** गङ्गातोऽप्युत्कर्षः। गुणानां साधकत्वं बाधकत्वं वा नास्तीति ज्ञापनाय त्रयमिति।।६४।।

व्याख्यार्थ - उद्धवजी कहते हैं, कि जो गोपियां प्रमाण एवं प्रमेय से उत्कृष्ट हैं, उनको नमस्कार करने का मैं अधिकारी नहीं हूं। अतः नन्द के व्रज की स्त्रीमात्र की केवल चरण रज को ही बारबार नमस्कार करता हूं। मुझ से तो वह रज बहुत उत्तम है और फल रूप है, इसलिए आदर के साथ वन्दन करता हूं। उद्धवजी जैसे ज्ञानी एवं भक्त तथा कृष्ण के सखा यों कैसे करते हैं, यों करना तो बहुत आश्चर्य की बात है? इस शङ्का को मिटाने के लिए यों करने का जो कारण है उसको लोक में प्रकट करने के लिए प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'यासां हरिकथोद्गीतम्' केवल हरि कथा से भी उसका जोर से जो गान करती हैं, जिससे तीन लोक पवित्र हो जाते हैं। इससे यह प्रकट किया कि तीन लोक को पवित्र करने से यह गान गङ्गा से भी उत्तम है। गान तीन लोक को पवित्र करते हैं, इसलिए उनका कोई साधक बाधक नहीं है।।६४।।

आभास—एवं भगवत्कृतं तासां निरोधं समर्थयित्वा तादृशमपि भगवान् करोती-त्यवगतभगवन्माहात्म्यः, भिन्नप्रक्रमेण भगवत्स्थाने समागत इत्याह **अथ गोपीरिति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के किए हुए निरोध का समर्थन कर इस प्रकार भी भगवान् करते हैं, जिससे भगवान् का माहात्म्य जान, दूसरे क्रम से भगवान् के स्थान पर आए जिसका वर्णन 'अथ गोपी' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।**
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥६५॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि गोपी, नंद और यशोदाजी इनसे प्रार्थना पूर्वक आज्ञा लेकर और गोपों से भी जाने की राय लेकर उद्धवजी जाने के लिए रथ पर चढ़े ॥६५॥

सुबोधिनी—अनुज्ञां प्रार्थयित्वा तथा **यशोदां नन्दमेव च** । त्रय एवात्र प्रकरणे मुख्याः । ततो मित्रभूतान् **गोपानामन्त्र्य** गच्छामीत्युक्त्वा यतोयं **दाशार्हो** यादवश्रेष्ठो दाशार्हभेदः, वस्तुतो भक्ति-प्रधानो भक्तहितकारी, ततो **यास्यन्नतु** विश्रामार्थं **रथमारुरुहे** ॥६५॥

व्याख्यार्थ—उद्धवजी गोपी, और यशोदाजी से जाने की प्रार्थना कर आज्ञा ली, इन तीनों से ही प्रार्थना इसलिए की है कि इस प्रकरण में ये तीन ही मुख्य हैं। पश्चात् मित्र बने हुए गोपों से सलाह की अर्थात् उनको जाने की सूचना दी, यों क्यों किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उद्धवजी यादवों में श्रेष्ठ हैं। वास्तव में उनकी श्रेष्ठता इसलिए है कि उनमें भक्ति प्रधान है और वह भक्त हित करने वाले भी हैं। रथ में विश्राम के लिए नहीं बैठे किन्तु पुरी जाने के लिए बैठे ॥६५॥

आभास—स पूर्वमप्येवं बहुधा चकार । ततो नोद्यमनमात्रेण गमनौपयिकं कोपि करोति । यदा पुनः स निर्गत एव तदा तदर्थं भगवदर्थं च उपायनान्यानीय प्रस्थापनार्थं समागता इत्याह **तं निर्गतमिति** ।

आभासार्थ—उद्धवजी ने पहले भी कई बार जाने की तैयारी की थी, इसलिए किसी को विश्वास नहीं हुआ कि वे जाते हैं, किन्तु जब वे जाने के लिए निकलकर रथ में बैठे, तब व्रजवासी भी श्रीकृष्णचन्द्र तथा उद्धवजी के वास्ते भेटें लेकर उनको विदा करने के लिए आए, जिसका वर्णन 'तं निर्गतं' श्लोक में शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।
नन्दादयोनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥६६॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी को रथ में चढ़ा देखकर सब ने समझा कि वे निश्चय से जा रहे हैं, अतः नंद आदि सब अनेक प्रकार की भेंटें लेकर आए। वे देते हुए प्रेम के कारण नेत्रों से आँसू बहाते हुए कहने लगे ॥६६॥

सुबोधिनी—समासाद्याग्रे मिलित्वा,नानोपायनानि पाणौ येषाम् । स्नेहेन नन्दादयः । अश्रुलोचनाः सन्तः प्रावोचन् ॥६६॥

व्याख्यार्थ—वे नन्द आदि सब आकर मिले उनके हाथों में अनेक प्रकार की भेटें थी। वे उद्धवजी को दीं, स्नेह के कारण नन्द आदि जो आए थे उनके नेत्र आंसुओं से भरगए और वे यों कहने लगे ॥६६॥

आभास—तदुपदिष्टोर्थस्तेषां हृदये समागत इति ज्ञापनार्थं तत्फलसिद्ध्यर्थं गुरुं प्रार्थयन्ति मनसो वृत्तय इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—उद्धवजी ने जो उपदेश दिया उसका भाव हमारे हृदय में जम गया है, यह जताने के लिए उसके फल की सिद्धि के लिए गुरु को निम्न दो श्लोकों में प्रार्थना करते हैं।

श्लोक—मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥६७॥

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥६८॥

श्लोकार्थ—हमारे मन की सब वृत्तियाँ श्रीकृष्ण के चरणों की आश्रित होकर रहे; वाणी, नाम का स्मरण करे; काया, नमस्कार, पूजा आदि साधनों में लगा रहे; ईश्वर इच्छा से कर्मों के कारण कहीं भी हम भ्रमण करें, वहाँ-वहाँ शुभ आचरण, दानादि से भी विशेष रति ईश्वर श्रीकृष्ण में बनी रहे ॥६७-६८॥

सुबोधिनी—अस्माकं कायवाङ्मनांसि कृष्णसम्बन्धिकार्यपराण्येव भवन्तु। अयमेवोत्कर्षः प्रार्थनीयः न तु लोके प्रसिद्धः अन्यः कोप्युत्कर्षः प्रार्थनीय इति ज्ञापयितुं कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वचिद्योनौ सतां तदर्थं प्रार्थनायामुदासीनानां सर्वैरेव मङ्गलाचरितैर्दानैश्च, मङ्गलाचरितानि सर्वसाधारणानि, दानं विशेषधर्मः, वंश्येष्वेव देयानामुत्पत्तेः, कृष्णे रतिरसाधारणा इतोप्यु-

त्तमास्माकमस्तु। द्वयं प्राथितं सङ्घातस्य भगवति विनियोगः आत्मनश्च भगवति स्नेह इति। **मनसो** ह्येकादशवृत्तयः ताः सर्वाः **कृष्णपदाम्बुजमेवा**-श्रित्य तिष्ठन्तु क्रियया ज्ञानेनाभिमत्या च। अम्बुजे हि रूपरसगन्धस्पर्शाः स्पष्टाः। शब्दोन्यत्रापि स्वतन्त्रतया विनियोक्ष्यत इति न न्यूनता कापि। **आश्रय**पदेन प्रसङ्गात्करणं निवारितम्। **वाचोपि नाम्नामेवाभिधायिन्यो,** नाम तु तत्रैव पर्यवसित-सर्वशक्तियुक्तं भवति। नत्वेवंविधानि गुणकर्माणि, पदार्थान्तरवाचकत्वात्, छान्दसप्रयोगालौकिकपरा वाचो मा भवन्त्विति ज्ञापितम्। **कायः** शरीरं च तस्य भगवतः प्रह्वाणादिनमस्कारादिपूजासाधनादिषु भवतु। प्रकरणेन प्रार्थना ॥६७॥

कर्मभिरवश्यं भ्रमणम् **ईश्वरस्यापि** तथैवेच्छेति न कर्मस्वातन्त्र्यम्. अत एव स उत्कर्षोप्रयोजक इति **यत्र क्वापी**त्युक्तम्। ननु कायवाङ्मनसां भगवति विनियोगे मङ्गलाचरितानि कुत्रत्यानीति चेत्। सत्यम्। यावदेतद्भवति तावत्कर्माणि न त्यक्तव्यानीति तेषामन्यथाफलं मा भवत्विति तथा प्रार्थयन्ति। **किञ्च**। ईश्वरभाव एव **कृष्णे** सर्वदा भवत्वित्यपि प्रार्थनात्रयम् ।६८।

व्याख्यार्थ—हमारे काया वाणी और मन कृष्ण संबन्धी कार्यों में लगे रहें। जगत् में यही उत्कर्ष प्राप्त हो उसके लिए ही प्रार्थना करनी योग्य है। लोक में प्रसिद्ध, जो अन्य उत्कर्ष हैं, उनके मिलने के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। यह जताने के लिए कहते हैं कि कर्मों के कारण जिस किसी योनि में हमारा जन्म हो तो वहां भी शुभ आचरण, जो सर्व के लिए करना साधारण धर्म है। दान जो विशेष धर्म है, जिसकी उत्पत्ति वैश्यों में ही होती है अर्थात् वैश्यों की दान करने में उत्कृष्टता है। इन धर्मों से जो उत्कृष्टता होती है, उससे अधिक उत्कृष्टता कृष्ण में असाधारण रति में है, अतः हमको सर्वत्र वह रति प्राप्त होए, यों प्रार्थना कर दो बातों की गुरु से याचना की है। एक हमारे सङ्घात[1] का भगवान् में विनियोग हो और दूसरा आत्मा का भगवान् में स्नेह हो। जिसको आचार्य श्री विशेष स्पष्ट करते हैं कि, मन की वृत्तियां एकादश हैं वे सर्व, श्रीकृष्ण के चरण कमल के आश्रय में, ज्ञान से, क्रिया से और अहंकार पूर्वक स्थित रहें। चरण कमल में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार तो स्पष्ट हैं, शेष अन्य वृत्तियां गुणगान से, भगवान् के साथ सलाप आदि से स्वतन्त्र रूप से प्रभु में आ जाएँगी, इस प्रकार होने से न्यूनता कुछ भी न रहेगी। आश्रय पद देकर यह बताया कि कभी, किसी तरह भी वृत्तियों को चरणाम्बुज आदि का आश्रय करना चाहिए। इसलिए प्रसङ्ग से करने का निषेध कर दिया, वाणी भी नाम ही बोलती रहे। नाम तो वहां[2] ही पहुँच कर सर्व शक्तियों से युक्त हो जाता है। गुण और कर्म अन्य पदार्थों को कहते हैं, किन्तु नाम की मुख्य शक्ति तो भगवान् में ही पहुँचती है। यहां श्लोक में 'अभिधायिनीः' यह छान्दस् प्रयोग दिया है, जिसके देने का आशय यह है कि वाणी लौकिक परायण न होवे, शरीर, उस भगवान् के नमस्कार, पूजा आदि साधनों में लगा रहे, इस प्रकार प्रकरण के अनुसार प्रार्थना की है ॥६७॥

कर्मों से भ्रमण तो होता है, किन्तु वह भ्रमण भी तब होता है जब ईश्वर की वैसी इच्छा होती है। अन्यथा जो केवल कर्म ही भ्रमण कराने वाले माने जाएँ तो वे कर्म स्वतन्त्र मानने पड़ेंगे।

१— देह के अङ्गों, २— भगवान् में।

वे स्वतन्त्र नहीं है, स्वतन्त्र तो एक ईश्वर ही है। इसलिए श्लोक में 'ईश्वरेच्छया' कहा है, अतः कर्म से जो उत्कर्ष है, वह अप्रयोजक है, इसलिए 'यत्र क्वापि' जहां भी हमारा जन्म हो, कहा है। शरीर, वाणी और मन भगवान् में विनियोग के पश्चात् मङ्गलाचरण क्यों जिसके उत्तर में कहते हैं कि जब तक वैसी अवस्था न हो तब तक कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए। इनका विपरीत फल न होवे, इसलिए वैसी प्रार्थना करते हैं। कृष्ण में ईश्वर भाव ही सदा बना रहे, यों सबों ने मिलकर तीन प्रार्थनाएँ कीं ॥६८॥

आभास—ततः संतुष्टस्तथेति मनसैवाभ्यनुज्ञाय मथुरामागत इत्याह **एवं संप्रार्थित** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार की प्रार्थना होने से उद्धवजी को संतोष हुआ, जिससे उद्धवजी ने म से ही उसको स्वीकार करते हुए कहा कि यों ही हो, अर्थात् आपके मन की वृत्तियां कृष्ण के चरण कमल की आश्रित हो। वाणी नाम रटती रहे काया से नमस्कार पूजा आदि करते रहो, अनन्तर आप मथुरा आकर पहुँचे, जिसका वर्णन 'एवं सम्प्रार्थितो श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**एवं सम्प्रार्थितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप।**
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥६९॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! कृष्ण भक्तिपूर्वक गोपों से प्रार्थित उद्धवजी, कृष्ण से पालित मथुरा में वापिस आगए ॥६९॥

सुबोधिनी—तेषां प्रार्थनया स्वोत्कर्षो वा तेषामन्यभजनं वा ज्ञातमिति शङ्कां वारयितुं **कृष्णभक्त्येत्युक्तम्**। **नराधिपेति** संबोधनं सेवकानुवृत्तिः स्वाम्यर्थेति ज्ञापनार्था, तस्य प्रीतिरेव मुख्येति **परमप्रीत** इत्युक्तं; वचनं तु निर्बन्धादपि वदेदित्यप्रयोजकम्, **मथुरां पुनरागच्छत्**, भगवांस्तावत्पर्यन्तं मथुरायामेव स्थितः। **कृष्णपालितामिति**। विशेषतो भयशङ्कया स्वयमेव पालयतीति भगवदनागमने विशेषहेतुरुक्तः। अनेन तादृशं स्थानंपरित्यज्य किमित्युद्धवः समागत इति शङ्का निवर्तिता ॥६९॥

व्याख्यार्थ - श्लोक में 'कृष्ण भक्त्या' पद का आशय प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि किसी को ऐसी शङ्का हो जावे कि उद्धवजी ने नन्द आदि के प्रार्थना से अपना उत्कर्ष समझा अथवा उनको अन्य भजन है, यों समझा, यों नहीं है किन्तु 'कृष्ण भक्त्या' तथा 'मतिर्नः कृष्ण ईश्वरे' इन पदों से उद्धवजी सन्तुष्ट हुए। जब नन्द आदि में भक्ति की पूर्णता है तो प्रार्थना क्यों की? प्रार्थना करने का यह भाव है कि, जो पूर्ण भक्त होते है, उनका सहज स्वभाव होता है कि वे अपने उत्कर्ष को नहीं जानते हैं। जिससे वे सदैव दीनता से गुरु वा प्रभु को प्रार्थना ही करते रहते हैं। जब नन्द आदि वैसे पूर्ण हैं, तो उनसे सत्सङ्ग के लिए वहां कुछ और समय क्यों न ठहर गए? जिसका उत्तर, नराधिप! सम्बोधन से दिया है। सेवक का कर्त्तव्य स्वामिके इच्छानुकूल

ही होता है अर्थात् स्वामि की जैसी आज्ञा होती है तदनुसार ही उतना कार्य कर सकता है। विशेष अन्य करे, तो अपराधी होता है। आप राजा हैं,इसलिए आपको इस विषय का ज्ञान है ही। यदि कहो कि प्रार्थना के फल स्वरूप आशीर्वाद वा स्वीकृति प्रत्यक्ष क्यों नहीं दी ? आशीर्वाद से प्रीति(प्रसन्नता) ही मुख्य है, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी ने पहले ही 'परम प्रीतः' पद से कर दिया है। श्लोक में 'कृष्ण पालिताम्' कहा है, इस पर शङ्का होती है कि, उद्धवजी के सिवाय अन्य भी सेवक विद्यमान थे, तो स्वयं ने पालन का कार्य क्यों किया ? इसके उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं कि वह विशेष सङ्कट का समय था,जबकि जरासन्ध आदि के आक्रमण का भय था। अन्य अक्रूर आदि पर भगवान् का उद्धवजी के समान पूर्ण विश्वास नहीं था, इसलिए उद्धवजी को 'त्वं हि नः परमं चक्षुः' वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री' कहा है। इसी विशेष अवस्था के कारण आप व्रज में नहीं पधारे, अतः उद्धव भी व्रज में विशेष न ठहर कर मथुरा वापिस आ गए ॥६६॥

आभास—एतत्सर्वं दासभावेनैव कृतमिति ज्ञापयितुं निवेदनमाह **कृष्णायेति**।

आभासार्थ-नन्द आदि को भगवदाज्ञानुसार सान्त्वना देना आदि कार्य उद्धवजी ने दास भाव से ही किया है, यह जताने के लिए 'कृष्णाय' श्लोक से निवेदन का वर्णन करते हैं।

श्लोक—**कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम्।**
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥७०॥

श्लोकार्थ—कृष्ण को प्रणाम कर, व्रजवासियों में जो भक्ति की अधिकता देखी, उसका भगवान् के सामने वर्णन किया और प्राप्त को हुई भेंट भी दी। अन्य जो भेंटें मिलीं थीं, वे भी वसुदेव, राम और राजा को पृथक्-पृथक् दे दो ॥७०॥

सुबोधिनी—**उपायनान्यदादिति** सम्बन्धः। भगवन्तं **प्रणिपत्य भक्त्युद्रेकमाह**। एतावानर्थः पूर्वं भगवता नोक्त इति प्रायेण भगवान् न विचारितवान् इति। यादृशः प्रेमात्मको भक्तिपदार्थः शास्त्रे निरूपितस्तस्मादाधिक्यमेतद्भावस्योक्तवानिति वा। तेनानिर्वाच्यत्वमितोन्यत्रादृष्टत्वं च ज्ञापितं भवति। ततो **वसुदेवायाप्युपायनान्यदान्मित्र**सम्बन्धः तिष्ठतीति ज्ञापयितुम्। **रामाय** चाददात्पूर्वावस्था तथैव तिष्ठतीति। मर्यादामप्यङ्गीकुर्वन्तीति ज्ञापनार्थं **राज्ञे**, चकारादक्रूरादिभ्योपि दोषाभावज्ञापनार्थम् ॥७०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे चतुश्चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४४॥

व्याख्यार्थ—मिली हुई भेटें सब को दीं, यह सम्बन्ध है। भगवान् को नमस्कार कर व्रजवासियों के भक्ति का उद्रेक कहा। जैसा कि उद्धवजी ने आकर उनमें भक्ति का उद्रेक बताया, वैसा पहले भगवान् ने नहीं कहा था जिससे जाना जाता है कि बहुत करके आप इसको ध्यान में नहीं लाए हैं, अतः भगवान् ने 'ता' 'मन्मनस्काः' इतना ही कहा, क्योंकि इस प्रकार का उद्रेक आपने देखा नहीं

था। तो क्या भगवान् जानते नहीं थे क्या ? इसलिए आचार्य श्री ने 'प्रायेण' पद दिया है। विशेष में कहते हैं कि जैसा प्रेमात्मिका भक्ति का स्वरूप शास्त्रों में निरूपण किया है, जिससे भी व्रजवासियों में विशेष भाव का उद्धवजी ने वर्णन किया है,इससे यह भाव अनर्वचनीय है तथा दूसरे स्थान पर वा दूसरों में देखने में नहीं आया है। पश्चात् वसुदेवजी को भेटें दीं,कारण कि वसुदेवजी यों न समझें कि अक्रूर मेरे पुत्रोंको यहां ले आए,फिर उनको हमने मिलने के लिए भी वहां नहीं भेजे इसलिए नन्दजी ने सम्बन्ध व प्रेम छोड़ दिया है। परंतु भेटें भेजकर बता दिया कि अपना मैत्री और भ्रातृत्व का सम्बन्ध स्थिर है। राम को भेटें दीं, जिससे यह बताया कि नन्दराय की आप में वही बाल भावना है। राजा को भेटें दी जिसका आशय है कि आपको भी हम राजा मानते हैं। अक्रूर आदि को भेटें दी जिससे बताया कि आप यहां से राम कृष्ण को ले गए, इस कारण से हमारे मन में किसी प्रकार का आपके प्रति विषम भाव उत्पन्न नहीं हुआ है ।।७०।।

**श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४४वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का पांचवां अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।**

* इस अध्याय में भगवल्लीला सम्बन्धी कुछ पद *

राग धनाश्री—

देखौ नन्द द्वार रथ ठाढ़े
बहुरि सखी सुफलक सुत आयौ, परचौ संदेह जिह गाढ़ौ ।।
प्रान हमारे तबहिंलै गयौ, अब किंहि कारन आयौ ।
मैं जानी यह बात सुनत प्रभु, कृपा करन उठि धायौ ।।
इतने अन्तर आइ उपँग सुत, तेहिं छन दरसन दीन्हौ ।
तब पहिचानि सखा हरिजू कौ, परम सुचित मन कीन्हों ।।
तिहिं परनाम कियौ अति रुचि सौं, अरु सबहिनि कर जोरे ।।
सुनियत हुते तैसेई देखे, परम सुहृद जिय भोरे ।।
तुम्हरौ दरसन पाइ आपनौ, जनम सु फल करि मान्यौ ।
सूर सु ऊधौ मिलत भयौ सुख, ज्यौं झख पायौ पान्यौ ।

राग नट—

ऊधौ कहौ हरि कुसलात ।
कह्यौ आवन, किधौं नाहीं, बोलिए मुख बात ।।
एकछिन जुग जात हमकौं, बिनु सुने हरि प्रीति ।
आपु आए कृपा कीन्ही, अब कहौ कछु नीति ।।
तब उपँग सुत सबनि बोले, सुनौ श्री मुख जोग ।
सूर सुनि सब दौरि आईं, हटकि दीन्हौ लोग ।।

राग सारंग—

गोपी सुनहु हरि कुसलात ।
कंस नृप कौ मारि छोरे आपने पितु मात ।।
बहुत विधि मनुहार करि, दियो उग्रसेन हिं राज ।
नगर लोग सुखी बसत हैं, भये सुरनि के काज ।।
मोहिं यह पाती दई लिखि, कह्यौ कछु संदेस ।
सूर निर्गुन ब्रह्म उर धरि, तजहु सकल अँदेस ।।

राग सारंग—

निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति लै छाती ।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम, स्याम की पाती ।।
गोकुल बसत नंदनंदन के, कबहुँ बयारि न लागी ताती ।
अरु हम उती कहा कहैं ऊधो, जब सुनि बेनु नाद सँग जाती ।।
उनकैं लाड बदति नहिं काहू, निसि-दिन रसिक रास रस राती ।
प्राननाथ तुम कबहि मिलौगे, सूरदास प्रभु बाल सँघाती ।।

राग मल्हार—

कोउ ब्रज बाँचत नाहिन पाती ।
कत लिखि लिखि पठवत नँद नंदन कठिन बिरह की काँती ।।
नैन सजल कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती ।
परसैं जरै, बिलोकैं भीजे, दुहूँ भाँति दुख छाती ।
को बाँचै ये अंक सूर प्रभु, कठिन मदन सर घाती ।
सब सुख लै गये स्याम मनोहर, हमकौं दुख दै थाती ।।

राग धानश्री—

सुनौ गोपी हरि कौ संदेश ।
करि समाधि अंतर गति ध्यावहु, यह उनको उपदेस ।।
वै अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ ।
तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं हैं, वेद पुराननि गाइ ।।
सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ ।
वह उपाइ करि विरह तरौ तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ ।।
दुसह संदेश सुनत माधौ कौ, गोपीजन बिलखानी ।
सूर विरह की कौन चलावै, बूड़ति मीनु बिनु पानी ।।

राग नट—

ऊधौ बेगि मधुबन जाहु ।
जोग लेहु संभारि अपनौ, बेचियै जहँ लाहु ।।
हम बिरहिनी नारि, हरि बिनु कौन करै निबाहु ।
तहीं दीजै मूल पूरै, नफौ तुम कछु खाहु ।।
जो नहीं ब्रज में बिकानो, नगर नारि बिसाहु ।
सूर वै सब सुनत लै हैं; जिय कहा पछिताहु ।।

राग धनाश्री—

ऊधौ हम आजु भईं बड़ भागी ।
जिन अँखियनि तुम श्याम बिलोके, ते अँखियाँ हम लागीं ।।
जैसें सुमन बास लै आवत, पवन मधुप अनुरागी ।
अति आनन्द होत है तैसें, अङ्ग अङ्ग सुख रागी ।।
ज्यौं दरपन मैं दरस देखियत, दृष्टि परम रुचि लागी ।
तैसें सूर मिले हरि हमकौं, बिरह बिथा तन त्यागी ।।

राग सारंग—

मधुकर भली सुमति यह खोई ।
हाँसी होन लगी है ब्रज मैं, जोगहिं राखहु गोई ।।
आतम ब्रह्म लखावत डोलत, घट घट ब्यापक जोई ।
चाँपे काँख फिरत निरगुन गुन, इहाँ न गाहक कोई ।।
प्रेम कथा सोई पै जानै, जा पै बीती होई ।
तू नीरस एती कह जानै, बूझि देखियै लोई ।।
बड़ौ दूत तू बड़ी ठौर कौ, बड़ी बुद्धि सु बुड़ोई ।
सूरदास पूरो दै षटपद, कहत फिरत है सौई ।।

राग देवगंधार—

ऊधौ हरि गुन हम चकडोर ।
गुन सौं ज्यौं भावै त्यौं फेरौ यहै बात कौ ओर ।।
पेंड पेंड चलियै तौ चलियै, ऊबट रपटै पाइँ ।
चकडोरी की रीति यहै फिरि, गुन हीं सौं लपटाइ ।।
सूर सहज गुन ग्रन्थि हमारैं, दई स्याम उर माहिँ ।
हरि के हाथ परै तौ छूटै, और जतन कछु नाहिँ ।।

राग सारंग—

मधुकर जुवती जोग न जानैं ।
एक पतिव्रत हरि रस जिनकै, और हृदै नहिँ आनैं ।।
जिनकै रङ्ग रस रस्यौ रैनि दिन, तन मन सुख उपजायौ ।
जिन सरबस हरि लियौ रूप धरि, व है रूप मन भायौ ।।
तू अति चपल आपनै रस कौ, या रस मरम न जानै ।
पूछौ सूर चकोर चढे, चातक घन केवल मानै ।।

राग केदारौ—

ऊधौ तिहारे पा लागति हौं, बहुरिहुँ इहिँ ब्रज करवी भाँवरी ।
निसि न नींद भोजन नहिँ भावै, चितवत मग भइ दृष्टि झाँवरी ।।
वहै वृन्दावन वहै कुञ्ज घन, वहै जमुना वहै सुभग साँवरी ।
एक स्याम बिनु कछु न भावै, रटति फिरतिँ ज्यौं बकति बावरी ।।
चलि न सकति मग डुलत धरत पग, आवति बैठत उठत ताँवरी ।
सूरदास प्रभु आनि मिलावहु; जग मैं कीरति होइ रावरी ।।

राग सारंग—

जब तें सुन्दर बदन निहारचौ।
ता दिन तें मधुकर मन अटक्यौ, बहुत करी निकरें न निकारचौ॥
मातु, पिता, पति, बन्धु, सुजन, नहिँ, तिनहूँ कौ कहिबौ सिर धारचौ।
रही न लोक लाज मुख निरखत, दुसह क्रोध फीको करि डारचौ॥
ह्वै बौ होइ सु होइ कर्मबस, अब जी कौ सब सोच निवारचौ।
दासी भई जु सूरदास, प्रभु, भलौ पोच अपनौ न बिचारचौ॥

राग मल्हार—

ऊधौ अँखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवतिँ अरु रोवतिँ, भूलेहुँ पलक न लागी॥
बिनु पावस पावस करि राखी, देखत हौ बिदमान।
अब धौं कहा कियौ चाहत हौ, छांड़ौं निरगुन ज्ञान॥
तुम हौ सखा स्याम सुन्दर के, जानत सकल सुभाइ।
जसैं मिलैं सूर के स्वामी, सोई करहु उपाइ॥

राग नट—

अब अति चकितवंत मन मेरौ।
आयौ हौ निरगुन उपदेसन, भयौ सगुन कौ चेरौ॥
जो मैं ज्ञान कह्यौ गीता कौ, तुमहिं न परस्यौ नेरौ।
अति अज्ञान कछु न कहत न आवै, दूत भयौ हरि केरौ॥
निज जन जानि मानि जतननि, तुम कीन्हौ नेह घनेरौ।
सूर मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरौ॥

राग धनाश्री—

ऊधौ पा लागति हौं कहियौ, स्यामहिँ इतनी बात।
इतनी दूरि बसत क्यौं बिसरे, अपने जननी तात॥
जा दिन तै मधुपुरी सिधारे, स्याम मनोहर गात।
ता दिन तै मेरे नैन पपीहा, दरस प्यास अकुलात॥
जहँ खेलन के ठौर तुम्हारे, नन्द देखि मुरझात।
जौ कबहूँ उठि जात खरिक लौं, गाइ दुहावन प्रात॥
दुहत देखि औरनि के लरिका, प्रान निकसि नहिँ जात।
सूरदास बहुरौ कब देखौं, कोमल कर दधि खात॥

राग नट—

कहियौ जसुमति की आसीस।
जहाँ रहौ तँह नन्द लाड़िलौ, जीवौ कोटि बरीस॥
मुरली दई दोहनी घृत भरि, ऊधौ धरि लइ सीस।
यह तौ घृत उनही सुरभिनि कौ, जे प्यारी जगदीस॥
ऊधौ चलत सखा मिलि आए, ग्वाल बाल दस बीस।
अबकैं यह ब्रज फेरि बसावहु, सूरदास के ईस॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ४८वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४५वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

"षष्ठम् अध्याय"

श्रीकृष्ण-बलराम का यज्ञोपवीत और गुरुकुल में प्रवेश

कारिका—**एवं पूर्वनिरोधस्य सान्त्वनोत्कर्षवर्णनम् ।**

कृत्वा भविष्ययोश्चैव सान्त्वनं विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार उद्धव द्वारा सान्त्वना कराने से प्रथम किए हुए तामस निरोध का उत्कर्ष सिद्ध किया, इस प्रकार सान्त्वन दूसरे निरोध में नहीं करते हैं, जिसका वर्णन कर अब होने वाले राजस तथा सात्त्विक भक्तों के सान्त्वन का वर्णन करते हैं ॥१॥

कारिका—**मथुरावासिनः सर्वे राजसाः परिकीर्तिताः ।**
सात्त्विकाः पाण्डवा भक्तास्तयोः सान्त्वनमुच्यते ॥२॥

कारिकार्थ—मथुरा में रहने वाले भक्त राजस हैं और पाण्डव सात्त्विक भक्त हैं, इन दोनों का सान्त्वन कहते हैं, उत्कर्ष नहीं कहते हैं ॥२॥

कारिका—**राजसत्वप्रसिद्धयर्थं स्त्रीपुंसोरत्र वर्णनम् ।**
प्रक्रियान्तररूपा हि किञ्चिद्‌द्वारा तथा कृताः ॥३॥

कारिकार्थ—स्त्री और पुरुष दोनों के राजसत्व की प्रसिद्धि के लिए यहाँ छठे व सातवें अध्याय में वर्णन किया है । पाण्डव सात्त्विक भाव वाले हैं, उनको अक्रूरजी द्वारा सान्त्वना दिलाई है । सात्त्विक पाण्डवों की सान्त्वना का राजस प्रकरण में वर्णन इसलिए है कि सान्त्वना देने वाला अक्रूर, राजस हैं ॥३॥

कारिका—**अक्रूर उद्धवान्मुख्यः ततोग्रे प्रेषणं मतम् ।**
दासभावे तूद्धवस्तु शास्त्रतस्त्वयमेव हि ॥४॥

कारिकार्थ—अक्रूर उद्धवजी से मुख्य है, इस कारण से उसको अपने पधारने से पहले भेजा है । यों करने से उद्धवजी को हीनता प्रकट होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि उद्धवजी दास भाव में मुख्य हैं और अक्रूर शास्त्र द्वारा लौकिक में मुख्य है, अतः अपने-अपने गुण में मुख्य होने से, दोनों स्वरूप से समान हैं ॥४॥

कारिका—**स्त्रीसान्त्वनं तु पुरतः राजसत्वात्स्वरूपतः ।**
वाचान्यस्य निरूप्यं हि स्तुत्या च प्रेषणेन च ॥५॥

कारिकार्थ—प्रथम स्त्री सान्त्वन प्रद्युम्न स्वरूप से किया है, क्योंकि यह राजस लीला है । अक्रूर की सान्त्वना, वाणी, स्तुति और हस्तिनापुर भेजकर की है ॥५॥

कारिका—**पञ्चचत्वारिंशेध्याये कुब्जाक्रूरातिसान्त्वनम् ।**
कायेन वचसा चक्रे भाव्यर्थमिति वर्ण्यते ॥६॥

कारिकार्थ—४५वें अध्याय में कुब्जा और अक्रूर दोनों की सान्त्वना की ।

कुब्जा को वरदान दिया था, अतः काया से उसकी सान्त्वना की। अक्रूर की वाणी से सान्त्वना की, दोनों को अति क्लेश था, इसलिए इनकी सान्त्वना पहले की है ॥६॥

आभास—प्रथममेकादशभिः कुब्जायाः कथामाह साधिकैः **अथ विज्ञायेति**।

आभासार्थ—इस प्रकरण में प्रथम ११ श्लोकों से कुब्जा की कथा कहते हैं। उस कथा में एकादश मनोवृत्तियों को तृप्त करने से भी कुछ अधिक करना है, जिसका वर्णन 'अथ विज्ञाय' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः।**
सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन्गृहं ययौ ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि सबकी आत्मा, सर्वदर्शी भगवान्, कामदेव से संतप्त कुब्जा को जानकर, उसका प्रिय करने की इच्छा से उसके घर पधारे ॥१॥

सुबोधिनी—तस्या हि सर्वा मनोवृत्तयः पूरणीयाः ततोऽप्यधिकं च कर्तव्यमिति, आदौ भगवान् तस्या गृहे स्वयमेव गत इत्याह **अथेति**। **अथ** भिन्नप्रक्रमे भक्त्यभावात्, परं तस्या दुःखं तुल्यमिति तन्निवृत्त्यर्थं गत इत्यभिप्रायेणाह **विज्ञायेति**। प्रकरणात् कामसन्तापम्। ज्ञाने सामर्थ्यं **भगवानिति**। तथाकरणे दोषाभावे चावश्यको हेतुः **सर्वात्मेति**। दृष्ट्वावश्यं प्रतीकारः कर्तव्य इति **सर्वदर्शन** इति फलमुखो हेतुरुक्तः। पूर्वमयोग्यता देहे स्थितेति न तस्याः कामपीडा। इदानीं तु देहे योग्येपि स्त्रीचर्यां सर्वां जानातीति तस्याः कामपीडा महती जातेत्याह **सैरन्ध्र्या** इति। सैरन्ध्री ह्यन्तःपुरेऽधिकारिणी स्त्री स्त्रीचरित्रं जानातीति कामतापो युक्त एव। तस्या आगमनसामर्थ्याभावात् स्वयमेव **गृहं ययौ**। स्वगमनमात्रेणैव तस्यास्तापो निर्वर्तित एव तथापि **प्रियमिच्छन् ययौ**। मनसा तस्याः प्रियं भवत्विति विचारितवान्। ॥१॥

व्याख्यार्थ—उसके मन की सब वृत्तियाँ तो पूर्ण करनी है, किन्तु उससे भी अधिक करना है, यों विचार कर भगवान् पहले उसके घर आप ही पधारे। कुब्जा में भक्ति नहीं थी अतः यह दूसरा विषय है, इसीलिए 'अथ' शब्द दिया है, किन्तु उसका दुःख व्रजवनिताओं जैसा है, अतः उसको मिटाने के लिए गए। इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए 'इति विज्ञाय' पद दिया है। जिसके कहने का प्रकरणानुसार भाव है कि कुब्जा काम संतप्त थी। आप भगवान् हैं, इसलिए इसको जानने की आप में सामर्थ्य है। पर पुरुष होकर काम तृप्ति करना तो दोष है, इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि कोई दोष नहीं है; क्योंकि आप सर्व की आत्मा हैं, अतः दुःख जानकर उसका उपाय अवश्य करना चाहिए। आप समदर्शी हैं, यह फल मुख्य कारण है। इसको काम पीड़ा पहले नहीं थी; क्यों कि देह से कुबड़ी थी, अब देह सुन्दर हो गई और अन्तःपुर में अधिकार वाले ओहदे पर थी। जिससे स्त्री चरित्र पूर्णतः जानती थी, इसलिए काम की पीड़ा विशेष होने लगी और वह इस योग्य ही है।

वह भगवान् के पास आवे, वैसी सामर्थ्य उसमें नहीं थी, अतः आप ही उसके घर पधारे, भगवान् के केवल वहाँ जाने की इच्छा से ही उसका काम निवृत्त ही हुआ, तो भी उसको प्रसन्न करने की इच्छा से वहाँ गए, उसका प्रिय हो, यों भगवान् ने मन से विचार किया ।।१।।

आभास—ननु किमित्येवं विचारेण कर्तव्यमिव हि प्रियं तद्गमनेनैव भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थं भगवदिच्छया जातोत्कर्षं गृहं वर्णयति **महार्हे**ति सार्धेन ।

आभासार्थ—इस प्रकार विचार करने से क्या होगा ? उसका प्रिय करना है, तो वह उसके घर जाने से होगा, इस शङ्का के मिटाने के लिए विचार मात्र करने से भगवदिच्छा होते ही उसके गृह का उत्कर्ष हो गया अर्थात् गृह सर्वोत्तम बन गया, जिसका वर्णन 'महार्होपस्करै' इस डेढ़ श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**महार्होपस्करैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम् ।**
मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।
धूपैः सुरभिभिर्दीपैः स्रग्गन्धैरपि मण्डितम् ।।२।।

श्लोकार्थ—सब प्रकार की घर के योग्य बहुमूल्य वाली सामग्री से घर सुसज्जित हो गया । जिसमें काम को बढ़ाने वाली वस्तुएँ धरी हैं । मोतियों की माला, पताका, चँदोवा, सोने के लिए शय्याएँ आदि सब सजी हुई हैं । सुगन्धि धूप, दीप, फूलों की मालाएँ और चन्दन आदि सिद्ध हुए धरे थे अर्थात् तैयार रखे हुए थे ।।२।।

सुबोधिनी—यथा प्राकृतमपि गृहं भगवदिच्छयैवं जातं, एवं सापि गोपिकातुल्या भविष्यतीति प्राकृतायास्तथात्व कर्तव्यमिति प्रियेच्छा युक्तैव । **महार्हाण्य**मूल्यानि गृहादीनि पात्रादीन्युपस्करा यस्य तैर्वाऽऽढ्यं संपन्नं । **कामोपायाः** कामशास्त्रोक्तानि साधनान्युद्दीपकानि चित्राणि पुष्पादिसंपत्तिः इन्दुर्मन्दिरमित्यादीनि तैरुपबृंहितं लौकिकस्तच्छास्त्रीयश्चोत्कर्ष उक्तः । अलौकिकोत्कर्षमाह **मुक्तादामभिः पताकाभिश्च** बहिर्मण्डितम्, **वितानै**श्चन्द्रातपत्रैः **शयनासनैः** शयनार्थमुपवेशनार्थं च सुखस्पर्शास्तरणैः प्रत्यहं वैशेषिकैरपि मण्डितमित्याह **धूपै**रिति । अगरुसम्भवा आमोदाः **दीपा** अग्निमयाः मणिमयाः **स्रग्भिर्गन्धैश्च** शैत्यार्थं सर्वत्र लेपनं मण्डनम् । एवं त्रिविधोप्युत्कर्षः भगवदिच्छया तस्मिन् गृहे जात उक्तः ।।२।।

व्याख्यार्थ—जैसे कुब्जा का लौकिक साधारण घर भी भगवदिच्छा से वैसा हो गया, इस प्रकार कुब्जा भी गोपियों के समान होनी चाहिए, वैसी भगवान् की इच्छा योग्य ही है । गृह के सब भाग, पात्र आदि सर्व सामग्री अमूल्य थी, जिससे सारा गृह भरपूर हो गया था । इस प्रकार गृह का लौकिक उत्कर्ष वर्णन कर अब शास्त्रीय उत्कर्ष कहते हैं । काम शास्त्र में जो काम को बढ़ाने वाली सामग्री कही है, वह सब तैयार थी, जैसे कि चित्र, पुष्प मालाएँ तथा उद्दीपक रसायन आदि । अब अलौकिक उत्कर्ष का वर्णन करते हैं, मोतियों के गुच्छों से, पताकाओं से गृह के बाहर का भाग

सुशोभित था। भीतर का भाग चँदोवा एवं सोने तथा बैठने के लिए पलङ्ग आदि जिसको स्पर्श करने से सुख उत्पन्न हो वैसे कोमल बिछौने आदि थे। फिर नित्य विशेष प्रकार से उनको सुसज्जित किया जाता था। इसके सिवाय सुगन्ध के लिए धूप, प्रकाशार्थ मणिमय दीप, शीतलता आदि के लिए चन्दन, पुष्प मालाएँ, इसी भाँति सुशोभित गृह का तीन तरह से उत्कर्ष भगवदिच्छा से हुआ ॥२॥

आभास—ततो गते भगवति यद्वक्तव्यं तदाह **गृहं तमायान्तमिति।**

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् के पधारने पर कुब्जा ने प्रेम पूर्वक सत्कार किया, जिसका वर्णन 'गृहं तमायान्त' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासनात्**
सद्यः समुत्थाय हि जातसंभ्रमा।
यथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं
सभाजयामास सदासनादिभिः ॥३॥

श्लोकार्थ—घर में पधारते हुए भगवान् को देखकर वह कुब्जा शीघ्र ही आसन से उठकर आते ही घबरा गई, फिर सावधान हो सखियों के साथ आकर भगवान् से मिली, अनन्तर आसन आदि देकर उनका सर्वथा सत्कार किया ॥३॥

सुबोधिनी—भगवदिच्छाविषयत्वाद्गृहस्यापि कर्मता, यतस्तं तादृशं भगवन्त**मायान्तमवेक्ष्य** तथैवा**सनादुत्थाय** प्रथमं **जातसंभ्रमा** जाता इति कर्तव्यतामूढा जाता। युक्तश्चायमर्थः। ततः **यथावदुपसङ्गम्य सखीभिः** सहिता **सभाजयामास**। ननु कान्तोयं पूजया विलम्बितो निवृत्तकामो भवेत्तत्राह **अच्युतमिति। सदासनादिभिरिति।** सुवर्णमयाद्यासनानि शय्यामयानि वा अनुपभुक्तानीति **सत्**पदेन ज्ञापितम् ॥२॥

व्याख्यार्थ इस श्लोक में भगवान् की इच्छा का विषय 'गृह' है, अतः गृह भी कर्म है, इसलिए 'अवेक्ष्य' क्रिया के 'गृहं' और 'तं' दो कर्म हुए, जिसका सम्बन्ध इस प्रकार समझना, भगवान् ने इच्छा की थी कि कुब्जा का गृह सर्व प्रकार सुन्दर हो जावे, अतः भगवान् ने आते ही प्रथम घर को देखा पश्चात् स्वागत कराया, जिससे गृह कम है और कुब्जा ने तो भगवान् को देखा, जिससे 'तं' कर्म है। कुब्जा भगवान् को अपने गृह आते हुए देखकर आसन से सहसा उठी, तो घबरा गई; क्योंकि अन्तःकरण में यह विचार हुआ कि इनका स्वागत मैं कैसे कर सकूँगी जिससे ही घबराहट हुई, थोड़ी देर के बाद मन को सम्भाल सखियों के साथ भगवान् से मिलकर उनका सर्व प्रकार सत्कार करने लगी।

यह कान्त[1] हैं, यदि पूजन आदि में विशेष समय लग जाएगा, तो उसका काम शान्त हो

१- पति,

जाएगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि इनका काम देरी हो जाने पर भी शान्त न होगा, इसलिए शुकदेवजी ने यहाँ आपका नाम 'अच्युत' दिया है, जिसका भावार्थ है कि आप जैसे पूर्ण है, वैसे सदा पूर्ण ही रहते हैं, उसके पूर्ण स्वरूप में किसी प्रकार, किसी अंश की कमी नहीं होती है। आसन आदि वस्तुओं से भी सम्मान किया अर्थात् सुन्दर सुवर्ण के आसन, शैया भी दिए। 'सत्'आसन का विशेषण है, जिसके देने का आशय है कि वे आसन आदि सर्व पदार्थ नवीन हैं, किसी ने ये अपने काम में नहीं लिये हैं ॥३॥

श्लोक—**तथोद्धवः साधुतयाभिपूजितो**
न्यषीददुर्व्यामभिमृश्य चासनम् ।
कृष्णोऽपि तूर्णं शयनं महाधनं
विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥४॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी का भी साधुपन से सत्कार किया। वे सत्कार पाकर आसन का स्पर्श कर पृथ्वी पर बैठ गए, श्रीकृष्ण भी लोकरीति का अनुकरण करते हुए शीघ्र ही जाकर अमूल्य शैया पर बिराजे ॥४॥

सुबोधिनी—तथैव उद्धवोपि पूजितः परं **साधुतया,** अनेन भगवान् भर्तृतया पूजित इति ज्ञायते। कामो हि दोषात्मक इत्यर्थाद् व्यावृत्तिः फलति। **उर्व्यामेवोपविष्टः आसनमुपस्पृश्येति** राजधर्मपरिज्ञानं निरूपितम्। तस्याः कृत्ये जाते भगवानपि स्वकार्यं कृतवानित्याह **कृष्णोपीति।** तदर्थर्थमारोपिते कामे क्षणं विलम्बश्चेज् जगत् काममयमेव स्यादिति **तूर्णमेव शयनं** विवेश। नत्वनिर्दिष्टमुपभुक्तमनुपभुक्तं वा भवेदिति भगवदर्थं वान्यार्थं वेत्यपि शङ्कां व्यावर्तयितुमाह **महाधनमिति।** महद् धनमुत्पादनार्थं यस्य तदप्युत्कृष्टं भगवदर्थमेवेति **विवेशेति** पूर्वोपवेशस्थानाद् विविक्त इति ज्ञापयितुम्। ननु भगवानक्लिष्टकर्मा किमित्येवं प्रार्थनाव्यतिरेकेण स्वयमेव गत इति चेत्तत्राह **लोकाचरितानवुव्रत** इति। सा हि लौकिकी लोकरीत्यैव ग्राह्येति तस्यास्तथैव मनोरथः सा गृहस्थवदीश्वरवद्भावं न जानाति गुप्तत्वात्, खड्गव्यवहारं तु जानाति प्रकटत्वात्, अतस्तथैव मनोरथ इति **लोकानां** साधारणानां चरितानि भगवानप्य**नुव्रतो** जातः। नत्वनुवादकमेतत्पदं निरोधविरोधापत्तेः ॥४॥

व्याख्यार्थ—कुब्जा ने भगवान् की पूजा पति भाव से की और उद्धवजी का पूजन भक्त समझ कर किया। यों समझा जाता है कि जिससे दोष रूप काम की उद्धवजी में निवृत्ति दिखाई। उद्धवजी को राजधर्म का पूर्ण ज्ञान है, अतः आप आसन पर न बैठकर केवल उसका स्पर्श कर पृथ्वी पर बैठ गए। कुब्जा को जो कुछ करना था, उसके हो जाने के अनन्तर भगवान् भी अपना कृत्य करने लगे। कुब्जा के मनोरथ की सिद्धि के लिए धारण किए हुए काम की पूर्णता करने में थोड़ा भी यदि भगवान् विलम्ब करते, तो सम्पूर्ण जगत् काम मय ही हो जाता। इसलिए आप शीघ्र ही शैया पर जाकर बिराजे, किन्तु वह शैया नवीन थी, किसी ने अपने काम में नहीं ली थी एवं कुबरी ने ही दिखाई थी एव बहुमूल्य थी, जिससे यह शङ्का भी मिट गई कि यह शैया अन्य किसी के लिए है वा भगवान् के

लिए है तथा बहुमूल्य थी। इससे भी उसकी उत्कृष्टता तथा भगवान् के लिए ही है, यह सिद्ध हो गया था। जहाँ शैया धरी थी, वह स्थान भी जहाँ प्रथम बिराजे थे, उस स्थान से पृथक् एवं एकान्त में था। भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं, वे बिना प्रार्थना के स्वयं वहाँ कैसे गए? जिसके उत्तर में कहते है कि 'लोकाचरितानुव्रत' भगवान् ने इस समय लौकिक चरित्र करने का सङ्कल्प कर लिया, अतः स्वयं गए। कुब्जा लौकिकी स्त्री है, लौकिक रीति को ही जानती है, उसका वैसा ही मनोरथ है, वह गृहस्थ के समान भाव को जानती हैं, ईश्वर भाव गुप्त होने से नहीं जानती है। विट व्यवहार प्रसिद्ध होने से जानती है, अतः उसके मनोरथ के अनुकूल लोक रीति से ही वह ग्रहण करने के योग्य है। भगवान् भी साधारण लोगों के समान चरित्र करने लगे। यों कहना अनुवाद नहीं समझना चाहिए, किन्तु वास्तविक यों किया है। यदि यों न करे, तो कुब्जा का निरोध सिद्ध न होवे, अतः निरोध सिद्धि के लिए भगवान् ने इस प्रकार की लीला की है+॥४॥

आभास—ततः सापि गतेति तस्याः संस्कारपूर्वकं गमनमाह।

आभासार्थ—अनन्तर वह भी वहाँ गई, उसके संस्कारपूर्वक जाने का वर्णन 'सा मज्जनालेप' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—सा मज्जनालेपदुकूलभूषण-
स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादिभिः।
प्रसाधितात्मोपससार माधवं
सव्रीडलीलोत्स्मितविभ्रमेक्षितैः॥५॥

श्लोकार्थ—वह भी स्नान, चन्दन का लेपन, वस्त्र, आभूषण, पुष्पों की माला, सुगन्धित अत्तर आदि, ताम्बूल और अमृत के समान आसव आदि पदार्थों का पान आदि से अपने शरीर को सर्व प्रकार सजाकर अर्थात् भोग योग्य बनाकर, लाज युक्त लीला से हँसती तथा विलास युक्त दृष्टि से देखती हुई लक्ष्मीपति के पास आ पहुँची॥५॥

सुबोधिनी—आलेपं सुगन्धादिभिः स्नानार्थमेव भगवदिच्छया पूर्वमेव तस्यास्तथात्वम्, **सुधासव** इति शक्त्यर्थं देहविस्मरणार्थं च कामशास्त्रोक्तद्रव्यपानमुक्तम्। आदिशब्देन तथोद्बोधकानां पदार्थानामपि चन्द्रावर्तादीनां स्थापनम्। एवमेतैः **प्रसाधितशरीरा** तद्भावापन्ना लक्ष्मीपतिरयमिति तथाकरणे शङ्कारहिता **माधवमुपससार**। तया भगवति सर्वे भावाः स्वान्तः स्थिता क्रमेण

+ 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस गीता श्लोक के भाव की चरितार्थता दृष्टिगोचर होती है—अनुवादक

सूचिता इत्याह **सव्रीडेति**। स्त्रीभावात् प्रथमसम्बन्धे **व्रीडा**, ततो हासः प्रवृत्तायाः ततो भगवच्चेष्टानां सादरं निरीक्षणं,ततोप्यभिलषितानां भाषणं सूनृतं, अयमग्रे क्रमो भगवता कर्तव्य इति प्रथमतस्तादृशीं चेष्टां कुर्वाणैव गतेत्यर्थः ॥५॥

व्याख्यार्थ—भगवदिच्छा से उसको संस्कृत करने योग्य सर्व पदार्थ सिद्ध हुए धरे थे, जिनसे कुब्जा ने प्रथम स्नान कर चन्दन आदि से शरीर पर लेप किया, वस्त्र तथा आभूषण पहने, अमृत सम आसव पीये, जिनसे शरीर में स्फूर्ति हो और नशे से देह की विस्मृति हो, यों करने से यह बताया है कि काम शास्त्र काम केलि करते समय जिन पदार्थों का पान करना चाहिए, वे पान किए; आदि शब्द से यह भी बताया कि वहाँ आयुर्वेद शास्त्रोक्त चन्द्रोदय आदि रस भी धरे थे, जिनके सेवन से काम की जागृति होती है, इस प्रकार इन पदार्थों के सेवन से शरीर को सुसंस्कृत कर उस भाव को प्राप्त हुई। यों करने में इसको कुछ भी शङ्का न हुई; क्योंकि उसने समझा कि जिसके पास जा रही हूँ वे लक्ष्मीपति हैं, अतः निःशङ्क होकर माधव के पास पहुँची। उसने भगवान् के लिए अपने अन्तः स्थित सर्व भाव क्रम से सूचित किए, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि कुब्जा ने भगवान् को पति और अपने को स्त्री समझा, अतः प्रथम सम्बन्ध के समय जैसे लौकिक स्त्रियाँ लाज करती है, वैसी इसने भी लज्जा की। पश्चात् जब केलि में प्रवृत्त हुई, तब हास करने लगी। अनन्तर भगवान् की चेष्टाओं को आदरपूर्वक देखने लगी। भगवान् की चेष्टाओं में से जिस प्रकार की केलि की इच्छा हो, उसको भाषण द्वारा प्रकट कहने को सूनृत कहते हैं, इस प्रकार सर्व क्रिया कुब्जा ने की। आगे भगवान् के साथ भी यह क्रम करेगी, अतः प्रथम से हो इस प्रकार की चेष्टा करती हुई ही गई है ॥५॥

आभास—ततः सा कान्ता जाता भगवद्धर्मविशात्ततो यथाभिलषितं कृतवानित्याह **आहूयेति**।

आभासार्थ—कुब्जा कान्ता हुई, जिससे उसमें भगवान् के धर्मों का प्रवेश हुआ, अतः जैसे भगवान् ने चाहा वैसा ही उसने किया, इसका वर्णन 'आहूय कान्तां' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे।**
प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥६॥

श्लोकार्थ—नव-सङ्गम के कारण लज्जा आने से शङ्कावाली कान्ता के कङ्कण से शोभित हाथ को पकड़कर शैया पर बिठाकर उससे रमण करने लगे, जिसका केवल भगवान् को चन्दन अर्पण करने का ही पुण्य था, उस पुण्य का यह फल भगवान् ने इसको दिया ॥६॥

सुबोधिनी—स्वतः प्रवृत्त्यभावे हेतुमाह **नवसङ्गमह्रिया विशङ्कितामिति**। निकटे गतायाः शङ्कायामाह। **कङ्कणैर्भूषिते करे प्रगृह्येति**। कङ्कणानां परिधानं सुवासिन्या अस्यास्तु भगवद्व्यतिरिक्तः पतिर्नास्तीति भगवांश्चेत् न परिगृह्णीयात् तदा कङ्कणपरिधानं व्यर्थमेव भवेदिति

सूचितम् । शय्यामधिवेश्येति प्रथमं प्रथमसुरतमेवोक्तम् । नन्वेषा का, स्त्रीसंबन्धा न सर्वत्र कर्तव्या इति तत्राह रामयेति । भोगार्थमेवैषा स्त्री । 'नाग्निं चित्वा रामामुपेया'दिति विशेषनिषेधादन्यदा तया संबन्धो न दोषाय । नन्ववश्यं सुखानुभवे धर्मो हेतुः । 'ततः परमानन्दं कथमनुभवतीत्याशङ्क्याह अनुलेपार्पणपुण्यलेशयेति । अनुलेपार्पणादन्यानि पुण्यानि लेशमात्राणि यस्याः । अनुलेपार्पणस्य वा पुण्यमात्रं लेशो यस्याः । अथवा सा त्वनुलेपार्पणपुण्यलेशयुक्तैवातस्तस्याः सहभाव एव कृतः । भगवान् स्वयमेव रेमे तावत्फलं स्वयमेवाधिकं दत्तवान्, न तु कर्मणा जातमिति तथोक्तम् । अथवा । भगवान् सर्वसमर्थः । तस्यास्तावन्मात्रमेव सुखं दत्तवानिति ज्ञापयितुं तथोक्तम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—कुब्जा भगवान् के पास गई, किन्तु वहाँ जाते ही प्रथम सङ्गम के कारण लज्जा आने से स्वयं प्रवृत्त होने में सङ्कोच करने लगी। अतः भगवान् ने कङ्कणों से सुशोभित हाथ को पकड़ कर शैया पर बिठाया। कङ्कण धारण सुवासिनियों का चिन्ह है, इसका पति भगवान् के सिवाय अन्य कोई नहीं है। यदि भगवान् इसको ग्रहण न करे, तो इसका कङ्कण धारण करना ही व्यर्थ हो जाए। शैया पर पास में बिठाना, यह प्रथम सुरत है। इसके साथ जो प्रथम सुरत किया, तो यह कौन है? सर्वत्र स्त्री के साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिए, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'रामया' यह स्त्री भोग के लिए ही है।

वेद में कहा है कि 'नाग्निं चित्वा रामामुपेयात्' अग्नि चयन कर स्त्री के साथ सङ्गम नहीं करना चाहिए, यह विशेष अवस्था में निषेध है। दूसरे समय में इस प्रकार स्त्री से सम्बन्ध करना दोष नहीं है। धर्म करने से सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु यह तो परमानन्द का अनुभव कर रही है, इस का क्या कारण है? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् को चन्दन अर्पण किया, जिसके सिवाय अन्य पुण्य तो नाम मात्र है अथवा चन्दन अर्पण किया, जिसके पुण्य का यह फल लेश मात्र है अथवा चन्दन के अर्पण के पुण्य की लेशवाली यह है, अतः भगवान् ने इसको रमण में गौण रख स्वयं मुख्य रूप से रमण करने लगे। इतना फल भगवान् ने आप ही इसको विशेष दिया, न कि यह परमानन्द; इसको कर्म के फल से मिला है। अथवा भगवान् सर्व समर्थ हैं, इसको इतना ही फल स्वेच्छा से दिया है, यह जताने के लिए वैसा कहा है॥६।

आभास—ततः सापि लब्धधार्ष्ट्यां स्वाभिलषितं कृतवतीत्याह सेति ।

आभासार्थ—अनन्तर वह भी निर्लज्ज बन गई, जिससे अपनी इच्छानुकूल करने लगी। जिसका वर्णन 'सानङ्ग तप्त' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**सानङ्गतप्तकुचयोरुरसस्तथाक्ष्णो-**
र्जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती ।
दोर्भ्यां स्तनान्तरगतं परिरभ्य
कान्तमानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥७॥

श्लोकार्थ—वह कुब्जा काम से तप्त स्तन, छाती तथा नेत्रों के संताप को भगवान् के चरणों को सूँघ कर मिटाती हुई अपने स्तनों को मध्य में लाकर आनन्द स्वरूप कान्त को दोनों भुजाओं से जोर से आलिङ्गन कर, बहुत दिन के काम-ताप को शान्त करने लगी ॥७॥

सुबोधिनी—सा सैरन्ध्री अनङ्गेन तप्तयोः **कुचयोः**, षष्ठ्येषा। **उरसः** वक्षःस्थलस्य **अनन्तचरणेन** एतेषां **रुजं मृजन्ती** जाता। स्वरूपतः केनचित्सम्बन्धेन वेत्याशङ्क्य तापस्योभयत्र व्याप्तत्वाद् बहिःस्पर्शेन तापापगमेपि अन्तस्तापनिवृत्त्यर्थमुपायमाह। **जिघ्रन्तीति**। अर्थादनन्तचरणमेव, अनन्तत्वादेव पर्यायेण तापनाशो निवारितः। तथा सति शीघ्रं तापाभावो न स्यात्. न केवलं दुःखाभाव एव तस्याः फलितः किन्तु परमानन्दोऽप्यनुभूत इत्याह **दोर्भ्यामिति**। पूर्वमेव **स्तनान्तरे** हृदये निविष्टं अन्तर्यामिणं बहि**र्दोर्भ्यामालिङ्ग्य तापं जहौ**। **स्तनान्तरागतं** वा, कान्तत्वात् तथाकरणे नापराधः। न केवलं पर्यवसानवृत्त्या सुखजनकत्वं किन्तु स्वरूपतोपि तथात्वमित्याह **आनन्दमूर्तिमिति**। अत एव **अतिदीर्घमपि** त्रिविधमपि **तापं जहौ**, कामताप एव वा जन्मकोटिष्वनुस्यूतो दीर्घो भवति ॥७॥

व्याख्यार्थ—कुब्जा ने बाहर तथा भीतर के ताप को इस प्रकार मिटाया, प्रथम बाहर का ताप, जिससे स्तन, छाती एवं नेत्र संतप्त थे, उसको भगवान् के चरण से सम्बन्ध कर अर्थात् उसका स्पर्श कर मिटाया और अन्दर के ताप को चरणों को सूँघकर उसकी गन्ध से मिटाया। भगवान् को अनन्त कह कर यह भाव दिखाया है कि ताप क्रमशः शान्त नहीं हुआ, किन्तु सर्व ताप साथ ही नष्ट हो गए। जिससे कुब्जा के केवल ताप का दुःख मिटा, यों नहीं है किन्तु उसको परमानन्द का भी अनुभव होने लगा, जिसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्तनों के मध्य भाग हृदय में स्थित अन्तर्यामी को बाहर प्रकट कर भुजाओं से आलिङ्गन करते हुए ताप को मिटाया अथवा स्तनों के मध्य में आए हुए को आलिङ्गन किया, यों करने में कोई दोष (अपराध) नहीं हैं; क्योंकि वे कान्त हैं और यह आलिङ्गन केवल अन्त तक सुखजनक नहीं है, किन्तु स्वरूप से भी आनन्द देने वाले हैं; क्योंकि वे आनन्द स्वरूप हैं, इसलिए ही तीन प्रकार का ताप नाश हुआ। यह काम-ताप जो कोटि जन्मों से तप्त कर रहा था, वह भी अब मिट गया ॥७॥

आभास—एवमनुलेपार्पणफलमुक्त्वा फलानुभवार्थं या भगवतः सेवा कृता रतिरुत्पादिता तस्याः फलं वक्तव्यमिति तन्निरूपयति **सैवमिति** त्रिभिः।

आभासार्थ—इस प्रकार केवल चन्दन अर्पण का फल वर्णन कर, फल के अनुभव के लिए जो भगवान् की सेवा की और रति को उत्पन्न किया, जिसका फल भी कहना चाहिए, वह 'सैवं' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।**
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥८॥

श्लोकार्थ—मोक्ष के स्वामी, अति दुर्लभ, ईश्वर को केवल चन्दन अर्पण करने से प्राप्त किया। आश्चर्य है कि फिर भी वह मन्द भाग्या रही; क्योंकि उसने यह (श्लोक ९ में) माँगा ॥८॥

सुबोधिनी—इदं हि पूर्वस्माद् उत्कृष्टमिति वरत्वेन पर्यवसितम्, तथा सति न फले काचिन् मर्यादा इयदेवेति; तथापि भाग्यमेवाल्पमिति बुद्धिस्तादृश्येवेत्यल्पमेव याचितवतीति शुकस्तां निन्दति **दुर्भगेदमयाचतेति**। दातरि समर्थे प्रसन्नेऽप्यल्पयाचनं भाग्याभावादेव भवति। **सा** पूर्वोक्ता एवं जाता तं तथोपकारिणं स्वयमेवागत्य सर्वसुखदातारं **कैवल्यस्यापि नाथं** सर्वैरेवोपायैर्दुष्प्रापमीश्वरत्वात्, अन्यथा साधनाधीनः स्यात्। तादृशमपि **प्राप्य** मोक्षं गोपिकावदवस्थां वा न प्रार्थितवती किन्तु कालपरिच्छिन्नं भगवत्सम्बन्धमेव। यद्यपि स्वरूपतो महान्, तथापि कालेन परिच्छिन्नः फलत्वान्न साधनतामापद्यते, अतो **दुर्भगैव** ॥८॥

व्याख्यार्थ— यह सम्बन्ध पहले से उत्कृष्ट है, इसलिए यह वर दिलाने वाला हुआ है। यों होते हुए भी फल की प्राप्ति में कोई मर्यादा नहीं है कि इतना ही मिलेगा, तो भी इसका भाग्य ही अल्प है, जिससे इसकी बुद्धि वैसी हो गई और मांग भी बहुत कम है, इसीसे शुकदेवजी उसकी निन्दा करते हुए कहते हैं, कि 'दुर्भगेदमयाचत' जब देने वाले समृद्ध हैं, प्रसन्न होने से देना चाहते हैं, तब थोड़ा मांगना मन्द भाग्य का चिन्ह है और यह अच्छे भाग्य न होने से यों अल्प मांगा जाता है।'

वह कुब्जा, इस प्रकार उपकार करने वाले, आप ही पधार कर सर्व सुख देने वाले, मोक्ष के स्वामी, सर्व प्रकार के उपायों से जो प्राप्त नहीं होते हैं, जो ईश्वर होने से दुष्प्राप्य हैं, यदि ईश्वर न होवे तो साधनों के आधीन होवें, वैसे प्रभु को प्रसन्न पाकर भी उनसे मोक्ष वा गोपिकाओं जैसी अवस्था की प्रार्थना न कर केवल कुछ समय के लिए सम्बन्ध की प्रार्थना की है, अतः दुर्भगा है। यद्यपि यह मांग भी स्वरूप से उत्तम है, किन्तु काल से परिछिन्न है। अर्थात् थोड़े समय का सम्बन्ध मांगा है, तो भी फलस्वरूप होने से साधन रूप नहीं है ॥८॥

आभास—याचनमाह **आहोष्यतामिति**।

आभासार्थ— कुब्जा ने मांगा उसका वर्णन 'आहोष्यता' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**आहोष्यतामिह प्रेष्ठ दिनानि कतिचिन्मया।**
रमस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेम्बुरुहेक्षण ॥९॥

श्लोकार्थ—हे प्यारे ! कुछ दिन तो मेरे साथ यहाँ रहो, हे कमलनेत्र ! आपका सङ्ग मैं नही छोड़ सकती हूँ, अतः यहाँ रहकर मेरे साथ रमण करो ॥९॥

सुबोधिनी—**इहैवोष्यतामिति** विवाहस्याकृतत्वात् क्वचिच्छयनं कर्तव्यं तदिहैव कर्तव्यमित्यर्थः। किमित्येवं प्राथ्यंत इत्याशङ्कायामाह **प्रेष्ठेति**। परमप्रियस्तथोच्यत इति, तत्राप्यन्तर्यामिवत् स्थितिं वारयति **कतिचिद्दिनानि मया सह रमस्व**। ननु कोयं निर्बन्ध अयमेव वर इति,

मोक्षादिर्वा कथं न प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याह नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं ते इति । तत्र हेतुरम्बुरुहेक्षणेति । दृष्ट्वैव सर्वसुखदायककामोद्बोधकेति वा ।।६।।

व्याख्यार्थ— यहीं रहो, इन शब्दों के कहने का भावार्थ आचार्य श्री स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि कुब्जा के इन शब्दों का तात्पर्य यह है कि भगवान् को कहती है कि आपने अब तक विवाह तो किया ही नहीं है, तो कहीं भी आप सोजाओगे, जिससे तो यहीं शयन करना चाहिए। यदि आप कहो कि तुम्हारे पास कैसे सो जाऊं ? यों क्यों कहती हो ? इसके उत्तर में वह फिर कहती है कि आप मेरे परम प्यारे हैं, इसलिए यों कहती हूँ और मैं यों अन्तर्यामि स्थिति के रूप से रहने को नहीं कहती हूँ किन्तु कुछ दिन और मेरे साथ रमण करो। अब यदि कहो कि इस प्रकार का आग्रह वर रूप से क्यों मांग रही हो ? मोक्ष आदि अन्य उत्तम वर क्यों नहीं मांगती हो ? इस पर वह कहती है कि आप कमल नेत्र हैं. आपको देखने से ही सर्व प्रकार के सुख की प्राप्ति हो जाती है तथा काम जागृत होता है, अतः आपका सङ्ग छोड़ नहीं सकती हूँ ।।६।।

आभास—भगवान् यद्यपि बह्वेव सुखं दास्यामीति विचारितवान् तथापि याचितं दत्तवानित्याह **तस्यै कामवरं दत्वेति** ।

आभासार्थ— यद्यपि भगवान् ने कुब्जा को अति सुख देने का विचार किया था, किन्तु हत भाग्या ने जो अल्प मांगा तो वही दिया,जिसका वर्णन 'तस्यै कामवरं दत्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तस्यै कामवरं दत्वा मानयित्वा च मानदः ।
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदर्चितम् ।।१०।।

श्लोकार्थ—उसकी इच्छा के अनुसार मान देने वाले सर्वेश्वर भगवान् ने उसका सम्मान करके काम का वर दिया। अनन्तर कुब्जा से सत्कार पाकर उद्धवजी के साथ अपने धाम आए ।।१०।।

सुबोधिनी—सत्यसङ्कल्पत्वात् स्वविचारितमपि दत्तवानित्याह **मानयित्वेति** । तां मानितवान् । भगवान् हि मोक्षं भक्तिं च दातुमागतः येभ्यो दास्यति तन्मध्ये एतामप्यङ्गीकृतवानित्यर्थः । चकारादात्मानमपि । **मानद** इति भगवान् सर्वेभ्यो मानं ददातीति, स्वधर्माच्च **अस्यै** च मानं दत्तवान्, ततो बहिरागत्य **उद्धवेन सहितः** तदिच्छानुसारेण धर्मान्तरमपि परिगृह्य कार्ये संपन्ने पुनः सहजमेव धर्मं गृहीतवानित्याह । **सर्वेश** इति । अनेन तस्या यथा कियद्दिनरमणं भवति तथैव कृतवानित्यपि लक्ष्यते । यथा नारदस्य मायया क्षणमध्ये षष्टिसंवत्सरप्रतीतिः तथास्या अपीति । इतोगतस्य पुनरागमनाभावः सूचितः। नन्वाकाङ्क्षया पुनर्गच्छेदित्याशङ्क्याह । **ऋद्धिमत् स्वधामागमदिति** ।।१०।।

व्याख्यार्थ— श्लोक में भगवान् को मानद कहा है अर्थात् सबको मान देने वाले हैं. अतः इसका मान किया। जिसके रहस्य को आचार्य श्री प्रकट करते हुए कहते हैं कि भगवान् सत्य

सङ्कल्प हैं। आपने कुब्जा को भी उनकी गणना में गिना था, जिनको मोक्ष तथा भक्ति देने के लिए आप आए हैं। अत: उस सङ्कल्प को सत्य करने के लिए याचना न होने पर भी वह भी दिया। आपने स्वधर्म से कुब्जा का यही मान किया कि भगवान् सर्वेश हैं, अत: उसकी इच्छा के अनुसार मानव धर्म भी ग्रहण कर वह उसका मनोरथ पूर्ण किया। जिसके पूर्ण हो जाने के अनन्तर फिर वही अपना सहज ईश्वर-धर्म ग्रहण कर लिया। इससे यों भी समझा जा सकता है कि जैसे कुछ दिन रमण हो वैसे ही किया। जिस प्रकार भगवान् ने अपनी माया शक्ति से नारद को क्षण में की हुई लीला को साठ संवत्सरों में हुई की प्रतीति करवाई थी, वैसे ही यहां भी कुब्जा को इससे यह बताया है कि यहां से जाने के पश्चात् मेरा आना असंभव है। अत: यह शङ्का नहीं करनी कि यदि आकांक्षा भी हो तो मैं फिर आ जाऊँ ? क्योंकि और इच्छा हो जब फिर चला जाऊँ ? जहां मैं जा रहा हूँ वहां मेरे बहुत समृद्धि वाले धाम हैं इसलिए यहां आने की इच्छा होगी ही नहीं यों कह कर अपने समृद्ध धाम को चले आये ॥१०॥

आभास—अत एव भगवन्तं प्राप्य स्वयं न किञ्चित् प्रार्थनीयम्। भगवानेव यत्करिष्यति तत्करोतु, अन्यथा स कुमनीष्येव भवतीत्याह। **दुराराध्यमिति।**

आभासार्थ— इस कारण से ही, भगवान् को प्राप्त कर उनसे स्वयं कुछ भी देने के लिए प्रार्थना नहीं करनी, भगवान् को जो कुछ करना वा देना हो वह करें वा देवें, जो इस प्रकार नहीं करता है वह मूर्ख है, जिसको 'दुराराध्यं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।**
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात्कुमनीष्यसौ ॥११॥

श्लोकार्थ—सब ईश्वरों के ईश्वर दुराराध्य भगवान् को आराधना से प्राप्त कर जो जीव प्रसन्न हुए, उन परमात्मा से अपनी मनोऽनुकूल याचना करता है, वह मूर्ख है ॥११॥

सुबोधिनी—प्रथमत: स आराधयितुमेवाशक्य:, अत एवास्मदादयो मुक्ता अपि तथैव स्थिता:। तादृशमप्याराध्य तत्रापि प्रसादपर्यन्तं **सम्यक्**। **विष्णुं** पालनार्थमेवागतमनाराधनेऽपि पालकम्। तत्रापि सर्वेश्वराणां कालादीनामपीश्वरं नियन्तारं **सर्वेषां** हि कालग्रासो निवारणीय:। एवं सति यो **मनोग्राह्यं वृणीते** स **कुमनीषी** महाराजस्थाने गत्वा स्वयं क्षुधित: सर्वोपद्रवयुक्तोपि स्वसंबन्धिने मर्कटाय यथोदनं प्रार्थयते तद्वत् स्वयमात्मा मर्कटरूपाय मनसे हितं प्रार्थयतीति। नन्वेवमस्तु तथाप्यल्पमेव प्रार्थितं भवेत् न तु मर्कटवदित्याशङ्क्याह। **असत्त्वादिति**। न हि मनोधर्मा: स्वस्य भवन्ति, अध्यारोपितास्त्वसन्त एव, तर्हि कथं प्रार्थयत इत्याशङ्क्याह। **कुमनीषीति**। सा हि दुर्बुद्धि:, अत: प्रमादादन्यथा प्रार्थयत इत्यर्थ: ॥११॥

व्याख्यार्थ— शुकदेवजी कहते हैं कि प्रथम तो उसकी आराधना करनी ही कठिन है, इसलिए ही हम जो मुक्त हैं, वे जो वैसे ही ठोठ[1] रह गए हैं। जो पालन के लिए ही प्रकटे हैं, जो बिना आराधना करने वाले की भी पालना करते हैं जो काल आदि के भी ईश्वर हैं, जो सब के कालग्रास को भी निवारण करते हैं, ऐसे प्रभु की आराधना कर और उनको प्रसन्न करने के अनन्तर जो जीव अपने मन की (इच्छानुकूल) याचना करता है, वह मूर्ख है। जैसे कोई महाराजा के पास जाकर स्वयं भूखा एवं सर्व प्रकार के दुःखों से घिरा हुआ भी महाराजा से अपने पास रहने वाले बंदर के लिए ही टुकड़ा मांगता है तो वह मूर्ख ही है। वैसे ही अखिलेश्वर, आनन्दघन, घनश्याम प्रभु को प्राप्त करके भी आत्मा के लिए मोक्ष आदि न मांग कर मन रूप मर्कट की इच्छानुकूल विषयानन्द मांगता है तो वह मूर्ख ही है, क्योंकि मन के धर्म असत् हैं। वे आत्मा में केवल आरोपित हैं अर्थात् वे मन के धर्म आत्मा के समझे जाते हैं। किन्तु वास्तव में वे आत्मा के नहीं हैं, अतः वे असत् विषय रूप होने से अनित्य, अल्प, और अन्त में दुःखदायी हैं। अतः मनुष्य प्रमाद से वैसी प्रार्थना करने से मूर्ख समझा जाता है ॥११॥

आभास—अक्रूरभवनमिति।

आभासार्थ— अब 'अक्रूरभवनं' श्लोक से दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—**अक्रूरभवनं कृष्णः सहरामोद्धवः प्रभुः।**
किञ्चिच्चिकीर्षयन्प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया ॥१२॥

श्लोकार्थ—कुब्जा के मनोरथ पूर्ण करने के अनन्तर दूसरा कार्यक्रम प्रारम्भ करने के लिए कृष्ण अपने साथ राम और उद्धव को लेकर अक्रूर के घर पधारे; क्योंकि कुछ अपने कार्य कराने की इच्छा थी, साथ में अक्रूर के हित की कामना भी थी ॥१२॥

सुबोधिनी—तस्मिन्नेव दिवसे अक्रूरायापि वरो दत्त इति तस्यापि गृहे भगवान् गतः। ननु पूर्वं तस्मै वरो दत्त इति कथं व्युत्क्रमेण निरूप्यते तत्राह **कृष्ण** इति। स हि तासामर्थं समागत इति पूर्वमवोचाम। तत्र बलभद्रस्यापि कार्यमस्तीत्यत आह **सहराम** इति। **उद्धवो** हि उत्सवात्मकत्वाद् रसप्रधान एव, रमणं तु स्त्रीभिरेव, अतः कुब्जाया गृहे उद्धवेन सह गमनं, भगवांस्तत्र प्रधानमिति बलभद्रस्य क्रोधोपि स्याद् आवेशभूत इति रमणारमणाभ्यां रसाभासानौचित्ये स्याताम्। अत्र त्वक्रूराय संपूर्णो भावो नेय इति योनिभावार्थं रामं निमित्तभावार्थमुद्धवं च सह नीतवान्। नन्वनाकारितः किमिति गत इत्याशङ्क्याह **प्रभुरिति**। सर्वेषां हि स्वामी सेवकगृहेपि सेवकसंमाननार्थं गच्छति कस्तमाकारयितुं समर्थः। प्रयोजनमाह। **किञ्चित्** क्वचित् प्रेषणं **चिकीर्षयन्**

१- अविज्ञ (मूर्ख)

चिकीर्षामुत्पादयन्नक्रूरे तदर्थं स्वतोऽप्यक्रूरप्रियकाम्यया च प्रकर्षेण प्रभुरीत्यागात् । अस्योपाख्यानं स्मार्ततत्त्वैः प्रतिपाद्यते अयं हि स्मार्त इति ज्ञापयितुम् ।।१२।।

व्याख्यार्थ— उस दिन अक्रूर को भी वरदान दिया था, अतः भगवान् उसके घर पधारे । अक्रूर को तो कुब्जा से प्रथम वर दिया था, फिर कुब्जा के पास पहले क्यों गए ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'कृष्णः' कृष्ण है, वे स्त्रियों के लिए ही आए हैं यों हम पहले से कहते हैं । अक्रूर के यहां बलराम को इसलिए लेगए कि वहां उनका भी कार्य था, उद्धव उत्सवात्मक[१] होने से उसमें रस प्रधान ही है । रमण तो स्त्रियों के साथ ही होता है अतः कुब्जा के घर उद्धवजी को लेकर पधारे थे । बलभद्र को नहीं ले गए, कारण कि वहां भगवान् प्रधान थे । बलराम आवेश के कारण कदाचित् क्रोध करे तो रमण हो या न भी हो । उस द्वैत से रसाभास हो जावे तो वह अयोग्य देखने में आवे । यहां तो अक्रूर को सर्व भाव युक्त कर भेजना हैं, इसलिए योनि के भाव के लिए राम को और निमित्त भाव के लिए उद्धवजी को साथ लिया है । अक्रूर के बुलाए बिना, पराये गृह में कैसे पधारे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रभुः' सब के स्वामी है । जिससे सेवक के घर में उसको मान देने के लिए पधारते हैं । उनको बुलाने की शक्ति किसमें है ? अर्थात् किसी में नहीं है । वहां पधारने का दूसरा कारण कहते हैं कि अक्रूर को कहीं अन्य स्थान पर भेजने के लिए, उनसे भी वैसी इच्छा उद्भव करने के लिए, तथा अक्रूर का भी प्रिय करने के लिए जैसे प्रभु पधारते हैं, वैसे पधारे ।।१२।।

आभास—ततो गतानामक्रूरकृतं सत्कारमाह धर्मप्रतिपादनाय **स तानिति** ।

आभासार्थ— इसकी यह कथा २५ श्लोकों में कही जाती है, क्योंकि अक्रूर 'स्मार्त' है, अतः स्मार्त धर्मानुसार तत्वों की सख्या २५ कही जाती है । उन तीनों को घर आते देख अक्रूर ने जो कुछ किया वह 'स तान्नरवर' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**स तान्नरवरश्रेष्ठानाराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान् ।**
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभिनन्द्य च ।।१३।।

श्लोकार्थ—वह उन नर श्रेष्ठों में उत्तम अपने बांधवों को देख उठ खड़ा हुआ और बहुत प्रसन्न हुआ तथा मिलकर अभिवन्दन किया ।।१३।।

सुबोधिनी—तस्य सर्वे तुल्या अतो मर्यादया पूजयतीति न बलभद्रादेरपि वैमनस्यम्, नरवरेभ्योपि श्रेष्ठान् नरो नरो नरवरो **नरवराच्छ्रेष्ठ**श्चेति वा उद्धवरामस्वामिनः क्रमेणोद्दिष्टाः,

---

१— 'सर्व विस्मारक उत्सवः' जो अन्य सबको विस्मृत करा देवे, उसको उत्सव कहा जाता है । उद्धव रस प्रधान होने से अन्य सर्ब भुला देते हैं, अतः उत्सव रूप कहे जाते हैं ।

आराद्दूरादेव दृष्ट्वा स्वबान्धवानित्यवश्याभ्युत्थाने लौकिकोपि हेतुः, **प्रत्युत्थाय प्रथमतः प्रमुदितो** जातः, भक्तत्वाभावात् न साष्टाङ्गप्रणामः, पूर्वाक्रूरस्तु मुक्त एव, प्रमोदानन्तरं **परिष्वङ्गः**, ततो-**भिवन्दनम्** ॥१३॥

व्याख्यार्थ— उसको तीनों ही तुल्य है, अतः मर्यादा अनुसार तीनों की पूजा की। जिससे बलदेव आदि में विषमता का भाव नहीं है, यह सिद्ध कर दिखाया। नर उद्धवजी, नरवर बलरामजी और नरवर श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इन तीनों को अक्रूर ने दूर से आते देखा तो समझा कि ये अपने बाँधव आ रहे हैं। अतः लौकिक मर्यादानुसार घर में कोई आवे तो उठकर उनका सत्कार करना योग्य है, इसलिए अक्रूर उठकर खड़े हो गए और उठकर सर्वप्रथम अत्यन्त प्रसन्न हुए। अक्रूर[1] भक्त नहीं था, अतः साष्टाङ्ग प्रणाम नहीं किया। किन्तु प्रसन्न होने के अनन्तर आलिङ्गन किया, उसके बाद अभिवन्दन किया अर्थात् सिर झुका कर स्तुति की ॥१३॥

आभास—एवं कायिकं वाचनिकमुक्त्वा मानसिकं नमस्कारमाह **ननामेति**।

आभासार्थ—इस प्रकार कायिक और वाचनिक नमस्कार कह कर अब मानसिक नमस्कार 'ननाम' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—**ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः।**
पूजयामास विधिवत्कृतासनपरिग्रहान् ॥१४॥
पादावनेजनीरापो धारयन् शिरसा नृप।
अर्हणेनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्रग्भूषणोत्तमैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—अक्रूर ने कृष्ण और राम को नमस्कार किया और उन तीनों ने उस का अभिवाद किया, हे राजन्! उसने आए हुए तीनों का आसन आदि से विधिपूर्वक सत्कार किया और अक्रूर ने उनके पादों का प्रक्षालन कर प्रसादी जल अपने सिर पर धारण किया। पूजा के अनन्तर उसने दिव्य वस्त्र, गन्ध, पुष्प मालाएँ और उत्तम आभूषण भी दिए ॥१४-१५॥

सुबोधिनी—बहिर्नमस्कारस्तु व्यावहारिकः, अत एव भगवतापि ताभ्यां सह नमस्कृतमाह **स तैरप्यभिवादित** इति। पूर्वचकारात् फलाद्युपायनादानम्, द्वितीयादुद्धवं च, **स** त्रिभिरप्यभिवादितः। अपिशब्दस्तुल्यतामापादयति। ततो गृहागता इति **पूजयामास विधिवच्छास्त्रदृष्टेन** प्रकारेण यथा महापुरुषानभ्यागतान् पूजयति लोकः। कृतः **आसनपरिग्रहो** यैः। अत्रोद्धवेनापि धर्मानुरोधात्तुल्यतया आसनं गृहीतम्। यथा श्राद्धे गुरुशिष्यौ ॥१४॥

ततः **पादावनेजनीरापः शिरसा धारयन्**। इयं धर्मनिष्ठायामधिका भक्तिः। **नृपेति**। धर्मप-

---

१—जो अक्रूर भक्त था, वह तो मुक्त ही है।

रिज्ञानार्थम्। ततः दिव्यैर्गन्धैः स्रग्भूषणोत्तमैः सहितेनार्हणेन पूजयामासेति पूर्वेणैव संबन्धः। पूजा साधनरूपा पूजयामासेत्याराधयामासेत्यर्थः ॥१५॥

व्याख्यार्थ— बाहर का नमस्कार तो लौकिक शिष्टाचार है. जिससे भगवान् ने भी दोनों के साथ नमस्कार किया,इसलिए श्लोक में 'तैरप्यभि वादितः' पद दिया है। श्लोक में दो 'च' हैं, जिनका आशय प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि प्रथम 'च' से यह बताया है कि वे अक्रूरजी को भेंट देने के लिए फल ले आए हैं। दुसरे 'च' का आशय है कि उद्धवजी को भी साथ ले आए हैं। 'अपि' शब्द यहां बराबरी दिखाने के अर्थ में दिया है। तीनों ने भेंट अर्पण करते हुए अक्रूर को नमस्कार किया। पश्चात् शास्त्र में कही हुई विधि के अनुसार जैसे लोग घर में आए हुए महापुरुषों का पूजन करते हैं वैसे अक्रूर ने भी पधारे हुए स्व बान्धवों की पूजा की। पूजा का प्रकार बताते हैं कि प्रथम सबको बैठने के लिए आसन दिए। यहां उद्धवजी ने भी धर्म के अनुरोध[1] से बराबरी से आसन ग्रहण किया। जैसे श्राद्ध में गुरु तथा शिष्य दोनों आसन पर बैठते हैं॥१४।

इसके पश्चात् पाद प्रक्षालन कर, वह जल मस्तक पर धारण किया। इससे अक्रूर ने अपनी धर्म निष्ठा में विशेष भक्ति प्रकट की। परीक्षित को 'नृप' कहकर यह बताया है कि आप धर्म को जानने वाले हैं। इसके अनन्तर सुन्दर सुगन्धि वाले चन्दन, पुष्प, मालाएँ और आभूषण आदि सामग्री से उनका पूजन किया। इस प्रकार पहले से ही यह सम्बन्ध समझना है कि 'पूजयामास' से पूजा तो साधन रूप है, जिसका तात्पर्य है कि अक्रूर ने भगवान् आदि की आराधना की। १५॥

आभास—ततो यत्कृतवांस्तदाह **अर्चित्वेति**।

आभासार्थ— इसके बाद अक्रूर ने जो किया, उसका वर्णन 'अर्चित्वा' श्लोक से करते हैं—

श्लोक— **अर्चित्वा शिरसानम्य पादावङ्कगतौ मृजन्।**
प्रश्रयावनतोक्रूरः कृष्णरामावभाषत ॥१६॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार पूजन करने के बाद मस्तक से प्रणाम करके और चरणों को अपनी गोद में लेकर धीरे-धीरे चांपते हुए अक्रूरजी स्नेह से विनम्र होकर राम-कृष्ण की स्तुति करने लगे ॥१६॥

सुबोधिनी—ततः उच्चासने स्थितस्य भगवतः स्वाङ्कगतौ **पादौ मृजन्** सेवनार्थं संवाहयन्। **प्रश्रयेण अवनतो** भूत्वा **अक्रूरः** पूर्वोक्तः। कृष्णरामावुभौ पूर्वं दृष्टावित्यभाषत स्तोत्रं कृतवानित्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ— अनन्तर अक्रूर उच्च आसन पर विराजमान भगवान् के चरणों को गोदी में लेकर, सेवा भाव से उनकी चंपी करने लगा, स्नेह से प्रणाम कर, प्रथम ही देखे हुए रामकृष्ण की स्तुति करने लगा ॥१६॥

———

१—आग्रह

आभास—तां स्तुतिमाह दिष्ट्येति ।

आभासार्थ—अक्रूर ने जिस प्रकार स्तुति की, वह प्रकार 'दिष्ट्या' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम् ।**
भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राद्दुरन्ताच्च समेधितम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—प्रसन्नता है, जो पापी कंस भ्राताओं के साथ मरा, आपने अपने कुल का बड़े दुःख से उद्धार किया है । अब वह वृद्धि को करेगा, यह सब हमारे भाग्य से हुआ है ॥१७॥

कारिका—**दशभिः स्तुतिरुक्ता हि प्रार्थनैकेन दोषनुत् ।**
सर्वैर्भावैरिह स्तुत्यो निरोधे ह्यधिकारिभिः ॥
सर्वेष्वेव च भावेषु कृष्णोत्कर्षो निरूप्यते ।
अयुक्तं प्रार्थयेद्यस्तु तस्मै दद्यान्न सर्वथा ॥
न दत्तं पूर्वं गोपीभ्यः नोत्तरस्यापि दास्यति ।
निरोधो ह्यन्यथा न स्यात् फलार्थं कर्म तद्भवेत् ॥
ईश्वरः सर्वहितविदतो रोधो न दूषणम् ।
यथा बालकरोधो हि पित्रापि विनिरूपितः ॥
निवर्तयति कामांस्तान् ज्ञानेन ग्रहिला मतिः ।
यदि स्यादुत्कटा दुष्टा निर्दुष्टा वा विचारितः ॥

कारिकार्थ—दस[१] श्लोकों से स्तुति की गई है, एक श्लोक दोषों को मिटाने के लिए कहा है और एक श्लोक में प्रार्थना की है । यह स्तुति निरोध के अधिकारी भक्तों ने की है, अतः यह स्तुति सर्व भावों से पूर्ण है । सर्व भावों में कृष्ण के ही उत्कर्ष का वर्णन है, भगवान् भक्त को वह वस्तु देते हैं जो योग्य हो । यदि भक्त अयोग्य वस्तु की प्रार्थना करता है, तो भगवान् वह नहीं देते हैं । गोपियों ने प्रथम अयोग्य[२] माँगा, जिससे उनका हित होने वाला नहीं था, अतः भगवान् ने नहीं दिया और देंगे भी नहीं । अर्थात् यदि भगवान् गोपियों को संयोग रस दान करें, तो उनका निरोध ही

१—नव श्लोक सगुण है और एक निर्गुण है, २—संयोग ।

न होवे। वह फल के लिए केवल सेवा रूप कर्म हो जावे। ईश्वर सर्व के हितकारी हैं। अतः निरोध करना दूषण नहीं है। यदि अज्ञ बालक कोई अहित करने वाला कार्य करने के लिए आग्रह भी करे, तो पिता उस कार्य से उसको रोकता है। अर्थात् करने नहीं देता है, जिससे वह बालक अहित से बच जाता है। वैसे ही भगवान् भी जब देखते हैं कि जिस कार्य के लिए मेरा भक्त मुझे प्रार्थना करता है और आग्रही है, तो परम पिता प्रभु ज्ञान देकर उस दुर्मति को बदलाता है; जिससे वह बुद्धि निर्दोष होने से भक्त अपना हित समझ लेता है ॥१-५॥

सुबोधिनी—प्रथमं भगवत्कृतकर्मणामभिनन्दनरूपां स्तुतिमाह स्वसमानत्वेन धर्मः प्रतीत स्तामसोयं भाव इति पूर्ववत्प्रथमः। **दिष्ट्ये**ति। अस्मदादिभाग्येनैव **पापरूपोयं कंसो** हतः। पूर्ववद्व्याख्यानं। **सानुगो** भ्रातृसहितः। **वां** युवयोर्युवाभ्यामिदं **कुलं कृच्छ्राद्दुरन्तादुद्धृतम्**। अनेन कुलसंबन्धेन कुलस्यानिष्टं शङ्कितं निवारितं प्रत्युतेष्टमेव कृतमिति। **किञ्च**। तस्यैकस्य निवारणेन समुदायपर्यवसितं यदैश्वर्यं कुलस्य तत्प्रत्येकपर्यवसितमपि कृतमित्याह **समेधितमिति**। चकारात् मुक्तमपि कृतं पूर्वसंबन्धे पापादप्युद्धृतमिति, एवं तेन दृष्टं द्वयमेवेति तावदेवाभिनन्दितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ— प्रथम भगवान् ने जो अब तक कर्म किए हैं, उनकी अभिनन्दन रूपा स्तुति करते हैं। अक्रूर को अपने समान भाव वाला धर्म प्रतीत हुआ, इस प्रकार अक्रूर का भाव तामस है। यह तामस भक्तों के समान इसको प्रथम ही हुआ है। यह पाप रूप कंस बन्धुओं के साथ मरा, हमारे भाग्य से ही मरा। यादव कुल जो महान् संकट में पड़ा था, आप दोनों भ्राताओं ने उस संकट से उसका उद्धार किया है। जिससे कुल के सम्बन्ध से ही कुल के अनिष्ट होने की जो आशङ्का थी, वह आपने मिटाकर उसका इष्ट ही किया। उस एक को हटाने से सबका जो ऐश्वर्य था, जिसे उसने अपने पास दबाकर रखा था, वह अब सबको अपने भाग के अनुसार प्राप्त हो गया। कुल के दुःख से मुक्ति और सर्व प्रकार के पाप से उद्धार भी हो गया, और वृद्धि होने लगी है। अक्रूर ने ये दो ही देखे, अतः उनका ही अभिनन्दन (प्रशंसा) किया ॥१७॥

आभास—स्वरूपमाह **युवां प्रधानपुरुषा**विति।

आभासार्थ—दोनों के स्वरूपों का वर्णन 'युवां प्रधान' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—**युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयौ।**
भवद्भ्यां न विना किञ्चित्परमस्ति न चापरम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—आप दोनों प्रधान तथा पुरुष रूप हैं। जगत् के कारण तथा जगत् रूप हैं। आपके बिना यह जगत् कुछ नहीं है। कार्य-कारण रूप जगत् आप ही हैं ॥१८॥

सुबोधिनी—योनिबीजवदत्रापि व्याख्येयम्। प्रधानपुरुषत्वमाधिदैविकं भविष्यतीति ब्रह्मत्वेनैव स्तुतिर्निर्धर्मिका पर्यवस्यतीत्याशङ्कयाह **जगद्धेतू** इति। कारणार्थमेव **प्रधानपुरुषौ**, निमित्तत्वमात्रं भविष्यतीत्याशङ्कयाह। **जगन्मयाविति**। विकारे वा तत्प्रकृतवचने वा मयटोर्थविधाने भगवन्मयत्वं जगतो नायाति यद्यपि तथापि भगवत्त्वेन कारणत्वेन जगद्वर्तत इति वक्तुं भगवत एव जगन्मयत्वमुक्तम्। अन्यथाऽसतः सत्ता स्याद् भगवतो वा परिणामः स्यात्। 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्न'मिति वाक्याल् लोके जगतो महत्त्वविधानात्, तेन भगवन्माहात्म्यं वक्तुं अन्नमयो यज्ञ इतिवज् जगन्मयावित्युक्तम्। ननु तथापि भगवतः साधारणं कारणत्वं स्यात् कालादिवत् समवायिकारणत्वमपि साधारणमेव मृदादिवत्। तत्राह **भगवद्भ्यामिति**। भवद्भ्यां कृष्णरामाभ्यां विभक्तशक्तिभ्यां **विना परमुत्कृष्टमपरमपकृष्टं चकारात्तदवा**न्तरा भेदा वा **न** भवन्ति, त्वन्मूलकमेव सर्वम्, यत्र स्वसामर्थ्यं बहु प्रकटयसे तदुत्कृष्टं यत्राल्पं तदपकृष्टमिति ॥१८॥

व्याख्यार्थ— यहां भी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए कि एक निमित्त रूप और एक बीज रूप है। इस प्रकार व्याख्या करने से यों तो समझा जायगा कि ये आधिदैविक प्रधान पुरुष हैं। इस प्रकार ब्रह्मत्व करने से यह निर्धर्मक की स्तुति हो जावेगी? इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि 'जगद्धेतु' आप जगत् के कारण है,अतः निर्धर्मक नहीं हो,कारण के लिए ही यदि प्रधान पुरुष हो, तो केवल निमित्त[1]कारण होगे? इस संशय को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'जगन्मयौ' जगत् रूप होने से उपादान[2]कारण भी आप हो, जगत् रूप होने से विकारी बन जावेंगे और मयट् प्रत्यय, विकार में होता है। इस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि, मयट्, विकार अर्थ में नहीं है क्योंकि जगत् भगवान् मय नहीं हुआ है, किन्तु भगवान् जगत् मय हुए हैं, जिससे भगवान् जगत् के कारण रूप हैं, अतः मयट् प्रचुर्य अर्थ में है, अर्थात् एक भगवान् बहुत होकर जगत् रूप बने हैं। अतः यहां किसी प्रकार विकार नहीं है। यदि यों न माना जावेगा तो असत् से सत् की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। अथवा भगवान् का विकार जगत् होना चाहिए, ये दोनों हो नहीं सकते, अतः भगवद्गीता के विष्टभ्याहमिद कृत्नं' श्लोक के 'मैं इस समग्र जगत् में चारों तरफ फैला हुवा हूँ'। इस गीता वाक्य के अनुसार लोक में जगत् के रूप का महत्व बताया है और भगवान् का माहात्म्य भी कहा है। जैसे यह यज्ञ अन्नमय वा घृतमय है, सर्व वस्तु में घृत अधिक है, शुष्कता नहीं है। अन्न भी सबको अपने से भी अधिक ही मिलता है। इस प्रकार मान लेने से कालादि के समान निमित्त होने से भगवान् साधारण कारण रूप होंगे और मृत्तिका के समान समवायिकारणपन से भी साधारण बन जावेंगे। इसके उत्तर में कहते हैं कि आपने जो दो विभक्त शक्ति प्रकट दिखाई है उनके सिवाय और कुछ भी नहीं है। जगत् में जो उत्तम है, अथवा अधम है सर्व की जड़ आप ही हैं। जहां अपनी सामर्थ्य अधिक प्रकट करते हो, वह उत्तम है और जहां अपनी सामर्थ्य स्वल्प प्रकट करते हो वह अधम है ॥१८॥

१—निमित्त कारण उसे कहते हैं जो कार्य के पूर्व हो तथा जिसकी कार्योत्पत्ति में आवश्यकता हो। जैसे मिट्टी का घड़ा- कार्य है और चाक व चाक चलाने का डण्डा- निमित्त कारण है।

२—उपादान या समवायि कारण उसे कहते हैं जो आदि, मध्य, अन्त में कार्य से मिला ही रहे। जैसे घड़े में मिट्टी।

आभास—एवं कारणत्वेन च भगवन्तं निरूप्य भगवन्तमेवाधेयत्वेनापि निरूपयति भेदाभेदपक्षपरिहाराय **आत्मसृष्टमिति** ।

आभासार्थ – इस प्रकार जगत् का कारण रूप भगवान् है, यह निरूपण कर अब भेद अभेद पक्षों के निराकरण करने के लिए, कहते हैं कि जगत् का आधेय भी भगवान् हैं। 'आत्मसृष्टं' इस श्लोक से उसको समझाते हैं—

श्लोक—**आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः ।**
ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुतिप्रत्यक्षगोचरम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! अपने रचे हुए इस विश्व में आप ही रचना के अनन्तर उसमें अपनी शक्तियों से प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार से श्रुति के कहे हुए तथा प्रत्यक्ष में आने वाले पदार्थों में आप ही प्रतीत होते हैं ।।१६।।

सुबोधिनी—यद्यप्यात्मसृष्टेर्नैवं भेदाभेदो दोषाय भवति तथापि भिन्नसृष्टावपि यथेदं दूषणं न भवेत् तदर्थमेतदुच्यते । स्वेनैव **सृष्टमिदं** सर्वमेव **विश्वं** सृष्ट्यनुसारेण सृष्ट्यनन्तरमेव वा **अनुपश्चा**दा**विश्य स्वशक्तिभिरिति** सर्वसामर्थ्ययुक्तः **बहुधा ईयते** अनन्तप्रकारेण प्रतीयत इत्यर्थः । तथापि वैदिकोर्थोन्य एव भविष्यति विरोधः शब्द इति चेदित्यत्र तथा निरूपणात्,भ्रमप्रतिपन्नं च भिन्नं स्यात्, अतो न सर्वकर्तृत्वं भगवतः संभवतीत्याशङ्क्याह । **श्रुतिप्रत्यक्षगोचरमिति** । श्रुतिप्रतिपादितो यो विषयः यो वा प्रत्यक्षविषयः सोपि सर्वं त्वमेव, साधारणप्रत्यक्षस्य न वस्तुनिरूपकत्वमित्यभिप्रायेण सामान्यग्रहणम्, गोचरशब्दोपि विशेष्यनिघ्नो भवति । **अन्वाविश्येत्यस्य** वा कर्म । **ब्रह्मन्निति** संबोधनं ब्रह्मवादे सर्वेषामुपपत्तिः सिद्धेति नायमर्थः पुनः साधनीय इति ज्ञापयितुम् ।।१६।।

व्याख्यार्थ— यह आत्मस्वरूप सृष्टि है, अर्थात् अपनी इच्छा से बनाई हुई इस सृष्टि का सामवायि*तथा निमित्त* कारण आप हैं । अतः यह सृष्टि आत्म रूप है,जिससे अभेद में यह ऐच्छिक भेद दोष रूप नहीं है तो भी भिन्न सृष्टि में भी जैसे यह दूषण न हो इसके लिए ही यों कहा जाता है । वह प्रकार स्पष्ट कर बताते हैं कि यह सारा जगत् सृष्टि बनाने के तरीके से आपने अपने में ऐसे ही बनाया है । अनन्तर उसमें अपनी शक्तियों से प्रविष्ट हुए हैं, अतः सर्व सामर्थ्य युक्त आप अनन्त रूप दृष्टिगोचर होते हैं, तो भी वैदिक अर्थ दूसरे प्रकार का है । 'शब्द इति चेन्नान्यः' इस सूत्र में वैसा निर्णय किया हुआ है, भ्रम से जो भासमान हो, वह भिन्न होता है । अथवा जहां कोई वस्तु भ्रम से ग्रहण की जावे, वहां भेद है । इससे भगवान् सर्व के कर्ता है; यह असम्भव है । इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जिस विषय को श्रुति ने प्रतिपादन किया है और जो विषय प्रत्यक्ष है, वह सब आप ही हैं । साधारण प्रत्यक्ष से, वस्तु का निरूपण नहीं होता है । अतः साधारण शब्द न देकर 'सामान्य'[1]

१—सब में समान रूप से रहने वाली जाति,

*—पृष्ठ ३६२ पर इन कारणों की व्याख्या १ व २ पाद टिप्पणी में देखें ।

शब्द दिया है, गोचर शब्द भी विशेष्य के अधीन होता है, जैसे कि मृत्तिका से घट बनता है, घट से मृत्तिका नहीं बनती है। इससे घट मृत्मय[1] कहा जाता है मृत्तिका को 'घटमय' नहीं कहा जा सकता है, इस प्रकार परमात्मा से जगत् बनता है जगत् से आत्मा नहीं बनती है। इसलिए जगत् को आत्मा रूप कहा जाता है. विशेषता दिखाते हैं कि भगवान् अपनी शक्तियों से जगत् में प्रविष्ट हुए हैं, जिससे वह आधेय भी होता है। कहने का सरांश यह है कि इसलिए जगत् भगवद्रूप है और भगवान् भी जगद्रूप हैं। अर्थात् आधार आधेय आदि सर्व भगवान् ही है। यह ही शुद्ध अद्वैत ब्रह्मवाद सिद्धान्त है। हे ब्रह्मन्! संबोधन से यह बताया है कि ब्रह्मवाद में सर्व प्रकार की उपपत्ति[2] सिद्ध है, इसलिए इस अर्थ को पुनः सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।।१९।

आभास—नन्वेकस्य नानात्वं वैचित्र्य वा लोके नास्तीति लौकिकन्यायव्यतिरेकेण केवलमलौकिकमङ्गीकुर्वाणान् प्रति लोकानुसारेणापि एकस्यानेकरूपत्वं दृष्टान्तेनाह **यथा हीति**।

आभासार्थ— लोक में एक वस्तु में, नानात्व वा विचित्रता नहीं होती है। लौकिक, न्याय के सिवाय केवल अलौकिक को तो मानते हैं, उनको 'यथाहि' श्लोक में एक अनेक होता है, दृष्टान्त देकर समझाता है—

श्लोक—यथा हि भूतेषु चराचरेषु मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना।
एवं भवान्केवल आत्मयोनिष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति ।।२०।।

श्लोकार्थ—जिस भाँति चर-अचर भूतों की योनियों में पृथ्वी आदि अनेक प्रकार से रहते हैं, उसी भाँति आप अपनी इस सृष्टि में स्वतन्त्रता से प्रवेश कर बहु प्रकार से प्रकाशते हैं ।।२०।।

सुबोधिनी—स्थावरजङ्गमेषु **सर्वेष्वेव भूतेषु** वस्तुतः पार्थिवेषु कारणभूतानां पृथिव्यादीनां वैलक्षण्यस्य सिद्धत्वेऽपि जीवसामर्थ्येन तत्र कारणत्वेन प्रविष्टा **मह्यादयो नाना भान्ति**, तत्रोपपत्तिमाह **योनिष्विति**। चराचराणि भूतानि योनिवशादेव तथोत्पद्यन्त इति कदाचिन्मह्यादीनामकारणता प्रतीयेत बीजस्यापि वापनानन्तरं स्वरूपतो नाशाद् योनिस्वापत्तिरिति योनिष्वित्युक्तम्। तत्र मह्यादीनां चेद्बीजशक्तिवशात् तथात्वमुपपद्यते तदा बीजापन्नं ब्रह्म पूर्वमेव भगवति विद्यमानं जगद्रूपं स्वसामर्थ्येन शिष्टं स्वाभिलषितप्रकारेण योनिभावापन्नं स्वस्मिन् प्रवेशयेत्। अनन्तजगदाकारेण वृद्ध्यादिषु बह्वल्पपरिग्रहाविर्भावेन भगवानपि **केवल** एव **आत्मयोनिषु** आत्मरूपासु योनिषु जगद्रूपेषु **बहुधा विभाति**, शक्तिवशादविद्यमानस्थाने आकर्षणादनित्यता स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **आत्मेति**। सर्वत्र व्याप्त एवाकृष्ट एवाभिव्यक्तो भवतीत्यर्थः। दृष्टान्ते पारतन्त्र्यं प्रतिभासत इति तद्व्यावृत्त्यर्थं **आत्मतन्त्र** इत्युक्तम्. तदपेक्षयाप्यत्रानेकप्रकारत्वं ख्यापयितुं दृष्टान्तेन नानात्वे समागतेपि प्रकारान्विधत्ते। **बहुधेति**। नन्वहमेवेत्यत्र किं प्रमाणं वादिप्रतिपन्नमतेष्विव भिन्नतयैव तथा जगद्भवत्विति चेत्तत्राह **विभातीति**। कारणापेक्षयाप्याधिक्येन कार्यं भान दृश्यते यथा चित्रपटादिषु, अतो भगवानेवेत्यध्यवसीयत इत्यर्थः ।।२०।।

१—मिट्टी से बना हुआ मिट्टी रूप, २—प्रमाण।

व्याख्यार्थ— पृथ्वी से उत्पन्न स्थावर[1] तथा जङ्गम[2] आदि सर्व पदार्थों में पृथिवी आदि की विलक्षणता सिद्ध है, तो भी जीव के सामर्थ्य से कारणपन से प्रविष्ट पृथिवी आदि नाना प्रकार से भासते हैं। क्यों भासते हैं ? इसमें हेतु पूर्वक युक्ति देते हैं, 'योनिषु' चर एवं अचर भूत, जो इस प्रकार उत्पन्न होते हैं, जिसका कारण पृथिवी आदि का समवायि कारण है। बोने के बाद बीज नाश होता है इससे यदि पृथ्वी आदि का कारणपना प्रतीत न हो तो इसलिए 'योनि' कहा है। अर्थात बीज का नाश होते हुए भी उसका समवायि कारण नष्ट नहीं होता है। जब बीज में रही हुई समवायि कारण रूप शक्ति से पृथिवी आदि में नानापन प्रकट होता है, तब भगवान् की अभिलाषा के अनुरूप योनि भाव को प्राप्त जगत् कर्ता अक्षर ब्रह्म, भगवान् में पूर्व ही विद्यमान जगत् को भगवान् की सामर्थ्य से अपने में प्रविष्ट करते हुए अनत जगत् के आकार से भासमान होता है। जब वह जगत् की योनि अक्षर ब्रह्म अनन्त जगतरूप से वृद्धि आदि में बहुत वा अल्प परिग्रह[3] के आविर्भाव से भासता है, तब भगवान् भी अपनी आत्मा[4] जिनका कारण है, उन जगद्रूपों में बहुत प्रकार से भासते हुए भी एक ही हैं। जहां न हो वहां शक्ति के आकर्षण से विद्यमान यदि हो जावे तो वह अनित्यता समझी जायेगी। अर्थात् कहीं है कहीं नहीं है, जहां नहीं है वहां शक्ति से खिंच जाते हैं, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मा' है अर्थात् सर्व व्यापक होने से सर्वत्र सदैव है। जहां जब जैसी लीला करने की इच्छा होती है, वहां ही स्वतः स्वयं प्रकट हो जाते हैं, यहां भूतों का दृष्टान्त दिया है। वे भूत तो परतन्त्र हैं, क्या ये भी परन्त्रण हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'आत्मतन्त्रः ये स्वतन्त्र हैं, दृष्टान्त की अपेक्षा यहां जो नानात्व है, वह अन्य प्रकार का है। अर्थात् नाना रूपों में भी मैं एक ही हूँ, यह आपका एकत्व वादियों ने जैसे अपने मत में जगत् को पृथक् कहकर एक ही ब्रह्म सिद्ध किया है उसी प्रकार का है क्या ? जिसके उत्तर में कहा गया है कि नहीं, जगत् पृथक् नहीं है, किन्तु मैं जो कारण रूप हूँ, वह मैं कार्यरूप होकर नानात्व से भासमान हो रहा हूँ। जैसे चित्र पट (सिनेमा) में कारण का विशेष प्रकाश होता है, वैसे ही यहां भी कारण की अपेक्षा कार्य में अधिक प्रकाश होता है, अतः सर्वत्र सर्व में आत्मरूप से भगवान् ही एक हैं, योनि और बीज आदि का भेद इस में नहीं है, यह निश्चय हो जाता है ॥२०॥

आभास—एवं जगद्रूपतां निरूप्य कर्तृत्वे प्राप्तान् दोषान् वारयितुमाह **सृजस्यदो लुम्पसीति** ।

आभार्थ— इस प्रकार भगवान् ही जगद्रूप हुए हैं, यह बताकर, अब कर्ता होने से जो दोष प्रतीत होते हैं, उनका 'सृजस्यदो' श्लोक से निवारण करते हैं—

श्लोक—सृजस्यदो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः ।
न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः ॥२१॥

श्लोकार्थ—आप ही अपनी सत्त्व, रज और तमोरूप गुण शक्तियों से जगत् को रचते, पालते और संहार करते हैं, किन्तु उन गुण और कर्मों के बन्धन में फँसते नहीं

१—वृक्ष पर्वत आदि, २—मनुष्य पशु-पक्षी भी, ३—परिवार, ४—अक्षर ब्रह्म ।

हैं। कारण कि आप ज्ञान की आत्मा हैं, जिसके बन्धन का कोई कारण है ही नहीं ॥२१॥

सुबोधिनी—अदः प्रसिद्धम्, भगवन्तं दृष्टवतः प्रपञ्चास्फुरणाददः इति परोक्षनिर्देशः, अनेनाप्रतिपादनाय गुणत्वम्, तथापि स्मृतिन्यायेन भगवतः कर्तृत्वं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह **स्वशक्तिभिरिति**। न तु प्रकृतिधर्मैः, धर्मत्वेपि सामर्थ्यमापन्नानीति शक्तित्वम्, यद्यपि शक्तिपदेनैवाभ्यासो नास्तीति कर्मबन्धो निवारित एव तथापि लोकन्यायेनापि दूषणं परिहर्तुं ज्ञानेन तदभावमाह **न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वेति**। तद्गुणैर्बन्धो मोहवशात्कर्मवशाद् बन्धोनिच्छयापि, वेत्यनादरे। स्फुरणे हेतुरप्युक्तः। **रजसा सृजसि तमसा लुम्पसि सत्त्वेन च पासि,** रजस्तमःसत्त्वानां स्वधर्मत्वकालेनापि न बन्ध इति सुतरामेव तुच्छैः लोकैः, तत्र हेतुमाह **ज्ञानात्मनस्त** इति ज्ञानेनापि बन्धाभाव इति सर्वशास्त्राणि भवांस्तु ज्ञानस्याप्यात्मा त्वत्सामर्थ्यादेव ज्ञानं तथा करोतीत्यात्मपदेन सूचितम्। अत एव बन्धहेतूनां निराकृतत्वात् **ते** सर्वसमर्थस्य को वा बन्धहेतुर्भवति इत्याह **क चेति**। चकाराद्देशे कालेवस्थायां च ॥२१॥

व्याख्यार्थ— श्लोक में 'अदः' पद देने का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि यद्यपि प्रसिद्ध यह जगत् भगवान् को स्फुरित नहीं हुआ, इसलिए 'इदं' प्रत्यक्ष वाचक शब्द न देकर परोक्षवाचक 'अदः' शब्द दिया हैं। इस 'अदः' शब्द देने से स्फूर्ति न होने में कारण भी बता दिया, रजोगुण से बनाते हो, तमोगुण से लीन करते हो और सतोगुण से पालते हो। गुण शब्द देकर यह बताया है कि ये रजो, तमो और सतो धर्म प्रकृति के नहीं है, किन्तु मेरे धर्म हैं, अतः मेरी शक्तियाँ हैं, जिससे ही वे कार्य कर सकतो हैं। शक्ति पद से यहां अभ्यास (बार बार कार्य करना) नहीं है, इससे कर्म के बन्धन का भी निवारण किया गया है। यों होते हुए भी लोक के न्याय से भी कर्तृत्वहि का दूषण दूर करने के लिए ज्ञान से उसका अभाव बताते हैं, 'न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा' उनके गुणों के कर्मों से आप बन्धन में नहीं आते हो, उनके गुणों से, मोह वा कर्म के वश होने से वा अनादर होते हुए भी अनिच्छा से भी बन्ध होता है, किन्तु आपका बन्धन इस प्रकार का काल से भी नहीं होता है तो तुच्छ लोकों से तो सुतराम बन्धन नहीं होगा, कारण कि जब शास्त्र यों कहते हैं कि केवल ज्ञान से ही बन्धन नही होता है तो आप तो ज्ञान की भी आत्मा हैं। आपके ही सामर्थ्य से ज्ञान बन्धन का नाश करता है, तो जिसको सामर्थ्य से ज्ञान बन्धन का अभाव कर देता है, उस सर्व समर्थ को बन्धन में डालने वाला वहां भो कोई भी हेतु नहीं है अर्थात् कोई देश, काल और अवस्था वैसी नहीं है, जो आपको बन्धन में डाल सके ॥२१॥

आभास—ननु तथाप्यवतारान्यथानुपपत्त्या सोपाधिरेव सत्त्वगुणाभिमानिनोवतार इति लोकप्रसिद्धेश्च सुतरामेवावतारे बन्धो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **देहाद्युपाधेरिति**।

आभासार्थ— सत्व गुण के उपाधि वालों के ही अवतार होते हैं, यह मातुल आदि के मारने की कथाओं से प्रसिद्ध ही है, क्योंकि दूसरे प्रकार से उनकी उपपत्ति नहीं होती है। यों उपाधि से अवतारों के मानने से तो अवतार में बन्धन होगा, जिस शङ्का का निवारण इस 'देहाद्युपाध' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्भवो न साक्षान्न भिदात्मनः स्यात् ।
अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥२२॥

श्लोकार्थ—जन्म उसका होता है, जिसको देह इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, स्वभाव आदि उपाधियाँ होती हैं । आत्मा में ये उपाधियाँ नहीं है, अतः उसका जन्म नहीं है, आप आत्म रूप हैं, अतः आपका जन्म नहीं है । आप में भेद भी नहीं है, जिससे आप का जन्म या मोक्ष नहीं होता है । जिसका यह कारण है कि आप में अविवेक भी नहीं है ॥२२॥

सुबोधिनी—देह इन्द्रियाण्यन्तःकरणं स्वभावः कर्म कालो वा यस्योपाधिभूता भवन्ति तस्यात्मनः प्रथमं **भवो** भवति । ननु ममापि वसुदेवाद्भवो दृश्यत इति चेत्तत्राह **साक्षादिति** नटवत् वेषार्थं जन्मप्रकाशनं न जन्म । किञ्च । **आत्मनो भिदापि न स्यात्** पूर्वसङ्घातपरित्यागेन सङ्घातान्तरग्रहणं भेदोत्र विवक्षितः । यतः अयमात्मा न हि सर्वत्र व्याप्तस्तथा भवितुमर्हति आत्मत्वान्न भेदः । भेदाभावाच्च न जन्म, यतो मूलभूते विष्णौ भगवति वा, अत एव हेतोस्तवापि न **बन्धः** नैव च **मोक्षः** येन सत्कर्मकरणार्थं धर्मस्थापनादिक कुर्यात्, अत एव बन्धमोक्षौ न स्याताम् । ननु यावदधिकारं त्वाधिकारिकमितिन्यायेन विष्णोरप्यधिकारान्ते स्मार्तसंमता मुक्तिः । ब्रह्मवादिनोप्येकदेशिनः यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भवन्तो मनुष्या मन्यन्ते तद्ब्रह्म किं भवेदित्याशङ्क्य 'ब्रह्म वा इदमग्र आस' 'आत्मानमेवावैदह ब्रह्मास्मीति' 'तस्मात्सर्वमभव'दिति वाक्यानुरोधात् प्रपञ्चभवनवत् ब्रह्मविदाप्नोति पर'मित्यत्रापि ब्रह्मज्ञानेनैव ब्रह्मणोपि परत्वप्राप्तिरित्यध्यवसीयते । कर्मकाण्डेऽपि 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोग्र आसी'दित्युपक्रम्य सर्वेषामुत्कर्षो दर्शपूर्णमासाभ्यां निरूपितः । एवं परब्रह्मणोपि दर्शपूर्णमासाभ्यामेवोत्कर्षः प्रतीयते परमेष्ठिशब्दश्च ब्रह्मपर्यायः 'इन्द्रे प्रजापतौ ब्रह्मन्नि'त्यत्र क्रमेण तत्प्रकरणस्थानामेवोपलम्भात्, अतः सर्वेषामेव बन्धमोक्षौ स्त इति मन्यन्ते । किञ्च । 'इमां विद्यां कृष्णाय देवकीनन्दनाय प्रोवाचे'त्युपाख्याने ब्रह्मविद्याग्रहणमपि श्रूयते, अतः संभावितत्वात् बन्धमोक्षौ प्राप्ताविति तन्निराकरणं युक्तमेव । एते तु निरूपिताः पूर्वपक्षाः अविवेकेनैव प्राप्ता इत्याह **निकामस्त्वयि नोऽविवेक** इति । नोऽस्माकं सर्वेषामेव भ्रान्तानां निकामः स्वेच्छया त्वयि अविवेकोऽधिकारस्तु न स्वामिपरः लोके महाराजेऽधिकारपदप्रयोगाभावात् परमेष्ठिब्रह्मशब्दौ चतुर्मुखवाचकौ अन्यथा 'यज्ञो वै विष्णु'रिति श्रुत्या दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञत्वविधिर्व्यर्थः स्यात्, ब्रह्मविद्याद्यधिकारोपि संदीपनेरिव लीलया सभवति, अतोस्माकमेवाविवेकः न तु परब्रह्मणि बन्धमोक्षौ कथञ्चित् सम्भवत इत्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ – देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, स्वभाव, कर्म और काल आदि उपाधियाँ जिसमें होती है उसका जन्म होता है । यदि आप कहो कि मेरा भी वसुदेव के गृह में जन्म हुआ है, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि आपका जन्म साक्षात् नहीं हुआ है,किन्तु नट के समान केवल वेष बदल लेने को, जन्म नहीं कहा जा सकता है । आपने तो नट को भांति केवल वेष बदला है, जन्म लेने में भेद होता है एक सघात(देह का त्याग कर दूसरे सघात के ग्रहण करने को जन्म कहा जाता है । जिसमें भेद होता है, वह भेद भी आप में नहीं है, क्योंकि आप सब मे सर्वत्र व्याप रहे हैं । जो व्यापक हैं, उसमें भेद नहीं हो सकता है । कारण कि आप आत्मा होने से सर्वत्र व्याप्त हैं, व्याप्त होने से और भेद

रहित होने से आप मूल रूप विष्णु हैं। अतः आपका न जन्म हो सकता है और न मोक्ष होता है। जिससे आप सत्कर्म करने के लिए धर्म की स्थापना आदि करें, यों करने की इच्छा मात्र न होने से आपका बन्धन वा मोक्ष होता ही नहीं है। विष्णु की भी स्मार्त सम्मत मुक्ति तो होती ही है, क्योंकि जब तक अधिकार है, तब तक अधिकार का कार्य करना ही पड़ता है। अतः जब तक विष्णुत्व का अधिकार है तब तक तदुनुकूल कार्य किये जाते हैं। जब अधिकार की समाप्ति होती है तब कार्य करने का भी समाप्त होता है तो स्मार्त मुक्ति हो जाती है। स्मार्त मुक्ति भी श्रुति सम्मत है, यह बताने के लिए कहते हैं कि ब्रह्मवादियों के भी एक देशी मत में ब्रह्मविद्या से सर्व होता है, तो वह ब्रह्म कैसे होता है? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्मवाइदमग्रआस' 'आत्मानमेवा वेदहं ब्रह्मास्मी तस्मात् सर्वमभवत् आत्मा को ही माने कि यह पहले ब्रह्म था मैं ब्रह्म हूँ' उससे सब होता है श्रुति के इन वाक्यों से जैसे सर्वप्रपञ्च ब्रह्म रूप होता है वैसे ही 'ब्रह्मवित् आप्नोति परं' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्म रूप होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है। कर्मकाण्ड में भी, परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्। इत्युपक्रम्य सर्वेषामुत्कर्षो दर्शपूर्णमासाभ्यां निरूपितः' 'परमेष्ठी का यह यज्ञ आगे था' यहां से प्रारम्भ कर दर्शपूर्ण मास से सर्वका उत्कर्ष कहा है, इस प्रकार दर्श और पूर्णमास से परब्रह्म का भी उत्कर्ष प्रतीत होता है, 'परमेष्ठी' पद ब्रह्म के पर्यायरूप (बदले) में दिया है, इन्द्र, प्रजापति और ब्रह्म ये तीन शब्द उस उस प्रकरण में ब्रह्मवाचक हैं, इससे जाना जाता है कि बन्ध मोक्ष तो सबों का होता है। इस प्रकार वेदान्तिओं के एक पक्षवाले का मत है और विशेष में कहते हैं कि 'यह विद्या देवकी[1] के पुत्र कृष्ण को कही गई, इस उपाख्यान से ब्रह्म विद्या का ग्रहण सिद्ध होता है, जिससे बन्ध और मोक्ष की सम्भावना होने से उनका निराकरण करना योग्य ही है। ये तो अविवेक से प्राप्त पूर्व पक्ष है, जिनका निरूपण किया गया है। हम सब भ्रान्त होकर आपमें अविवेक की कल्पना करते हैं। वास्तव में आप में अविवेक है ही नहीं, क्योंकि अविवेक अर्थात् अधिकार तो सेवक को मिलता है। स्वामी में अधिकार का स्थान (गुञ्जाइश) ही नहीं है। कारण कि स्वामी तो स्वतन्त्र स्वेच्छावान् होता है। लोक में भी महाराजा में अधिकार का प्रयोग नहीं होता है अर्थात् महाराजा अधिकारी नहीं कहा जाता है, परमेष्ठी तथा ब्रह्म शब्द यहां ब्रह्मा के वाचक हैं यदि यों न माना जावेगा तो 'यज्ञ विष्णु' हैं इसमें जो दर्शपूर्ण मास को यज्ञकी विधि कही है वह व्यर्थ होगी, ब्रह्म विद्या का अधिकार सांदीपिनि की तरह लीला से ही संभव है, अतः हमारा ही अविवेक है जो आप में बन्ध मोक्ष मानते हैं, आप परब्रह्म हैं। परब्रह्म में कभी भी यह संभव नहीं है ॥२२॥

आभास—तर्हि कथमवतार इति चेत्तत्राह **त्वयोदित** इति।

आभासार्थ—तो अवतार कैसे होते हैं? इसका उत्तर 'त्वयोदित' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय यदा यदा वेदपथः पुराणः।**
बाध्येत पाषण्डपथैरसद्भिस्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥२३॥

श्लोकार्थ—जगत् के हित के लिए कहा हुआ आपका यह पुरातन वेदमार्ग, जब-जब असत् पाषण्ड के पंथों से बाधित हो जाता है, तब-तब आप सत्त्वगुण को धारण करते हैं ॥२३॥

१—इमां विद्यां कृष्णाय देवकीनन्दनाय प्रोवाच।

सुबोधिनी—यदैव त्वयोदितो वेदमार्गः पाषण्डपर्यैविरुद्धमार्गप्रतिपादकैः पुरुषैः बाध्येत तदा तेषां च बलिष्ठत्वात् कालवशात् सर्वेषामेव बुद्धिनाशाद् भगवानेव शक्त इति तदा भगवान् सत्त्वगुणं बिभर्ति भगवद्गृहीतं सत्त्वं बलवत् सद् रजस्तमसोरभिभावकं भवतीति । अनेन वैषम्यदोषः परिहृतः । नैघृण्यदोषस्त्ववतीर्णे नास्तीति न तन्निषेधकं वचनम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ— जिस समय आपके कहे हुए वेद पथ को, विरुद्ध मार्ग का प्रतिपादन करने वाले पुरुष बाधा पहुंचाते हैं और वे बलिष्ठ होने से तथा काल के कारण सबों की बुद्धि का नाश हो जाने से उस वाधा को मिटाने में तब भगवान् ही शक्त होते हैं, अतः भगवान् सत्व गुण को धारण करते हैं, जिससे सतोगुण बलवान् बन के रजो और तमो गुण को दबा देता है, इससे भगवान् में विषमता का अभाव बताया है, अवतार समय नैघृ ण्य दोष नहीं होता है जिससे उसके निषेध का कोई वचन नहीं कहा है ॥२३॥

आभास—नन्विदानीं वेदानां पीडाभावाद् व्यासावतारस्य जातत्वाद् बुद्धावतारस्याद्याप्यजातत्वात् किमनेनावतारेणेत्याशङ्क्याह **स त्वं प्रभोद्येति** ।

आभासार्थ— अब व्यास का अवतार हुआ है, बुद्ध का तो नहीं हुआ है, जिससे वेदों को तो पीड़ा नहीं है, तो फिर इस अवतार धारण का क्या प्रयोजन है ? जिसका उत्तर 'स त्वं प्रभो' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—**स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेवतीर्णः**
स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ।
अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांश-
राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! वही आप आज अपने अंश बलभद्रजी के साथ भूमि के भार को उतारने के लिए यहाँ वसुदेवजी के घर में प्रकट हुए हैं, कारण कि आपको दैत्यों के अंश रूप राजाओं की सैंकड़ों अक्षौहिणी सेना का नाश करना है तथा इस यदुकुल के यश का विस्तार करना है ॥२४॥

सुबोधिनी—स एव त्वं सर्वरक्षको न केवल वेदमात्ररक्षकः । तदाह **प्रभो** इति । क्रियाशक्तेरपि पूर्णाया विद्यमानत्वाद् **वसुदेवस्य** सत्त्वरूपस्य **गृहे**भिमानस्थानेभिमानप्रकारेण पालयिष्यामोत्यवतीर्णः । स्वांशेन बलभद्रेण सह इहैवागत्य **भारमपनेतुं** न तु वैकुण्ठे स्थित्वा मनसा, **अवतीर्णोसी**ति संमतिमिव पृच्छन्नाह भावस्य महत्त्वख्यापनायाह **सुरेतराणां** दैत्यानामक्षौहिणीनां **शतस्य वधेने**ति । ननु न दैत्याः साम्प्रतं प्रतीयन्त इत्याह **राज्ञामि**ति । प्रयोजनान्तरमप्याह **अमुष्य** वसुदेवकुलस्य **यशो वितन्वन्नि**ति रूपद्वयेनावतरणप्रयोजनद्वयमुक्तम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ— वह ही आप, केवल वेद के रक्षक नहीं है, किन्तु समस्त प्राणी मात्र के रक्षक हैं

क्योंकि आप 'प्रभु' हैं क्रियाशक्ति भी आप में पूर्ण रूप से विद्यमान है। अतः आपने सत्त्वरूप वसुदेवजी के अभिमान स्थान गृह में प्रकट होकर यह दिखाया है कि अभिमान प्रकार से ही सबकी पालना करूंगा डरपोकों की तरह नहीं पालूंगा। इस प्रकार पालने की इच्छा वैकुण्ठ में बैठे हुए केवल मन से नहीं की है, किन्तु, अपने अंश बलभद्रजी के साथ भूभार उतारने के लिए यहां को भूमि पर प्रकट हुए हैं। यह इस प्रकार कहा है कि मानों इस कथन की भगवान् से सम्मति ले रहा है। इस अवतार धारण करने से आपका महत्त्व विशेष प्रसिद्ध होगा, कारण कि आप सैकड़ों दैत्यों की अक्षौहिणी सेना को नाश करेंगे। यहां दैत्य तो दिखाई नहीं देते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि दैत्य ही राजा बन आए हैं। आपके प्रकट होने का दूसरा कारण हैं कि आपको वसुदेव के कुल के यश का विस्तार करना है। दो रूपों से प्रकट होने के दो कारण बता दिए हैं ॥२४॥

आभास—एवं भगवदवतारं प्रसङ्गात् कर्माणि च स्तुत्वा भगवदागमनं स्तौति **अद्येश न** इति।

आभासार्थ— इस प्रकार प्रसङ्ग से अवतार और उसके कर्मों की स्तुति कर अब भगवान् के पधारने की 'अद्येश नो' श्लोक से स्तुति करते हैं—

श्लोक—अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा
यः सर्वदेवपितृदेवनृदेवमूर्तिः।
यत्पादशौचसलिलं त्रिजगत्पुनाति
स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे ईश! आज हमारे घरों का भाग्य उदय हुआ है; क्योंकि जो सर्वदेव, पितृदेव और नृदेव की मूर्ति हैं और जिसके चरण से निकली हुई गङ्गाजी त्रिजगत् को पवित्र करती है, वे जगत् के गुरू अधोक्षज आप इन घरों में स्वयं प्रविष्ट हुए हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—नो वसतयो गृहा **अद्य भूरिभागा** अस्मत्कुलेऽवतीर्ण इति वयं पूर्वमेव भूरिभागाः। वसतयस्त्वद्य। **न** इति बहुवचनं भ्रात्राद्यभिप्रायम्। ननु निरोधाधिकारिणो भवन्तः तदर्थमागमनं न तु धर्मार्थमिति कथं वसतीनां कृतार्थतेति चेत्तत्राह **ईश** इति। उभयमपि कर्तुं समर्थः। ननु भगवत्संबन्धादेव तेषां भाग्यमस्तु, पृथक् किमिति निरूप्यत इत्याशङ्क्याह **भूरिभागा** इति। मद्भाग्यं चेद् यदैव ममेच्छा तदैवागच्छेदतो गृहस्यैव भाग्यम्। ननु गृहं हि त्रिगुणात्मकं गुणातीतो हि भगवदनुगुणो भवतीति कथमेवमुच्यत इति चेत्तत्राह **यः सर्वदेवपितृदेवनृदेवमूर्तिरि**ति। गृहाणामपि स्वोत्कर्षो येन सिध्यति तदपि रूपं भगवति वर्तते, गृहं हि देवतायोग्यं भवति पितृणां नराणां च। त्रयो हि लोके गृहे सुखिता भवन्ति, तेषां स्वदेवत्वमुत्कर्षः। देवमात्रे संतुष्टे गृहं युक्तं भवत्यन्यथा व्यर्थम्, एवमितरयोस्तत्र देवोत्तमो भगवानिति तत्प्राप्तौ भवत्येव सर्वोत्कर्षो योग्यता च एवमितरयोः। **किञ्च**। शुद्धिरप्यपेक्षिता सापि जातेत्याह **यत्पादशौचसलिलमि**ति। पादशौच-

सलिलं गङ्गा सा परम्परासंबद्धापि देशकालव्यवहितापि जलान्तरेण मिश्रितापि लोकत्रयमपि पुनाति, अत्र तु साक्षादेव पततीति किं गृहभाग्य वक्तव्यमित्यर्थः। ननु रूपभेदाद् वैलक्षण्यं भविष्यतीत्याशङ्कयाह **स त्वमिति**। अत्रापि त्वमेव प्रमाणमित्याह **जगद्गुरुरिति**। तर्हि कथं लोका न जानन्तीत्याशङ्कयाह **अधोक्षजेति**। बहिर्मुखत्वादज्ञानम्। **या वसतीः**। पुनर्ग्रहणं तासामभिनन्दनार्थं च ॥२५॥

व्याख्यार्थ–आप जिस दिन हमारे कुल में उत्पन्न हुए हैं, हम तब ही से भाग्यशाली हुए हैं, किन्तु हमारे घर और घर सम्बन्धी भाई बन्धु सब आज भाग्यवान् बने हैं। कारण कि घर में तो आज पधारे हो, यदि आप कहो कि हम तो आपको निरोध के अधिकारी जानकर उसके लिए पधारे हैं न कि धर्म के लिए अर्थात् घर को पवित्र करने के लिए नहीं पधारे हैं? जिसके उत्तर में अक्रूरजी कहते हैं कि आप ईश हो अर्थात् सर्व कुछ करने के लिए समर्थ हैं, अतः दोनों कार्य करने में समर्थ हो। यदि आप कहो कि तुम्हारे सम्बन्ध के कारण ही घर भाग्यवान् है। अपने से पृथक् उनको भाग्यशाली क्यों कहते हो? जिसके उत्तर में कहते हैं कि मेरे सम्बन्ध से उनका भाग्य तब मैं मानूं जब कि मेरी इच्छा से आपका आगमन हुआ हो। अब तो आप स्वयं पधारे हो, अतः गृह के ही भाग्य हैं। यह आपका कहना ठीक नहीं है क्योंकि घर तो त्रिगुणात्मक है और भगवान् के योग्य तो वह है जो निर्गुण होवे। जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप सर्वदेव, पितृदेव और नृदेव की मूर्ति हैं। अतः घरों का जिससे उत्कृष्ट होता है, वह मूर्ति भी आपमें ही विद्यमान है, क्योंकि घर, पितर, देवता और मनुष्य सबके योग्य होता है। पितर, देवता और मनुष्य तीनों ही घर में सुखी होते हैं। वे घर अपने देवता की प्रसन्नता के कारण ही उत्कृष्ट होते हैं, केवल देव के प्रसन्न होने से घर, घर की योग्यता वाला होता है यों नहीं होवे तो घर व्यर्थ है। इस प्रकार पितर तथा मनुष्य की उत्तमता भी उनके देवताओं के प्रसन्न होने पर समझनी चाहिए। उसमें भी यदि देवोत्तम भगवान् प्रसन्न होकर घर में पधारे तो घर की सबसे उत्तमता तथा योग्यता होती है। इसी प्रकार पितर तथा मनुष्यों की भी उत्तमता और योग्यता तो हुई किन्तु शुद्धि की भी अपेक्षा है। जिसके लिए कहते हैं कि जिसके पाद से निकली हुई गङ्गाजी तीनों लोकों को पवित्र करती है, वह भी साक्षात् नहीं, किन्तु परम्परा से उसका जल अपने पास आवे, देश और काल का अन्तराय भी होवे, दूसरा भी जल उसमें मिल जावे, तो भी सबको पवित्र करता है तो, यहां तो साक्षात् वे चरण हमारे घरों में पड़े हैं तो घर के भाग्य की क्या सराहना की जावे? फिर भी रूप के भेद में भेद होगा, जिसके उत्तर में कहते कि वह ही आप हैं। इसलिए आप ही प्रमाण हैं, क्योंकि आप जगत् के गुरु हैं, यदि मुझको तुम लोक गुरु कहते हो तो लोक मुझे क्यों नहीं लोक गुरु कर जानते वा मानते हैं? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप 'अधोक्षज' हैं ये लोकिक इन्द्रियां बहिर्मुख हैं, अतः उनमें अज्ञान हैं। जिससे वे आपको जान नहीं सकते है। दूसरी बार घर में प्रवेश अभिनन्दन के लिए कहा है।२५।

आभास—एवं भगवदागमनं स्तुत्वा भगवति प्रपत्तिं स्तौति स्वचिकीर्षितां **कः पण्डित** इति।

आभासार्थ— यों भगवान् को पधारने की स्तुति कर अब अपनी इच्छित शरणागति को 'क पण्डित' श्लोक से बखानते है—

श्लोक—कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्-
भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।
सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-
नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ।।२६।।

श्लोकार्थ—हे ईश ! कौन ऐसा पण्डित है, जो आपकी शरण छोड़ दूसरे की शरण ग्रहण करे ? कारण कि आप भक्त प्रिय हैं, सत्यवक्ता हैं, सब के हितकारी सुहृद हैं, कृतज्ञ हैं, भक्तों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं, भक्त अपनी आत्मा दे तो आप अपनी आत्मा भी दे देते हैं;जिससे आप में देहवत् वृद्धिह्रास नहीं है, अर्थात् सदैव आप एक रस हो ।।२६।।

सुबोधिनी--स्तुत्यनन्तरं हि फलं प्रार्थनीयं तत्प्रपत्त्यतिरिक्तं नास्तीति ज्ञापयितुं प्रपत्तिमेव स्तौति । प्राणिनां कर्तव्या प्रपत्तिरेव । कर्तव्याकर्तव्यविवेकवान् हि **पण्डितः**, इममेवार्थमधिकृत्य 'पण्डितो **बन्धमोक्षवि**'दित्युक्तम् । तत्रानायासेन फलसिद्धिः । विद्यमाने स्वोत्कृष्टे समाश्रयणमेव युक्तम् । आश्रयो हि स्वाधीनं सर्वमेव यच्छति । मनस्तु क्षणिकमिति सर्वपदार्थाभिलाषि भवतीति कदा वा किं प्रार्थयेदिति तत्तत्साधनेष्वशक्तो हि प्रपत्तिमार्गमवलम्बते । तदपि कृत्वा चेत्फलं न प्राप्नुयादसमर्थभजनात् तदा प्रपत्तिर्व्यर्थेति को वा विवेकी त्वत्तोपरं शरणं सम्यगीयात्, साधनत्वेन गुरुत्वेन वानुवृत्तिं कुर्यात् न तु शरणं गच्छेत् । नन्वाहृत्य कथं त्वं प्राप्तव्यः । अतोन्यानुवृत्तिः प्रथममावश्यकीति कथमन्यनिरोधः क्रियत इति चेत्तत्राह **त्वदपर** इति । त्वमपरो यस्य नियामकत्वेन न बुद्ध्या गृहीतः । गुर्वादिस्तु नैवंविधो भवतीति न दोषः । भगवतः शरणागतो हेतूनाह **भक्तप्रियादृतगिरः सुहृदः कृतज्ञादिति** । षट्हेतवो हि भगवति । तत्र फले हेतुद्वयं साधने चतुष्टयमिति । साधनेपि स्वधर्मपुरस्कारेण आश्रितधर्मपुरस्कारेण हेतुर्वक्तव्यः । अन्यथा फलं काकतालीयं स्यात्, यो हि सेवकानपेक्षते स सेवकेभ्यः प्रयच्छति स ईश्वर एव भवति,तत्रापि सेवकधर्मं चेदुररीकुर्यात्तदैव सेव्यो भवति तदाह **भक्तप्रियादिति** । लोका हि फलार्थं सेवमानाः सेवायामशक्ताश्चेन्न फलं प्राप्नुवन्ति, भजनानुरूपं च प्राप्नुवन्ति न हि प्रभुस्तस्य क्लेशं मन्यतेऽन्यथा दुःखदे साधारणे देशे काले च तान् सर्वान् न प्रवर्तयेत् यथा पुत्रम् । भगवांस्तु न तथा भक्तम्, अतो भगवानेव सेव्यः । **किञ्च** ; स्वधर्ममप्यवेक्ष्य भक्तहितं करोतीत्याह **ऋतगिर** इति । सत्यवाक् सत्यसङ्कल्पः 'संग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत्' । 'कौन्तेय प्रतिजानीही'त्यादिवाक्यात् । यो हि सेवकक्लेशं सहते स न मनसि शुद्धः, यो वाचि न दृढः स वाचि तथा । यस्तु समागतेवसरे मित्रमिव कार्यं न करोति शरीरतः स काये तथा । एतत्त्रयं लौकिकं स्वतः कर्तव्यम् तस्य कृतं जानातीति तद्धर्मकरणे हेतुरुक्तः । दोषाभावा एते, आत्मवत् पुत्रवच्च भक्ताः कायवाङ्मनोभिः विषयीकर्तव्याः इति गुणाः, प्रह्लादे सर्वापत्सु मनसा हितं कृतवान् वाचा गोपिकादिषु कायेनास्मास्विति । एवं भावे भगवद्गुणे न कोपि सन्देहः, कृतज्ञत्वाभावे प्रवाहवत् कारणान्नोत्कर्षः स्यात्, फलदातृत्वमाह **सर्वान् ददातीति** । परेषामनिष्टं स्वानिष्टं वा कर्तुं वाञ्छन्ति तदा न ददातीति ज्ञापयितुं **सुहृद** इति । शुद्धान्तःकरणस्य स्वद्रोहं परद्रोहं वाऽवि-

चारयतः सर्वानेव कामान् ददाति, दाने हेतुर्भजनमित्याह **भजत** इति। एकस्मिन्नपि प्रार्थिते अभितः सर्वतः प्रयच्छति। नन्वन्येऽप्येतादृशा भवन्तीत्याह **आत्मानपीति**। अत्र दाने भजनमेव हेतुस्तेन तारतम्येव सर्वं सङ्गच्छते। यः स्वात्मानं भगवते प्रयच्छति भगवानपि तथा तस्मै प्रयच्छतीति। नन्वेतादृशमपि लोके क्वचित्सिद्धमिति चेत्तत्राह **यस्योपचयापचयौ न स्त** इति। यत्संबन्धिनः सर्वस्यैवोपचयापचयाभावः। उभयनिरूपणमुपचितं चेद्दत्तं तस्य नापचयं करोति। अपचितं चेद्दुःखाधिकं तत्कदाचिदपि नोपचितं करोति। अथवा। एकरूपमेव सर्वेभ्यो भक्तेभ्यः प्रयच्छति। न तु विषमम्, वस्त्वेव तथेति नेच्छापि तत्र प्रयोजिकेति धर्मिणि तौ धर्मौ निरूपितौ॥२६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार आगमन की स्तुति के अनन्तर फल की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए। वह फल शरण ही , उसके सिवाय कोई फल नहीं है। इसलिए शरण की स्तुति करते हैं। प्राणियों को प्रभु की शरण ही लेनी चाहिए। पण्डित वह है जो समझ सकता है कि मुझे यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए, जो ऐसी बुद्धि वाला नही है वह पण्डित नहीं। इसलिए ही कहा है कि 'बन्ध और मोक्ष' को जो समझ सकता है, वह पण्डित है। जिसके करने से बन्ध हो, वह अकर्तव्य है अर्थात् नहीं करना चाहिए और जिसके करने से मोक्ष है वह कर्तव्य है अर्थात् उसको करना चाहिए। अतः भक्ति आदि साधनों से भी शरण अनायास ही फल देता है। इसलिए जब स्वतः सर्व साधनों से श्रेष्ठ शरण है, तब उसका आश्रय करना ही योग्य है। आश्रय ही ऐसा साधन है, जो अपने आधीन है। जिससे वह सर्व देता है। मन तो चञ्चल है, क्षण क्षण में नवीन नवीन पदार्थ को इच्छा करता है, तब जीव क्या क्या मांगे ? और कब मांगे और किससे मांगे ? प्रत्येक पदार्थ को प्राप्ति के लिए पृथक् पृथक् देवों की आराधना रूप साधन करने पड़ते हैं। जीव इतने साधन करने में अशक्त है, अतः जीव शरण मार्ग का ही आश्रय लेता है, किन्तु वह शरण भी अन्य देवों की शरण है तो उससे परम उत्कृष्ट फल न मिलने से वह शरण भी व्यर्थ है। अतः बुद्धिमान् अकर्त्तव्य तथा कर्त्तव्य को समझने वाला आपके सिवाय अन्य की शरण कैसे जावेगा ? अर्थात् नहीं जावेगा। आपकी ही शरण लेगा, दूसरों के साधनपन से, वा गुरुपन से भले मान ले, किन्तु उनकी शरण ग्रहण तो कभी भी पण्डित नहीं मानेगा। अन्य गुरु आदि का साधन रूप से भी त्याग करने से सीधे आप प्राप्त नहीं होंगे अतः जब प्रथम अवस्था में यों करना आवश्यक है, तब अन्य की शरण के लिए रोक कैसे की जाती है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि अन्य वह है जिसका आपने बुद्धि से ग्रहण नहीं किया है, किन्तु केवल नियामक हो, इससे गुरु आदि वैसे नहीं है, अर्थात् आपसे पृथक् नहीं है, जिससे उनके आश्रय करने में दोष नहीं है।

भगवान् की ही शरण लेने में छः कारण कहते हैं :—उन छ में दो हेतु, फल में और चार हेतु साधन में है। साधन में जो हेतु हैं वे भी अपने धर्म से और आश्रित के धर्म से कहने चाहिए, जो यों नहीं कहा जावेगा तो फल "काकतालीय" न्याय के सदृश मिला हुआ समझा जावेगा, अब आश्रित के धर्मानुसार शरणागति का कारण कहते हैं, जिसको सेवक की अपेक्षा है, अर्थात् जिसको सेवक चाहिए वह सेवकों को देता भी है वह ही स्वामी कहा जाता है, इसमें भी जब कोई भी स्वामी सेवक के धर्म को स्वीकार करता हैं अर्थात् सेवक को जिस फल के प्राप्ति की इच्छा है वह देना स्वीकार करता है तब स्वामी सेव्य होता है, इसलिए आप ही भक्त प्रिय है आप लौकिक प्रभु के समान नहीं

करते हो, लौकिक स्वामी तो फल के लिए सेवा करने वाले जब अशक्त होने से सेवा नहीं करते हैं तब उनको वे स्वामी फल नहीं देते हैं, वे सेवक जितनी सेवा करते हैं, उतना ही फल पा सकते हैं, विकट देश वा समय में यदि सेवा करने में अशक्त होने से कैसे भी दुःखी हो तो भी उसको वहाँ भेजते हैं लौकिक स्वामी उसके दुःखों पर ध्यान नहीं देते हैं, सेवक पर पुत्र के सदृश दया नहीं करते हैं किन्तु भगवान् यों नहीं करते हैं भगवान् (आप) को तो भक्त प्यारे हैं अतः भगवान् ही सेव्य है, भगवान् तो अपना ईश्वर धर्म ही देखकर भक्त का हित करते हैं जिसकी पुष्टि में कहते हैं कि भगवान् सत्य सङ्कल्प हैं, जो संग्राम में शरण आकर कहता है कि 'मैं आपका हूँ' और स्वयं गीता में अर्जुन द्वारा प्रसिद्ध कराया है कि मेरा भक्त नाश नहीं होगा इत्यादि वाक्यों से भक्त का सर्व प्रकार हित कर उसको सुखी ही करते हैं, जो स्वामी सेवक के क्लेश को सहन करता है उसके क्लेश को मिटाता नहीं है उस स्वामी का मन शुद्ध नहीं है, जो अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं है उसकी वाणी पवित्र नहीं है, समय आने पर शरीर से मित्र की भांति सेवक की सहायता नहीं करता है, उस स्वामी की काया अशुद्ध है, ये तीन ही लौकिक हैं, जिनको स्वतः करना चाहिए। इस कृति को जानते हैं, जिससे इन धर्मों के करने में यह हेतु बता दिया है। यहां तक ये सब दोषों के अभाव बता दिए। अब गुण बताते हैं, अपने और पुत्र के समान भक्तों का हित काया, वाणी तथा मन से करते हैं। वह गुण है, प्रह्लाद पर आई हुई समग्र आपदाओं को मिटाया, यह मन से हित किया, वाणी से उद्धवजी द्वारा उपदेश भेजकर गोपियों का हित किया, काया से हम लोगों का हित कर रहे हो इस प्रकार के भगवद्गुण में कुछ भी सन्देह नहीं है। यदि भगवान् में कृतज्ञता नहीं होवे तो इस प्रकार धारा प्रवाह की तरह कारणों के कहने से भी उनका उत्कर्ष प्रकट न होवे।

अब उनके फलदातापन को कहते हैं। यदि कोई भी अपना अथवा अन्य का जिससे अनिष्ट हो वैसी वस्तु मांगता है तो प्रभु नहीं देते हैं। कारण कि आप सहृद हैं अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं। सब के मित्र हैं सब का ही हित चाहते हैं, अतः जो मनुष्य अपना अथवा अन्य के द्रोह का विचार नहीं करता है,उसको सब कुछ देते हैं। क्यों देते हैं? क्योंकि वह भजन करता है,भजन करने वाला यदि एक ही वस्तु मांगता है,तो भी सब कुछ दे देते हैं। वैसे तो भजन करने वाले अन्य भी होंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मानपि' यद्यपि भगवान् भजन करने वालों को देते हैं, किन्तु जैसे भजन करने वाले भी समान भजन नहीं करते हैं,उनके भजन में तारतम्य है वैसे दान में भी समानता नहीं होता है। भजनानुकूल ही फल मिलता है। जैसे जो भक्त भगवान् को आत्मा तक सब कुछ दे देता है उसको भगवान् भी वैसा ही देते हैं। लोक में वैसा कोई दृष्टान्त है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'भगवान् से जिसका सम्बन्ध है उसमें वृद्धि तथा ह्रास नहीं होता है, अतः दोनों का निरूपण ही योग्य है। भगवान् जिसको जो विशेष सुख आदि देते हैं तो उसको फिर कम नहीं करते हैं। यदि दुःखादिक देते हैं, तो उसको फिर बढाते भी नही हैं। अथवा सर्व भक्तों को समान रूप ही देते हैं विषम नहीं देते हैं। भगवान् में वृद्धि ह्रास है ही नहीं, सदा एक रस रूप है। वस्तु ही वैसी है, विषमता करने की इच्छा भी नहीं है, जो इच्छा वहां प्रयोजक है,इस प्रकार धर्मों में दोनों धर्म निरूपण किए हैं ।।२६।।

आभास—एवं सर्वप्रकारेण स्तुत्वा किञ्चित् प्रार्थयते दिष्ट्या जनार्दनेति।

आभासार्थ—यों सब तरह से स्तुति कर 'दिष्टचा जनार्दन' श्लोक से कुछ प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो
योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशैः ।
छिन्ध्याशु नः सुतकलत्रधनाप्तगेह-
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् ।।२७।।

श्लोकार्थ—हे जनार्दन! देवों के ईश तथा योगेश्वर भी जिनके स्वरूप को कठिनाई से प्राप्त कर सकते हैं, उन आपने यहाँ आज मुझे दर्शन दिए हैं । यह बड़े भाग्य का विषय है एवं प्रसन्नता का द्योतक है, अतः अब शीघ्र ही हमारे पुत्र, स्त्री, धन, संबंधी गृह और देह आदि में आपकी माया से प्राप्त मोह रूप बन्धन को तोड़ दो ।।२७।।

सुबोधिनी—पूर्वमपि वयं भक्ताः परमापाततस्त्वत्स्वरूपाज्ञानात् अद्य तु **नोस्माभिरिह भवान् प्रतीतः** । अतो ज्ञाते कल्पतरौ अभिलषिते विलम्बो न युक्त इति प्रार्थनीय इति भावः । कथमेतावता कालेन न ज्ञातवान् कथमद्यैव ज्ञातवानित्याशङ्क्य हेतुद्वयमाह **दिष्ट्या जनार्दनेति** । भाग्यमद्यैवोन्मुखम् । जनयतीति जना ताम् अर्दयतीति । इदानीमेवाज्ञानं नाशितवान्, प्रसन्नो हि स्वधर्मानाविष्करोति सेवकधर्मांश्चातो भाग्यं मोहनाशं च प्रकाशितवानित्यर्थः । आगमनेन प्रसादो निरूपितः, साधनान्तरं व्यावर्तयति । **योगेश्वरैरपि दुरापगतिरिति** योगवशीकरणादिकं स्वसामर्थ्यम् । न हि नियताः स्वधर्मा अन्येन बोधयितुं शक्यन्ते, दुःखेन **प्राप्या गतिर्यस्येति** । भगवदभिप्रायापरिज्ञानमुक्तम् । स्वाधीने हि मथित्वा वह्निवत्साधनीयम् । तदेकः सङ्घातो भगवता दत्त इति तावन्मात्रे वश्यता भवति नान्यत्रेति सुष्ठूक्तम् । अलौकिकेनापि सामर्थ्येन न भवतीत्याह **सुरेशैरिति** प्रार्थनामाह **छिन्ध्याश्विति** । सुतादिषु **मोहरशनां** छिन्धि, यतस्त्वयैव सम्पादितेत्याह **भवदीयमायामिति** । अन्ते छेदनं वारयति **आश्विति** । अत्यन्तं दृढमूले छिद्यमाने पुनरुद्गमश्छेदके वैमनस्यं च भविष्यतीति ।।२७।।

व्याख्यार्थ—पहले भी हम भक्त थे, किन्तु आपके स्वरूप का ज्ञान नहीं था । जिससे पूरे भक्त नहीं थे, नाम मात्र के ही थे । आज तो आपने यहां पधार कर अपने स्वरूप का ज्ञान कराया है, अतः जब कल्पवृक्ष को पहचान जावे तब उससे अपने अभिलषित मनोरथ के मांगने में विलम्ब करना योग्य नहीं है । जिससे प्रार्थना करनी ही योग्य है, यह भाव है । यदि कहो कि इतने दिन नहीं जाना, आज ही कैसे पहचान लिया ? जिसके उत्तर में कहते है कि हे जनार्दन ! एक तो आप अविद्या को नाश करने वाले प्रभु हैं, जब भी अविद्या नाश करो । दूसरा प्रसन्नता का विषय है कि आज हमारे भाग्य का उदय हुआ हैं । इन दो कारणों से अब आपको पहचाना है । कारण कि जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तब अपने धर्मों को प्रकट करते हैं तथा सेवक के धर्मों का भी प्राकट्य कराते हैं। अतः भाग्य का अभ्युदय और अज्ञान का नाश आज हुआ है । वह सर्व कृपा से होता है, वह कृपा आपने पधार कर की है । आप के ज्ञान होने का कृपा के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं है । कारण कि योगी योग से अपनी सामर्थ्य से अर्थात् योग बल से वश करते हैं, किन्तु आप उन योगेश्वरों से जाने भी नहीं जाते हैं तो वश क्या होंगे ? आपके जो नियत स्वधर्म है, उनको अन्य साधन नहीं जना सकते हैं । इससे यह बताया है कि भगवान् के अभिप्राय को कोई नहीं समझ सकता है । जैसे काष्ठ के भीतर

अग्नि है जिसको निकालने के लिए काष्ठ को मन्थन करना अपने आधीन है। इस प्रकार भगवान् ने जो यह संघात दिया है, वह अपने आधीन है। जिसके द्वारा दयालु भगवान् को प्रार्थना से वश कर अपने कार्य की सिद्धि की जा सकती है। यह बहुत अच्छा कहा है कि दूसरी तरह अर्थात् इसके सिवाय कार्य सिद्धि नहीं होती है। यदि अलौकिक सामर्थ्य की प्राप्ति की जावे तो उससे भी नहीं होती है। कारण कि अलौकिक सामर्थ्य वाले देवों के ईश भी आप को पा और जान नहीं सकते हैं। यों कहकर अब प्रार्थना करते हैं पुत्र आदि में जो मोह बन्धन है, उसको तोड़ो। यदि कहो कि मैं क्यों तोड़ूँ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह बन्धन आपने ही अपनी माया द्वारा किया है। अतः उसको केवल तोड़ो ही नहीं, किन्तु जड़ से निकाल दो। केवल ऊपर से काटने से फिर उगेगा तो काटने वाले से वैमनस्य हो जावेगा, इसलिए जड़ से ही निकाल के फेंकने का कृपा कीजिए ॥२७॥

आभास—भगवतोह्ययं भावः शास्त्ररहस्यसिद्धः। योहि यादृशः स तादृश एव वर्तव्यः भक्तिवशादन्यथाकरणेऽयुक्तता भवतीति, भक्तिर्मध्यमाज्ञानम्। यथा शृङ्गार-लीला गोप्यैव तथावतारलीलापि गोप्यैव, तां यः प्रकटीकुर्यात् स नाभिप्रेत इति विप-रीतं वदेत्, यथा गोपिकागीतेन गोपिकास्त्यक्ताः तथायमपि लीलार्थमुत्पादितः स्वरूपा-परिज्ञानाद् बहिर्मुखतया ज्ञानिनमात्मानं मन्यमानः तत्प्रार्थयते। अतोस्य सर्वाण्येव वचनान्यसबद्धानि अतस्तन्निवारणार्थं भगवान्मोहयितुं प्रवृत्त इत्याह **इत्यर्चित** इति।

आभासार्थ—जो जैसा हो, उसको वैसा ही करना चाहिए भक्ति, प्रेम के वश होकर यदि विशेष की जावे तो वह अयोग्य होगी, इस प्रकार का भगवान् का भाव शास्त्र के रहस्य से सिद्ध है। यों भगवान् का कहना तो 'अहं भक्त पराधीनः' वाक्य के विरुद्ध होगा, अतः अक्रूर ने जो मांगा व देना चाहिए था। जिसके उत्तर में कहते हैं कि अक्रूर की ज्ञान रूप भक्ति होने से मध्यमा भक्ति है। परमाभक्ति नहीं है, जिससे 'अहं भक्त पराधीनः' की उक्ति से विरोध हीं है। वैसे अयोग्य होने से भी नहीं दिया। भगवान् का अगले श्लोक में 'त्वं नो गुरु' से विपरीत शब्द कहने का क्या आशय है? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे शृङ्गार लीला गोप्य है, वैसे ही अवतार लीला भी गोप्य है। उसको प्रकट करना भगवान् को इच्छित नहीं है। इससे, भगवान् उसको विपरीत कहते हैं।

जैसे भगवान् ने 'गोपिका गीत' से गोपियों का त्याग इसलिए किया कि उनको अन्तरंग लीला द्वारा आनन्द देना था, अतः बाहर का जो भाव था, उससे मुक्त करने के लिए विप्रयोग का दान किया। इसी प्रकार अक्रूरजी को लीला के लिए प्रकट किया है, किन्तु अब अक्रूर में स्वरूप का अज्ञान होने से बहिर्मुखता है, तथा मैं ज्ञानी हूं यों अपने को समझकर प्रार्थना करते हैं। अतः इसके सर्व वचन असंबद्ध हैं, जिससे भगवान् उन सर्व का निवारण करने के लिए अक्रूर को मोहित करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्यर्चितः' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान्हरिः।**
अक्रूरं सस्मितं प्राह गीर्भिः संमोहयन्निव ॥२८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि अक्रूर ने इस प्रकार भगवान् का पूजन किया तथा स्तुति भी की। तब भगवान् मन्द-मन्द हँसते हुए अक्रूर को मानो मोहित करने वाले वचनों से कहने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी— पूर्वोक्तेन प्रकारेणार्चितः स सम्यक् स्तुतश्च भक्तश्चायं तथापि भगवानीश्वरः सर्वदुःखहर्ता च भक्तश्चायम्। अत उभयं अभिप्रेत्य **सस्मितं प्राह**। स्मितो हि मन्दहासः अल्पमेव मोहितवान्। **गीर्भिरपि** सम्यक् **मोहयन्निव जातः**। सम्यक्त्वं लीलौपयिकत्वेनान्यथा प्राकृतत्वे लीलामपि त्यजेत्॥२८॥

व्याख्यार्थ—प्रथम कहते हुए प्रकार से अक्रूर ने भगवान् का पूजन किया और अच्छे प्रकार से स्तुति भी की, जिससे यह तो निश्चय से जाना गया कि यह 'भक्त' है, तो भी भगवान् ईश्वर होने से सर्व दुःख हर्ता हैं और यह भक्त है। अतः दोनों को पूर्ण रीति से विचार कर मुस्कराते हुए कहने लगे। मुस्क्यान कहते हैं अल्प हास को अर्थात् अक्रूर को थोड़ा ही मोहित किया, फिर वचनों से मानो विशेष मोहित करते हुए कहने लगे। विशेष मोहित करने का आशय है कि उसको लीला से वञ्चित नहीं किया, यदि प्राकृतत्व कर दें तो लीला से भी दूर हो जावे ॥२८॥

आभास—भगवान् लौकिकवैदिकद्विविधशास्त्रप्रकारेण तं मोहयन्नाह **त्वं नो गुरुरिति** त्रिभिः।

आभासार्थ—भगवान् लौकिक और वैदिक शास्त्रों के अनुसार दोनों प्रकार से अक्रूर को मोह में डालने लगे। जिसका वर्णन 'त्वं नो गुरुः' श्लोक से तीन श्लोको में कहते हैं।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—**त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा।**
वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ॥२९॥

श्लोकार्थ—भगवान् अक्रूर को कहते हैं कि तुम हमारे हमेशा गुरु, काके, प्रशंसनीय बन्धु हो। हम तो आपकी प्रजा, रक्षा, पालन और दया के योग्य हैं ॥२९॥

सुबोधिनी—हितोपदेष्टा **गुरुः** प्रायेण धनुषोभ्यासं च कारितवानिति लक्ष्यते। अवश्यं केनचिल्लोकन्यायेन धनुः शिक्षणीयम्। अन्यश्चात्रार्थे गुरुर्नोक्तः। भगवांश्च सत्यमेव वदतीत्यर्थादयं **गुरुः**। **न** इति बलभद्रादीनामभिप्रायेण। बालाभ्यासं कारयति **पितृव्यः** स्पष्टः,**च**काराद्धितकारी। न ह्यन्योन्यत्र क्वापि सतः स्वगृहे समानयति। **किञ्च**। कुले **श्लाघ्यः** महत्त्वेन प्रसिद्धः, पितृव्यादीनां सापत्न्यभाववद् भ्रातृव्यत्वादन्यथात्वमाशङ्क्याह। **बन्धुश्च नित्यदेति**। सर्वदा बन्धुकृत्यमेव करोति। एवं चकारेण सह पञ्चधर्मास्तस्मिन्निरूपिताः। ततोन्यथा पञ्चधर्मान् स्वस्मिन्निरूपयति। **वयं त्विति**। **तु**शब्दः पूर्वसंबन्धेन तुल्यतां वारयति। गुरुस्तु रक्षकः। भगवता साधनेषु दत्तेष्वपि बुद्ध्यभावे रक्षाऽसंभवाद्वयं **रक्ष्याः** पितरः पोषकाः पुत्राः **पोष्याः**, चकारान्न वयं

भवद्धितकारिरण: किन्तु भवन्त एव, अर्थाद्दया-पात्रमिवोक्तं भवति। अनुकम्प्याः श्लाघ्या हि नानुकम्प्याः सर्वदा हिताचरणं पतिभिः कर्तव्यम्। वो युष्माकमिति वसुदेवादींस्तानेकीकृत्य निरूपयति। अन्यथा स्तुतित्वं ज्ञायेत ॥२६॥

व्याख्यार्थ—जिससे कल्याण होता हो वैसा उपदेश देवे, वह गुरु है। क्षत्रियों के लिए धनुर्विद्या हितकारी है जिसका उपदेश आपने दिया है, अतः हमारे गुरु है। इस विषय को सिखाने वाला कोई अन्य गुरु नहीं है। भगवान् तो सत्यवक्ता हैं ही, इसलिए आप का गुरु अक्रूर ही है। 'नः' बहुवचन कहने का तात्पर्य यह है कि आप केवल मेरे गुरु नहीं किन्तु बलभद्र आदि सर्व बान्धवों के गुरु हैं, तथा काके(चाचे)हैं। बाल अवस्था में भी आपने शिक्षा दी है, यह सब कोई जानता है। अपनी सन्तति को पढाने का कर्तव्य स्पष्ट है, अर्थात् आप काके (चाचे) होने के साथ गुरु भी हैं, 'च' कहने का तात्पर्य यह है कि आप केवल पढाने और सिखाने वाले गुरु ही नहीं है, किन्तु साथ में हित करने वाले भी हैं। अन्य कोई भी दूसरे को अपने घर नहीं बुलाता है तथा अन्य के घर में कोई जाता भी नहीं है। आप कुल में प्रशसनीय हैं और महान् होने से प्रसिद्ध हैं। लोक में (पितृव्य आदि व्यवहार में) सापत्न्य भाव* की तरह चचरे भाई में भीतर ईर्षा वा शत्रुता होती है,किन्तु आप में वह भाव नहीं है। यह बताने के लिए अक्रूर को 'नित्य बन्धु' कहा है। अर्थात् सदा बन्धुओं का कृत्य, जो हित करने का हो करता है,वह कर रहे हैं। इस प्रकार 'च' के साथ अक्रूर के पांच हितकारी धर्म कह कर अब उससे उल्टे पांच धर्म अपने में भगवान् बताते है। 'तु' शब्द अगले विषय से इसको पृथक करता है, आप गुरु होने से 'रक्षक' अर्थात् रक्षा करने वाले भी हैं और हम रक्षा करने के योग्य हैं। यदि कहा जाय कि अपनी रक्षा आप क्यों नहीं करते हो, जबकि भगवान् ने रक्षा के साधन आपको दिये ही हैं? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह सत्य है कि भगवान् ने साधन दिये हैं, किन्तु बुद्धि नहीं हैं, अतः साधन होते हुए भी बुद्धि के अभाव से रक्षा नहीं कर सकते है। आप गुरु होने से बुद्धिमान हैं। अतः हमारी रक्षा भी आप ही कर सकते हैं। काका[चाचा]हो, पिता के समान हो, इसलिए पोषण करने वाले हो। हम आपके पुत्र (बच्चे) हैं अतः पालन के योग्य ही हैं। 'च' से यह बताया कि हम आपके हित करने वाले नहीं हो सकते है, किन्तु आप ही हमारे हितकारी बन सकते हैं। तात्पर्य यह है कि हम ही दया के पात्र हैं। जो बड़े हैं वे श्लाघा के योग्य हैं,वे दया के पात्र नहीं है, किन्तु वे दया पूर्वक हित करने वाले ही होते हैं। कारण कि वे 'पति' अर्थात् पालक (स्वामी)हैं। 'वः' शब्द देकर यह बताया है कि वसुदेव आदि, जो आप बड़े हैं उनकी हम 'प्रजा' हैं। यदि ऐसा सबके लिए न कहे तो यह कथन केवल अक्रूर की स्तुति मात्र ही जानी जावे ॥२६॥

आभास—एवं लौकिकोत्कर्षमुक्त्वा प्रवृत्तिप्रकारेण वैदिकोत्कर्षमाह **भवद्विधा** इति।

आभासार्थ—यो लौकिक उत्कर्ष कह कर अब 'भवद्विधा' श्लोक से प्रवृत्ति प्रकारानुसार वैदिक उत्कर्ष वर्णन करते हैं।

---

* सौतेले विचार

श्लोक—**भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः ।**
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ॥३०॥

श्लोकार्थ—आपके समान, महाभाग्य वाले, अतिशय पूजनीयों की सेवा, उन मानवों को अवश्य करनी चाहिए, जो अपना कल्याण चाहते हैं। देवता तो स्वार्थी होते हैं, किन्तु साधु पुरुष परोपकारी होते हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—ये हि सर्वप्रकारेणोत्कृष्टास्ते सर्वैरुपास्याः, **भवद्विधा** इति तेषामुत्कर्षो निरूपितो यादृशास्तादृशास्तत्रापि **महाभागाः** परमभाग्ययुक्ता इति तेषां संपत्तिर्निरूपिता। तत्राप्यर्हसत्तमा ये उपकारकर्तारः समृद्धाः सर्वे संप्रत्तिपन्नास्ते सर्वैरुपास्या इत्यर्थः। तत्रापि **श्रेयस्कामैः**। अनेन स्वार्थमेवोपासनमुक्तं दृष्टार्थत्वं च निरूपितम्। **नृभिरिति**। मनुष्याधिकारो निरूपितः। तेनास्माकमिदमावश्यकमित्यर्थः। ननु शास्त्रे देवा एव सेव्या न त्वन्य इति चेत्तत्राह **देवास्तु स्वार्थाः** स्वार्थं ज्ञात्वैव हितं कुर्वन्ति। **साधवस्तु** नैवम्। अतो देवभजनापेक्षयापि साधुभजनमेवोत्तमम्। ॥३०॥

व्याख्यार्थ—लोक में सर्व मनुष्य उनकी उपासना करते हैं। जो सर्व प्रकार से श्रेष्ठ होते हैं, वे आप जैसे होते हैं यों कहकर उनका उत्कर्ष निरूपण किया। वे जैसे कैसे भी हों, किन्तु आप उनमें भी महान् भाग्य वाले हैं। यों कहकर उनकी 'अक्रूरजी की' सम्पत्ति बताई है। तात्पर्य यह है कि जो उपकार करने वाले तथा बहुत सम्पदावाले एवं अत्यन्त योग्य होते हैं, उनकी ही सर्व सेवा करते हैं। उन सेवा करने वालों के गुणों को कहते हैं कि जिनको अपने कल्याण की इच्छा होती है, इससे स्वार्थ के लिए ही उपासना कही और यह भी बताया है कि जिसका फल प्रत्यक्ष है। इस प्रकार की सेवा का अधिकार मनुष्यों को ही है। यह 'नृभिः' शब्द से प्रकट किया है। इससे हमको यह अवश्य करनो चाहिए। यदि कहो कि शास्त्र में देवता ही सेव्य कहे हैं, न कि कोई दूसरा सेव्य कहा है। जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'देवाः स्वार्थाः' देवता स्वार्थी हैं। स्वार्थ जान कर ही हित करते हैं। साधु यों नहीं करते हैं अर्थात् साधु अपना स्वार्थ जानकर हित नहीं करते हैं वे बिना स्वार्थ ही हित करते हैं, अतः देवों से भी साधुओं की सेवा करना उत्तम है ॥३०॥

आभास—किञ्च। निवृत्तिमार्गे तीर्थानि सेव्यानि, तदपेक्षयाप्येत एव सेव्या इत्याह **न ह्यम्मयानि तीर्थानीति**।

आभासार्थ—निवृत्ति मार्ग में तीर्थों का सेवन करना कहा है, किन्तु उनसे भी साधुओं की सेवा विशेष है। जिसका वर्णन 'न ह्यम्मयानि' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।**
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥३१॥

श्लोकार्थ—तीर्थ केवल जल रूप नहीं है, देवता, पाषाण और मृत्तिका रूप नहीं है, वे बहुत समय सेवा करने के अनन्तर फल देते हैं। साधु पुरुष तो दर्शन मात्र से ही फल देते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—तीर्थेषु स्नात्वा तदधिष्ठातृदेवता-पूजनं कर्तव्यं, तदा तीर्थं कृतं भवति। तदुभयम-प्यप्रयोजकमित्याह **न ह्यम्मयानीति**। तीर्थशब्देन जलाभिमानिनी देवतोच्यते। सा चिन्मयी. देवता च चिदानन्दमयीत्येव शास्त्रमर्यादा। **अम्मयानि** तु तीर्थानि न भवन्ति, **देवा** अपि **मृच्छिलामया** भवन्ति। स्थानस्य देवतात्वपक्षे मृण्मयत्वं प्रति-माया देवतात्वपक्षे तु शिलामयत्वमुभयमपि लोक-प्रसिद्धं निवार्यते। शास्त्रप्रामाण्यात्। **अन्यथा** शास्त्रमनुवादकं सदप्रमाणमेव भवेत्। **किञ्च**। अत एव पवित्रमपि तत्कृतमुत्तमं न भवति। यतस्ते **उरुकालेन पुनन्ति** महता **कालेन** विध्यु-क्तानुसारेण तीर्थसेवायां चित्तशुद्धेरुक्तत्वात्। **साधवस्तु** ज्ञानोपदेष्टारः भक्तिप्रवर्तका वा, **दर्शन-मात्रेणैव** ज्ञानभक्त्योः साधितत्वात् फलतोप्यु-त्कर्षः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—तीर्थ किए कब समझना चाहिए जब तीर्थों में स्नान कर उनके अधिष्ठाता आधि दैविक स्वरूप की सेवा की जाती है, कारण कि केवल जल तीर्थ नहीं है, किन्तु जल के अभिमानी देवता तीर्थ हैं. वह देवता चैतन्य हैं. देवता तो चिदानन्दमयी होते हैं यह ही शास्त्रों की मर्यादा है, इसी प्रकार मिट्टी वा पाषाण देवता नहीं है लोक में मन्दिर जो मिट्टी आदि से बने हुए हैं, और मूर्ति जो पाषाण आदि से बनी हुई हैं उनको देवता रूप से प्रसिद्धि है उसका निवारण करते हैं कि वे ही देवता हैं, कारण कि शास्त्र में वैसा प्रमाण है कि वे देवता नहीं हैं यदि शास्त्र को न माना जावेगा तो शास्त्र केवल अनुवाद करने वाला होकर अप्रमाण हो जावेगा, क्योंकि शास्त्र में देव तथा तीर्थों की सेवा का उपदेश है और उससे हुई पवित्रता भी उत्तम मानी जावेगी, जिसके उत्तर में कहते हैं कि वे बहुत काल तक शास्त्र को विधि के अनुसार तीर्थ की सेवा से चित्त की शुद्धि होती है, तीर्थ से जल मात्र नहीं किन्तु उसमें स्थित चिदानन्दमयी आधिदैविक मूर्ति समझनी उसी तरह मूर्ति में भी स्थित आधिदैविक स्वरूप समझना चाहिए उनके सिवाय शेष अप्रयोजक है, साधु भगवद्भक्त तो ज्ञान के उपदेशक और भक्ति के प्रवर्तक होते हैं जिससे उनके दर्शन मात्र से ही ज्ञान और भक्ति सिद्ध हो जाती है इसलिए फल से भी भक्त का उत्कर्ष कहा है ॥३१॥

आभास—एवं स्तुत्वा संमोहमुत्पाद्य स्वाभिलषितं करिष्यतीति अभिज्ञाय किञ्चि-दाज्ञापयति **स भवानिति** त्रिभिः।

आभासार्थ—इस प्रकार स्तुति करके अक्रूरजी को मोहित कर अपनी इच्छा के अनुकूल करेंगे, यों जानकर 'स भवान्' से लेकर तीन श्लोकों में कुछ आज्ञा करते हैं।

श्लोक—**स भवान्सुहृदां वै नः श्रेयान् श्रेयश्चिकीर्षया।**
जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाह्वयम् ॥३२॥

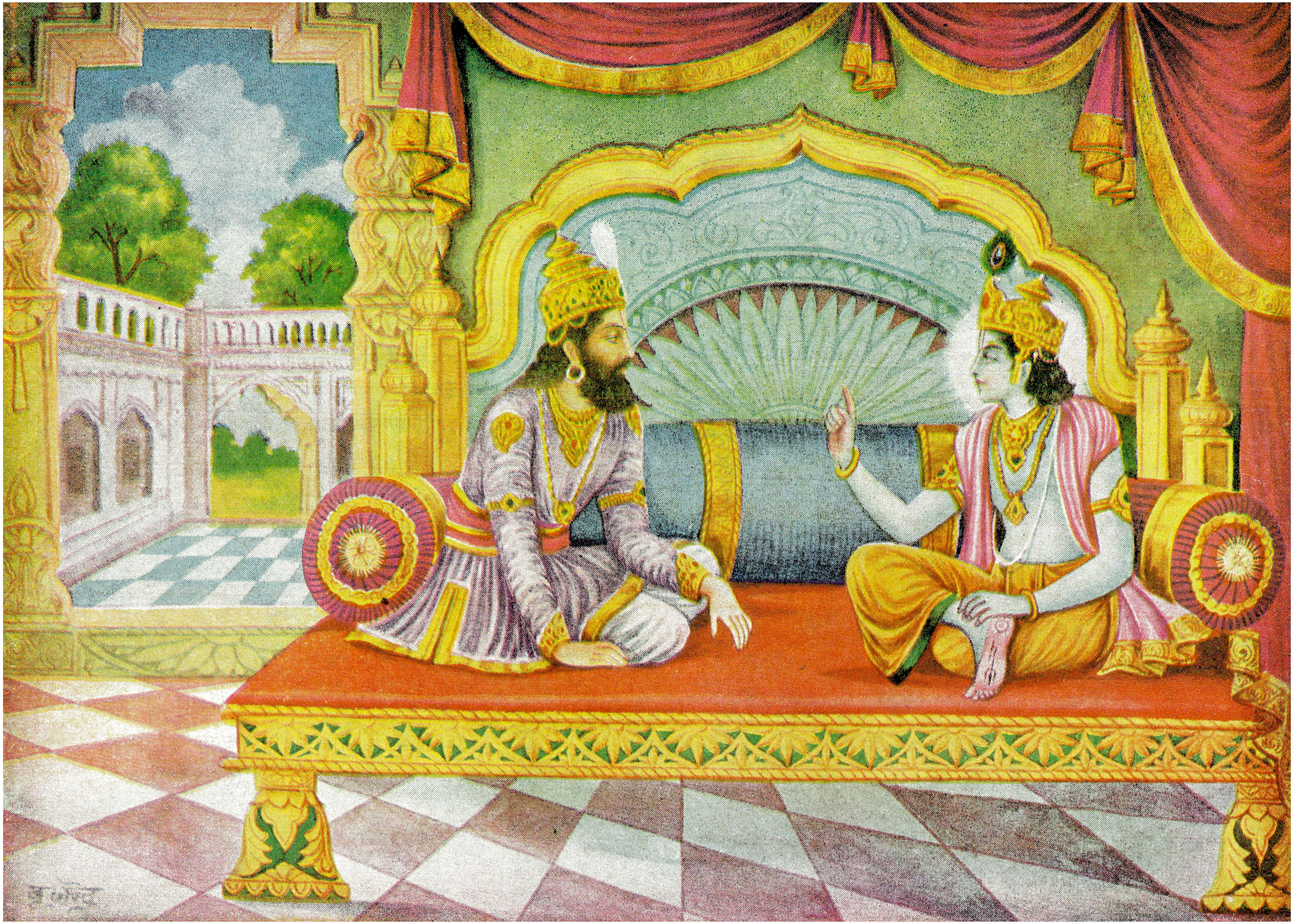

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

अक्रूरजीको हस्तिनापुर भेजना

श्लोकार्थ—वे आप हम बान्धवों का श्रेय करने वाले हैं, अतः पाण्डवों के कल्याण करने की इच्छा से उनकी अब क्या स्थिति है, उसको जानने के लिए आप हस्तिनापुर पधारें ॥३२॥

सुबोधिनी—तेषु त्रिविधं हि कार्यं कर्तव्यं, मोक्षः संपादनीयः, भक्तिर्वा, पाण्डवेषु राज्यं च देयम्, शत्रवश्च मारणीया इति। स सर्वथोपकारकर्ता भवान्। तत्रापि सुहृदां भगिनीभागिनेयानाम्। वै निश्चयेनेति तेऽवश्यं पालनीया इति। पुरुषस्य हि पितृवर्गो वा मातृवर्गो वा रक्षको भवति। तत्र पितृवर्गः न तेषां रक्षकः पितुर्निवृत्तत्वादन्येषां प्रतिकूलत्वादिति वक्ष्यति। अत एव वयमेव सुहृदः अस्माकं मध्ये त्वं च श्रेयान्। अतः श्रेयश्चिकीर्षया हिताचरणार्थं पाण्डवानामादौ जिज्ञासार्थं गजेन समानाह्वयं हस्तिना राज्ञा निर्मितं हस्तिनापुरं गच्छ। अनेन प्रसिद्धया तत्र गमनं न निन्दितं भवति। गुप्तस्थानेषु न तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यार्थ - तीन प्रकार के कार्य करने हैं: - १–मोक्ष या भक्ति देनी हैं, २–पाण्डवों को राज्य देना है, ३–शत्रुओं को मारना है। आप सर्व प्रकार उपकार करने वाले हैं, उसमें भी ये तो सुहृद हैं अर्थात् सम्बन्धी भाई तथा बहन आदि हैं। निश्चयपूर्वक इनकी पालना करनी योग्य है। पुरुष की रक्षा पितृवर्ग करता है या मातृवर्ग करता है। इसमें इनका पितृवर्ग रक्षक नहीं है, कारण कि पिता के परलोक होने के अनन्तर चाचा (काका) आदि अनुकूल नहीं रहे हैं, किन्तु शत्रु जैसे हो गए हैं। शेष हम ही उनके सुहृद रहे हैं, जिनमें आप ही उत्तम हैं। अतः उनके कल्याण करने के लिए एवं उनकी स्थिति को मालूम करने के लिए आप हस्ती नाम वाले राजा के बनाए हुए हस्तिनापुर में पधारो। इससे आप छिपकर नहीं जाओ,प्रसिद्ध रीति से जाओ। यों जाना निन्दित नहीं होगा,वे अब गुप्त स्थानों में नहीं रहते हैं ॥३२॥

आभास—का जिज्ञासेत्याकाङ्क्षायामाह पितर्युपरत इति।

आभासार्थ—वहाँ जाकर उनकी किस प्रकार की स्थिति की सूचना लेनी है, वह 'पितर्युपरते' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—पितर्युपरते बालाः सह मात्रातिदुःखिताः।
आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥३३॥

तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दीनधीः।
समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धदृक् ॥३४॥

श्लोकार्थ—पिता के परलोकगामी हो जाने के अनन्तर सब बालक तथा उनकी माता बहुत दुःखी होने लगे, अतः उनको राजा ने अपने नगर में बुला लिया है और

वे वहाँ ही रहते हैं। सुना है कि अम्बिका का पुत्र महाराजा धृतराष्ट्र अपने भतीजों का, पुत्रों के समान पालन नहीं करता है। कारण कि वह एक तो बुद्धि से दीन है और दूसरा वह अपने नीच पुत्र के वश में है और स्वयं दृष्टिहीन भी है अर्थात् आँखों से तो देख नहीं सकता है, किन्तु हृदय से विचार भी नहीं कर सकता है ॥३३-३४॥

सुबोधिनी—पाण्डौ संस्थिते **बाला एव**, ते च बहवश्च **मात्रा सह** स्थिता इति स्तनन्धयप्राया इत्यवस्थाया दयापात्रत्वमुक्तम्। **अतिदुःखिता** इति दयायाः साधारणो हेतुः तदीयानां पालकत्वमस्ति न वेति वचनार्थं परिग्रहो निरूप्यते **आनीताः स्वपुरमिति**। ते चेच्छत्रवः सुतरामेवानर्थपर्यवसायित्वं स्वस्थाने स्थापिता इति। तत्रापि **राज्ञा**। अनेन तेषां राजत्वाभावो निरूपितः। ॥३३॥

किञ्च। न केवलं ते वसन्ते किन्तु उपद्रुता इत्यपि शङ्का। यतोयम**म्बिकापुत्रः** तेषु प्रसिद्धेष्वपि **निर्दुष्टे**ष्वपि **भ्रातृपुत्रेषु** विनीतेषु **समो न वर्तते**, इति तत्र हेतुः **दीना धीर्यस्येति**। बुद्धिस्तु दरिद्रा, दरिद्रो हि दुर्गतः सर्वमेव कर्तुं शक्तः निषिद्धम्। विहिते त्वशक्तः इति तस्य सहजो दोष उक्तः। आगन्तुकं दोषमाह। **दुष्पुत्रवशग** इति। दुष्टः सहजः कलित्वात्। दुर्योधनो हि कलेरवतार इति। अत एव कालस्य प्राबल्यात् तद्वशगः, पुत्रत्वात् मोहेनापि तद्वशगो जातः। स्वतो विचारसामर्थ्याभावायाह। **अन्धदृगिति**। स हि जात्यन्धः शब्देनैव व्यवहरति। प्रियमेव शब्दं सर्वो मन्यते, पुत्रशब्दश्च प्रियः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—पाण्डु के परलोक जाते समय ये अत्यन्त छोटे बालक थे। वे बहुत थे अर्थात् पाँच थे, वे माता के साथ रहते थे। छोटे कहने से यह बताया है कि वे दया करने के योग्य हैं। वे बहुत दुःखी थे, यह दया का साधारण हेतु कहा है। उनका पालन करने वाले हैं या नहीं, इसलिए उनका परिवार बताने के लिए कहा है कि अपने नगर में जिन्होंने मँगवाया वह कुटुम्ब है, किन्तु वे अपने स्थान में स्थापित करने वाले यदि शत्रु बन गए हैं तो अतिशय अनर्थ होगा, इसमें भी मँगवाकर रखने वाले राजा हैं, जिसका आशय है कि अब इनका राज्य नहीं है ॥३३॥

वे वहाँ साधारण अवस्था में नहीं रहते हैं, किन्तु उनसे उपद्रव होने की शङ्का भी की जाती है, जिससे वे दुःखी हैं, यह भी शङ्का होती है। कारण कि यह अम्बिका का पुत्र उन प्रसिद्ध निर्दोष विनय वाले भतीजों से समानता का व्यवहार नहीं करता है; क्योंकि उसमें एक सहज दोष यह है कि उसकी बुद्धि दरिद्री अर्थात् संकुचित है। ऐसी बुद्धिवाला जो न करने योग्य कार्य हैं, वे भी स्वार्थ के लिए करता है, किन्तु करने योग्य कार्य के करने की उसमें शक्ति नहीं होती है। स्वाभाविक दोष कहकर अब दूसरे के संसर्ग से आनेवाला दोष कहते हैं। 'दुष्पुत्रवशगः' उसका पुत्र दुर्योधन कलि का अवतार होने से स्वभाव से दुष्ट है, इसलिए ही कलिकाल के प्रभाव से उसके अधीन है तथा पुत्र है, इस पुत्र मोह के कारण भी उसके वश हो गया है। स्वयं धृतराष्ट्र तो विचार करने की शक्ति ही नहीं है, कारण कि 'अन्धदृक्' वह जाति से अन्धा है, सर्व कार्य बोल-चाल-सुनकर ही करता है। सब कोई उस शब्द को मानता है, जो शब्द प्यारा लगता है। लोक में पुत्र के वचन ही प्यारे लगते हैं, अतः जैसा पुत्र कहता है, वैसा करता है ॥३४॥

आभास—तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह गच्छ जानीहीति ।

आभासार्थ- तब क्या करना चाहिए ? इस पर 'गच्छ जानीहि' श्लोक में कहते हैं कि आप वहाँ जाकर सारा समाचार जान लो ।

श्लोक—गच्छ जानीहि तद्वृत्तमधुना साध्वसाधु वा ।
विज्ञाय तद्विधास्यामो यथा शं सुहृदां भवेत् ।।३५।।

श्लोकार्थ—आप वहाँ पधारो और देखो कि अब वे सुखो हैं कि दुःखी हैं । उसको जान लेने के बाद जैसे बान्धवों को सुख प्राप्त होगा, वैसा प्रयत्न हम लोग करेंगे ।।३५।।

सुबोधिनी—एकवचनेन सेनाद्यभावः सूचितः। युद्धार्थं न गन्तव्यं किन्त्वधुना तेषां साधु मङ्गलमस्ति असाध्वमङ्गलं वा अनिष्टमस्ति । वेत्यनादरे नोभयं वा । ज्ञानस्य कुत्रोपयोग इत्याकाङ्क्षायामाह विज्ञायेति । तदनुरूपं विधास्यामः । प्रकारजिज्ञासायामाह यथा शमिति । सुहृदां बन्धूनां येनैव प्रकारेण शं भवेत् स एव प्रकारः कर्तव्य इत्येतत्सर्वं जिज्ञासानन्तरं कर्तव्यमन्यथा कृतं न सुखपर्यवसायि भवतीति । अतो जिज्ञासामेव गच्छ न त्वन्यत्किञ्चित्कर्तव्यमिति भावः । मोहितस्यायं गुणः यदधिकमपि करिष्यतीति । अत एव धृतराष्ट्रोपि तेन निर्भर्त्सितः ।।३५।।

व्याख्यार्थ—'गच्छ' यह एक वचन इसलिए कहा है कि अभी तो आप अकेले पधारो; क्योंकि अभी युद्ध के लिए नहीं जाना है, केवल सूचना लानी है कि वे सुखी हैं या दुःखी हैं अथवा सामान्य परिस्थिति वाले हैं ? जानने का उपयोग क्या होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि पूरी तरह जानने के अनन्तर उसके अनुरूप कार्य करेंगे, क्या करोगे ? इस पर कहते हैं कि जिस प्रकार बान्धवों का कल्याण होगा, वह प्रकार करेंगे, यह सर्व जानने के अनन्तर करना है; क्योंकि जानने से प्रथम करने से वह कार्य सुखदायी नहीं होता है, अतः जानने के लिए आप अकेले पधारो, अर्थात् इसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करना चाहिए। जो मोहित है, उसमें यह गुण होता है कि कहने से भी अधिक कर देता है, इसलिए ही धृतराष्ट्र की भर्त्सना की गई है ।।३५।।

आभास—एतावतैव कार्यं भविष्यतीत्यभिज्ञाय भगवान् स्वगृहं गत इत्याह इत्यक्रूरं समादिश्येति ।

आभासार्थ—इतना कहने से कार्य हो जावेगा, यों जानकर भगवान् अपने घर को पधारे, जिसका वर्णन 'इत्क्रूर' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इत्यक्रूरं समादिश्य भगवान् हरिरीश्वरः ।
सङ्कर्षणोद्धवाभ्यां वै ततः स्वभवनं ययौ ।।३६।।

श्लोकार्थ—भगवान्, हरि ईश्वर श्रीकृष्ण इस प्रकार अक्रूर को आज्ञा देकर सङ्कर्षण तथा उद्धव के साथ अपने घर पधारे ॥३६॥

सुबोधिनी—आज्ञासिद्धौ भगवत्त्वं हेतुः। आज्ञापने हरित्वम्, स्वतः अगमने ईश्वरत्वम्, स्तुत्वा स्वापेक्षयाप्याधिक्यमुपपाद्येदानीं नीचसेवककार्यं दूतत्वं च कारितवानितीश्वरचर्या। सङ्कर्षणोद्धवयोरन्यतरस्य वा गमनं भविष्यतीत्याशङ्कयाह **सङ्कर्षणोद्धवाभ्यामिति**। निर्गमन एव सहभावः, स्वभवनगमने तु नायं निर्बन्ध इति विज्ञापयितुं **तत** इत्युक्तम्। तस्मात् स्थानात् तदनन्तरं च कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं स्वस्य **भवनं ययौ**। प्रापणकथनेन मध्येपि कार्यान्तरं व्याव- ॥३६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे चतुश्पञ्चवारिंशाध्यायविवरणम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—यहाँ श्रीकृष्ण के जो भगवान् हरि और ईश्वर ये तीन विशेषण दिए हैं, उस एक एक विशेषण का भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि आप भगवान् हैं, इसलिए अक्रूर आपकी आज्ञा मानकर अवश्य जाकर सूचना ले आवेगा। अक्रूर बड़े हैं, तो भी आपने आज्ञा दी, कारण कि आप 'हरि' हैं। आप स्वयं क्यों नहीं पधारे ? इसलिए कि आप ईश्वर हैं, सेवकों के होते हुए स्वामी कैसे पधारें ? अब तो अक्रूर की स्तुति कर अपने से भी उसमें विशेषता प्रकट कर उससे सेवकपन का नीच कार्य और दूतपन का कार्य कराया। यह ईश्वर की सेवा है, सङ्कर्षण या उद्धव दोनों में से कोई एक उसके साथ जावेगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि आप इन दोनों के साथ अक्रूर के घर से पधारे, फिर आप अकेले अपने घर को पधारे, बीच में दूसरा कोई कार्य नहीं किया, तो सीधे सब अपने-अपने घर गए ॥३६॥

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४५वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

टिप्पणी भक्त शिरोमणि श्री सूरदासजी द्वारा इस अध्याय में वर्णन की हुई लीला का पद अगले अध्याय के अन्त में अवलोकन करें।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्‌भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ४९वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ४६वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

"सप्तम् अध्याय"

अक्रूरजी का हस्तिनापुर जाना

कारिका—षट्चत्वारिंशकेऽध्याये सात्त्विकानां निरूप्यते ।
सान्त्वनं चान्यमुखतो निरोधो ह्यधिकारतः ॥१॥

भगवत्प्रेषितोक्रूरः कृत्वा सान्त्वनमग्रतः ।
ज्ञानेन तत्प्रतीकारं मत्वा तच्चोक्तवान् स्वयम् ॥२॥

पाण्डवैर्ज्ञापिताशेषो विचारे कुशलो यतः ।
अतः स्थित्वा गतिं बुध्वा स्वशक्तिं ज्ञातवांस्ततः ॥३॥

अन्यथा भगवत्कार्यं निरोधो न भविष्यति ॥३½॥

कारिकार्थ—इस ४६वें अध्याय में भगवान् ने अक्रूर द्वारा सात्त्विक भक्त पांडवों को सान्त्वना कराई। निरोध तो अधिकार के अनुसार होता है, भगवान् के भेजे हुए अक्रूर ने समझा कि पाण्डवों के सान्त्वनार्थ ज्ञान ही समर्थ है। वह सम्पूर्ण ज्ञान उन को अक्रूर ने ही कहा है; कारण कि अक्रूरजी विचार करने में कुशल हैं, अतः वहाँ तीन मास रहकर पाण्डवों से सब समाचार विदित किए। जिसमें पृथा और विदुर ने भी सहायता की है। जिससे इसके जानने में अक्रूरजी ने अपने को अशक्त नहीं समझा। शेष निरोध का कार्य भगवान् के लिए रखा, कारण कि निरोध अधिकार के अनुसार होता है। इसलिए अक्रूरजी ने निरोध और पाण्डवों को छुड़ाना; ये दोनों कार्य नहीं किए। यदि करते तो भगवान् निरोधादि कार्य कैसे करते ॥३½॥

आभास—प्रथमं भगवदुक्तं कृतवानित्याह **स गत्वेति** षड्भिः।

आभासार्थ—अक्रूरजी ने जाकर पहले जो कार्य करने के लिए भगवान् ने कहा था, वह किया। जिसका वर्णन 'संगत्वा' श्लोक से ६ श्लोकों में श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रश्रियाङ्कितम्।
ददर्श तत्राम्बिकेयं सभीष्मं विदुरं पृथाम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि वे (अक्रूरजी) हस्तिनापुर गए, जो पुरुवंशीय राजाओं के बनाए हुए मन्दिर आदि की शोभा से शोभायमान है, वहाँ धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर और पृथा को देखा ॥१॥

सुबोधिनी—सोऽक्रूरः स्वतो भगवदाज्ञया च विशिष्टो **हास्तिनपुरं** हस्तिन्शब्दादपि रूढत्वाभावाय तेन निर्वृतमिति ज्ञापनार्थमुक्तम्। यद्यप्यधर्मबहुले न गन्तव्यं तथापि स्वभावत उत्तममित्याह **पौरवेन्द्रश्रियाङ्कितमिति**। पौरवेन्द्राणां श्रियाऽङ्कितमिति, मुख्यत्वात् प्रथमतो राजदर्शनम्। अम्बिकायाः पुत्रो धृतराष्ट्रः, धृतं राष्ट्रं येनेतिव्युत्पत्तिः संभविष्यतीति तन्निषेधार्थं मातृनाम्ना व्यपदिष्टः। राजस्थान एव **भीष्मं** च दृष्टवान्, **विदुरं पृथामिति** ज्ञापको ज्ञाप्यश्च निरूपितः।१।

व्याख्यार्थ—वे अक्रूरजी अपने आप और भगवान् की आज्ञा पाकर हस्तिनापुर गए। श्लोक में हास्तिनपुरं' कहने का आशय यह है कि यह नाम रूढ़ि नहीं, किन्तु-राजा ने बनवाया है। इसलिए इसका नाम हस्तिनापुर पड़ा है। यद्यपि जहां बहुत अधर्म हो, वहां नहीं जाना चाहिए, किन्तु यह पुरुवंश के राजाओं की श्री से शोभित है, अतः जाने में कुछ अड़चन नहीं है। नीति के नियमानुसार प्रथम राजा का दर्शन करना चाहिए, अतः प्रथम उसका दर्शन किया। यहां व्यासजी ने राजा का नाम धृतराष्ट्र न देकर अम्बिका पुत्र'कहा,जिसका आशय यह है कि नाम की व्युत्पत्ति'धृतं-राष्ट्रं येन'

के अनुकूल अर्थ वाला कार्य न कर सकेगा । राज सभा में ही भीष्म को देखा, बाद में विदुर तथा पृथा को देखा । इनमें एक बताने वाला;एक बताने के योग्य,निरूपित किया है ।।१।।

श्लोक—**सहपुत्रं च बाह्लीकं भारद्वाजं सगौतमम् ।**
कर्णं सुयोधनं द्रौणिं पाण्डवान्सुहृदोपरान् ।।२।।

श्लोकार्थ—वहाँ बाह्लीक, भूरिश्रवा आदि, भारद्वाज, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, पाण्डव और भी उनके मित्र देखे ।।२।।

सुबोधिनी—सहपुत्रमिति । बाह्लीकः शन्तनोर्भ्राता । तत्पुत्रा भूरिश्रवादयः । **भारद्वाजो** द्रोणः । **गौतमः** कृपः । कर्णदुर्योधनाश्वत्थामानः एते महारथाः गणिताः षट् । सहपुत्रत्वेन सहाया अपि गणिताः । ततोग्रे तेषां निवारणसमर्था इति ज्ञापयितुं पाण्डवा गणिताः । लोकन्यायेन सर्वबन्धुप्रियकृदिति ज्ञापयितुं **सुहृदोऽपरांश्च** दृष्टवानित्युक्तम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—बाह्लीक शन्तनु के भ्राता, उनके पुत्र भूरिश्रवा आदि भरद्वाज के पुत्र द्रोण)गौतम, कृप, कर्ण अश्वत्थामा, दूर्योधन ये छ महारथी हैं, ये पुत्रों के साथ कहने से उनके सहायक भी वहां थे । उसके बाद आगे उनको हराने में समर्थ बताने के लिए पाण्डवों को भी गिनाया है तथा लोक न्याय से सर्व बान्धवों का प्रिय करने वाले सुहृद मित्र भी वहां देखे ।।२।।

श्लोक—**यथावदुपसंगम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः ।**
संपृष्टस्तैः सुहृद्वार्तां स्वयं चापृच्छदव्ययम् ।।३।।

श्लोकार्थ—अक्रूरजी सब बान्धवों से यथायोग्य मिले । उन्होंने अक्रूरजी से मथुरा के बान्धवों के कुशल समाचार पूछे । अक्रूरजी ने भी सब की सब तरह की कुशल पूछी ।।३।।

सुबोधिनी—यथावदिति । ततो यथायोग्यं नमस्कारादिप्रकारेणोपगमनम् । अस्यापि माहात्म्यं मातृपुरस्सरमाह तैः मथुरास्थ**वार्तां सम्यक् पृष्टः** सन् **स्वयं** च तेषाम**व्ययमपृच्छत्** । **चकारेण** वार्ता समागतैव । **अव्ययमिति** । व्ययोत्र कस्यचित्परित्यागः । अव्ययं यथा भवति तथा सर्वानेव पृष्टवान् ।।३।।

व्याख्यार्थ—अक्रूर उनको नमस्कार आदि करते हुए उनसे मिले । इसका माहात्म्य भी माता के नाम से प्रकट किया है । उन्होंने अक्रूरजी से मथुरा में स्थित बान्धवों के कुशल समाचार अच्छी प्रकार पूछे । अनन्तर आपने भी सब प्रकार के सबके कुशल वृत्तान्त पूछ लिए । कोई भी बात छोड़ी नहीं, इसलिए 'अव्यय' पद दिया है ।।३।।

आभास—आपाततो वृत्तान्तज्ञानं न भवतीति स्वतो ज्ञानार्थं स्थितवान् । वर्तमानस्यैव ज्ञानं भवतीति जातं श्रुतवान् । भविष्यज्ज्ञानार्थं प्रबोधितवानिति संग्रहस्तत्र प्रथमं स्थितिमाह **उवास कतीति** ।

आभासार्थ—बाहरी तोर से पूर्ण रीति से वृत्तान्त का ज्ञान नहीं होता है, अतः आप पूर्ण समाचार विदित करने के लिए वहाँ ठहर गए। वर्तमान समय का ज्ञान तो सुनने से जान लिया, किन्तु भविष्य में क्या होने वाला है ? जिसको जानने के लिए अन्य से पूछकर निश्चय करना था, जिसका वर्णन 'उवास कतिचिन्' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—उवास कतिचिन्मासात्राज्ञो वृत्तविवित्सया ।
दुष्प्रजस्याल्पसारस्य खलच्छन्दानुवर्तिनः ॥४॥

श्लोकार्थ—अक्रूरजी, दुष्ट प्रजावाले, अल्प बलवाले, खलों के कहने अनुसार चलने वाले राजा का वृत्तान्त जानने के लिए कुछ मास वहाँ ठहर गए ॥४॥

सुबोधिनी—कतिचिन्मासानिति निरन्तरं यावद्वृत्तपरिज्ञान भवति, मासत्रयं स्थितवानिति लक्ष्यते। मासे हि नूतना दिवसाऽऽवर्तन्ते । त्रयो हि पदार्था ज्ञातव्याः धृतराष्ट्रस्थाः स्वतो दोषाः, पुत्रादिमोहकृता दोषाः, संसर्गदोषाश्चेति । एते नैमित्तिका अपि भवन्तीति मासपर्यन्तं निरन्तरपरिज्ञानार्थं स्थितिः, निरन्तरं परिज्ञाने त्रयाणां संश्लेषेण गुणदोषव्यवस्थापकानां प्रत्येकं व्यभिचारात् परिज्ञानं न भवतीति, एकैकस्य परिज्ञानार्थं तदीयगुणदोषनिर्धारार्थं मासपर्यन्तं स्थितिः। एवं दोषत्रये मासत्रयमिति, शीघ्रापरिज्ञाने राजत्वं हेतुः । राजमन्त्रणं गूढं भवतीति, दोषानाह दुष्टाः प्रजाः पुत्रा यस्य । अल्पः सारो विवेकधैर्यादिकं यस्य । खलाः शकुनिप्रभृतयः । तेषां छन्दो वृत्तं तदनुवर्तनशीलश्च, तत्कृतं समीचीनं मन्यत इत्यर्थः ॥४॥

व्याख्यार्थ—अक्रूरजी को सिलसिले वार जब तक राजा को क्या करना है, इस वृत्तान्त का पूर्ण ज्ञान न हो जावे, तब तक वहाँ रहना पड़ा। समझा जाता है कि अक्रूरजी वहाँ तीन मास इस कार्य सिद्धि के लिए रहे । प्रत्येक मास में वे ही तिथियाँ फिर-फिर कर आती हैं । यहाँ रहकर अक्रूरजी को धृतराष्ट्र के तीन पदार्थों का ज्ञान करना था— (१) धृतराष्ट्र स्वयं में जो दोष हैं, (२) पुत्र आदि के मोह के कारण जो दोष उत्पन्न हैं, (३) दुःसङ्ग के संसर्ग से जो दोष आए हैं; ये दोष निमित्त से भी होते हैं। अतः एक-एक दोष को जानने के लिए एक-एक मास रहना पड़ा था। इतना विशेष समय इसलिए लगा कि राजाओं की जो मन्त्रणा गुप्त होती है, उसका ज्ञान पाना सरल कार्य नहीं है । एक-एक गुण और दोष का ज्ञान करने के अनन्तर उसका निर्णय कर उसके परिणाम का निश्चय करना इसमें समय की आवश्यकता रहती है । राजा में दोष इसलिए भी उत्पन्न हुए हैं क्योंक उनकी प्रजा और सन्तान दुष्ट थी। धैर्य आदि बल भी उसमें नहीं था और शकुनि आदि खलों का संसर्ग भी था, इत्यादि कारणों से राजा धृतराष्ट्र का स्वभाव भी उनके कहने के अनुसार हो गया था। जिससे वे दुष्ट प्रजा, पुत्र और खल-मित्र जो कुछ कहते, उसको ही श्रेष्ठ और हितकर समझता था ॥४॥

आभास—भूतार्थपरिज्ञानमाह **तेज इति** द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—जो हो गया है, उसकी पहिचान का वर्णन 'तेज' से दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—**तेज ओजो बलं वीर्यं प्रश्रयादींश्च सद्गुणान् ।**
प्रजानुरागं पार्थेषु न सहद्भिश्चिकीर्षितम् ॥५॥

श्लोकार्थ—पाण्डवों में जो तेज, सामर्थ्य, बल, पराक्रम, विनय आदि सद्गुण थे और उनमें प्रजा का प्रेम भी था । ईर्षा के कारण दुर्योधन आदि इसलिए उनको सहन नहीं करते हैं, यह अक्रूरजी ने समझ लिया ॥५॥

सुबोधिनी— **तेजः** कान्तिः, **ओज** इन्द्रियशक्तिः, **बलं** देहस्य, **वीर्य** पराक्रमः, वीररसाभिनिवेशकृत एते क्षत्रियोत्कृष्टत्वप्रतिपादकधर्माः । **सद्गुणानाह** । **प्रश्रयादीनिति** । विनयादयो हि सात्त्विकधर्मास्तेन स्वभावतस्ते जीवा उद्धर्तव्या इत्युक्तम् । द्वेषे हेत्वन्तरमप्याह **पार्थेषु** युधिष्ठिरादिषु **प्रजानुरागं च**, त्रेधा हि मात्सर्यमुत्पन्नं त्रिदोषात्मकं सदचिकित्स्यमिति तत्कृतं फलमाह । **न सहद्भिश्चिकीर्षितमिति** । सर्वथा मारणम् ।५।

व्याख्यार्थ— पाण्डवों के ललाट में जो चमक थी, उनके इन्द्रियों की शक्ति, शरीर का बल, पराक्रम; ये सब धर्म क्षत्रिय की बड़ाई दिखाने वाले हैं । इन धर्मों के कारण ही क्षत्रियों में वीर रस जागृत होता हैं । पाण्डवों के सद्गुणों का वर्णन करते हैं कि पाण्डवों में विनय आदि गुण हैं, जिससे मालूम होता है कि ये सतोगुणी है । इससे यह बताया कि इनका उद्धार करना तो भगवान् का स्वभाव ही है । धृतराष्ट्र के पुत्र आदि इनसे जो बैर करते है, जिसका कारण बताते हैं कि युधिष्ठर आदि से तो प्रजा प्रेम करती है, उनसे नहीं करती है । इस प्रकार तीन तरह मत्सरता आने से वे सन्निपात के रोगी के समान त्रिदोषग्रस्त हो जाने से उपायों से छूट सके जैसे नहीं रहे, जिसका फल सब प्रकार से नाश ही है ॥५॥

श्लोक—**कृतं च धार्तराष्ट्रैर्यद्गरदानाद्यपेशलम् ।**
आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथा विदुर एव च ॥६॥

श्लोकार्थ—इस ईर्षा से धृतराष्ट्र के पुत्र आदि ने इनको विष दान आदि देकर जो-जो पीड़ाएँ दी, वे सब पृथा और विदुर ने अक्रूर को बता दिए ॥६॥

सुबोधिनी—कृतं तु **गरदानं**, भीमाय विषमोदकाः प्रदत्ता इति, स च पाताले **गत्वा** समागत इति च । आदिशब्देन बहुधा भीममारणार्थमुद्यमोपि प्रदर्शितः । **अपेशलमसुन्दरं** कदाचिदपमानादिकमपि **कृतमिति** वृत्तान्तसहितमेतत्सर्वं **पृथा विदुरश्च** स्वकीयसाधारणश्च सर्वमेवा**चख्यौ**। एकेन स्वरूपज्ञानमपरेण भावज्ञानमिति । **चका**राल्लोकमुखतोपि ॥६॥

व्याख्यार्थ—त्रिदोषग्रस्त होने से उन्मत्त की तरह दुष्कर्म करने लगे जैसे कि भीमसेन को मारने के लिए विष के मोदक दिए, किन्तु वह पाताल में जाकर लौट आया। 'आदि' शब्द से भीम को मारने के अनेक उपाय किए, वे सब निष्फल हुए। कभी-कभी अपमान भी किया, इत्यादि सर्व वृत्तांत पृथा और विदुर ने सुनाया। साथ में अपना भी साधारण रीति से सुना दिया। एक ने स्वरूप का ज्ञान कराया, दूसरे ने उनके हृदय के क्या-क्या भाव हैं, वे भी सुना दिए। श्लोक में 'च' कहने का आशय यह है कि इन दोनों के सिवाय सामान्य जनता के मुख से भी सर्व वृत्तान्त सुनकर जान लिए ॥६॥

आभास—एवं भूतार्थपरिज्ञानमुक्त्वा भाव्यर्थपरिज्ञाने भगवदीयत्वं हेतुरिति पृथाया भगवदीयत्वनिरूपणार्थं भगवति तस्या नवधा भावमाह **पृथा त्विति**।

आभासार्थ—इस प्रकार भूतकाल के विषय का ज्ञान कर लिया। अब आगामी जो कुछ होना है, उस ज्ञान के होने में भगवदीयत्व कारण है, अतः पृथा भगवदीय है, इसका निरूपण करने के लिए 'पृथा तु' इस श्लोक में पृथा के भगवान् में नव प्रकार के भाव बताते हैं।

श्लोक—**पृथा तु भ्रातरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम्।**
उद्देश्यं जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकुलेक्षणा ॥७॥

श्लोकार्थ—पृथा(कुन्ती)तो अपने भ्राता अक्रूरजी को आए देख उसके समीप पूछने के लिए आई, किन्तु अपने पितृ कुल का स्मरण होते ही पृथा के नेत्र आँसूओं से भर गए ॥७॥

सुबोधिनी—यद्यप्येषा कुन्तिभोजाय दत्ता तथाप्युत्पन्ना शूरादेवेति पितृगृहं वसुदेवादय एव भवन्ति, वसुदेवो भ्रातेत्ययमपि भ्राता। तुशब्दस्तज्जिज्ञासाभिन्नप्रक्रमार्थः। **प्राप्तमिति** तस्या अलभ्यलाभो दर्शितः। **उद्देश्यमिति**। 'आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथे'त्युक्तम्। वस्तुतस्तु। पूर्वमेव समागमनादनन्तरमेव भगवति भावः। अत एव तुशब्दप्राप्तशब्दौ। **उपसृत्य** समीपे समागत्य **तं** पर्यनुयुञ्जाना **जन्मनिलयं** जन्मगृहं पितृकुलमिति यावत्। तत् **स्मरन्तीति** लोकवदश्रु**कुलेक्षणा** जाता ॥७॥

व्याख्यार्थ—पृथा का जन्म तो शूरसेन से हुआ है, किन्तु कुन्ती भोज की पाली हुई सन्तति है। अतः उसका वसुदेव आदि ही पितृ गृह है। इसलिए जैसे वसुदेव भ्राता है, वैसे ही अक्रूर भी भाई है। 'तु' शब्द देकर यह बताया है कि अब जो जिज्ञासा का प्रक्रम[1] है, वह भिन्न है। अक्रूरजी का आना पृथा के लिए अलभ्य लाभ है। 'उद्देश्य' जो कुछ पूछने का विचार था, वह सब उसको पृथा

१- सिलसिला,

ने बता दिया। पृथा का वास्तविक तो प्रथम गोकुल में जाने के अनन्तर ही भगवान् में भाव हो गया था। इसलिए ही 'तु' शब्द तथा 'प्राप्त' शब्द कहे हैं। 'प्राप्त' का अर्थ केवल यहाँ आ गए नहीं है, किन्तु इसका गूढ आशय यह है कि अक्रूर को भगवान् ने भेजा है, इसलिए वे परम आप्त पुरुष हैं। पृथा भाई के पास आकर पूछने लगी तो उसी क्षण पितृकुल का स्मरण होते ही लोक की भाँति नेत्र आँसूओं से भर गए ॥७॥

आभास—एतत्कायिकं मानसिकं च निरूपितम्। वाचनिकं निरूपयति **अपि स्मरतीति।**

आभासार्थ—कायिक और मानसिक का निरूपण किया, अब वाचनिक भाव 'अपि स्मरति' श्लोक में कहती है।

श्लोक—**अपि स्मरति नः सौम्य पितरौ भ्रातरश्च मे।**
भगिन्यो भ्रातृपुत्राश्च जामयः सख्य एव च ॥८॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! हमारे माता-पिता और भ्राताओं, बहिनें, भतीजे, कुल की स्त्रियाँ तथा सहेलियाँ हमें याद करती हैं ? ॥८॥

सुबोधिनी—**सौम्येति** सम्यक्कथनार्थं संबोधनम्। **नोस्मान्** पाण्डवान्। **अपीति** सम्भावनायाम्। यतः **पितरौ** यतो **भ्रातरः** पित्रोर्वृद्धत्वेनाप्रयोजकता शङ्क्यतेति भ्रातृग्रहणम्। **म** इति स्वस्य प्रियत्वं सूचितम्। यद्यपि **भगिन्योन्यत्र** सन्ति तथापि पितृगृहे समायान्तीति तेषां स्मरणज्ञानसम्भावना, अन्यस्मै दत्तेति शङ्कया कदाचिदस्मरणं, तथा सति न निस्तार इति भावः। स्मरणे त्वभिजनसम्पत्तिः सिद्धेति न तथा दुःखं भवति। **भ्रातृपुत्राः** वसुदेवादिपुत्राः **चकाराद्**भगिनीपुत्राश्च। **जामयः** कुलस्त्रियः पितृवंशविवाहिता देवकीप्रभृतयः **सख्यः** स्वस्य तासां स्मरणमावश्यकमिति सर्वाश्च ताः सख्य एव, **चकाराद्** बालिकाश्च, संपूर्णवंशस्य समत्वेन दुःखमिति भावः ॥८॥

व्याख्यार्थ—'सौम्य' सम्बोधन इसीलिए दिया है कि मैं जो पुछूँगी, उसका उत्तर आप पूर्ण रीति से दोगे; क्योंकि आप चन्द्र की तरह स्वच्छ हृदय वाले होने से 'सौम्य' कहे जाते हो, 'अपि' शब्द सम्भावना अर्थ में दिया है अर्थात् यों हो सकता है, हम पाण्डवों को माता-पिता और भ्राता याद करते हैं ? अर्थात् जब आप यहाँ आए, तब माता-पिता वृद्ध होने से उन्होंने कुछ भी न कहा हो किन्तु भाईयों ने स्मरण कर कुछ कहा ? 'मे' मेरे शब्द कहकर अपना प्रियपन सूचित किया है अर्थात् मैं बान्धवों को प्यारी हूँ, वे मुझे प्यारे हैं, यद्यपि बहिनें दूसरे के घर मे गई, जब पिता के घर आवे, तब उनके स्मरण की सम्भावना हो सकती है, किन्तु विस्मरण भी हो सकता है; क्योंकि हृदय में यदि ऐसा भाव उत्पन्न हो जावे कि दूसरे को दे दी, अब यह पराई है तो स्मरण किस लिए ? यदि ऐसा भाव हो जावे तो कोई उपाय नहीं हैं, जिससे कन्या व भगिनी को सदैव इस दुःख से दुःखी रहना

पड़ता है, यदि स्मरण किया जावे तो अपनेपन की सिद्धि होने से दुःख नहीं रहता है, किन्तु प्रसन्नता होती है, भाई के पुत्र वसुदेव आदि एवं 'च' कहने से बहिनों के पुत्र भी कहे हैं, कुल की स्त्रियाँ अर्थात् जो पितृ वंश में विवाहित देवकी आदि हैं, इनको 'जामि' कहा है, अपनी सखियाँ उनको भी स्मरण करना योग्य है, वे सब सखियाँ ही हैं, दूसरे 'च' से सब बालिका भी कही है, इस प्रकार सर्व वंश के स्मरण का पूछने का भाव यह है कि सबके लिए समान दुःख है ।।८।।

आभास—किञ्च । स्मरन्त्वन्ये मा वा भ्रात्रेयः कृष्णः स्मरति न वेति पृच्छति **भ्रात्रेय** इति ।

आभासार्थ—अन्य कोई स्मरण करे या नहीं करे, किन्तु मेरे भतीजे याद करते हैं कि नहीं ? इसे 'भ्रात्रेयो भगवान्' श्लोक से कहते है ।

श्लोक—**भ्रात्रेयो भगवान्कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः ।**
पैतृष्वस्रेयान्स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः ।।९।।

श्लोकार्थ—भतीजे भगवान्, भक्तवत्सल; शरण देने वाले श्रीकृष्ण तथा कमल-नयन बलराम (क्या) भूआ के पुत्रों को याद करते हैं ? ।।९।।

सुबोधिनी—प्रायेणेयं नन्दगृहे समागत्य गतेति लक्ष्यते । तदुपपादितं प्रथमस्कन्धे । 'सा मां विमोहयती'त्यत्रातो भगवतोनुभवात्स्मरणं पृच्छति । स्मरणे संबन्धमाह **पैतृष्वस्रेयानिति** । पितृष्वसुः पुत्रान् पाण्डवान् । रामेऽपि स एव संबन्धः इति **रामश्चे**त्युक्तम् । चकाराद्भगवद्भक्ता उद्धवादयोपि । **अम्बुरुहेक्षण** इति **स्मरति** चेत्तापं ज्ञात्वा समायास्यतीति लक्ष्यते । दृष्ट्यैव ताप-दूरीकरणार्थम् ।।९।।

व्याख्यार्थ—कुन्तीजी इस प्रकार जो पूछती है, जिससे जाना जाता है कि यह नन्दरायजी के घर आकर देख गई है, इस बात को प्रथम स्कन्ध के 'सा मां विमोहयति' श्लोक में कहा है, अतः भगवान् का अनुभव होने से स्मरण आते ही पूछती है, स्मरण होने के कारण जो सम्बन्ध है, वह बताती है कि पाण्डव भूआ के पुत्र हैं, उनको याद करते हैं कि नहीं ? राम का भी वही सम्बन्ध है, इसलिए 'रामश्च' कहा है तथा 'च' कहने का यह तात्पर्य है कि जो भगवान् के भक्त उद्धव आदि हैं; वे भी याद करते हैं कि नहीं ? 'अम्बुरुहेक्षणः' यह विशेषण देने से यह जाना जाता है कि जैसे कमल तापनाशक है, वैसे ही आप हैं, अतः हमारे ताप को जान अवश्य आकर उसका निवारण करेंगे, दृष्टि से ही ताप को नाश करेंगे ।।९।।

आभास—तदर्थं तापं निरूपयति **सपत्नमध्ये शोचन्तीमिति** ।

आभासार्थ—पृथा आपने दुःख का वर्णन 'सपत्न' श्लोक में करती हैं ।

श्लोक—सपत्नमध्ये शोचन्तीं वृकाणां हरिणीमिव ।
सान्त्वयिष्यति मां वाक्यैः पितृहीनांश्च बालकान् ॥१०॥

श्लोकार्थ—मैं तो जैसे व्याघ्रों के बीच में हरिणी आ गई हो, वैसे शत्रुओं के बीच में पड़ी हुई शोक कर रही हूँ, ऐसी जो मैं हूँ उसको और पितृहीन बालकों को श्रीकृष्ण अपने वचनों से सान्त्वना देंगे कि नहीं ?॥१०॥

सुबोधिनी—व्यवहारे नाममात्रेण सम्बन्धिनः । वस्तुतः शत्रवः । नापकारमात्रं तेषां किन्तु सर्वनाशकत्वमिति दृष्टान्तमाह वृकाणां मध्ये हरिणीमिवेति । प्रसङ्गादागमन निवारयति सान्त्वयिष्यतीति । प्रसङ्गादागतवाक्यानि न सर्वथा सान्त्वनसमर्थानि भवन्ति । मामिति । पाण्डवास्तु भ्रातरो भवन्ति, अहं पितृभगिनीति उभयोर्विशेषाकारेण सान्त्वनं करिष्यति किं वाक्यैरर्थवद्भिः सुखेन सर्वान् स्थापयिष्यामीति । इह लोके परलोके च पितृहीनांश्चकारात् मातृहीनानपि । कृष्णस्य विशेषणं भगवानित्युक्तत्वादन्येषामवस्थादोषो भवतीति बालकानित्युक्तम् । स्वतोसमर्थान् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—व्यवहार में ये नाम मात्र सम्बन्धी हैं, वास्तविक[1] तो ये शत्रु हैं, ये ऐसे शत्रु हैं, जो केवल अपकार कर शान्त हो जावे वह नहीं, किन्तु सर्व प्रकार नाश करने वाले शत्रु हैं, जैसे हरिणी का व्याघ्रों के मध्य में आ जाने पर सर्वनाश होता है, वैसो ही हमारी भी दशा है, वैसी दशा में प्रसङ्ग से आने के वचन सान्त्वना कराने के लिए समर्थ नहीं है, इस लोक तथा परलोक में माता और पिता से हीन पाण्डव तो भ्राता हैं, मैं तो भूआ हूँ, अतः आप स्वयं दोनों को विशेष रूप से आकर सर्व को सुखी करूँगा, ऐसे वचन कहकर सान्त्वना देंगे ? श्रीकृष्ण में अवस्था आदि दोष नहीं है, इसलिए कि आप भगवान् हैं और जिन दूसरों में दोष हैं उनके लिए 'बालक' पद विशेषण रूप में दिया है, बालक होने से स्वतः असमर्थ हैं ॥१०॥

आभास—एवं मनोरथमुक्त्वा तदानीमेव समागतं भगवन्तं मन्यमाना संमुखतया प्रार्थयते कृष्ण कृष्णेति ।

आभासार्थ—कुन्ती ने इस प्रकार अपना मनोरथ कहा तो उस समय ही सामने भगवान् आ रहे हैं, यों समझ 'कृष्ण कृष्ण' श्लोक में प्रार्थना करती है ।

श्लोक—कृष्ण कृष्ण महायोगिन्विश्वात्मन्विश्वभावन ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम् ॥११॥

१—सचमुच

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ! हे विश्वात्मा ! हे विश्व को अनुभव कराने वाले ! हे गोविन्द ! बालकों के सहित क्लेश को प्राप्त मैं आपकी शरण हूँ, अतः शरणागत की रक्षा करो ॥११॥

सुबोधिनी—आदरे वीप्सा अकस्मादागते वा। नन्वहमन्यत्र, अत्र तव दृष्टिभ्रमो भविष्यतीत्याशङ्‌क्याह **महायोगिन्निति**। तथापि किमेवमेतावद्दूरं सर्वपरित्यागेनागमनेनेति चेत्तत्राह **विश्वात्मन्निति**। सर्वस्य भगवानात्मा; आत्मना हि देहादेः प्रियं कर्तव्यं प्रयत्नस्य तदधीनत्वात्, अतः सर्वथा आगमनम्, तथाप्यक्रूरवदेवागन्तव्यं किमिति विशेषाकारेणागतमिति चेत्तत्राह **विश्वभावनेति**। विश्वमेवानुभावयतीति। नह्यलौकिकाकरणे विश्वमनुभावितं भवति। अलौकिकबुद्धावेवालौकिकानुभावो भवति। एवं भगवन्तं संबोध्य समागमनं तत्प्रकारं चोक्त्वा प्रार्थयते प्रपन्नां पाहीति। साधारणा अपि प्रपन्ना रक्षणीयाः भगवतः सम्बन्धो नापेक्षितः। अतः प्रपत्तिरेव हेतुत्वेन निरूपिता। **अवसीदतीमवसादं** प्राप्नुवतीमिति। अप्रपन्नामपि परिपालने हेतुः, तत्रापि **शिशुभिः सह**, लाक्षागृहदाहं वा भगवन्तमिव पश्यन्ती ॥११॥

व्याख्यार्थ—यहाँ कृष्ण सम्बोधन दो बार देकर कृष्ण के प्रति आदर व प्रेम प्रकट कर दिखाया, अथवा अचानक दर्शन होने के कारण दो बार 'कृष्ण कृष्ण' कहा है, यदि कृष्ण कहे कि मैं तो यहाँ हूँ ही नहीं, तुझे दृष्टि भ्रम हुआ है, जिसके उत्तर में कहती हैं कि आप महायोगी हैं, इसलिए कहीं भी हो तो भी यहाँ दर्शन देने में समर्थ हो, यद्यपि महायोगी हूँ तो भी सर्व का परित्याग कर यहाँ इतनी दूर आने की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहती हैं कि आप विश्व की आत्मा हैं, अतः सर्व की आत्मा होने से अपने देह आदि के प्रिय करने के लिए प्रयत्न करना ही आपका कर्त्तव्य है, अतः आत्मा को सर्वथा आना ही चाहिए, यदि कृष्ण कहे कि मान लो आत्मा होने से मुझे आना ही चाहिए, तो भी अक्रूर की भाँति आना चाहिए, इस विशेष प्रकार से आने की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहती हैं कि जब तक अलौकिक प्रकार नहीं किया जाता है, तब तक विश्व को अनुभव नहीं होता है, यह अलौकिक अनुभव उस बुद्धि में होता है, जो बुद्धि अलौकिक होती है, इस प्रकार भगवान् को सम्बोधन कर, आने का एवं उसके प्रकार का वर्णन कर प्रार्थना करती है मैं आपकी शरण में हूँ, शरण आई हुई की रक्षा करो, भगवान् कोई भी साधारण शरण आता है तो उसकी भी रक्षा करते हैं, सम्बन्ध की भी आवश्यकता नहीं देखते हैं, तो मैं भी शरण आई हूँ, जिससे मेरी रक्षा करने में शरणागति भी हेतु है, शरण आई हुई मैं बहुत दुःख पा रही हूँ, यदि मैं शरण न भी आऊँ, तो भी आप दयालु होने से मेरी दुःखी दशा को देख मेरी रक्षा करो, न केवल मैं अकेली दुःखी हूँ, किन्तु बच्चों के समेत दुःखी हूँ, कुन्ती भगवद्भक्ता होने से जैसे भावावेश में भगवान् के न होते हुए भी भगवान् के दर्शन कर रही है, वैसे लाक्षागृह दाह की भी स्फूर्ति उसको हो रही है, अतः यों कहती हुई रक्षा की प्रार्थना कर रही है ॥११॥

आभास—ननु पुत्रा अपि तव समर्थाः पितरो भ्रातरश्च। अतः किमिति विषादः क्रियत इत्याशङ्‌क्याह **नान्यत्तव पदाम्भोजादिति**।

आभासार्थ – तेरे पुत्र, भाई, पिता आदि सर्व समर्थ हैं, फिर तू इतना सन्ताप क्यों करती है? जिसका उत्तर 'नान्यत्तव पदाम्भोजात्' श्लोक में देती है।

श्लोक—नान्यत्तव पदाम्भोजात्पश्यामि शरणं नृणाम्।
बिभ्यतां मृत्युसंसारादीश्वरस्यापवर्गिकात् ॥१२॥

श्लोकार्थ—जब तक मोक्ष नहीं होता है, तब तक मरण का भय मिटता नहीं, अतः इस मृत्यु रूप संसार से डरने वाले मनुष्यों का आप ईश्वर के चरण कमल से अन्य कोई रक्षक मैं नहीं देखता हूँ ॥१२॥

सुबोधिनी– **मृत्युसंसाराद्बिभ्यतामन्यच्छरणमेव** नास्ति, मृत्योः संसाराच्च प्रतिजन्म मृत्योर्भयं संसारभयमेकमेव। मृत्यवश्च बहव इति मृत्युभयमेकमन्यस्मादपि निवर्तते सर्वमृत्युभयं तु संसारमेव भगवत एव निवर्तते। उभयं स्वतन्त्रभक्त्यैव निवर्तत इति पदाम्भोजपदम्। ननु भगवन्तं परित्यज्य चरणात् कथं निवृत्तिरुच्यत इति चेत्तत्राह **ईश्वरस्येति**। स हि चरणद्वारापि सर्वं कर्तुं समर्थः। **किञ्च**। ईश्वरत्वाद् दुराराध्यत्वात् निर्विचिकित्सं फलार्थिनः प्रवृत्तिरपि कुण्ठिता भवेत्। चरणौ तु नियतौ। अत एव नियतो भक्तिमार्गः फले फलावश्यंभावे च, ईश्वरभावस्त्वनियतः। ईश्वरत्वान्मृत्युनिराकरणमापवर्गिकादपवर्गाधिपतेः संसारनिवृत्तिरयं संसारस्त्वपवर्गपर्यन्तं भवतीत्यापवर्गिकः मृत्युरपि तथा ॥१२॥

व्याख्यार्थ– मृत्यु रूप संसार से डरे हुए मनुष्यों का आपके सिवाय अन्य कोई रक्षक नहीं है, मनुष्य को प्रत्येक जन्म में मृत्यु से और संसार से भय होता ही रहता है, वह भय एक ही है, मनुष्य को मृत्यु बहुत देखनी पड़ती हैं, किन्तु मृत्यु का भय मृत्यु होने से मिट जाता है, किञ्च बार-बार जन्म लेकर जो मृत्यु भय भोगना पड़ता है, जिसका कारण संसार है, उस संसार के मिट जाने के सिवाय मृत्यु भय बना ही रहता है, इस संसार को मिटाने वाले भगवान् ही हैं, संसार भय और मृत्यु भय दोनों स्वतन्त्र भक्ति के सिवाय नहीं मिटते हैं, इसलिए 'पदाम्भोजं' पद दिया है, अर्थात् भगवान् के चरण कमल के आश्रय के सिवाय ये दोनों भय नहीं मिटते हैं, भगवान् से मिटते हैं, यों न कहकर उनके चरण कमल से मिटते हैं, यह कैसे कहा? जिसके उत्तर में कहती हैं कि वे चरण कमल 'ईश्वर' के हैं, ईश्वर सर्व समर्थ होने से चरण[1] द्वारा भी सब कुछ कर सकते हैं, भगवान् ईश्वर होने से दुराराध्य[2] हैं, अतः जो फल चाहता है, उसकी प्रवृत्ति उनमें बिना संदेह निश्चित् पूर्ण रूप से होनी कठिन हैं, चरण तो नियत है अर्थात् भक्ति करने (सेवा करने) में किसी प्रकार दुर्लभता नहीं है अतएव भक्ति मार्ग, फल देने में तथा अवश्य फल प्राप्ति कराने में निश्चित् किया हुआ है, ईश्वर द्वारा फल की प्राप्ति निश्चित् नहीं है; क्योंकि ईश्वर स्वतन्त्र है, फल दे न भी देवे, उनकी

१—चरण का तात्पर्य है 'भक्ति' अर्थात् भगवच्चरणों के आश्रय रूप भक्ति द्वारा संसार नष्ट हो जाता है,

२—उनकी सेवा सरल नहीं है।

इच्छा पर निर्भर है, आप ईश्वर होने से मोक्ष के अधिपति हैं, यह मृत्यु जब तक मोक्ष नहीं होता है, तब तक रहती है, मोक्ष तब होता है, जब जन्म लेने का कारण संसार (अहन्ताममतात्मक तथा आशा) निवृत्त हो जावे, यह निवृत्त हुआ तो मृत्यु भय व संसार भय स्वयं स्वतः निवृत्त हो जाता है ॥१२॥

आभास—एतावत्प्रार्थनानन्तरमङ्गीकारेणैव तत्परितोषं कृत्वा तिरोधाने कृते तादृशाय पुनर्नमस्करोति।

आभासार्थ—कुन्ती की इतनी प्रार्थना के अनन्तर भगवान् प्रार्थना को अपनी प्रसन्नता से स्वीकार कर तथा इसको प्रसन्न कर तिरोहित हो गए, वैसे भगवान् को फिर 'नमः कृष्णाय' श्लोक में नमस्कार करती है।

श्लोक—नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने ।
योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ॥१३॥

श्लोकार्थ—शुद्ध स्वरूप, ब्रह्म, परमात्मा, योगेश्वर, योग मूर्ति श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करती हूँ, मैं आपकी शरण आई हूँ ॥१३॥

सुबोधिनी—नमस्कारे सम्बन्धस्य विरुद्धत्वाद् यदैव चिकीर्षितस्तदैव तिरोहितः। कृष्णायेति सदानन्दाय, अवतारपरत्वेपि धर्मा न बाधका इत्याह शुद्धायेति। अवतारसंबन्धिधर्मैरस्पर्शात्। अनेन कालान्ताः सर्व एव धर्मा निवारिताः। नन्वागतस्य सर्वथेतरसम्बन्ध इति चेत्तत्राह ब्रह्मण इति। जीवानामेवागतानां बन्धो न ब्रह्मणः। ननु जीवोपि वस्तुतो ब्रह्म भवतीति को विशेष इति चेत्तत्राह परमात्मन इति। परमश्चासावात्मा चेति। उत्कृष्ट आत्मा आत्मनामप्यात्मा वा। ननु तर्हि कथं मूलसमागमनं हेत्वसंभवादंशत्वे परिच्छेदे हि समागमनं संभवति। तत्राह योगेश्वरायेति। योगो ह्यलौकिकं कर्तुं शक्तो यत्र बुद्धिर्न प्रसरति तस्यापीश्वरः कथं स्वागमनमपि न संपादयेत्। किञ्च। योगस्यापि सामर्थ्यं भगवत एवेत्याह योगायेति। भगवानेव योगः। अतः सामर्थ्यस्य दृष्टत्वान्नानुपपन्नं किञ्चित्। अतो यथा आगतोपि तद् धर्मैर्न लिप्यते, सर्वत्र पूर्णोप्यागच्छति,एवमस्मानपि पालयिष्यतीति निश्चित्याह त्वामहं शरणं गतेति। शरणागमने परिपालनमावश्यकमिति ॥१३॥

व्याख्यार्थ—कुन्ती ने जब सम्बन्ध बताने तथा नमन करने की इच्छा की, तब भगवान् छिप गए, कारण कि नमस्कार और सम्बन्ध परस्पर विरुद्ध है; क्योंकि नमस्कार भगवद्भाव से की जाती है, उसमें लौकिक भाव नहीं होना चाहिए, यदि लौकिक सम्बन्ध हुआ तो भगवद्भाव न रहेगा, जिससे नमस्कार भी उपयुक्त न होगा।

अब नमस्कार करने के लिए उनके स्वरूप का वर्णन करती है, 'कृष्णाय' आप सदानन्द रूप

हैं यह 'कृष्ण' नाम अवतार पर होते हुए भी आपके सदानन्द आदि धर्मों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आती है अर्थात् आप अवतार दशा में भी उन धर्मों से युक्त हो, जिसके लिए 'शुद्धाय' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि अवतार से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्याकृति आदि दृश्य धर्म आपको स्पर्श नहीं करते हैं, आप शुद्ध ही हैं. यों कहकर काल आदि सभी धर्म आप में नहीं है, यह भी बता दिया. यदि आप कहो कि जो जगत् में आया. उसको जगत् के धर्म का सम्बन्ध तो होगा ही तो इसके उत्तर में मेरा कहना है कि जीव को अन्य सम्बन्ध होता है, आप 'ब्रह्म' हो, अतः आपको नहीं होता है, यदि कहो कि जीव भी वस्तु स्वरूप से ब्रह्म है. जिससे मुझ में क्या विशेषता है ? इस के उत्तर में मेरा कहना है कि जीव 'आत्मा' है आप 'परमात्मा' हैं अर्थात् आप आत्माओं की भी आत्मा होने से उत्कृष्ट आत्मा हैं, यदि आप कहो कि मैं आत्माओं की भी आत्मा मूल रूप हूँ, तो मेरा आगमन कैसे हुआ ? आगमन तो अंश हो और परिच्छिन्न हो, उसमें होता है; अपरिच्छिन्न में नहीं होता है ? इसका उत्तर यह है कि आप अपरिच्छिन्न मूल रूप हैं, किन्तु साथ में योगेश्वर भी हैं, योग वह अलौकिक कार्य कर सकता है, जहाँ बुद्धि नहीं पहुँचती है, फिर आप तो उस योग के ईश्वर हैं, तो अपना कहीं भी आना क्यों नहीं कर सकते हैं ? योग को जो सामर्थ्य है, वह भी आप भगवान् की ही हैं, इसलिए 'योगाय' विशेषण दिया है कि भगवान् ही योग है; इससे जो सामर्थ्य देखी गई है, वह किसी प्रकार कुछ भी अयोग्य नहीं है, अतः जिस प्रकार अवतार लेने पर भी अन्य धर्मों से लिप्त नहीं होते हो, उसी प्रकार पूर्ण होते हुए भी आ सकते हो, उस समय भी परिच्छिन्नता आपको स्पर्श भी नहीं करती है, इस प्रकार हम लोगों की भी पालना अवश्य करोगे, यह निश्चय कर मैं आपकी शरण आई हूँ. शरण आने पर पालना आवश्यक है ॥१३॥

आभास—ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह **इत्यनुस्मृत्येति** ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन 'इत्यनुस्मृत्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम् ।
प्रारुदद्दुःखिता राजन्भवतां प्रपितामही ॥१४॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! आपकी परदादी इस प्रकार सम्बन्धियों को और जगत् के ईश्वर श्रीकृष्ण का स्मरण कर दुःखी होकर जोर से रोने लगी ॥१४॥

सुबोधिनी—स्वजनं पित्रादीन् **कृष्णं च** चकाराद्बलभद्रं भगवद्गुणांश्च, **जगदीश्वरमिति** सर्व एव पाल्या इति बहिर्मुखाः, तिरोधानात्पाक्षिकरक्षामाशङ्क्य प्रकर्षेणारुदत् । वंशं दूरीकरिष्यति । एकं परीक्षितं कथञ्चित्स्थापयिष्यति । इत्येवं भगवद्द्वेशे स्त्रियोपि भक्ता इति ज्ञापयितुमाह । **भवतां प्रपितामहीति** । पितामही सुभद्रा । कुन्ती तु प्रपितामही ॥१४॥

व्याख्यार्थ—अपने सम्बन्धी, पिता आदि एवं कृष्ण को श्लोक में 'च' दिया है, जिससे बलरामजी तथा भगवान् के गुण कहे हैं, 'जगदीश्वर' विशेषण देकर यह बताया है कि आप जगत् के ईश्वर हैं, अतः आपको सर्व की पालना करनी ही है, चाहे वे बहिर्मुख हो, भगवान् छिप गए, जिससे कुन्ती के मन में संशय उत्पन्न हुआ कि हमारी रक्षा करेंगे कि नहीं करेंगे ? इस भाव के आने पर तुम्हारी परदादी जोर से रोने लगी, वंश को तो दूर करेंगे, केवल एक परीक्षित की बड़ी सावधानी से रक्षा करेंगे, इस प्रकार तुम्हारे वंश में स्त्रियाँ भी भक्त हुई हैं, यह बताने के लिए शुकदेवजी ने कुन्ती का नाम न लेकर कहा है कि 'तुम्हारी परदादी' परीक्षित की सुभद्रा दादी है और कुन्ती परदादी है ॥१४॥

आभास—भगवतः सान्त्वनं तु पाक्षिक मन्यत इति भगवदीयैः सान्त्वनं क्रियत इत्याह **समदुःखसुख** इति ।

आभासार्थ—भगवान् ने जो सान्त्वना दी, वह तो पाक्षिक समझी जाएगी, अतः भगवदीय सान्त्वना देते हैं, जिसका वर्णन 'समदुःखसुख' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—समदुःखसुखोऽक्रूरो विदुरश्च महायशाः ।
सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—अक्रूरजी और बड़े यशस्वी विदुरजी कुन्ती के साथ बराबर सुख तथा दुःख का अनुभव करते हुए उसके पुत्रों के जनक 'धर्म' और 'इन्द्र' आदि का प्रभाव कहकर सान्त्वना देने लगे ॥१५॥

सुबोधिनी—तत्रार्थे अक्रूरस्य सान्त्वनमनुचितं मत्वाह समे सुखदुःखे यस्येति । यद्यपि जाते अनिष्टे इष्टे वा सुखं दुःखं समानं तथाप्ययमक्रूरः प्रसिद्धः पुरुष इति सान्त्वनमुचितमेव । **विदुरोऽपि** तथा । यद्यपि तुल्यस्तथापि धर्मपक्ष इत्याह **महायशा** इति । तत एव हि धर्मो भवति, नान्यथा । **सान्त्वयामासतुः** न तु तद्दुःखं दृष्ट्वा स्वयं युद्धार्थं प्रवृत्ताः । यतः **कुन्ती** कुन्तिभोजाय दत्ता, तत्रापि स्वरक्षार्थं धर्मादयः प्रार्थिता इत्यक्रूरविदुराभ्यां युद्धे कृते तत्प्रयत्नो व्यर्थो भवतीति **तत्पुत्रोत्पत्तिहेतुभि**र्धर्मादिभिः कृत्वा सान्त्वनमेव कृतवन्तौ न तु युद्धार्थं प्रवृत्ता इति युक्तम् ॥१५॥

व्याख्यार्थ—यों तो इस विषय में अक्रूर सान्त्वना देते हैं यह उचित नहीं है, किन्तु अक्रूर महान् प्रसिद्ध पुरुष है उनको अनिष्ट या इष्ट में दुःख सुख समान है तो भी महत्ता के कारण सान्त्वना देनी योग्य ही है, विदुर भी वैसे ही हैं अतः वे भी सान्त्वना देवे, यह योग्य है, विशेष में यद्यपि इसको दोनों तुल्य है तो भी यह धर्म पक्ष है इसलिए सान्त्वना दे मार्ग बताया है, इसलिए विदुरजी महायशस्वी माने जाते हैं, यों करने से ही धर्म होता है अन्य प्रकार से धर्म नहीं हो सकता है, केवल सान्त्वना दी, इनका दुःख देख कर युद्ध के लिए तैयार न हुए, क्योंकि 'कुन्ती' भोज को दी गई है, इसमें यह प्रेरणा दी कि कुन्ती को अपनी रक्षा के लिए धर्म आदि को प्रार्थना करनी चाहिए, यदि

ये[1] युद्ध करें तो सर्व प्रयत्न व्यर्थ हो जावे, इसलिए तुम्हारे पुत्रों के जनक 'धर्म' आदि से ही तुम्हारा दुःख दूर होगा यों कह कर सान्त्वना दी, किन्तु स्वयं युद्ध में प्रवृत्त न हुए यह योग्य ही किया ।।१५।।

आभास—तथाप्यक्रूरोऽसहमानो वाक्येन धिक्कारे कृते यद्ययं विमनो भविष्यति तदा मारयिष्यामीति निश्चित्य तद्गृहे स्थितस्तदधीनो भवतीति ततो निर्गच्छन् राजसंबोधनार्थं प्रवृत्त इत्याह **यास्यन्निति** ।

आभासार्थ - अक्रूरजी, कुन्ती और उसके पुत्रों के दुःख देखकर सहन नहीं कर सके, जिससे मन में यह विचार आया कि यदि इस कुकृत्य के कारण धृतराष्ट्र को धिक्कारूँगा और उससे मुझे इनसे लड़ना पड़ेगा तो मैं इसको मार सकूँगा, किन्तु अब इसके घर में रहता हूँ, घर में रहने वाला घर के स्वामी के अधीन होता है, इसलिए जब घर छोड़ा, तब राजा को सबोधन करते हुए 'यास्तत्' श्लोक में इस प्रकार कहने लगे ।

श्लोक—**यास्यन्राजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलालसम् ।**
अवदत्सुहृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम् ।।१६।।

श्लोकार्थ—जाते समय अक्रूरजी बान्धवों के समक्ष, कुपुत्रों के कहने पर सब कुछ करने वाले, विषम दृष्टि राजा धृतराष्ट्र के पास आकर, रामकृष्ण ने जो कहलाया था, वह सब कहने लगे ।।१६।।

सुबोधिनी—राजानं धृतराष्ट्रं राजत्वादवश्यं वक्तव्यः, अन्यथा मर्यादातिक्रमो भवेत् । **अभित** एत्येति निःशङ्कम् । ननु राजा न वक्तव्यः सर्वप्राणिभिः यथा भगवान्, तत्कथमुक्तवानित्याशङ्क्याह **विषममिति** । तत्र हेतुः **पुत्रलालसमिति** । पुत्रो हि स्वयं जीवन् पाण्डवान्न मन्यते । अधुना किं पाण्डवा हन्तव्याः पुत्रो वेति विचारे दुष्टो हन्तव्य इति धर्मशास्त्रात् पुत्रस्यैव मारणं प्राप्तं तन्न करोतीति विषमः, सहजो धर्मो विहितं धर्मं बाधते । एतच्च राजाधिकारे निविष्टस्य वैषम्यमनुचितमिति बोधनमुचितमिति भावः । तदपि नैकान्ते, तथा सति लज्जा न भवेदतः **सुहृदां मध्ये** । तस्मिन्विषमेप्यन्येषामविषमत्वान् न वचनेपि किञ्चिदनिष्टम् । तत्रापि **बन्धुभिरुदितं** वसुदेवादिभिः । तत्रापि **सौहृदादेवोदितं** न तु विषमबुद्धया ।।१६।।

व्याख्यार्थ - धृतराष्ट्र राजा है, राजा होने के कारण उसका सब कहना चाहिए, यदि न कहा जाएगा तो मर्यादा का उल्लङ्घन होगा, इसलिए निःशङ्क होकर राजा के पास आ गए, यदि कहो कि जैसे भगवान् को कोई नहीं कह सकता है कि ऐसा करो या वैसा करो, वैसे राजा भी भगवन्मूर्ति होने से कहने योग्य नहीं है, इसके उत्तर में कहते हैं कि वह तब हो सकता है, जब राजा अपने स्वरूप

१—विदुर अक्रूर

को समझ समदृष्टि वाला हो, यह धृतराष्ट्र तो विषम दृष्टि वाला है, अतः इसको कहना चाहिए कि विषम क्यों हुआ है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'पुत्र लालसम्' पुत्र में मोह वाला है, पुत्र चाहता है कि मैं जीता हूँ, तब तक पाण्डवों को राज्य न दूँगा, जीवित होंगे तो कभी न कभी राज्य ले लेंगे, इसलिए इनको कैसे भी नाश करना चाहिए, वैसी दशा में क्या करना चाहिए, पाण्डवों का नाश करना चाहिए या पुत्र का नाश करना चाहिए, इस बिचार करने में धर्म शास्त्र की आज्ञा तो यह है कि जो दुष्ट हो उसका नाश करना चाहिए, दुष्ट तो पुत्र है जिसको न नाशकर पाण्डवों का नाश कराने पर कमर कसी है, अतः यह राजा विषम है, अपना स्वाभाविक धर्म शास्त्र में कहे हुए धर्म में बाधा डालता है अर्थात् दुःस्वभाव या दुःसङ्ग शास्त्रीय धर्म करने नहीं देता है, यद्यपि राजा को तो राज्य सिंहासन पर बैठकर शास्त्र नियमानुसार ही कर्त्तव्य करने चाहिए, विषमता नहीं करना चाहिए, इसलिए वैसे राजा को समझाना ही योग्य है, यदि कहो कि यों है, तो एकान्त में समझा दो, जिसके उत्तर में कहते हैं कि एकान्त में कहा जाएगा तो लज्जा न होगी, अतः बान्धवों के समक्ष कहने से कुछ लज्जा आ जावे तो इस विषमता का त्याग कर दे और वचन कहने से किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट न होगा, यह विषम है, दूसरे तो अविषम ही रहेंगे, फिर मुझे कहना भी आवश्यक है; क्योंकि मैं जो कुछ कहता हूँ, वह मेरी ओर से नहीं है, किन्तु वसुदेव आदि बान्धवों ने जो कुछ कहा है, वही मैं कहता हूँ, उन्होंने भी जो कहा है, वह अपनेपन से हित के लिए ही कहा है न कि विषम बुद्धि से कहा है ।।१६।।

आभास—वचनान्याह नवभिः **भो भो** इति ।

आभासार्थ—'भो भो वैचित्र' इस श्लोक से लेकर नौ श्लोकों में अक्रूर के वचन हैं ।

श्लोक—अक्रूर उवाच—**भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन ।**
भ्रातर्युपरते पाण्डावधुनासनमास्थितः ।।१७।।

श्लोकार्थ—अक्रूरजी कहने लगे कि हे विचित्रवीर्य के पुत्र ! कौरवों के कुल की कीर्ति बढ़ाने वाले, आपके भ्राता पाण्डु के परलोक पधारने पर आप राज्य सिंहासन पर बैठे हैं ।।१७।।

सुबोधिनी—सर्वैर्भावैः सर्वविधान्युक्तानि वचनानीति । आदौ रजःसत्त्वतमोभावेन लौकिकेन प्रबोधनं त्रिभिः । अन्धत्वान्न पश्यतीति वारद्वयं संबोधनम् । राष्ट्रं न बिभर्तीति न धृतराष्ट्रता । प्रज्ञाचक्षुरिति चेदुच्यते तर्हि मर्मभेदो भवेत् । तथा व्यासात्मज इत्यपि, स्त्रीपुत्रत्वादिसंबन्धो हीनत्वप्रतिपादकः । राजत्वं तु नास्तीति मन्यमानः कृत्रिमपितृनाम्ना संबोधयति **वैचित्र्यवीर्येति** । विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रजः पुत्र इत्यर्थः । **त्वमित्येकवचनेन** स्वजन्मानुसन्धीयतामिति द्योतितम् । **किञ्च** । कुरूणां वंशे त्वमुत्पन्नः तत्कीर्तिवर्धनमुचितम् । वर्धनशब्देन छेदनमप्युच्यये इति कीर्तिछेदकः त्वमित्यर्थादुक्तं भवति । राजाधिकारार्थं पुत्र उत्पादनीय इति विचार्य प्रथममुत्पादितः । ततश्चान्ध इति त्वं परित्यक्तः, ततः पाण्डुरुत्पादितः तस्मिन्नुपरते आगत्याधुना **आसनमास्थितः** सिंहासने उपविष्टः । अनेनायुक्तमेव करोषीति द्योतितम् ।।१७।।

व्याख्यार्थ—अक्रूर ने सर्व भावों से सर्व प्रकार के वचन कहे, जिनमें से प्रथम रज, सत्त्व और तम भाव से कहे, वे लौकिक प्रकार से तीन श्लोकों में कहकर समझाये, दो बार सम्बोधन इसलिए दिए हैं कि अन्धे होने से देख नहीं सकते हैं, 'धृतराष्ट्र' शब्द का अर्थ है—जिसने राष्ट्र को धारण किया है, किन्तु आपने राष्ट्र को वास्तविक रीति से धारण नहीं किया है, अत: आप में धृतराष्ट्रता नहीं है, यदि धृतराष्ट्र न कहकर 'प्रज्ञाचक्षु' कहा जावे तो मर्म में भेद हो जावे, यदि व्यास का पुत्र कहा जावे तो भी मर्म स्थान पर चोट आवे. स्त्री पुत्रादिक का सम्बन्ध हीनता का प्रतिपादक है, राजत्व हीनता को प्रतिपादन करने वाला नहीं है, इसलिए बनावटी पिता के नाम से सम्बोधन देने के लिए 'वैचित्र-वीर्य' कहा है, वह विचित्र वीर्य का क्षेत्रज पुत्र है, राजा होते हुए भी 'त्व' यह एकवचन जो कहा है, जिसका आशय है कि तू अपने जन्म की तलाश कर कि मेरा जन्म कैसे हुआ है ? फिर तू कुरु वंश में उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसकी कीर्ति को बढ़ाना तुझे योग्य है, यहाँ 'वर्धन' शब्द देकर धृतराष्ट्र को यह सूचना दी है कि तू अब वंश की कीर्ति का छेदन कर रहा है. राज्य चलाने के लिए पुत्र की आवश्यकता है, अत: पहले उस कार्य के लिए आपको पैदा किया, किन्तु आप अन्धे निकले, जिससे आप राज्य के लिए अयोग्य हुए, इसलिए फिर दूसरा पाण्डु उत्पन्न किया, जिसने राज्य सम्भाला, उसके परलोक हो जाने से अब राज्यासन अपने हाथ कर राजा बने हैं, यह जो कुछ आप कर रहे हो वह अयोग्य ही है, यों प्रकट देखने में आता है ।।१७।।

आभास—अङ्गीकृत्यापि सात्त्विकेन बोधनमाह धर्मेणेति ।

आभासार्थ—आपने सब कुछ किया तो भी आपको सात्त्विक भाव से व्यवहार करना चाहिए, इसलिए 'धर्मेण' इस श्लोक में सात्त्विकता से बोध करते हैं ।

श्लोक—**धर्मेण पालयन्नुर्वीं प्रजा: शीलेन रञ्जयन् ।**
वर्तमान: सम: स्वेषु श्रेय: कीर्तिमवाप्स्यसि ।।१८।।

श्लोकार्थ—यदि धर्म से पृथ्वी का पालन करोगे, अच्छे आचरण से प्रजा को प्रसन्न करोगे, अपने सम्बन्धियों से समानता से व्यवहार करोगे तो कल्याण तथा कीर्ति को प्राप्त करोगे ।।१८।।

सुबोधिनी—धर्मेण पृथिवीपालनं कर्तव्यम् । तदा दृष्टादृष्टोपायेन पालिता भवति । भगवता हि नामरूपप्रपञ्चौ निर्मितौ अन्योन्यपरिपालनाय, तदेकेन रहितं व्यङ्गं भवति । अतो धर्मेणैव सह पालनं कर्तव्यम् । केवलकरणत्वे योगिनामिवास्यापि पालनं भवेत् । अनेन परलोके सुखमिहलोके तु राज्याद्वैषयिकं सुखं कीर्तिजन्यं तु ततोऽप्यधिकमिति तत्साधनं बोधयति **प्रजा: शीलेन रञ्जयन्निति**। शीलं सुस्वभावस्तेनैव प्रजा अनुरक्ता भवन्ति । अन्यथा तु युक्तं देयं प्रयच्छन्ति, बहि:कीर्तिसाधनमेतत् । अन्त:कीर्तिसाधनमाह **वर्तमान: सम: स्वेष्विति** । सर्वेष्वेव बन्धुषु समो भवेत् । ततोऽन्तर्नापकीर्तिस्तज्ज्ञैश्च, तदा राजा **श्रेय: कीर्तिं च** प्राप्स्यति ।।१८।।

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में अक्रूर धृतराष्ट्र को सात्त्विक भाव से पालन करने की राह बताता है, भगवान् ने यह प्रपञ्च दो प्रकार से उत्पन्न किया है—एक नाम प्रपञ्च, दूसरा रूप प्रपञ्च; कारण कि वे दोनों परस्पर एक-दूसरे की पालना में सहायता करे, अतः हे राजन् ! आप भी केवल देह से नहीं किन्तु नाम प्रपञ्च शास्त्र की आज्ञा रूप धर्म के साथ पृथ्वी का पालन करो, यदि दोनों से पालन न कर एक से करोगे तो वह पालन अङ्गरहित अर्थात् अपूर्ण होगा, अतः धर्म के सहयोग से पालन करना चाहिए, केवल करण रूप धर्म से पालन करने से योगी के समान इसका पालन होगा, किन्तु इस प्रकार करने से जैसे योग के द्वारा पालन करने से योगी के योग का क्षय होता है, वैसे ही आपके धर्म का भी क्षय हो जावेगा, अतः दोनों के सहभाव से पालन करने से इस लोक में लौकिक सुख की प्राप्ति और परलोक में आनन्द की प्राप्ति होगी, अब इस लोक में कीर्ति भी हो, जिसके लिए आप सर्व प्रकार से प्रजा के मन का रञ्जन करो, वह तब होगा, जब आप अपने स्वभाव को सुन्दर बनाओगे, जिससे प्रजा का आप में प्रेम हो, आपकी लोक में बाहर की भी कीर्ति हो, जिसका साधन यह है कि आप जो योग्य भाग पाण्डवों का है, वह उनको दे दो तो आपकी लोक में विशेष कीर्ति होगी, कुटुम्ब में भी आपकी कीर्ति हो और अपकीर्ति जो हो रही है, वह मिट जावे, इसलिए अपने सर्व सम्बन्धियों से समान व्यवहार कीजिए, यों करने से राजा श्रेय और कीर्ति को प्राप्त कर सकता है, आप करोगे तो आप भी कल्याण और यश पाओगे ॥१८॥

आभास—अनङ्गीकारे तामसं वचनमाह **अन्यथेति।**

आभासार्थ—उपरोक्त वचनों के अङ्गीकार न करने से तामस वचन '**अन्यथा**' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**अन्यथा त्वाचरँल्लोके गर्हितो यास्यसे तमः ।**
तस्मात्समत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च ॥१९॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार मैंने कहा है, उसी प्रकार यदि राजा आचरण नहीं करता है तो उसकी लोक में निन्दा होती है और वह मरने के अनन्तर अन्धतम नरक में पड़ता है, इसलिए आप अपने पुत्र तथा पाण्डवों में एक जैसी बुद्धि रखकर समान व्यवहार करो ॥१९॥

सुबोधिनी—उक्तप्रकारादन्यथा प्रकारेण भूपालनं प्रजाननुरागं विषमत्वं च कुर्वन् कीर्तिप्रतिनिधिं श्रेयःप्रतिनिधिं च प्राप्स्यसीत्याह । **गर्हितो** निन्दितः **तमोन्धतमः** महद्दुःखं प्राप्स्यसीति, अतो बाधवशादपि समो भवेदित्याह **तस्मादिति। समत्वे** समत्वार्थं **वर्तस्व** यथैव त्वं समो भवसि तथोपायं कुर्वित्यर्थः । वैषम्यस्थानमुद्घाटयति । **पाण्डवेष्वात्मजेष्विति** । चकारात्तत्सबन्धिषु च ॥१९॥

व्याख्यार्थ—अब अक्रूरजी कहते हैं कि यदि राजा अन्य प्रकार से पृथ्वी का पालन करता है,

तो प्रजा का राजा में प्रेम नहीं रहता है, यदि उसमें भी समबुद्धि न रख विषम बुद्धि करता है तो कीर्ति तथा श्रेय की प्राप्ति न होकर तुम्हारी निन्दा भी होगी, न केवल निन्दा किन्तु अन्धतमः की प्राप्ति होगी, अर्थात् महान् दुःख भोगोगे, अतः बाध करने वालों के वश होते हुए भी राजा को सबसे समान व्यवहार करना चाहिए, आप राजा हैं, अतः आप वैसा उपाय करो, जिससे पाण्डु के पुत्र और आपके पुत्र में भेदभाव न कर समानता से व्यवहार करो, वैसा उपाय कर जिससे सबको समान दीखने में आ जावे, यदि आप पूछो कि मैं विषमता का किनसे व्यवहार कर रहा हूँ ? जिसके उत्तर में अक्रूरजी कहते हैं कि पाण्डव और अपने पुत्रों से समान न चलकर भेदभाव से चलते हो, और 'च' शब्द से यह भी बताया है कि पाण्डवों के सम्बन्धियों में भी आप समभाव से नहीं चलते हैं, इस विषमता को छोड़ सबसे समभाव से व्यवहार करो ॥१९॥

आभास— एव लोकन्यायेन बोधयित्वा शास्त्रन्यायेनाह समाभ्यां त्रिभिस्त्रिभिस्तत्त्वं बोधयति नेह चेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार लोक नीति के अनुसार राजा को ज्ञान देकर अब शास्त्र के न्याय से तीन तीन श्लोकों में पूर्व के समान सतो, रजो तमो भाव से कहते हैं ।

श्लोक—नेह चात्यन्तसंवासः कर्हिचित्केनचित्सह ।
राजन्स्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः ॥२०॥

श्लोकार्थ—कभी, किसी के साथ, यहाँ सदा स्थिति नहीं है, हे राजन् ! स्त्री और पुत्रादिकों की तो क्या बात है? परन्तु अपना शरीर भी सदा साथ नहीं रहता है ॥२०॥

सुबोधिनी—स्वार्थं हि सर्वेण कर्तव्यम् । तद्यथा स्वार्थः सिद्धयति । तत्र कालो बाधक इति हितमहितं बहिरङ्गस्थापनार्थं यत्नो न कर्तव्य इत्याह इहास्मिल्लोके अत्यन्तं सर्वदा केनापि सह संवासः कस्यचिदपि न । अलौकिकबोधने उग्रवचने बोधो न भवतीति कोमलवचनेन संबोधनं स्नेहज्ञापनार्थम्, ममतास्पदेन नास्त्येव संवास इहापि व्यभिचारदर्शनात्स्वदेहेन तु न व्यभिचारं पश्यतीति तत्राप्युपदिशति स्वेनापि देहेनेति। पुत्रादीनामपि देहः स्वस्यैवेत्यपिशब्दे निरूप्य तान्निर्दिशति । किमु जायात्मजादिभिरिति । आदिशब्देन भ्रातृपित्रादयः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि सब जो कुछ करते हैं, वह अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए ही करते हैं, किन्तु उसमें काल बाधा करता है, इसीलिए जिस देहादिक की रक्षा आदि हम हित समझकर करते है, वह हित नहीं है, किन्तु अहित है, अतः बाहर के भाव की स्थापना करने के लिए यत्न नहीं करना चाहिए, जिसको समझाने के लिए कहते हैं कि इस लोक में सर्वदा किसी के साथ किसी की भी स्थिति काल करने नहीं देता है, जब अलौकिक ज्ञान देना होता है तब उग्रवचन कहे जावे तो बोध नहीं हो सकता है, अतः स्नेह दिखाने के लिए कोमल वचन से सम्बोधन दिया है, हे राजन् ! जिसमें ममता है, उसकी

भी अपने साथ सर्वदा स्थिति नहीं रहती है, यदि उसमें व्यभिचार देखने में आवे तो कहते हैं कि जिस अपनी देह में कोई व्यभिचार नहीं देखता है, उस अपने देह की भी अपने साथ सदैव स्थिति काल करने नहीं देता है, तो जो पुत्रादिक की देह अपनी समझी जाती है, उनकी सदा स्थिति कैसे रहेगी आदि शब्द से भ्राता पुत्र आदि सब समझने चाहिए ॥२०॥

आभास—तत्र देहादात्मनो भेदज्ञाने सत्येतद्भवतीति देहादात्मानं भिन्नतया निरूपयति **एकः प्रसूयत** इति ।

आभासार्थ—यह सर्वदा स्थिति तब होती है, जब आत्मा को देह से भिन्न समझ उसमें स्थिति करे, इसलिए 'एकः प्रसूयते' श्लोक में देह से आत्मा की भिन्नता निरूपण करते हैं ।

श्लोक—**एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।**
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही लीन होता है, अकेला ही पुण्य के फल सुख को भोगता है, तथा अकेला ही पाप के फल दुःख को भोगता है ॥२१॥

सुबोधिनी—'आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ'वितिन्यायेनानुभवपर्यन्तं निरूपयति । **प्रसूयते** माता । **प्रलीयते** भूमौ कालेन । एवमाद्यन्तयोरेकत्वमुक्त्वा उपलक्षणन्यायेन सर्वस्यैव क्रियामयस्यैककर्तृत्वं निरूप्य ज्ञानमात्मपर्यवसायीति कर्मणा भोगोप्येकस्यैवेत्याह **एकोनुभुङ्क्ते सुकृतमिति** । सुकृतं पुण्यं कर्म, तस्य फलं स्वर्गादि । कार्यकारणयोरभेदात्तथोच्यते । करणानन्तरमेव भोग इत्यनुशब्दार्थः । सुखभोगे बहूनामपि समवायोस्तीति हास्यक्रीडादौ तथा दर्शनात् । दुष्कृते एक एवेत्याह । चकारान्मिथः सङ्गेन कृतपापे मिथ एव भोग इति पक्षमङ्गीकरोति । दुष्कृतं पापं सुकृतवद्व्याख्येयम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—अपने पिता और पुत्र से जन्म और मरण का अनुभव लेना चाहिए, इस न्याय के अनुसार अक्रूर को जो इस प्रकार अनुभव हुआ है, उसका निरूपण करते हैं, माता से उत्पन्न होता है अर्थात् जन्म लेता है, काल के द्वारा भूमि में लीन हो जाता है, इस प्रकार आदि में, जन्म समय में और अन्त में लीन होने के समय में वही एक ही है, उपलक्षण न्याय से सर्व क्रियामय का एक ही कर्त्तापन निरूपण कर, ज्ञान का अन्त तो आत्मा में ही होता है, इस प्रकार कर्म से भोग भी एक ही करता है, जैसे कि एक ही पुण्य रूप कर्म जिसका फल स्वर्ग आदि है, पुण्य रूप कर्म कारण है और स्वर्ग आदि फल कार्य है, कार्य और कारण का अभेद है, जिससे केवल 'सुकृत' कहा है, श्लोक में 'अनु' शब्द कहने का तात्पर्य है कि कर्म करने के अनन्तर फल का भोग किया जाता है, पुण्य के फल रूप सुख के भोग के समय अन्यों का भी मिलन होता है, जैसे कि हास्य क्रीड़ा आदि में देखा जाता है, किन्तु दुष्कृत अर्थात् पाप के फल दुःख के भोग में तो अकेला ही दुःख भोगता है, 'च' शब्द देने का आशय यह है कि यदि पाप मिलकर किया है, तो दुःख भी साथ ही भोगना पड़ता है, अतः दुष्कृत की भी सुकृत के समान व्याख्या करनी चाहिए ॥२१॥

आभास—सुखार्थं सुखसाधनार्थं वा पापं न कर्तव्यमित्याह **अधर्मोपचितमिति** ।

आभासार्थ—सुख अथवा सुख के साधनों के लिए पाप नहीं करना चाहिए, यह 'अधर्मोपचितं वित्त' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक— अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेधसः ।
संभोजनीयापदेशैर्जलानीव जलौकसः ॥२२॥

श्लोकार्थ—मूर्ख का अधर्म से सञ्चय कर, बढ़ा हुआ धन, दूसरे पुत्र आदि पालने योग्य है, इस मिष (बहाने) से ले जाते है, जिससे धन ले जाने पर जैसे जल के जीव जल के अन्यत्र चले जाने पर जल बिना दुःखी होते हैं, वैसे यह मूर्ख भी अकेला हो, दुःखी होता है ॥२२॥

सुबोधिनी—**अधर्मेण उपचितं** पुष्टम्, अर्थस्योत्पत्तिर्धर्मेणैव उपचयस्त्वधर्मेणापि भवति । तथा सति प्रवृद्धो रोषः, **अन्य एव** अधर्मिष्ठा अधर्मप्रेरिता वा दैन्या हरन्ति, प्रतिरोधे सामर्थ्याभावमाह । **संभोजनीयापदेशैरिति** । सभोजनीयाः संबन्धिनः, अतिलुब्धोपि सम्बन्धरक्षार्थं तान् भोजयति । अनपेक्षितं बहुत्वान्नयन्तीत्याशङ्कय तस्मिन् हृते जीवनमेव यातीत्यत्र दृष्टान्तमाह **जलानीव जलौकस** इति । जलौकसो मत्स्यादेः प्राणभूतमपि जलं कुल्याभिर्हरन्ति । ज्ञानं चेद् भवेत् तद्द्वारान्यत्र गच्छेदज्ञानमात्रे जीवनरूपोयमर्थ इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तः ॥२२॥

व्याख्यार्थ - धन की उत्पत्ति धर्म से होती है, अर्थात् धन धर्म से प्राप्त होता है, किन्तु उसकी वृद्धि अधर्म से भी हो सकती है, तो जो धन अधर्म से बढाया हुआ है वह देखकर अन्य जनता में रोष बढता है जिससे वे दूसरे जो अधर्मी वा अधर्म से प्रेरित लूटेरू है वे धन छीन लेते हैं अपने में सामर्थ्य न होने से, उनको रोक कर धन बचाया नहीं जा सकता है, और धर्म की वृद्धि के समय धनी के मन में यह विचार होता है कि सम्बन्धियों को खिलाना चाहिए, धनी अतिशय लोभी होवे तो संब ध बना रहे इसलिए संबन्धियों को भोजन कराता है, धन के मद में कहता है कि मुझे अपने धन की अपेक्षा नहीं है, भले ये ले जावें इस प्रकार की प्रवृत्ति से धन का क्षय हो जाता है जिससे उसका जीवन ही नष्ट वा दुखी होता है । इसको समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं, जैसे जल के जीव मत्स्य आदि का जल ही प्राण है, अतः वे नदी में ही रहते हैं, उस नदी का जल नहरों द्वारा मनुष्य अन्यत्र ले जाते हैं किन्तु जो जल के जीव समझते हैं वे उन नहरों द्वारा वहां चले जाते हैं जो बे समझ हैं, वे वहां हो जल के बिना अकेले रहने से दुःखो वा नष्ट होते हैं, वैसे हो अधर्म से बढाये हुए धन वाला भी धन लुट जाने पर नष्ट होता है ॥२२॥

आभास—पश्चादुपकरिष्यन्तीत्याशङ्कयाह **पुष्णातीति** ।

आभासार्थ—यदि मैं अब धन देकर उनका पोषण आदि करूंगा तो बाद में वे मेरा उपकार करेंगे, इस विचार का 'पुष्णाति' श्लोक में खण्डन करते हैं—

श्लोक—**पुष्णाति यानधर्मेण स्वबुद्धया तमपण्डितम् ।**
तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः ॥२३॥

श्लोकार्थ—मनुष्य जिनको अपना समझ अधर्म से पालन करता है, वे प्राण, धन और पुत्र आदि उस मूर्ख को उपकार किए बिना पहले ही दुःखी अवस्था में छोड़ देते हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—अन्यमप्युपक्रम्य पर्यवसानेन पुत्रपर निरूपयति **स्वबुद्धया** स्वीया इति बुद्धिमात्रं वस्तुतः शत्रव एव । अन्यथा उपकारमेव कुर्युः । ते न बलात्कारेण तथा कुर्वन्तीति ज्ञापयितुम**पण्डितमि**त्युक्तम् । ननु लौकिकं वैदिकं नित्यं कर्म कर्तव्यमिति तदर्थं ते भोजिता इति चेत्तत्राह **अकृतार्थमि**ति । 'सभोजनी नाम पिशाचभिक्षे'ति वाक्यान्न तेषां दानं परलोकाय, इह लोके भवत्युपकारः यदि ते उपकारं मन्येरन्, तदपि नास्तीत्यकृतार्थतैव । **किञ्च** । अवसरे प्राप्ते प्रकर्षेण **हिन्वन्ति** सङ्कटस्थाने स चार्थस्तं त्यजन्तीत्यर्थः । तान् बाह्याभ्यन्तरांस्तुल्यतया निर्दिशति **प्राणा रायः सुतादय** इति । आन्तराः बाह्याः मध्ये उभयोपयोगिनश्च, आदिशब्देन सर्व एव बाह्या गृहीताः, प्राणा इन्द्रियाणि आसन्यव्यतिरिक्ताः प्राणाः, आसन्यो हि सर्वान्पोषयति न तु तं कश्चन । 'ननु 'अनुप्राणन्ति यं प्राणाः' 'अण्डेषु पेशिष्वि'त्यादिवाक्यैः प्राणानामिन्द्रियाणां चामुक्तौ वियोगो न श्रूयते । मुक्तौ तु कृतार्थतैवेत्यकृतार्थवचनं बाधितमिति चेत्, सत्यम् । चर्षणीनां जीवनां सहगमनं, न स्थिरजीवानां, अन्यथा पुरञ्जनोपाख्याने प्राणादिसहिते देहे जीवप्रवेशवचनं बाधितं स्यात् । यथा प्रवेशस्तथा निर्गम इति, प्रथमप्रवेशोयमिति चेत्, नैवम् । 'वीरसूरपि नेष्यती'ति वाक्यात्, अस्तु वा, तथा सति प्राणभूता राय इति व्याख्येयम् । 'अर्था बहिश्चराः प्राणा' इति, अनेन सिद्धान्तद्वयं निरूपितम् । उत्क्रमणे सहैव गमनमत्रैव परित्याग इति च, यतः श्रुतौ द्वयमप्युक्तम् । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' प्राणा उत्क्रामन्त्युताहो नेति प्रश्ने नेत्याह याज्ञवल्क्यः । 'इहैव समवनीयन्ते प्राणा' इति 'यतो मृतो ध्मातः शेत' इति, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' तु प्रक्रियान्तरम् । अतः क्रममुक्तौ ऊर्ध्वगमने च सङ्गः सर्वोपि गच्छति । जायस्व म्रियस्वेति पक्षे सद्योमुक्तौ च न गच्छतीति सिद्धान्त इति सर्वमविरुद्धम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—प्रारम्भ तो अन्य से करते हैं किन्तु अन्त में उन सबों को पुत्र पर ही लाकर समझते हैं, ये सब अपने हैं । मित्र व सम्बन्धी हैं, वैसी बुद्धि जो होती है वह केवल विचार मात्र ही है, वास्तव में वे मित्र नहीं है किन्तु शत्रु हैं यदि शत्रु न हो तो उपकार करें, उपकार न करने से निश्चय से समझना चाहिए वे शत्रु ही हैं, शत्रु होते हुए भी वे बलात्कार से उसका धन छीनते नहीं है किन्तु उसकी मूर्खता का लाभ उठाते हैं, लौकिक, वैदिक नित्य कर्म तो करना ही चाहिए, इसलिए उनको भोजन कराना ही पड़ा यदि यों हो तो उसका उत्तर यह है कि इस प्रकार का भोजन दान रूप नहीं है जिससे परलोक में लाभ हो किन्तु यह भोजन पिशाच भिक्षा के समान है । इस प्रकार के भोजन से इस लोक में उपकार हो सकता है यदि वे कृतज्ञता दिखावें, वह भी नहीं है, जिससे इस किए का कोई फल नहीं है, न केवल इतना ही है किन्तु प्रसंग आने पर किसी भी आपदा के समय त्याग देते हैं । अब बाहर के और भीतर के सब समान हैं । यह बताते हैं प्राण, धन और पुत्र आदि

है,अन्दर के,बाहर के ये मध्य में दोनों के उपयोगी होते हैं, आदि शब्द कह कर यह बताया है कि बहार के सब ही ग्रहण किए हैं। प्राण शब्द से इन्द्रियों को समझना चाहिए; क्योंकि उनका पोषण किया जाता है। आसन्य प्राण मुख्य प्राण है वह तो स्वयं का पोषण करता है उसका कोई पोषण नहीं करता है। 'अनुप्राणन्तिः' 'अण्डेषुपोशिषु' इत्यादि वाक्यों में कहा है कि जब तक मुक्ति नहीं होती है तब तक प्राण और इन्द्रियों का आपस में वियोग नहीं होता है। मुक्ति होते ही कृतार्थता होती है, तदनुसार आपका 'अकृतार्थ' कहना बाधित है, यदि यों कहते हो तो, वह सत्य है; किन्तु प्रत्येक विषय को प्रकरणानुसार समझना चाहिए, जीव दो प्रकार के हैं। एक 'चर्षणी' जोव हैं जिनकी हमेशा एक लोक से दूसरे लोक में जाकर क्रम मुक्ति होती है। दूसरे स्थिर जीव हैं जिन जिनको लोकान्तर में जाना नही पड़ता है उनकी यहां ही मुक्ती हो जाती है। यदि यों न माना जाएगा तो पुरञ्जन के उपाख्यान में जो कहा गया है, कि देह में प्राणादि के होते ही जीव प्रवेश करता है अर्थात् देह में जीव ने एकाकी प्रवेश किया है, जैसे एकाकी प्रवेश वैसे ही एकाकी निर्गमन होता है इसका बाध होगा, इससे इसको प्रथम प्रवेश मान लो, यों भी नहीं हो सकता है क्योंकि 'वीरसूरपि नेष्यति' वाक्य से विरोध होगा, अतः यदि यों मान भी लिया जावे तो राय अर्थात् धन भी बाहर के प्राण हैं, जैसे कि कहा है,'अर्था बहिश्चरा प्राणाः'यों कहकर दो सिद्धान्त बताए हैं,एक शरीर से प्राणी का उत्क्रमण होने के पक्ष में साथ में अन्योंका भी निकलना और दूसरा उत्क्रमण न हो कर यहां ही लीन हो जाने पर यहां ही सर्व का त्याग, क्योंकि श्रुति में दोनों प्रकार कहे हैं, क्रम मुक्ति के अधिकारी चर्षणी जोव के देह त्याग के समय प्राण आदि साथ जाते हैं 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इस श्रुति के अनुसार सद्यो मुक्ति के अधिकारी स्थिर जोव के प्राण आदि साथ में नहीं जाते हैं, अतः इस प्रकार समझने पर कोई विरोध नहीं रहता है स्थिर जीव सद्योमुक्ति योग्य बनता है वह प्राणादि को अयोग्य बनाकर यहां ही छोड़ता है वह योग्य ही हैं ।।२३।

आभास—अयुक्तत्वाद् गच्छतीति युक्त एवास्य परित्यागः। यथा यो वधार्थं नीयते स केवलो नीयते यो विवाहार्थं नीयते ससामग्रीक इति तदाह **स्वयं किल्बिषमादायेति** ।

आभासार्थ—जैसे, जिसको मारने के लिए जब लेकर जाते हैं तो उसको अकेला ही ले जाते हैं किन्तु विवाह के समय तो बरात (जान) के साथ बाजे गाजे के लाया जाता है जिसका वर्णन 'स्वयं किल्बिष' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स्वयं किल्बिषमादाय तैस्त्यक्तो नार्थकोविदः ।**
असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः ।।२४।।

श्लोकार्थ—उन प्राण आदि से त्यागा हुआ और सच्चे अर्थ को न समझने वाला वह मूर्ख, प्रयोजन भी सिद्ध न कर स्वधर्म से विमुख हो, अपने किए हुए पाप को साथ लेकर अन्धतम में प्रवेश करता है ।।२४।।

सुबोधिनी — तदुपार्जनपोषणाभ्यामुपार्जितं पापं गृहीत्वा तैः प्राणादिभिस्त्यक्तः अन्धंतमो विशति। ऊर्ध्वंगतौ तु न त्यजन्तीति ज्ञापयितुं **नार्थकोविद** इत्युक्तम्। अन्यथा योगशास्त्रं व्यर्थं स्यात्। 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि स' इत्यादिवाक्यात्। अतस्तादृशेन्द्रियाणां हिताचरणं युक्तम्। यदप्युक्तम् 'नो चेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता' इति तद्विषयैः संसारमात्रे प्रवेशनमुक्तम्। न तु हीनगतिः। अत इन्द्रियाणां स्वभावभेदस्य दृष्टत्वात् 'निकृष्टैः कर्मभिर्नित्यं जन्तुः स्थावरतां याती'त्यादिवाक्यादपुनरावृत्त्यधोगमनमार्गे परित्याग एव, मुक्तिव्यावृत्त्यर्थं**मसिद्धार्थ** इति, भगवदिच्छया सद्योमुक्तौ निरुद्धगोपिकावत्सहगमनं नास्तीत्यर्थकोविदत्वाभावेऽपि परित्यागो वर्तत इति व्यावर्तकं पदद्वयमपि मृग्यम्। **अन्धंतमो** हि अपुनरावृत्तितमः 'अन्धंतमः प्रविशन्तो'तिश्रुतिरपि, केवलेन्द्रियपोषका एव संभूतिमुपासत इति श्रुतिराह 'सविद्यामुपासत' इति च। ज्ञानरहितं प्रमाणबहिर्भूतं यत्कर्म लौकिकं निषिद्धं च तेन तम एव। ज्ञानसहितं तु कर्म वैदिकम्। 'य एवास्मि स सन् यज' इत्यादिश्रुतेः तस्य मोक्षफलत्वम् एतज्ज्ञापयितुमाह **स्वधर्मविमुख** इति। तस्मात् स्वधर्मानुसारेण भोगः कर्तव्यः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—धन के उपार्जन करने और बढ़ाने में जो पाप का संचय किया है उसको साथ में लेकर अन्धंतमः में जाता है, प्राण आदि सब उसको छोड़ देते हैं कोई साथ नहीं चलता है; यदि उसकी गति उच्च होवे तो प्राण आदि सब उसके साथ जाते है छोड़ते नहीं है, यह बताने के लिए कहा है कि यह अर्थ को नहीं जानता है, यदि इस प्रकार न माना जावे तो योग शास्त्र व्यर्थ हो जावे, जैसा कहा है पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपिसः' कि वह उस पूर्वाभ्यास से ही खींचा जाता है स्वयं अवश हो जाता है, अतः वैसी अन्तर्मुख इन्द्रियों का हित ही करना चाहिए न कि उन इन्द्रियों का जो संसार के आवेश के कारण दुष्ट हो गई हैं–इसलिए कहा हैं कि इन्द्रियों को अन्तर्मुख न करने वाले प्रमत्त को असत् इन्द्रिय रूप घोड़े रथी सहित उलटे मार्ग पर ले जाकर विषय रूप चोरों के पास फेंक देते हैं, उन विषय रूप चोरों के आधीन होने से वह प्रमत्त संसार में प्रविष्ट हो जाता है, न कि हीन गति पाता है, अतः इन्द्रियों के भिन्न भिन्न स्वभाव होने से स्वभावानुसार कर्म करने से वैसा फल मिलता है जैसा कि 'निकृष्टैः कर्मभिर्नित्यं जन्तुः स्थावरतांयाति' निन्दित नीच कर्म करने से जीव स्थावर योनि को नित्य पाता है अतः वैसे पुरुष का 'अपुनरावृत्ति अथवा अधो मार्ग गमन' दोनों में त्याग करना चाहिए, ऐसे पुरुष की मुक्ति न हुई अथवा होगी नहीं,इसलिए इसको 'आसिद्धार्थ' कहा गया है. जिन भक्तों की भगवदिच्छा से 'सद्योमुक्ति' होती है उनके भी प्राणादि साथ नहीं जाते हैं यहां ही लीन हो जाते है जैसे निरुद्ध गोपियों के, वे अर्थ कोविद न होते हुए भी उनमें परित्याग तो है ही, अतः इस पक्ष को पृथक् करने वाले दोनों पदों का विचार करना चाहिए, अर्थात् उनका आशय समझना चाहिए जैसे मुक्ति में अपुनरावृत्ति है वैसे ही अन्धंतम में जाने पर भी अपुनरावृत्ति है अर्थात् जिसका अन्धतम में प्रवेश होता है वह लौट के नहीं आता है जैसे 'अन्धतम प्रविशन्ति' श्रुति में कहा है और केवल इन्द्रियों का पोषण करने वाला ही 'सम्भूति' की उपासना करता हैं जैसे श्रुति कहती है 'अविद्यामुपासते' बिना ज्ञान के तथा जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं है वैसा जो लौकिक और निषिद्ध कर्म है उसको जो करता है वह तम को ही प्राप्त होता है, ज्ञान के साथ जो कर्म किया जाता है वह वैदिक कर्म हैं, 'य एवास्मि स सन् यजे' इस श्रुति के अनुसार स्वरूप को समझकर जो यज्ञ आदि कर्म किया जाता है उसका फल 'मुक्ति' है इसको जताने के लिए कहते हैं कि आप स्वधर्म से विमुख हो के जो कर्म करते हैं वह न स्वधर्म के अनुकूल सर्व भोग आदि करो ॥२४॥

आभास—धर्मो ज्ञानसहित इति धर्मसहितश्च भोग इति बुद्धिमांस्तादृशमेव कुर्यादित्याह **तस्माल्लोकमिममिति** ।

आभासार्थ—बुद्धिमान को ज्ञान सहित धर्म को और धर्म सहित भोग को करना चाहिए जिसका वर्णन 'तस्माल्लोकमिमं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**तस्माल्लोकमिमं राजन्स्वप्नमायामनोरथम् ।**
वीक्ष्यायम्यात्मनात्मानं समः शान्तो भव प्रभो ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इसलिए इस लोक को स्वप्न, माया एवं मनोरथ के समान जानो, आत्मा से आत्मा को वशकर हे प्रभु ! शान्त तथा समदृष्टि बनो ॥२५॥

सुबोधिनी—लोकानुसारेण पुत्रानुसरणं कर्तव्यमिति लोको निद्यन्ते स्वप्नमायामनोरथत्वेन, **स्वप्नस्तामसः माया राजसी, मनोरथः** सात्त्विकस्तथोत्कर्षापिन्नमपि जगत् न चिरकालावस्थायीति तदनुरोधेन तु न पुरुषार्थो नाशनीयः, उत्पत्तौ सिद्धायां मरणेऽपि सिद्धे पूर्वं पश्चाच्च नानेन सङ्घातेन सह स्थित स्थास्यतीति सिद्धत्वात् स्वप्नादितुल्यत्वं युक्तमेव अनेनोत्कृष्टमिदं राजशरीरमित्यपि परिहृतम् । एवं **वीक्ष्य** पूर्वोक्तप्रकारेणात्मनैवात्मानं सङ्घातव्यतिरिक्तं ज्ञात्वा देहसबन्धिष्वप्युदासीनो भवेत्याह **सम** इति । नन्वेवं पर्यालोचना कथं भविष्यतीत्याशङ्कायामाह **शान्तो भवेति** । नन्वेवमुपाये कथं न सर्वे भवन्तीत्याशङ्क्याह **प्रभो** इति । त्वं समर्थो विवेकी न त्वन्ये अविवेकिनः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—अक्रूरजी धृतराष्ट्र के इस 'लोक के अनुसार पुत्र का कहना भी मानना चाहिए' शङ्का का उत्तर देते हैं कि यद्यपि लोक भी यों कहता है किन्तु वह लोकभीस्वप्न,माया और मनोरथ की भांति चिरकाल नहीं रहता है तो उसका अनुसरण कर अपना पुरुषार्थ क्यों नाश किया जाय ? 'स्वप्न' तामस है 'माया' राजस है और 'मनोरथ' सात्त्विक है, इस प्रकार जगत् उत्कृष्ट और अपकृष्ट होते हुए भी स्थिर नहीं है, उत्पत्ति भी होती है और मरण भी होता है किन्तु पहले वा पश्चात् इस देह के साथ स्थिति तो रहने की नहीं है अर्थात् यह देह तो पृथक् ही है अतः त्यागनी ही है, इसलिए देह को स्वप्न आदि तुल्य कहना उचित ही है, यों कहकर राजा को यह समझाया कि यह राजा का शरीर उत्तम है ऐसा विचार हृदय से निकालदो, अर्थात् इस प्रकार समझकर अन्तः करण से निश्चय करलो कि यह आत्मा देह से पृथक् है, इसमें तथा इससे सम्बन्ध रखने वाले पुत्र आदि में भी उदासीन[1] होकर रहो इसलिए कहा है कि सम होके रहो, यदि सम होकर रहा जाय तो फिर यह मुझे करना है वैसा विचार हो नहीं सकेगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'शान्त' हो जाओ, यदि शान्त होना ही उपाय है तो सब यों क्यों नहीं करते ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप 'प्रभु' हो अर्थात् आप विवेक वाले तथा यों कर सकने में समर्थ हैं,दूसरे समर्थ नहीं है क्योंकि विवेक वाले नहीं हैं ॥२५॥

१—प्रेम निकाल कर ।

आभास—एवमुपष्टे ज्ञाने सन्तुष्टः सन् धृतराष्ट्र उत्तरमाह **यथा वदतीत्यादिचतुर्भिः।**

आभासार्थ—इस प्रकार ज्ञान का उपदेश मिलने से धृतराष्ट्र संतुष्ट होकर 'यथावदति' श्लोक में उत्तर देते हैं—

श्लोक—धृतराष्ट्र उवाच—**यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान् ।**
तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—धृतराष्ट्र कहने लगे कि हे दानपते ! आप अमृत वाणी बोलते हैं, जिससे मैं इस प्रकार तृप्त नहीं होता हूँ, जैसे मनुष्य अमृत से तृप्त नही होता है ॥२६॥

सुबोधिनी—एवं व्यासेनाप्येतादृशमुक्तं भीष्मेणान्यैश्च तत उपदिष्टं ज्ञानं क्षणमात्रमेव तिष्ठति पश्चादन्यथैव प्रवर्तते । पुनरुपदिष्टे पश्चात्तापसहितं ज्ञानं भवति । तदपि न तिष्ठतीति पुनरन्यथैव प्रवर्तते । एवमनेकपर्यायेऽस्मन्मनसोयमेव स्वभाव इति निश्चित्य पश्चात्तापो निवृत्तस्ततः प्रभृति ज्ञानमपि मन्यते वैषम्यमपि करोतीमं सिद्धान्तमतो न जानातीति तं प्रति बोधयतीति, तदास्यानिष्टं भवेद् यदि पुत्रनाशं नाङ्गीकुर्यात्तदा स्वस्व दोषो भवेत्, परं स्वयं कर्तुं न शक्तो नाप्यन्यः किन्त्वीश्वर एवेति तस्याभिप्रेतम्। अनेनास्य युद्धोद्यमोपि निवारितः । हे **दानपते** दानाध्यक्ष । धर्मशास्त्रे स्वयमेव निपुण इति, अनेन त्व धर्ममेव जानासि । न तु कालम्, स्वभावमीश्वरेच्छां वा, परं यद्वदसि तत्**कल्याणीमेव वाचं** वदसि । सत्या मनोहरा च । 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूया'दिति स्मृतेः । यतस्त्वं दानपतिरिति । अद्यापि तव वचनश्रवणे श्रद्धा वर्तत इत्याह **तथानयेति** । तथाभूतयानया वाण्या **न तृप्यामि** । अलमिति न मन्ये । स्वस्य तद्वाक्यमपेक्षितमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **मर्त्यः** मरणधर्मा **यथामृतं प्राप्य** न तृप्यतीति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार व्यासजी, भीष्मपितामहजी तथा अन्योंने भी उपदेश दिया है वह ज्ञान मन में क्षण मात्र ही स्थिर रहता है अनन्तर मन उस ज्ञान के विपरीत ही आचरण करने लगता है फिर उपदेश मिलता है तो विपरीत कार्य करने के लिए पश्चाताप होता है और मन को ज्ञान भी आ जाता है किन्तु वह भी स्थिर नहीं रहता है जिससे मन फिर उल्टे मार्ग पर चलने लगता है यों अनेक बार होने से मैंने लमभ लिया कि हमारे मन का यही स्वभाव है, जब यह निश्चय हो गया तब पश्चाताप निवृत्त हो गया, अब मन ज्ञान को भी मानता है किन्तु तदनुसार न चलकर विषमता भी करता है, इस सिद्धान्त को जो नहीं समभता है उसको यह सिद्धान्त समभाता है ।

धृतराष्ट्रजी के कहने का तात्पर्य यह है कि, जब वह यों करता है तो उसका अनिष्ट होता है, मैं पुत्र का नाश नहीं चाहता हूँ तो मेरा अपना दोष होता है किन्तु जीव स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं है और न कोई दूसरा कुछ भी करने में समर्थ है, जो कुछ करना कराना है उनमें ईश्वर ही समर्थ है, धृतराष्ट्र ने यों कहने से यह बता दिया कि युद्ध का उद्यम मैं करा रहा हूँ, यह विचार गलत है ।

हे दानाध्यक्ष ! आप धर्म शास्त्र को अच्छी तरह जानते हैं, जिससे आप धर्म को जानते हैं, किन्तु काल, स्वभाव एवं ईश्वर इच्छा को नहीं जानते हैं, परन्तु जो वाणी बोलते हो वह सत्य और प्रिय है, स्मृति में भी कहा है कि सत्य कहना किन्तु वैसा सत्य कहना जो सुनने वाले को प्रिय लगे, आप वैसे ही बोल रहे हो, कारण कि दानपति हो, इसलिए अभी भी आपके वचन श्रवण करने में श्रद्धा है, आपकी इस वाणी से मुझे तृप्ति नहीं होती है, मैं नहीं चाहता हूँ कि अब मत कहो मैं तो फिर भी सुनना चाहता हूँ जैसे मरण धर्म वाला मनुष्य अमृतपान से तृप्त नहीं होता है, चाहता है कि और भी पीवूं ॥२६॥

आभास—यथा गङ्गायां सज्वरोपि श्रद्धावान् गङ्गास्नानेन न तृप्यते परं तस्य शरीरं न सहते तथा मम मन इत्याह **तथापीति** ।

आभासार्थ—ज्वर वाला पुरुष श्रद्धालु होने से गङ्गा में स्नान करते हुए तृप्त नहीं होता है किन्तु उसका शरीर स्नान को सहन नहीं कर सकता है, वैसे ही मैं तो आपकी ज्ञान रूप वाणी सुनने से तृप्त नहीं होता हूँ किन्तु मेरा मन उसको सुनना अथवा करना नहीं चाहता है, 'तथापि' इस श्लोक में इस बात को कहते हैं—

श्लोक—**तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले ।**
पुत्रानुरागविषमे विद्युत्सौदामिनी यथा ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! जो कि आपकी वाणी सुन्दर है तो भी पुत्र के प्रेम के कारण विषम हुए चञ्चल मन में वह वैसे नहीं ठहरती है, जैसे सुदामा पर्वत की बिजली नहीं ठहरती है ॥२७॥

सुबोधिनी—**सूनृता** सत्यरूपा सतां मनसि यद्यपि तिष्ठति मनसो हि भार्या सा । तथापि चञ्चले मनसि वेश्यारते भर्तरीव **हृदि चञ्चले** सति **न स्थीयते** । चाञ्चल्यमात्रे तदनुगुणकार्यकर्तरि तिष्ठेतापि तदपि नास्तीत्याह **पुत्रानुरागविषम** इति । पुत्रानुरागेण विषमं जातं यथा जलप्रवाहेण भूमिर्निम्नोन्नता भवति । यथा मालाकारा विद्युत् क्षणमपि न तिष्ठति दण्डाकारा तु क्षणं दृश्यतेपि । अत उक्तं **विद्युत्सौदामिनी यथेति** । सौदामिनी विद्युदिति प्रत्येकसमुदायाभ्यां वा विद्युद्वाचकम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—जो कि सत्पुरुषों के मन में सत्य रूप वाणी ठहर जाती है क्योंकि वाणी मन की स्त्री है, तो भी जैसे स्त्री का मन, वैश्या प्रेमी पति में नहीं ठहरता है वैसे मेरे इस चञ्चल मन में चञ्चलता के कारण आपकी सत्य वाणी नहीं ठहरती है, चञ्चल होने पर भी यदि वाणी के योग्य काम करने वाला हो तो भी उसमें स्थिर हो जावे, किन्तु यहां वह भी नहीं है जैसे जल के प्रवाह से भूमि नीचे ऊपर होकर विषम बन जाती है वैसे ही मेरा मन भी पुत्र के प्रेम प्रवाह के कारण विषम बन गया है,जिससे आपकी वाणी मेरे मन में वैसे नहीं ठहरती है जैसे माला के आकार वाली सुदामा पर्वत

की बिजली क्षण मात्र भी नहीं ठहरती है । दण्ड के आकार वाली तो क्षण मात्र देखने में भी आती है विद्युत तथा सौदामिनी दोनों शब्द बिजली के वाचक हैं ।।२७।।

आभास—तर्हि यत्नः कथं क्रियते चित्तवृत्तिनिरोधस्य योगस्य विद्यमानत्वादिति चेत्तत्राह **ईश्वरस्येति** ।

आभासार्थ—जब चित्त वृत्ति का निरोध कराने वाला योग विद्यमान है, तब यत्न क्यों करते हो ? जिसका उत्तर 'ईश्वरस्य' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—**ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान् ।**
भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले ।।२८।।

श्लोकार्थ—जिस ईश्वर ने पृथ्वी का भार उतारने के लिए यदु के कुल में अवतार लिया है, उसके करने की विधि को अन्यथा करने की किस पुरुष में शक्ति है?।।२८।।

सुबोधिनी-ईश्वरेण कश्चन प्रकारो विहितः। एवं प्रकारेणैवैतत् कर्तव्यमिति । तत्कोन्यथाकर्तुं शक्तः । एतद्विज्ञानमावापोद्वापाभ्यां परिश्रमेण भवति, तस्मिन् कृते ज्ञायत इति न काप्यनुपपत्तिः । एवं ज्ञात्वा को वा विवेकी **पुमान्** समर्थोपीश्वरविचारितं प्रकारं विशेषेण **धुनोत्यपि** दूरीकरोति । कम्पितं वा करोति । नन्वीश्वर उदासीनो, 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभु'रिति वाक्यात् । अज्ञानेनैव तथाचित्तं जायते । नत्वीश्वरस्तथा करोतीति चेत्तत्राह **भूमेर्भारावतारायेति** । भगवान् भूभारहरणार्थमवतीर्णः अन्यथाऽवतारमेव न कुर्यादतो ज्ञायते भगवता अन्यः प्रकारो विचारित इति । नन्वेतदपि नाङ्गीकर्तव्यं वाक्यविरोधात् । अतोवतारस्य प्रयोजनान्तरमनवतरणं वा कल्पनोयमिति चेन्न । तथा सति शास्त्रवैफल्यात्, सर्वमुक्तिर्वा प्रसज्येत । अतोधिकारपरं शास्त्रमित्यपि पक्षे यथा सर्वगुणसंपत्तिर्मयि तथा न कस्यापीति सर्वेषामनाश्वास एव स्यात् । अतो व्यभिचारादीश्वरेच्छा स्वतन्त्रेति वक्तव्यम् । एवमपि शास्त्रवैफल्यमिति चेत् । सत्यम् । न सर्वत्र शास्त्रं प्रमाणम् । किन्तु क्वचिदेव यत्रेश्वरेच्छा, यथोक्तसाधनेऽप्यजननात् । अतः सर्वत्र शास्त्रमेव प्रमाणं यदि शास्त्रानुसारेणापि कदाचिन्न भवति तदेश्वरविधिरिति कल्प्यते । यथा मण्यादिप्रतिबन्धे दाहाभावाच्छक्तिः परिकल्प्यते सा अग्नौ मणौ वेत्यत्र वयमुदासीनाः । तथा तादृशस्थले ईश्वरेच्छा नियामिकेति ज्ञातव्यम् । ईश्वरत्वादेव न पर्यनुयोगः, लोके च महाराजाज्ञादिषु सामान्यविशेषभावः श्रूयते सर्वतो निरुपद्रुतेऽपि देशे कस्यचिदुपद्रवो महाराजेच्छया भवतीति, न चैतावता सामान्याज्ञया निष्कण्टकं राज्यं विरुध्यते । अतो निमित्तभूतानस्मदादीन्न मर्यादायां स्थापयतीति युक्तमेव ज्ञातेऽपि शास्त्रे वैषम्यम् । अन्यथा भगवान् यदोः कुलेऽवतीर्णो न भवेत् ।।२८।।

व्याख्यार्थ—ईश्वर ने प्रथम ही यह निश्चित निर्णय कर लिया है कि इस कर्तव्य को इस प्रकार से करना है उसको अन्यथा करने में कौन समर्थ है, अर्थात् कोई नहीं, यह विज्ञान तब प्राप्त

होता है जब मनुष्य वृक्ष बोने के लिए पहले आल वाल बनाए, अनन्तर उसमें बीज बोने का कार्य करे यों परिश्रम करने से जैसे इस विषय का ज्ञान हो जाता है वैसे ही यहां भी विधि अनुसार परिश्रम करने से जाना जा सकता है, इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है, इस प्रकार करने से विवेकी मनुष्य समझ जाता है कि ईश्वर के विचारित कर्तव्य को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है और न उसको स्वल्प भी हिला सकता है, 'नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः' इस शास्त्र वाक्यानुसार ईश्वर किसी का पाप वा पुण्य ग्रहण नहीं करते हैं अतः वे उदासी नहीं रहते हैं, इसलिए पुत्र प्रेम से चित्त का विषम बनना तो अज्ञान से होता है, यदि कहो कि ईश्वर वैसा करते हैं तो उसके उत्तर में कहते हैं कि 'भूमेः भारावताराय' भगवान् ने अब भूमि के भार को उतारने के लिए अवतार धारण किया है, यदि यों न होवे तो अवतार ही धारण न करे, जिससे समझा जाता है कि भगवान् ने अन्य प्रकार विचारा है, इसको भी स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि यों स्वीकार करने से 'यदा यदा हो धर्मस्य' वाक्य का विरोध होगा, अतः अवतार धारण करने का कोई दूसरा कारण होगा अथवा अवतार हुआ ही नहीं है यों कल्पना करलो, यदि यों कहो तो यों नहीं है यों मान लेने से शास्त्र निष्फल हो जावेंगे, अथवा सब की मुक्ति हो जावेगी, यदि कहो कि शास्त्र अधिकार पर है तो इस पक्ष में भी दूषण है, जैसे वह मान लेता है कि सर्व गुणों की सम्पत्ति मुझ में है वैसी दूसरे में नहीं है, इस प्रकार कहने से सबों का, शास्त्र से विश्वास ही न रहेगा। अतः व्यभिचार होने से अर्थात् शास्त्र में ही अविश्वास होने से ईश्वर की इच्छा स्वतन्त्र है यों मान लेना चाहिए, यदि कहो कि यों मानने पर शास्त्र की विफलता होगी तो इसके उत्तर में कहा जाता है आप का कहना सत्य है किन्तु शास्त्र सर्वत्र प्रमाण नहीं हो सकता है,किन्तु जहां ईश्वर की इच्छा होती है वहां शास्त्र'प्रमाण होता है, जैसे साधन करते हुए भी फल की प्राप्ति नहीं होती है किन्तु ईश्वर की इच्छा होवे तो साधन से फल की प्राप्ति हो जावे। यद्यपि शास्त्र ही सर्वत्र प्रमाण है किन्तु कदाचित शास्त्रानुसार कर्तव्य करने पर भी जब फल नहीं होता है तब ईश्वर के इच्छा की कल्पना की जाती है अर्थात् शास्त्रोक्त साधन तो किए किन्तु ईश्वर की इच्छा फल देने की नहीं है इस प्रकार के भाव अन्तःकरण में स्वतः उदय हो जाते हैं जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, अग्नि जल रही है वहां मणि रखने से अग्नि शान्त हो जाती है तब किसी शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है वह शक्ति कहां से मणि में वा अग्नि में आई इस विषय में अपन उदासीन हैं अर्थात् कुछ कह नहीं सकते हैं, ऐसे स्थल पर ईश्वर की इच्छा ही नियामक है यों समझना चाहिए, ईश्वर होने से उस पर हम दबाव तो डाल नहीं सकते है, लोक में भी महाराजा की आज्ञा दो प्रकार की होती है एक सामान्य दूसरी विशेष आज्ञा, जैसे कि देश सर्व प्रकार उपद्रव रहित होने से शान्त और सूखी है किन्तु कोई व्यक्ति महाराजा की इच्छा से दुःखी होता है, इस प्रकार की महाराजा की इच्छा से जो आज्ञा है जिससे राज्य तो निष्कण्टक चलता ही रहता है किन्तु केवल वह व्यक्ति दुःखी है यह विशेष आज्ञा है, अतः अपनी इच्छानुकूल कार्य करने के लिए हम लोगों को निमित्त बनाते हैं जिससे हम मर्यादा में नहीं रहते हैं और शास्त्र जानते हुए भी विषमता करते हैं वह योग्य ही है, जो यों न होवे तो भगवान् यदुकुल में अवतार ही न लेवे ।।२८।।

आभास—एवं भगवन्माहात्म्यं स्मृत्वा भगवन्तं नमस्यति **यो दुर्विमर्शेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के माहात्म्य का स्मरण कर भगवान् को 'यो दुर्विमर्श' श्लोक में नमन करते हैं—

श्लोक—यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान्विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय ।।२६।।

श्लोकार्थ—जिसके मार्ग का विचार करना भी अशक्य है, वैसी अपनी माया से यह जगत् रचकर अनन्तर उसमें प्रविष्ट होकर जो ईश्वर गुणों का विभाग करते हैं और जो समझ में न आने वाले इस संसार चक्र को गति देते हैं, उस परमेश्वर को नमस्कार है ।।२६।।

सुबोधिनी—पूर्णो भगवान् कथमवतीर्णः किमर्थं वा अवतीर्ण इति सन्देहं वारयन् नमस्यति । दुःखेनापि विमर्शो विचारो न यस्येति । एतादृशः पन्था यस्य । मन्त्रादि वान्यसामर्थ्यपक्षं व्यावर्तयति । निजेति । भगवद्धर्माणामपि जिज्ञासा अशक्या । यथा मायाया मार्गस्यापि. तत्र भगवतो विमर्शं को वा करिष्यति । 'अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति निषेधश्च । एतादृश्या मायया लोके कपटत्वेन प्रसिद्धयापीदं प्रसिद्धं जगत् सृष्ट्वा तत्र स्वयं सत्यस्वरूपः प्रविष्टः । गुणान् सत्त्वादीन् उच्चनीचभावेन भजते पृथक्करोति । यस्या मार्ग एव न ज्ञायते तया किं कश्चित् कर्तुं समर्थः, मायासृष्टं वा कश्चित्प्रवेष्टुं प्रविश्य वा तुल्ये उच्चनीचतां संपादयितुम् । अतो महानुभावो भगवानिति **तस्मै नमः** । **किञ्च** । श्रुतौ काण्डद्वये पञ्चरात्रे इतिहासपुराणेषु च सहस्रधा सृष्टिर्निरूपिता । अतो केन साधनेन कथमेवं करोतीति **दुरवबोधो विहारतन्त्रः** क्रीडापरिकरो यस्य संसारस्य, तस्य चक्रं तस्यापि गतिर्यस्मात् तत्र वा गतिर्यस्येति । भगवतः संसारः अहन्ताममतात्मकः न लौकिकवत् । इच्छया सर्वं जायत इत्यतो लीलार्थमित्यध्यवसीयते । भगवतोवतारा: भगवच्छास्त्रं भगवदायाः पुरुषाः पदार्थाश्च तेषां साधारणोपयोगाभावात् किमर्थं करणमिति नाशङ्कनीयम् । दुरवबोधत्वादेव, अतो भगवतः कार्यं जगद् भगवल्लीला वैष्णवप्रकाश्चेति । उभयोदुर्ज्ञेयत्वात् परम एवेश्वरो भगवानीश्वरादेवालौकिकात् परमेश्वर उभयालौकिक इति ।।२६।।

व्याख्यार्थ—अब अक्रूरजी भगवान् को नमस्कार करते हैं नमस्कार करने से पूर्ण भगवान् कैसे प्रकट हुए अथवा क्यों अवतार लिया । मनुष्यों की इस शङ्का को मिटाना है, जिस भगवान् की माया के मार्ग का कठिनता से भी विचार नहीं हो सकता है जहां मन्त्र आदि की शक्ति भी कुछ काम नहीं कर सकती है. जब आपकी ऐसी माया है जिसका पता नहीं लगता है, भगवान् के धर्मो की भी जिज्ञासा अशक्य है जब माया के मार्ग का ज्ञान होना कठिन है, तब भगवान् का विचार कौन कर सकेगा ? इसलिए ही कहा है कि अलौकिक भावों का तर्क से विचार नहीं करना चाहिए, लोक में कपट रूप से प्रसिद्ध माया से यह प्रसिद्ध जगत् बनाकर उसमें स्वयं सत्य रूप से प्रविष्ट हुए हैं, प्रवेश के अनन्तर सत्व आदि गुणों को उच्च और नीच भाव से पृथक् करते हैं, जिसके मार्ग का ही ज्ञान नहीं है, उससे कोई कुछ करा सकता है ? जो माया से बना है उसमें कोई प्रवेश करने के लिए

अथवा प्रवेश कर जो तुल्य है उसको उच्च नीच करने में कोई समर्थ है ? नहीं समर्थ हैं अतः भगवान् अनुभाव वाले हैं, उनको नमस्कार है और विशेष कहते हैं कि श्रुति के दोनों काण्डों में पञ्चरात्र तथा इतिहास और पुराणों में सृष्टि के हजारों प्रकार कहे हैं, अतः किस साधन से और यों कैसे करते हैं यह संसार चक्र की क्रीड़ा के तन्त्र का समझना कठिन है ऐसे की भी गति जिससे होती है। भगवान् का अहन्ता ममतात्मक संसार लौकिक संसार की भांति नहीं है, यह सर्व लीला इच्छा से ही होती है यों निश्चय पूर्वक समझा जाता है, भगवान् के अवतार, भगवत् शास्त्र भगवदीय पुरुष और भगवदीय पदार्थ इन सबों का साधारण उपयोग नहीं होता हैं, तो यह शङ्का भी नहीं करनी,किये, क्यों किये हैं, ये किस लिये किये, जिसको कोई नहीं जान सकता है, अतः भगवान् का कार्य रूप जगत्, भगवान् की लीला और वैष्णवों का प्रकार दुर्बोध है, आप और मैं दोनों इनको नहीं जान सकते हैं, कारण कि भगवान् परम ईश्वर अलौकिक और ईश्वर होने से ही भगवान् परमेश्वर हैं अतः माया और संसार से अथवा कार्य और कारण से वह परमेश्वर अलौकिक है ॥२९॥

आभास—अनेन भगवतः संसारोयं भगवदादयोस्मदादयश्च तदिच्छयैव प्रवर्तितुं योग्याः, न तु स्वेच्छयेति । उपदेशो वा ज्ञानं वा न विचारणीयमिति तूष्णीं सर्वैः स्थातव्यमित्याभिप्रायं बुध्वा ततो निर्गत इत्याह **इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायमिति ।**

आभासार्थ– यह संसार भगवान् का है, आप और हम सब को उसकी इच्छा के अनुसार ही चलना चाहिये, न कि अपनी इच्छा से, उपदेश का ज्ञान, किसी का भी विचार नहीं करना चाहिए, सब को मौन धारण करनी चाहिए इस अभिप्राय को समझकर अक्रूर वहाँ से जाने लगा, इसको वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्यभिप्रेत्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-**इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः ।**
सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात् ॥३०॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार राजा के अभिप्राय को जान कर वे अक्रूरजी मित्रों की आज्ञा लेकर पुनः मथुरा लौट गए ॥३०॥

सुबोधिनी—तस्य तद्वाक्यानङ्गीकारे हेतुद्वयमाह **नृपतेरिति** । **स यादव इति** । राजवाक्यमङ्गीकर्तव्यम् । यदुवंशे भगवदवताराद् यादवैश्च सुतरां तदङ्गीकर्तव्यम् । तदुत्कर्ष एवोक्त इति, ततोत्रापि लौकिकन्यायेन **सुहृद्भिः** भीष्मादिभिः सम्यगनुज्ञातो **यदुपुरीं** मथुरामगात् ॥३०॥

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र ने अक्रूरजी का कहना नहीं माना उसके दो कारण है-१ धृतराष्ट्र राजा है, राजा स्वतन्त्र है किसी का कहा माने वा न माने, २ अक्रूर यादव है, राजा का वाक्य तो अङ्गीकार करना चाहिए, यदुवंश में भगवान् ने अवतार लिया है अतः उनको तो अवश्य मानना चाहिए, इसमें ही उनका उत्कर्ष है, पश्चात् यहां भी लौकिक न्याय से भीष्म आदि सुहृदों की आज्ञा प्राप्त कर यादवों की मथुरा में गए ॥३०॥

श्लोक—शशंस रामकृष्णाभ्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् ।
पाण्डवान्प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम् ।।३१।।

श्लोकार्थ—हे कौरव्य ! जिस कार्य के लिए अक्रूर को हस्तिनापुर भेजा था, वह कार्य कर आए, अब अक्रूर धृतराष्ट्र का पाण्डवों के प्रति क्या आशय है ? वह राम और कृष्ण को कहने लगे ।।३१।।

सुबोधिनी—स्वयं केवलमाज्ञाकारी न स्वतन्त्र इति ज्ञापयितुं रामकृष्णयोः स्थाने **शशंस**। धृतराष्ट्रस्य विशेषेण चेष्टितं **पाण्डवान् प्रति** मारणपर्यन्तमुद्योगम् । ननु सतामेतदयुक्तमिति चेत्तत्राह **यदर्थं स्वयं प्रेषित** इति। अधिकारिणो नायं दोषः, **कौरव्येति** विश्वासार्थम्, **स्वयं प्रेषित** इत्यन्यद्वारापि कथनं व्यावर्तितम् । अन्येन पूर्वार्धान्तप्रकरणेनाग्रे भगवतैव कर्तव्यमिति ज्ञापितम् । एतावत्पर्यन्तं न साक्षाद्भगवता किञ्चित्कृतं किन्त्वन्यानुरोधेनैवेति । अतो भगवतो लीलाद्वयमन्यानुरोधेन करणं स्वतःकरणमिति भगवतो भक्तानुरोधो निरूपितः ।।३१।।

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धपूर्वार्धे षट्चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ।।४५।।

व्याख्यार्थ—अक्रूरजी रामकृष्ण के स्थान पर जा कर सब समाचार कहने लगे क्योंकि अक्रूरजी आज्ञा पालन करने वाले हैं स्वतन्त्र नहीं है, धृतराष्ट्र का हार्दिक आशय पाण्डवों को मारने तक का था वह सर्व सुनाने लगे, सत्पुरुषों को यों गुप्त विचार भी प्रकट करना योग्य नहीं है जिसके उत्तर में कहते हैं कि जिसके जानने के लिए ही भेजे गए थे अतः उसको कुछ भी गुप्त हो वह बताना ही चाहिए, सर्व बताने में अधिकारी को कोई दोष नहीं लगता है, राजा को कौरव्य ! यह सम्बोधन विश्वास के लिए दिया है भगवान् ने स्वयं अक्रूर को इस कार्य करने के लिए भेजा था अतः उनको ही स्वयं सर्व समाचार लाकर स्वयं ही को बताना है, नहीं कि दूसरे के द्वारा, इस प्रकरण के अनन्तर स्वयं भगवान् को ही करना है, अब तक तो स्वयं भगवान् ने कुछ भी नहीं किया है जो कुछ किया है वह दूसरों के द्वारा किया है, भगवान् की लीलाएँ दो प्रकार की है— १. अपनी इच्छानुसार करना २. दूसरो के कहने के अनुसार करना, यों भगवान् का भक्तानुसरण कहा है ।३१।।

अध्याय के लेख की समाप्ति करते हुए गोस्वामी वल्लभलालजी निम्न तीन कारिकाओं में अपना भाव प्रकट करते हैं: —

कारिका—इत्येवं भगवल्लीला भक्तविश्वासदायिनी ।
निरूपितातियत्नेन कृष्णपादाम्बुजाश्रया ।।१।।

कारिकार्थ—कारिका में कहते हैं कि यों इस प्रकार इस विवृत्ति द्वारा भक्तों में विश्वास

उत्पन्न करने वाली, श्रीकृष्ण के चरण कमलों में आश्रय देने वाली भगवल्लीला विशेष प्रयत्न से निरूपण की है ॥१॥

कारिका—**सर्वेषु पुष्टहृदयेषु निवेदयामि मार्गो यदा भगवतो भवतामभीष्टः ।**
भक्तिप्रकारसहितो हरिभावयुक्तो ज्ञेयस्तदा विवृत्तिरेव सदा विचिन्त्या ॥२॥

कारिकार्थ—सकल पुष्टिस्थ जीवों को कहता हूँ कि जो आपको भगवन्मार्ग प्रिय होवे तो भगवद्भाव वाले हृदय से यों जान लो कि भक्तिमार्गीय प्रकार से युक्त यह मार्ग है । फिर इस विवृत्ति का सदा चिन्तन करते रहो ॥२॥

कारिका—**दशमस्कन्धविवृत्तिः पूर्वार्धे सुनिरूपिता ।**
कृष्णपादाम्बुजे न्यस्तः श्रीपुष्पाञ्जलिरुज्ज्वलः ॥३॥

कारिकार्थ—पूर्वार्ध में जो दशम स्कन्ध विवृत्ति रूप पुष्प गुच्छ अच्छी तरह से तैयार किया है, उस (विवृत्ति) को श्री कृष्ण चरणारविन्द में उज्ज्वल पुष्पाञ्जलि-रूप से समर्पण करता हूँ ॥३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का सातवाँ अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में तथा पिछले ६ठे अध्याय में वर्णित भगवल्लीला के निम्न पद का अवलोकन करें

राग परज

भक्तवच्छल वसुदेव कुमार ।
चले एक दिन सुफलक सुत कैं, पांडव हेत विचार ॥
मिल्यौ सु आइ पाइ सुधि मग मैं, बार बार परि पाइ ।
गयौ लिवाइ सुभग मदिर में, प्रेम न बरन्यौ जाइ ॥
चरन पखारि धारि जल सिर पर, पुनि पुनि दृगनि लगाइ ।
विविध सुगंध चीर आभूषन, आगें धरे बनाइ ॥
धन्य धन्य मैं, धन्य गेह मम, धनि धनि भाग हमारे ।
जो प्रभु ज्ञान ध्यान नहिं आवत, तिन मम गृह पग धारे ॥
प्रभु तुम माया अगम अगोचर, लहि न सकत कोउ पार ।
दीजै भक्ति अनन्य कृपा करि, होइ सु मम उद्धार ॥

अरु जिहि कारन प्रभु पग धारे, कहियै सोइ विचार ।
करहुँ ताहि तुम्हरी किरपा तैं, आयसु, माथैं धार ।।
यह अक्रूर दसा जो सुमिरै, सिखै सुनै अरु गावै ।
अर्थ धर्म कामना मुक्ति फल, चारि पदारथ पावै ।।
हरि जू कह्यौ मनोरथ तुम्हरो, करिहैं श्री भगवान ।
जो जाँचत सोई सो पावत, यह निश्चै जिय जान ।।
तुम जानत हौ पांडव के सुत हैं अति हितू हमारे ।
कुरुपति अन्ध मोह बस तिनकौं, देत सदा दुख भारे ।।
तात जाइ उनकौं तुम भेंटहु, हमरी कुसल सुनावहु ।
बहुरौ समाचार सब उनके, लै हम पै चलि आवहु ।।
यह कहि स्याम राम ऊधौ मिलि, अपने भवन सिधारे ।
सुफलक सुत आयसु माथैं धरि, पाँडव गृह पग धारे ।।

पहिलै कौरव पति सौं भेंटे, पुनि पाँडव गृह आए ।
पकरि चरन कुन्ती के पुनि पुनि, सब गहि गरैं लगाए ।।
कुसल भाषि सब जादौकुल की, प्रभु के कहे सन्देस ।
भयौ परम सन्तोष मिले सौं, मिटे सकल अन्देस ।।
कुन्ती कह्यौ स्याम सौं कहियो, हम हैं सरन तुम्हारी ।
कुरुपति अन्ध जु मम पुत्रनि कौ, देत सदा दुख भारी ।।

पुनि कुरुपति सौं मिलि सुफलक सुत, कह्यौ बहुत समुझाइ ।
चारि दिवस के जीवन ऊपर, तुम कत करत अन्याइ ।।
अन्याइ कौ बास नरक मैं, यह जानत सब कोइ ।
गर्व प्रहारी हैं त्रिभुवनपति, जो कछु करैं सु होइ ।।
कुरुपति कह्यौ मैं हुँ जानत हौं, पै मेरौ न बसाइ ।
नमस्कार मेरौ जदुपति सौं, कहियौ परि कै पाइ ।।
सुफलक सुत सब कथा तहाँ की, आइ स्याम सौं भाषी ।
सूरदास प्रभु सुनि सुनि तासौं, हृदय आपनैं राखी ।।

।। इति श्री सूरसागर पूर्वार्ध समाप्त ।।

श्लोकानामकारादिवर्णानुक्रमः

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
अक्रूर आगतः किं वा	४३	४८	२०२
अक्रूरभवनं कृष्णः	४५	१२	३५६
अग्न्यर्कातिथिगोविप्र	४३	१२	१६३
अर्चित्वा शिरसानम्य	४५	१६	३५९
अथ कृष्णश्च रामश्च	४०	१	३
अथ गोपीरनुज्ञाप्य	४४	६५	३३४
अथ नन्दं समासाद्य	४२	२०	११७
अथ विज्ञाय भगवान्	४५	१	३४५
अथ शूरसुतो राजा	४२	२६	१२३
अथो गुरुकुले वासम्	४२	३१	१२७
अथोद्धवो निशम्यैवम्	४४	२२	२५५
अद्येश नो वसतयः	४५	२५	३७०
अधर्मोपचितं वित्तम्	४६	२२	४०९
अनागसां त्वं भूतानाम्	४१	४७	८९
अन्यथा गोव्रजे तस्य	४४	५	२१३
अन्यथा त्वाचरन् लोके	४६	१९	४०६
अन्येष्वर्थकृता मैत्री	४४	६	११४
अपि बत मधुपुर्याम्	४४	२१	२५३
अपि स्मरति नः साधो	४४	४३	२८६
अपि स्मरति नः कृष्णः	४३	१८	१६७
अपि स्मरति नः सौम्य	४६	८	३९५
अप्यायास्यति गोविन्दः	४३	१९	१६८
अप्येष्वतीह दाशार्हः	४४	४५	२८९
अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नः	४०	४	५
अयं चास्याग्रजः श्रीमान्	४०	३०	३३
अरत्नी द्वे अरत्निभ्याम्	४१	३	४७
अहो यूयं स्म पूर्णार्थाः	४४	२३	२५६
अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या	४२	३६	१३०
आगमिष्यत्यदीर्घेण	४३	३४	१८५
आत्मन्येवात्मनात्मानम्	४४	३१	२६८
आत्मसृष्टमिदं विश्वम्	४५	१९	३६३
आत्मा ज्ञानमयः शुद्धः	४४	३२	२७०
आसामहो चरणरेणुजुषाम्	४४	६२	३२९
आस्ते तेनाहृतो नूनम्	४२	४१	१४०
आह चास्मान् महाराज	४२	१३	१०८
आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया	४५	६	३५०
आहोष्यतामिह प्रष्ठ	४५	९	३५३
इतस्ततो विलङ्घद्भिः	४३	१०	१६१
इति गोप्यो हि गोविन्दे	४४	९	२२०
इति मायामनुष्यस्य	४२	१०	१०५
इति संस्मृत्य संस्मृत्य	४३	२७	१७६
इत्यक्रूरं समादिश्य	४५	३६	३८३
इत्यर्चितः संस्तुतश्च	४५	२८	३७६
इत्यनुस्मृत्य स्वजनम्	४६	१४	४०१
इत्यभिप्रेत्य नृपतेः	४६	३०	४१९
इत्युक्त उद्धवो राजन्	४३	७	१५८
इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य	४२	२५	१२३
ईश्वरस्य विधिं को नु	४६	२८	४१६
उत्थापनैरुन्नयनैः	४१	५	४८
उद्गायतीनामरविन्द	४३	४६	२००
उपश्रुत्यगिरस्तासाम्	४१	१८	६२
उवाच पितरावेत्य	४२	२	९५
उवाचावनतः कृष्णम्	४२	४४	१४४
उवास कतिचिन्मासान्	४४	५५	३०२
उवास कतिचिन्मासान्	४६	४	३९२
ऊचुः परस्परं ते वै	४०	२२	२७
एकः प्रसूयते जन्तुः	४६	२१	४०८
एतदन्तः समाम्नायोः	४४	३४	२७२
एताः परं तनुभृतो भुवि	४४	५९	३०६
एतौ भगवतः साक्षात्	४०	२३	२८
एतौ हि विश्वस्य च	४३	३१	१७९
एवमाश्वास्य पितरौ	४२	१२	१०७
एवं चर्चितसङ्कल्पोः	४१	१	४५
एवं निर्भर्त्सितोम्बष्ठः	४०	५	६

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
एवं निशा सा ब्रुवतो	४३	४४	१९७
एवं संभाषमाणासु	४१	१७	६२
एवं प्रियतमादिष्टमा	४४	३९	२८१
एवं विकत्थमाने वै	४१	३४	७६
एवं संप्रार्थितो गोपैः	४४	६९	३३७
एवं सान्त्वय्य भगवान्	४२	२४	१२२
एष वै किल देवक्याम्	४०	२४	२९
क उत्सहेत सन्त्यक्तुम्	४४	४९	२९४
कच्चिदङ्ग महाभाग	४३	१६	१६५
कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य	४४	४१	२८३
कथं रतिविशेषज्ञः	४४	४२	२८५
कः पण्डितस्त्वदपरम्	४५	२६	३७२
करीन्द्रस्तमभिद्रुत्य	४०	६	७
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानाम्	४४	६८	३३५
कस्मात्कृष्ण इहायाति	४४	४६	२९१
कंसं नागायुतप्राणम्	४३	२४	१७३
काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा	४४	११	२२२
किं न पश्यत रामस्य	४१	१२	५४
किमस्माभिर्वनौकोभिः	४४	४७	२९२
किमिह बहुषडङ्घ्रे गायसि	४४	१४	२३४
किं साधयिष्यत्यस्माभिः	४३	४९	२०३
कृतं च धार्तराष्ट्रैर्नः	४६	६	३९३
कृष्ण कृष्ण महायोगिन्	४६	११	३९७
कृष्णसङ्कर्षणभुजैः	४२	१७	११३
कृष्णाय प्रणिपत्याह	४४	७०	३३८
क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ	४१	८	५१
क्वेमाः स्त्रियोवनचरीः	४४	६०	३०९
खगा वीतफलं वृक्षम्	४४	८	२१८
गच्छ जानीहि तद्वृत्तम्	४५	३५	३८३
गच्छतं स्वगृहं वीरौ	४२	४८	१४७
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य	४३	३	१५३
गत्या ललितयोदार	४४	५२	२९७
गायन्त्यः प्रियकर्माणि	४४	१०	२२०
गायन्तीभिश्च कर्माणि	४३	११	१६२

	अध्याय	श्लोक सं	पृष्ठ सं.
गावः सपाला एतेन	४०	२६	३०
गुरुणैवमनुज्ञातौ	४२	४९	१४७
गुरुपुत्रमिहानीतम्	४२	४५	१४४
गृहं तमायान्तमवेक्ष्य	४५	३	३४७
गोपान् वयस्यानाकृष्य	४१	२९	७१
गोप्यस्तपः किमचरन्	४१	१४	५७
गोप्योस्यनित्यमुदित	४०	२८	३२
चाणूरे मुष्टिके कूटे	४१	२८	७०
जनाः प्रजहृषुः सर्वे	४१	३०	७२
जनेष्वेवं ब्रुवाणेषु	४०	३१	३४
जलं प्रविश्य तं हत्वा	४२	४१	१४२
जानीमस्त्वां यदुपतेः	४४	४	२११
तं खड्गपाणिंविचरन्तम्	४१	३६	७७
ततः कूटमनुप्राप्तम्	४१	२६	६९
ततश्च लब्धसंस्कारो	४२	२९	१२५
ततः संयमिनीं नाम	४२	४२	१४२
ततस्ताः कृष्ण सन्देशैः	४४	५४	३०१
ततोभिमुखमभ्येत्य	४०	१०	११
तत्र प्रवयसोप्यास	४२	१९	११६
तत्क्षन्तुमर्हथस्तात	४२	९	१०३
तथातिरभसांस्तांस्तु	४१	४१	८३
तथापि सूनृता सौम्य	४६	२७	४१५
तथेति तेनोपानीतम्	४२	४६	१४५
तथेत्यथारुह्य महारथो	४२	३८	१३८
तथैव मुष्टिकः पूर्वम्	४१	२४	६७
तथोद्धवः साधुतया	४५	४	३४८
तद्बलाबलवद्युद्धम्	४१		४९
तन्नावकल्पयोः कंसात	४२	८	१०२
तन्निर्गतं समासाद्य	४४	६६	३३५
तन्निशम्याब्रवीत्कृष्णो	४०	३६	३८
तं प्रश्रयेणावनताः सुस	४४	३	२१०
तमागतं समागम्य	४३		१६४
तमापतन्तमासाद्य	४०	१३	१३
तमापतन्तमालोक्य	४१	३५	७६

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
तमाह भगवानाशु	४२	३९	१४०
तमाह भगवान् प्रेष्ठं	४३	२	१५२
तयोरित्थं भगवति	४३	२९	१७७
तयोर्द्विजवरस्तुष्टः	४२	३३	१२९
तं वीक्ष्य कृष्णानुचरम्	४४	१	२०७
तं सम्परेतं विचकर्ष	४१	३८	७९
तस्माद्भवद्भ्यां बलिभिः	४०	४०	४०
तस्माद्राज्ञः प्रियं यूयम्	४०	३५	३७
तस्माल्लोकमिमं राजन्	४६	२५	४१३
तस्मिन् भवन्तावखिला	४३	३३	१८३
तस्यानुजा भ्रातरोष्टौ	४१	४०	८२
तस्यै कामवरं दत्वा	४५	१०	३५४
तर्ह्येव हि शलः कृष्णः	४१	२७	६९
ताः किं निशाः स्मरति	४४	४४	२८८
ता दीपदीप्तैर्मणिभि	४३	४५	१९९
ता मन्मनस्काः मत्प्राणा	४३	४	१५४
तालत्रयं महासारम्	४३	२५	१७४
तेज ओजो बलं वीर्यम्	४६	५	३९३
तेभ्योदाद्दक्षिणा गावो	४२	२७	१२४
तेषां स्त्रियो महाराज	४१	४३	८५
तेषु राजाम्बिकापुत्रो	४५	३४	३८१
तैस्तैर्नियुद्धविधिभि	४१	१९	६३
तौ रेजतू रङ्गगतौ	४०	१९	२३
त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च	४५	२९	३७७
त्वया विरहिता पत्या	४१	४६	८८
त्वयोदितोऽयं जगतो	४५	२३	३६८
दानव्रततपोहोम	४४	२४	२५७
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च	४२	२०	१६९
दिवि भुवि च रसायाम्	४४	१५	२३८
दिष्ट्या कंसो हतः	४२	१७	१६६
दिष्ट्या जनार्दन	४५	२७	३७५
दिष्ट्या पापो हतः	४५	१७	३६०
दिष्ट्या पुत्रान् पतीन्	४४	२६	२५९
दिष्ट्या हितो हतः	४४	४०	२८२
दुराराध्यं समाराध्य	४५	११	३५५
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भ	४२	४३	१९६
दृष्ट्वैवमादिगोपीनाम्	४४	५८	३०५
देवकी वसुदेवश्च	४१	५१	९२
देहाद्युपाधेरनि	४५	२२	३६७
द्विजस्तयोस्तम्	४२	३७	१३७
धर्मेण पालयन्नुर्वी	४६	१८	४०५
धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य	४१	९	५१
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण	४३	६	१५७
न चास्य कर्म वा लोके	४३	३९	१९१
ननाम कृष्णं रामं च	४५	१४	३५८
न बालो न किशोरस्तवं	४०	३९	४०
नमः कृष्णाय शुद्धाय	४६	१३	४००
न माता न पिता तस्य	४३	३८	१९०
न लब्धो दैवहतयो	४२	४	९७
न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः	४१	१०	५२
न ह्यम्मयानि तीर्थानि	४५	३१	३७९
न ह्यस्यास्ति प्रियः	४३	३७	१८८
नाचलत्तत्प्रहारेण	४१	२२	६५
नान्यत्तव पदाम्भोजात्	४६	१२	३९९
नायं श्रियोङ्ग उ नितान्त	४४	६१	३२७
नास्मत्तो युवयोस्तात	४२	३	९६
नित्यं प्रमुदिता गोपा	४०	३४	३७
निरीक्ष्य तावुत्तमपुरुषौ	४०	२०	२५
निःसारयत दुर्वृत्तौ	४१	३२	७४
निःस्वं त्यजन्ति गणिका	४४	७	२१६
नेह चात्यन्तसंवासः	४६	२०	४०७
नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि	४१	४२	८४
नैवाहार्षमहं देव	४२	४०	१४०
पतितं तं पदाक्रम्य	४०	१४	१३
परिभ्रामणविक्षेप	४१	४	४७
परं सौख्यं हि नैराश्यम्	४४	४८	२९३
पादावनेजनीरापो	४५	१५	३५८
पितरावुपलब्धार्थौ	४२	१	९४

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
पितर्युपरते बाला:	४५	३३	३८१
पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्याम्	४२	२१	११८
पिबन्त इवचक्षुर्भ्यां	४०	२१	२६
पुच्छे प्रगृह्यातिबलम्	४०	८	९
पुण्या बत व्रजभुवो	४१	१३	५५
पुन: पुन: स्मारयन्ति	४४	५१	२९६
पुष्णाति यानधर्मेण	४६	२३	४१०
पूतनानेन नीतान्तम्	४०	२५	३०
पृथा तु भ्रातरं प्राप्तम्	४६	७	३९४
प्रगृह्य केशेषु चलत्कि	४१	३७	७८
प्रजा भोजपतेरस्य	४०	३७	३९
प्रभवो सर्वविद्यानाम्	४२	३०	१२६
प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्ट:	४३	२६	१७५
प्रवेपित: सरुधिरमुद्वमन्	४१	२५	६८
प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशत	४१	१६	६०
प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान्नि	४३	८	१५९
प्रियं राज्ञ: प्रकुर्वत्य:	४०	३३	३६
प्रियसख पुनरागा:	४४	२०	२५१
बद्ध्वा परिकरं शौरि:	४०	३	४
बाला वयं तुल्यबलै:	४०	३८	३९
भगवत्युत्तमश्लोके	४४	२५	२५८
भगवत्युदिते सूर्ये	४३	४७	२०१
भगवद्गात्रनिष्पातै	४१	२०	६४
भवतीनां वियोगो मे	४४	२९	२६३
भवद्विधा महाभागा	४५	३०	३७९
भूपृष्ठे पोथयामास	४१	२३	६५
भोजितं परमान्नेन	४२	१५	१६४
भो भो वैचित्रवीर्य त्वं	४६	१७	४०४
भ्रात्रेयो भगवान् कृष्ण:	४६	९	३९६
मधुप कितवबन्धो	४४	१२	२२४
मनसो वृत्तयो न: स्यु:	४४	६७	३३५
मन्ये कृष्णं च रामं च	४१	२३	१७२
मयि ता: प्रेयसां प्रेष्ठे	४३	५	१५६
मयि भृत्य उपासीने	४२	१४	११०
मय्यावेश्य मन: कृत्स्नं	४४	३७	२७७
मल्लानामशनिर्नृणाम्	४०	१७	१६
महानयं बताधर्म	४१	७	५०
महार्होपस्करैराढ्यम्	४५	२	३४६
मा खिद्यतं महाभागौ	४३	३६	१८८
मातर पितरं चैव	४१	५०	९१
मातरं पितर वृद्धम्	४२	७	१०१
मृगयुरिव कपीन्द्रम्	४४	१७	२४३
मृतकं द्विपमुत्सृज्य	४०	१५	१४
यत्त्वहं भवतीनां वै	४४	३५	२७४
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन	४४	३६	२७५
यथा भूतानि भूतेषु	४४	३०	२६६
यथा भ्रमरिकादृष्ट्या	४३	४१	१९३
यथा वदति कल्याणीम्	४६	२६	४१४
यथावदुपसंगम्य	४६	३	३९१
यथा हि भूतेषु चराचरेषु	४५	२०	३६४
यथोपसाद्य तौ दान्तौ	४२	३२	१२८
यदनुचरितलीला	४४	१८	२४७
यशोदा वर्ण्यमानानि	४३	२८	१७६
यस्तयोरात्मज: कल्प	४२	६	१००
यस्मिन् जन: प्राणवियोग	४३	३२	१८२
या: कृष्णरामजन्मर्क्षे	४२	८	१२४
यात यूयं व्रजं तात	४२	२३	१२१
या दोहनेवहनने मथनो	४१	१५	५९
या मया क्रीडता रात्र्याम्	४४	३८	२७८
यावन्त्यहानि नन्दस्य	४४	५६	३०४
या वै श्रियार्चितमजादिभि	४४	६३	३३१
यास्यन्ना जानमभ्येत्य	४६	१६	४०३
युवयोरेव नैवायम्	४३	४२	१९५
युवां प्रधानपुरुषौ	४५	१८	३६१
युवां श्लाघ्यतमौ नूनम्	४३	३०	१७८
येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत	४४	३३	२७१
यो दुर्विमर्शपथया निजमा	४६	२९	४१८
रङ्गद्वारं समासाद्य	४०	२	४

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
राजयोषित आश्वास्य	४१	४९	९०
वदन्त्यनेन वंशोऽयं	४०	२९	३२
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणाम्	४४	६४	३३३
वयमृतमिव जिह्मव्याहृतम्	४४	१९	२४९
वल्गतः शत्रुमभितः	४१	११	५३
वसुदेवस्तु दुर्मेधा	४१	३३	७५
वासितार्थेऽभियुद्धयद्भि	४३	९	१६१
विसृज शिरसि पादम्	४४	१६	२४०
वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता	४२	१८	११४
वृत्तौ गोपैः कतिपयैः	४०	१६	१५
वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री	४३	१	१५१
शङ्खनिर्ह्लादमाकर्ण्य	४२	४३	१४३
शयानान् वीरशय्यायाम्	४१	४४	८६
शशंस रामकृष्णाभ्याम्	४६	३१	४२०
शुचिस्मितः कोऽयम	४४	२	२०९
श्रूयतां प्रियसन्देशो	४४	२८	२६२
सकृदधरसुधां स्वाम्	४४	१३	२३०
संक्रुद्धस्तमचक्षाणो	४०	७	८
स गत्वाहास्तिनपुरम्	४६	१	३९०
स तान् नरवरश्रेष्ठान्	४५	१३	३५७
स त्वं प्रमोऽद्य वसुदेव	४५	२४	३६९
सत्त्वं रजस्तम इति	४३	४०	१९२
स धावन् क्रीडया भूमौ	४०	११	११
स नित्यदोद्विग्नधिया	४१	३९	८१
स पर्यावर्तमानेन	४०	९	१०
सपत्नमध्ये शोचन्तीम्	४६	१०	३९७
सप्ताहमेकहस्तेन	४०	२७	३१
स पिता सा च जननी	४२	२२	१२०
स भवान् सुहृदां वै	४५	३२	३८०
सभाजितान् समाश्वास्य	४२	१६	११२

	अध्याय	श्लोक सं.	पृष्ठ सं.
समदुःखसुखोक्रूरो	४६	१५	४०२
समानन्दन् प्रजाः सर्वा	४२	५०	१४८
सम्यक् सपादितो वत्सौ	४२	४७	१४६
सरहस्यं धनुर्वेदम्	४२	३४	१२९
सरिच्छैलवनोद्देशान्	४२	२२	१७२
सरिच्छैलवनोद्देशा गावो	४४	५०	२९५
सरिद्वनगिरिद्रोणीः	४४	५७	३०४
सर्वं तदमरश्रेष्ठो	४२	३५	१३०
सर्वतः पुष्पितवनम्	४२	१३	१६४
सर्वात्मभावोधिगतो	४४	२७	२६१
सर्वार्थसंभवो देहो	४२	५	९९
सर्वान् स्वञ्ज्ञातिसम्ब	४२	१५	१११
सर्वेषामिह भूतानाम्	४१	४८	८९
स श्येनवेग उत्पत्य	४१	२१	६४
सह पुत्रं च बाह्लीकम्	४६	२	३९१
सानङ्गतप्तकुचयो	४५	७	३५१
सा मज्जनालेपदुकूल	४५	५	३४९
सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः	४२	११	१०६
सृजस्यदो लुम्पसि पासि	४५	२१	३६५
सैवं कैवल्यनाथं तम्	४५	८	३५२
स्मरतां कृष्णवीर्याणि	४३	२१	१७०
स्वयं किल्बिषमादाय	४६	२४	४११
स्वविक्रमे प्रतिहते	४०	१२	१२
हतं कुवलयापीडम्	४०	१८	२२
हतेषु मल्लवर्येषु	४१	३१	७३
हत्वा कंसं रङ्गमध्ये	४३	३५	१८७
हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा	४१	२	४६
हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ	४१	४५	८७
हे नन्दसूनो हे राम	४०	३२	३५
हे नाथ हे रमानाथ	४४	५३	२९९

महात्म्य दीनता एवं आश्रय के पद

राग टोडी

रे मन कृष्ण नाम कह लीजे।
गुरु के वचन अटल कर मानहु, साधु समागम कीजे ।।
पढ़िये सुनिये भक्ति भागवत और कहा कथि कीजे।
कृष्णनाम बिनु जन्मवादि ही वृथा जीवन कहा जीजे ।।
कृष्णनाम रस बह्यो जात है तृषावन्त होय पीजे।
सूरदास हरि शरण ता किये जनम सफल करि लीजे ।।

हरि बिनु अपनो को संसार।
माया लोभ मोह यों चाढे काल नदी की धार ।।
ज्यों जन सङ्गति होत नांउ में रहतन परसे पार।
तैसे धन दारा सुख सम्पत्ति बिछुरत लगै न वार ।।
मानुष जनम नाम नर हरि को पैये न बारम्बार।
ए तनु छन भंगुर के कारन कहा करै गरबु गंवार ।।
जैसे अन्ध अन्ध कूप में गलत न खाल पनार।
तैसें हि सूर बहुत उपदेशें सुनि सुनि गए कै बार ।।

मोसो पतितन और गुसांई।
ए औगुण मोपे कबहू नहिं छूटे बहुत पच्यो अब तांई ।।
जनम जनम हों रह्यो भ्रमित होय कपि गुंजा की नांई।
ता परसत गयो शीत न कबहू लेले निकट तपाई ।।
लुब्ध्यो जाय कनक कामिनी ज्यों, शिशु देखत जलझाई।
जिह्वा स्वाद मीन लों डारचो सूझियो नहिं फंदाई ।।
मुदित भयो सपने में जैसे, पाये निधि ही पराई।
जाग परे कु कछु हाथ न लाग्यो, ऐत सूर प्रभुताई ।।

राग विहाग

भरोसो दृढ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन, सब जुग माहिं अंधेरो ।।
साधन और नाहिं या कलि में जासों होय निवेरो।
सूर कहा कहे दुविध आंधरो बिना मोल को चेरो ।।

॥ श्री हरिः ॥

शुद्धि-पत्र

राजस - प्रमेय - अवान्तर - प्रकरण अध्याय—१ से ७

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१५	जिसका	उसका
३	११	परिज्ञनाय	परिज्ञानाय
३	१२	निरोघ	निरोघे
४	९	उत्वस्थानम्	उत्सवस्थानम्
४	१२	ह्युत्सव:	ह्यु त्सव:
६	१५	अथ	अद्य
९	२६–२९	२००	१००
११	९	शन्कोति	शक्नोति
१६	१२	स्वरूप:	स्वरूपम्
२०	८	अनतां	असतां
२४	१३	उपेक्षा	अपेक्षा
२५	११	अता	अतो
२८	४	नसुदेवस्य	वसुदेवस्य
२९	१७	व्यपहृत	व्यवहृत
३८	२८	शास्त्र	शस्त्र
४१	२७	बलिष्ठ	सो बलिष्ठ
४२	४	लोहा	लोट्
४४	१६	सतोगुण	सत्त्वगुण
४९	७	बलयुद्धमिति	बलवद् युद्धमिति
६८	७	थी	था
७३	७	कंस:	कंसं
९२	२७	४४वें	४१वें
१०६	२२	पास	पाश
१०७	३	ज्ञाना	ज्ञानाध्याय में
११६	५	का	भगवान् का
१३६	१२	शैय्या	शय्या
१३६	१३	मध्यायमे	मध्यापमेद्
१३७	२१	गुरु वं	गुरुत्वं
१३८	३०	देला	वेला
१३९	७	बालक	बालकस्य
१४१	२८	पञ्चविद्या	पञ्च अविद्या
१४६	६	दक्षिण	दक्षिणा
१५१	२६	मैं	मे
१५९	११	अंगस्तुति	अस्तुति
१६७	५	त्यापवत्	वत्
१६९	५	चेन्द्वत्वेन	चेन्द्रत्वेन
१७७	७	याकुल	व्याकुल
१८०	११	भयमेर	भयमेव
१८३	६	जिसकी	उसकी
१८४	५	हेतुश्च	रमा।हेतुश्च
१९१	७	मित्र	मिश्र
१९९	२७	भगवद्गुण	भगवद्गुण
२०२	६	कथा कहनी	कथा नहीं कहनी
२०८	१४	ष्णानुचरं	कृष्णानुचरं
२१५	१७	अहरवे	यदहरेव
२१८	२६	द्विज:	द्विज:
२२२	२९	र्थं	अर्थं
२२४	१	स्पृशांह्रि	स्पृशाङ्घ्रि
२२४	१८	अंह्रि	अङ्घ्रि
२२७	१४	मात्र	मार्ग
२३४	२	चकणों	चरणों
२३४–३५		षडह्र	षडङ्घ्र
२३९	२३	मुषजायते	मुपजायते
२४०	२२	मेरे मस्तक पर जो बार बार पैर लगा रहे हो, वह बन्द कर दो।	अपने सिर पर बलात् रक्खे हुए मेरे पैरों को छोड़ दे।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४१	१३	मेरे शिर पर जबर्दस्ती जो पैर रखा है वह उठालो	तुमने अपने सिर पर जबर्दस्ती से जो मेरा पैर रक्खा है, उसे छोड़ दे
२४१		स्वामि	स्वामी
२४२	१०	ब्रह्मभाव मनुभाव मे आ सकता है किन्तु मनुभाव ब्रह्मभाव में नहीं आ सकता है	ब्रह्मभाव में मनुभाव आ सकता है, किन्तु मनुभाव में ब्रह्मभाव नहीं आ सकता है
२५३	७	सद्धि	सिद्धि
२६७	१	गोपियां उनका त्याग कर कहां रह सकेंगी ।	गोपियों को त्याग कर भगवान् कहाँ जायेंगे ?
२६७	३१	है रूप	रूप है
२६८	२९	सृजे हन्मि । नाशयाम्यनुपालये । पालयामि ।	सृजे । हन्मि- नाशयाम्यनु- पालये पालयामि ।
२७०	१	ब्रह्मधर्मा	ब्रह्मधर्म
२७७	२६	वृत्तयॉय:	वृत्तय:
२८८	१६	स्मरणि	स्मरति
३०९	४	बाध्य	साध्य
३१०	२५	तोम	रोम
३१७	२८	कारान्त	कारान्न
३२०	९	नियप	नियम
३२३	४	स्वदभावा: मे स्वद	रूढभावा: मे रूढ
३२४	९	जीर्ण होने	जीर्ण न होने
३२४	३३	सर्वान्मियभाव	सर्वात्मभाव
३२५	३४	इसमें	यहाँ
३२५	३७	तदाधिमृ	तदाधिम्
३२६	१२	नैमादि	नैवमादि
३२७	१९	लब्वाशिषो	लब्धाशिषो य
३२८	१९	मिलकर एकत्र	पडदेमें
३२९	१६	पतत्येव	पतत्येव न
३२९	२४	यांग्र	आर्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३३०	५	व्यसार्चं	व्यासार्चं
३३२	१४	कृत्वापि कृत्वापि	कृत्वापि
३३२	२२	यदात्मति	यदात्मनि
३३७	९	म	मन
३३७	२५	मतिर्तं:	मतिर्नं:
३३८	१६	प्रमाण	प्रणाम
३४२	१४	जसे	जैसे
३४३	१२	श्रीकृष्ण बलराम का यज्ञोपवीत	भगवान् का कुब्जा और अक्रूरजी के घर जाना
३४५	२१	करनी है	करनी ही है
३४७	१३-२४	घबरा गई	मुझे क्या करना है, यह भूल गई
३४८	२३	विरीधायत्ते:	विरोधापत्ते:
३४९	४	ननुव्रत	न्यनुव्रत
३५१	१९	जिसके	इसके
३५६	७	टुकटा	भीत
३५७	९	आयोग्य	अयोग्य
३५८	२	प्रत्युथाय	प्रत्युत्थाय
३६२	१९	प्रचुर्य	प्राचुर्य
३६२	२२	कृतृनं	कृत्स्नं
३६५	१६	परन्त्रण	परतन्त्र
३६६	१६	सतोगुण	सत्त्वगुण
३६६	१७	रजो तमो और सतो	रजस्तम और सत्त्व
३६६	२३	सूतराम	सुतरां
३६६	२७	त्यध्वसीयते	त्यध्यवसीयते
३६८	८	ब्रह्मास्मी	ब्रह्मास्मीति
३७३	४	आत्मानपीति	आत्मानमपीति
३८३	२६	इत्यक्रूर	इत्यक्रूरं
३८४	१०	चतुश्पञ्चवारिंशा	पञ्चचत्वारिंशा
४०४	२९	पित:	दित:
४०९	६	सञ्चयकर बढा हुआ	सञ्चित
४१२	१५	साद्य	साथ
४२०	२५	गोस्वामी वल्लभ-लालजी	आचार्यचरण